

दो शब्द



हरिवंश पुराण के दूसरे खण्ड में मुख्य चार बड़े-बड़े उपाख्यान हैं।
 (१) प्रद्युम्न-प्रभावती-मायावती उपाख्यान, अनिरुद्ध-उपा की कथा, पौंड्रक का, हहङ्कार और वध तथा हंस डिम्बक उपाख्यान। इन कथाओं से यह विदित होता है कि भगवान् कृष्ण के नेतृत्व में यदुवशियों ने कैसी प्रगति की और अधिकांश अहङ्कारी और युद्धलिप्सु राजाओं को हराकर साम्राज्यवादियों से मनसूबे नष्ट कर दिये। यद्यपि इन कथाओं की रोचकता की दृष्टि से बहुत बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया गया है, तो भी इनसे यह अवश्य अनुमान किया जा सकता है कि उस काल में हमारा देश छोटे-बड़े अनेक राजाओं के शासनाधिकार में विभाजित हो गया था और ये लोग प्रायः अपनी महत्ता प्रकट करने के लिए युद्ध छेड़ते रहते थे। इससे देश में अशान्ति फैली रहती थी और इसका सबसे अधिक कुफल साधारण जनता को ही भोगना पड़ता था।

भगवान् कृष्ण जैसे जन-नायक को यह अवस्था असहनीय प्रतीत हुई और उन्होंने छोटी अवस्था से ही आतताइयों के विनाश और सत्पुरुषों के संरक्षण का सकल्प कर लिया। उन्होंने अपना कार्यक्रम कस जैसा घोर महत्त्वाकांक्षी और क्रूर शासक के विरुद्ध विद्रोह करके आरम्भ किया और शीघ्र ही जरासंध जैसे भारत-सम्राट बनने का स्वप्न देखने वाले शासक की शक्ति को क्षिप्त-भिन्न करके साम्राज्यवाद की जड़ पर कुठाराघात किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने भ्रातृ और अनार्य के बीच भी भेदभाव नहीं किया, क्योंकि भ्रष्टाचारी शासन चाहे गोरो का हो और चाहे कालो का, जनता के लिये तो वह शोषण और दमन का पुरस्कार ही प्रदान कर सकता है। इसलिये श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार जरासंध, पौंड्रक तथा हंस डिम्बक जैसे दानव नरेशों की बुराई का प्रतिफल दिया वैसे ही शम्बरामुर, वाणामुर, वज्रनाभ जैसे अनार्य नरेशों की

सत्ता का भी अन्त कर दिया। उनके इन युद्धों के गूढ़ आशय पर किया जाय तो मालूम होता है कि वे आरम्भ से ही देशव्यापी प्रजातन्त्रों की वृद्धि के इच्छुक थे और उसकी जो योजना उन्होंने अपने मस्तिष्क में रखी थी उसकी पूर्ति के लिये वे एक-एक करके सैनिक शक्ति के मदमातेओं को कुचलते रहते थे। इस प्रकार जब उन्होंने अधिक उद्दण्ड और उच्छ्वज्ज्वल का खात्मा कर लिया तो फिर शेष सबके सामूहिक दिनाश के लिए की रचना की और एक ही बार में निरकुश राज-शक्ति की जड़ ही काट डाली। इसी तथ्य के आधार पर गांधारी ने श्रीकृष्ण को ही महाभारत का बीज बतलाया था और शाप दिया था।

जैसा प्राचीन काव्य-ग्रन्थों का नियम है यद्यपि हरिवंशकार ने भी युद्ध में दो-करोड़ सैनिक और लाखों रथ तथा हाथी, घोड़ों का ही वर्णन किया है, पर इसको अधिक महत्त्व देना अनावश्यक है। इसी प्रकार बार-बार भयंकर शस्त्रों से शरीरों का कटते रहना, मर्मभेदी चोट खाते रहना और फिर नूरे दिन जैसा का तैसा बना रहना भी प्रशंसा और उत्साह की वृद्धि की दृष्टि से ही माना जा सकता है। यो तो यादव-सेना की संख्या ही ५६ करोड़ बतलाई गई है और प्रत्येक राजा के पास करोड़ों ही सेना बतलाई गई है, पर सौ-सौ, दो-दो कोस या इससे कम परिमाण वाले राज्यों में इतनी सेना का होना आबा की निगाह से ही सम्भव नहीं। सेना की संख्या कुछ भी रही हो पर हरिवंश की कथाओं से यह अवश्य प्रकट होता है कि उस समय के राजाओं ने अपने मुख्य कार्य लड़ने रहना और सैन्य-शक्ति बढ़ाते रहना ही निश्चय कर लिया था और इससे प्रजातन्त्र की दुर्दशा होती थी, जिसका उद्धार अन्त में भ० श्रीकृष्ण की योजना से ही हुआ और इस प्रकार उनकी 'परिनाशाय साधूनाम विनाशायाच दुष्टताम्' वाली प्रतिज्ञा सत्य सिद्ध हुई।

कथा-वस्तु की दृष्टि से हरिवंश वास्तव में बड़ी विशेषताओं से युक्त है। इसके कथानक अन्य पुराणों में नहीं मिलते और इस दृष्टि से इसे 'महाभारत' का 'मूल' (पूर्ति करने वाला) कहना यथार्थ ही है।

श्री हरिवंश पुराण

(दूसरे खण्ड की)

विषय-सूची

१. निकुम्भ-वध	...	१
२. वज्रनाभ का वरदान	...	२०
३. प्रद्युम्न आदि का वज्रपुर को प्रस्थान	...	२६
४. प्रद्युम्न-प्रभावती मिलन	...	३५
५. प्रद्युम्न-प्रभावती विवाह	...	३७
६. श्रीकृष्ण द्वारा शिवजी की स्तुति	...	४२
७. शम्बरामुर द्वारा प्रद्युम्न का अपहरण	...	४६
८. प्रद्युम्न द्वारा शम्बर की सेना का सहार	...	५०
९. प्रद्युम्न को नारद का परामर्श	...	५२
१०. प्रद्युम्न द्वारा शम्बर-वध	...	५६
११. प्रद्युम्न-मायावती का द्वारका-आगमन	...	६३
१२. बाणामुर का वरदान प्राप्त करना	...	६८
१३. उपा की विरह-कथा	...	७३
१४. चित्रलेखा का द्वारका गमन	...	७६
१५. बाणामुर के साथ अनिरुद्ध का युद्ध	...	८७
१६. श्रीकृष्ण का शोणितपुर को प्रस्थान	---	१०७
१७. कृष्णजी का अग्नि के साथ युद्ध	...	१२०
१८. श्रीकृष्ण और ज्वर का युद्ध	...	१२५
१९. वैष्णव-ज्वर तथा शिव-ज्वर में युद्ध	...	१३१
२०. श्रीकृष्ण-शिव-युद्ध	...	१३३
२१. हरिहरात्मक स्तोत्र	---	१३५
२२. श्रीकृष्ण-बाणामुर युद्ध	...	१३७

२३ उपा-अनिरुद्ध विवाह	...	१३१
२४ श्रीकृष्ण और अनिरुद्ध का द्वारका गमन	...	१३२
॥ भविष्य-पर्व ॥		
२५ जनमेजय की सत्तति	...	१३३
२६ जनमेजय-व्यास सवाद	...	१३४
२७ व्यासजी द्वारा कलिपुत्र वर्णन	...	१३५
२८ राजा जनमेजय के यज्ञ में विघ्न	...	१३६
२९ सनातन ब्रह्म का वर्णन	...	१३७
३० शुभाशुभ कर्मों का फल	...	१३८
३१ सनातन जगत का प्रमाण	...	२०४
३२ कर्मफल वर्णन	...	२०५
३३ मधु और विष्णु भगवान का युद्ध	...	२१०
३४ भगवान विष्णु द्वारा मधु का बध	...	२१६
३५ समुद्र-मंथन वर्णन	...	२२४
३६ भगवान वामन का बलि को छलना	...	२२८
३७ वाराह भगवान द्वारा पृथ्वी का उद्धार	...	२३१
३८ हिरण्यक्ष और इन्द्र का संग्राम	...	२३७
३९ वाराह भगवान द्वारा हिरण्यक्ष बध	...	२४१
४०. नृसिंहावतार की कथा	...	२४४
४१ ब्रह्माद को नृसिंह का दर्शन	...	२४६
४२ कर्मफल-वर्णन	...	२४७
४३ नृसिंह द्वारा हिरण्यकशिपु का बध	...	२४८
४४ श्रीकृष्ण का कौशाम्य पर जाने का विचार	...	२४९
४५ श्रीकृष्ण का बदरिकाश्रम-गमन	...	२५१
४६ ऋषियों द्वारा भगवान की स्तुति	—	२५२
४७ भयभीत मृगों और दस पिशाचों का आना	—	२५३
४८. पश्याकर्ण को समाधि-नाम	...	२५४
४९ पश्याकर्ण को भगवान का माया-कार	...	२५५

५०. श्रीकृष्ण की कैलास पर तपस्या	...	२८०
५१. श्रीकृष्ण को शिवजी का दर्शन	...	२८३
५२. शिव द्वारा श्रीकृष्ण-स्तुति	...	२८८
५३. श्रीकृष्ण का बदरिकाश्रम लौटना	...	२९४
५४. पौण्ड्रक के दर्पपूर्ण वचन	...	२९६
५५. पौण्ड्रक-नारद सवाद	...	३०२
५६. पौण्ड्रक का द्वारका पर आक्रमण	...	३०५
५७. यादवी द्वारा पौण्ड्रक की सेना का सहार	—	३०८
५८. पौण्ड्रक-सात्यकि सवाद	...	३१३
५९. पौण्ड्रक-सात्यकि युद्ध (१)	...	३१६
६०. पौण्ड्रक-सात्यकि युद्ध (२)	...	३२४
६१. एकलव्य की सेना का सहार	...	३२८
६२. बलदेव-एकलव्य युद्ध	...	३३१
६३. श्रीकृष्ण-पौण्ड्रक युद्ध	...	३३३
६४. श्रीकृष्ण द्वारा पौण्ड्रक वध	...	३४०
६५. पौण्ड्रक-वध के पश्चात्	...	३४४
६६. हस-डिम्भक उपाख्यान	...	३४७
६७. हस-डिम्भक की तपस्या	...	३५१
६८. हस-डिम्भक का दुर्वासा से वार्तालाप	...	३५५
६९. हस-डिम्भक का दुर्वासा से दुर्व्यवहार	—	३५६
७०. महर्षि दुर्वासा का क्रोध	...	३६२
७१. दुर्वासा का द्वारका जाना	...	३६५
७२. दुर्वासा का श्रीकृष्ण से सम्भाषण	...	३६८
७३. भगवान के यहाँ मुनियों का भोजन	...	३७८
७४. हस के व्रत का श्रीकृष्ण के यहाँ आना	...	३८१
७५. विप्र जनार्दन की द्वारका यात्रा	—	३८५
७६. विप्र-दूत की श्रीकृष्ण से भेंट	...	३८७
७७. भगवान कृष्ण का सात्यकि को भोजना	—	३८८

७८. सात्यकि का हंस के समक्ष भाषण	...	४०१
७९. हंस-डिम्भक की गर्वपूर्ण उक्ति	...	४०७
८०. भगवान् कृष्ण की पुष्कर यात्रा	...	४११
८१. हंस-डिम्भक का पुष्कर पहुँचना	...	४१३
८२. हंस-डिम्भक और यादवों का संग्राम	...	४१७
८३. श्रीकृष्ण का महान् पराक्रम	...	४२१
८४. हन्स और बलभद्र का भीषण युद्ध	—	४२४
८५. डिम्भक-सात्यकि संग्राम	...	४२७
८६. डिम्भक-वध वर्णन	...	४३१
८७. हंस और श्रीकृष्ण का युद्ध	...	४३५
८८. हंस और डिम्भक का वध	...	४४१
८९. भगवान् का नन्द-मशोदा से मिलना	...	४४८
९०. भगवान् कृष्ण का द्वारका प्रत्यागमन	...	४५१
९१. हरिवंश श्रवण-फल	...	४५१
९२. त्रिपुर वध वचन	...	४५५
९३. युग और मन्वन्तर वचन	—	४७६
९४. एकांश्व मे विष्णु भगवान् की स्थिति	...	४८१
९५. नारायण और मार्कण्डेय सम्वाद	...	४८५
९६. नारायण की नाभि से कमल की उत्पत्ति	...	४८५
९७. मृट्टि रचना के निमित्त पुष्कर का प्रादुर्भाव	...	४
९८. ग्रन्थ-श्रवण फल	...	

भूल-सुधार—

प्रेम-वर्धनचारियों की अभावधानी से पृष्ठ ३८५ पर ७५ वें अक्षर 'व' की परीध 'श्रीकृष्ण द्वारा पीण्डव वध' छप गया है। वास्तव में यह 'विप्र' जनार्दन की द्वारका यात्रा होना चाहिये था। इसी भूल के कारण अगले तीनों पृष्ठ ३८७-३८९ और ३९१ के ऊपर भी अक्षराय का नाम गलत छाप दिया गया है।

श्री हरिवंशपुराण

(द्वितीय खण्ड)

॥ निकुम्भ का वध ॥

तेषां क्रीडाप्रसक्तानां यदूना पुण्यकर्मणाम् ।

छिद्रमासाद्य दुर्बुद्धिर्देवशत्रुर्दुरासद ॥१॥

कन्या भानुमती नाम भानोर्दुहितर नृप ।

जहारात्मवधाकाक्षी निकुम्भो नाम दानव ॥२॥

अन्तर्हितो मोहयित्वा यदूना प्रमदाजनम् ।

मायावी मायया राज-पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥३॥

आतुर्हि वज्रनाभस्य तस्य कन्या प्रभावती ।

प्रद्युम्नन हृता वीर वज्रनाभस्तथा हत ॥४॥

भानोरेव तथाऽरण्ये वसत्यवसरेण हि ।

अस्वाधीने दुराधर्षे छिद्रज्ञो दानवाघम ॥५॥

कन्यापुरे महानाद सहसा समुपस्थित ।

तस्या ह्यिन्यत्या वन्यायां रुदन्त्या समितिजय ॥६॥

वसुदेवाहुकौ वीरौ द शितौ निर्गतावुभौ ।

आर्तनादमुपश्रुत्य मानोः कन्यापुरे तदा ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! पुण्यात्मा यादवों को क्रीडामत्त देख कर निकुम्भ नामक दैत्य ने अपनी माया के बल से भानु की कन्या भानुमती को हर लिया ॥१-२॥ इसके पूर्व उस दुरात्मा निकुम्भ के भाई वज्रनाभ को प्रद्युम्न ने मार दिया था और उसकी पुत्री प्रभावती को बलात् हरण करके ले आये

थे, उसी का बदला लेने के लिये निकुम्भ ने भानुमती का हरण कर लिया ॥३-४॥ वह दुरात्मा दानव भानु के उद्यान में रहा करता था । एक समय पुरी की सूनी देख कर उसने उस कन्या का अपहरण किया तब उसके रोने और स्त्रियों की आर्त पुकार से अन्त पुर गूँज उठा ॥ ५-६ ॥ भानु के अन्तःपुर में चीख-चिल्लाहट को सुन कर वसुदेवजी और उग्रसेनजी कवच धारण एवं शस्त्रास्त्र ग्रहण पूर्वक उधर आये ॥७॥

न दृष्टिगोचरो तौ तु ददृशातेऽपकारिणम् ।
 तथैव दक्षितौ यातौ यत्नं कृष्णो महाबलः ॥८॥
 श्रुतार्थः स्वं विमानं तदारुरोह जनार्दनः ।
 पार्थेन सहितस्ताक्ष्यं नागशत्रुमरिदमः ॥९॥
 रथो त्वमनुगच्छेति सदिश्य मकरध्वजम् ।
 त्वरेति गरुड वीरः सदिदेश च काश्यपम् ॥१०॥
 वज्रं नगरमायान्तं निकुम्भं रणदुर्जयम् ।
 पार्थकृष्णौ महात्मानावासेदतुररिदमौ ॥११॥
 प्रद्युम्नश्च महातेजा भायिना प्रवरो नृप ।
 निकुम्भश्चाथ तान्दृष्ट्वा त्रिधाऽऽत्मानमथाकरोत् ॥१२॥
 तान्सर्वान्योधयामास निकुम्भः प्रहसन्निव ।
 बहुकण्टकगुर्वोभिर्गन्दाभिरमरोपमः ॥१३॥
 सव्येनालम्ब्य हस्तेन कन्यां भानुमतीं नृप ।
 दक्षिणेनाथ हस्तेन गदया प्राहरत्पुनः ॥१४॥
 कन्यार्थं न च कृष्णो वा कामो वा नृपसत्तम ।
 निर्दयं प्रहरन्ति स्म निकुम्भे च महासुरे ॥१५॥

परन्तु, उस समय उन्हें कुछ भी दिखाई नहीं दिया, तब अपने कर्तव्य का निश्चय न कर पाने के कारण वे दोनों श्रीकृष्ण के पास पहुँचे ॥८॥ उस वृत्तान्त को सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के सहित गरुड पर विराजमान हुए और प्रद्युम्न को रथ में द्वारा पीछे-पीछे आने का आदेश देकर गरुड से बोले कि शीघ्रता-

पूर्वक चलो, तब गहड़ उन्हें लेकर चल दिया ॥६-१०॥ जिस समय वह दुर्जय दैत्य निकुम्भ अपने वज्रपुर में धुस रहा था, उसी समय कृष्ण और अर्जुन ने वहाँ पहुँच कर उस पर आक्रमण किया ॥११॥ घोर भायावी निकुम्भ ने अपने तीन रूप धारण किये और उन तीनों रूपों से ही युद्ध करने लगा । उसने बाँयी बाँल में भानुमती को दबा रखा था और दायि हाथ में काँटो से युक्त गदा से रखी थी, उसी गदा से वह इन तीनों पर प्रहार करने लगा । परन्तु, कन्या को आघात न पहुँचे, इस भय से इन तीनों ने कुछ देर तक उस पर प्रहार नहीं किये ॥१२-१५॥

समर्थास्ते महात्मानः शनुं हन्तु दुरासदाः ।
 निशस्वसुनं रपने दयाभारावपीडिता ॥१६
 श्रेष्ठो धनुष्मता पार्थ सर्वथा कुशलो युधि ।
 नागोष्ट्रविधिना दैत्य शरपक्त्या जघान ह ॥१७
 ते नु वैतस्तिकैर्बाणैर्विविधान्दानवान्युधि ।
 न कन्या कलया युक्त्या शिक्षया च महीपते ॥१८
 तत स कन्यया साद्धं तत्रैवान्तरधीयत ।
 आसुरीमाश्रितो माया न च ता वेत्ति कश्चन ॥१९
 त कृष्णो रौक्मिण्यश्च पृष्टतोऽनुययुस्तदा ।
 हारितः शकुनो भूत्वा तस्यावय महासुर ॥२०
 त बाणैः पुनरेवाथ वीरो भूयो धनञ्जय ।
 वैतस्तिकैर्मर्मशिद्धि कन्या रक्षन्ताडयत ॥२१
 स इमा पृथिवी कृत्स्ना सप्तद्वीपा महासुरः ।
 बभ्रामानुगतश्चैव तैर्वीरैररिमर्दन ॥२२

यद्यपि निकुम्भ को मारने में वे पूर्ण समर्थ थे, फिर भी भानुमती को रक्षा का ध्यान रखते हुए उन्होंने प्रहार नहीं किया और क्रोधपूर्वक दीर्घ श्वास छोड़ने लगे ॥१६॥ अर्जुन ने बसाधारण वीरता थी, परन्तु सप द्वारा ऊँट को लपेट लिये जाने पर सप को इस प्रकार मारा जाता है, जिससे ऊँट को चोट न

लग जाय, उगी प्रकार उन्होंने अत्यन्त सावधानी से निकुम्भ पर अपने बाणों को छोड़ा ॥ १७ ॥ इस प्रकार इन तीनों ने अपने वंशस्तिक बाणों का प्रयोग करते समय इसका प्रयत्न किया कि भानुमती के देह से बाणों का स्पर्श न हो पावे ॥ १८ ॥ तभी उस कन्या के महित निकुम्भ अपनी माया के प्रभाव से ऐसा अदृश्य हुआ कि कोई भी यह न समझ पाता था कि वह कहाँ गया ? ॥ १९ ॥ फिर बहुत प्रयत्न करने पर उन्होंने उसे हारीत पक्षी का रूप धारण किये वही बैठा हुआ देखा ॥ २० ॥ जैसे ही यह दिखाई दिया, वैसे ही अर्जुन ने अपने मर्मभेदी वंशस्तिक बाणों को कन्या का उच्चाव करते हुए चलाया ॥ २१ ॥ तब वह दैत्य इस सम्पूर्ण पृथिवी का चारों ओर काटने लगा और इन तीनों ने भी द्रुत वेग से उसका पीछा किया ॥ २२ ॥

गोकर्णस्योपरिष्ठात् पर्वतस्य महामुरः ।

पपता विलां गङ्गायाः पुलिने सह कन्यया ॥ २३ ॥

न देवा नासुराश्चापि लङ्घयन्ति तपोधनाः ।

गोकर्णं तेजसा गुप्तं महादेवस्य भारत ॥ २४ ॥

एतदन्तरमासाद्य प्रद्युम्नः क्षीघ्रविक्रमः ।

कन्यां भानुमतीं भूमौ जग्राह रणदुर्जयः ॥ २५ ॥

अशुरः सोऽदितो राजनृष्णाभ्या निशितः शरैः ।

त्यक्त्वाऽधोऽक्षरगोकर्णं निकुम्भो दक्षिणा दिशम् ।

जगाम पृष्ठतो यातो कृष्णो ताक्ष्यगतो तदा ॥ २६ ॥

विवेश पट्पुरं चैव ज्ञातीनामालयं तदा ।

तत्र वीरो गुहाद्वारि कृष्णो रात्रौ तदोपतुः ॥ २७ ॥

रौक्मिण्योऽपि कृष्णेन संदिष्टो द्वारकां पुरीम् ।

अनयद्भानुतनयां प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ २८ ॥

नयित्वा चाययौ रात्रौ पट्पुरं दानवाकुलम् ।

ददशं च गुहाद्वारि कृष्णो भीमपराक्रमी ॥ २९ ॥

ऊपतुर्द्वारिभाक्रम्य पट्पुरस्य महाबली ।

कृष्णो प्रद्युम्नसहिती निकुम्भवधः ॥ ३० ॥

इस प्रकार चक्कर काटने कागते जब बड़े दैत्य गोजर्ण पर्वत को लांघ रहा था, तभी उस वन्या के साथ चेल गंगा के किनारे जा गिरा ॥२३॥ क्योंकि उस गोजर्ण पर्वत पर भगवान् शंकर का निवास था और उनसे प्रतापवश कोई भी दैत्य अथवा देवता उस पर्वत को लांघने में समर्थ न होता था ॥२४॥ जैसे ही उस पर्वत को लांघता हुआ वह दैत्य गिरा वैसे ही प्रद्युम्न ने शीघ्रता पूर्वक धर्ना जाकर भानुमती को उससे छीन लिया ॥२५॥ तभी श्रीकृष्ण और अर्जुन ने अपने तीक्ष्ण बाणों की उस पर भीषण वर्षा की, तब वह अत्यन्त पीड़ित हुआ दैत्य उत्तर १ स्थित उस गोजर्ण पर्वत को छोड़ कर दक्षिण की ओर भागा । यह देख कर कृष्ण और अर्जुन भी गरुड पर चढ़ कर उसका पीछा करने लगे ॥२६॥ तब वह दैत्य पृथिवी के बिचर में होकर अपने पटपुर में चला गया उस समय रात्रि होने कारण कृष्ण और अर्जुन को व दरा के द्वार पर ही टिकना पड़ा ॥२७॥ इस प्रद्युम्न ने अपने पिता का आदेश पाकर भानुमती को माथ लिया और द्वारका को चले गये ॥२८॥ वहाँ भानुमती की रक्षा का प्रबन्ध करने के बाद प्रद्युम्न फिर वहीं लौट आये और उन्होंने वहाँ कृष्ण और अर्जुन को निकुम्भ का द्वार रोक, रात्रि के समाप्त होने की प्रतीक्षा करते हुए देखा ॥२९॥ तब प्रद्युम्न भी उस दैत्य के मारने की अभिलाषा में तत्पर हुआ ॥३०॥

ततोऽनन्तरमेतस्माद्विनादतिबलस्तदा ।

निर्जंगाम वली योद्गु निकुम्भो भीमविक्रम ॥३१॥

तस्य निर्गच्छतस्तस्माद्विलात्पार्श्वो विशाम्रते ।

हरोय सर्वतो मार्गं शरैर्गाण्डीवनि सृतं ॥३२॥

सोऽभिसृत्य गदा घोराभुक्ष्म्य बहुकण्टकाम् ।

शिरस्यताडयत्पार्श्वं निकुम्भो बलिना वर ॥३३॥

अदृष्टेनाहतो वीर शिरस्यथ मुमोह स ।

गदयाऽभिहते पार्श्वे रक्तं वमति मुह्यति ।

हसित्वा सोऽसुरो हृष्टो रीक्षिमाणेयमनाडयत् ॥३४॥

त प्राङ्मुखमुप वीर मायिना वरम् ।

अदृष्टेनाहतो वीर शिरस्यथ मुमोह स ॥३५॥

तथागतौ तु दृष्ट्वा तौ मुह्यमानौ सुताडितौ ।
 अभिदुद्राव गोविन्दो निबुम्भ क्रोधमूर्च्छित ॥३६॥
 कौमोदकी समुद्यम्य गदपूर्वोद्भवो गदाम् ।
 तावन्न्योन्य दुराधर्षौ गर्जेन्तावभिपेततु ॥३७॥

बुद्ध कालोपरान्त देख्यराज निबुम्भ युद्ध करने की इच्छा से गदा के बाहर आया ॥३६॥ उसको निकलता देखते ही अर्जुन ने अपने गाण्डीव से उस पर भीषण बाण-वर्षा करते हुए उसे बीघ दिया ॥३७॥ तब निबुम्भ ने अपनी काँटों वाली गदा से अर्जुन के मस्तक पर भीषण प्रहार किया, जिससे रुधिर वमन करते हुए अर्जुन मूर्च्छित होगये । उनकी इस दशा पर हँसते हुए निबुम्भ ने प्रद्युम्न के मस्तक पर भी उसी गदा से आघात किया, जिससे प्रद्युम्न की भी मूर्च्छा आ-गई ॥३८-३९॥ अर्जुन और प्रद्युम्न की ऐसी दुर्दशा हुई देख कर श्रीकृष्ण अत्यंत क्रोधित हुए और अपनी गदा लेकर निबुम्भ की ओर तेजी से दौड़े । यह देख कर निबुम्भ भी उनकी ओर दौड़ पड़ा और तब उन भीषण गर्जन करते हुए वीरो ने एक दूसरे पर गदा प्रहार किया ॥३६-३७॥

ऐरावतगत शक्र सर्वैर्देवगणैः सह ।
 ददर्श तन्महायुद्धं घोरं देवासुर तदा ॥३८॥
 दृष्ट्वा देवान्दृष्ट्वाप्येकैश्चित्रैर्मुह्यन्ति ररिदम ।
 ह्येष दानव हन्तुं देवानां हितकाम्यया ॥३९॥
 स मण्डलानि चित्राणि दर्शयामास वेशव ।
 कौमोदकी महाबाहुरानमन्युद्वगोविद ॥४०॥
 तथैवासुरमुरयोऽपि गदा ता बह्वाष्ट्वाम् ।
 निशया भ्रामयाणोऽप्य मण्डलानि चचार ह ॥४१॥
 यृगभाविष गर्जन्तो वृद्धताविव युञ्जरो ।
 दपितान्तरमासाद्य ब्रुद्धौ शालातृणाविव ॥४२॥
 आजपात निबुम्भन्तु गदया गदपूर्वजम् ।
 मप्टाप्टप्टया वीर नाः भूतसज्जितशङ्खम् ॥४३॥

तत्कालमेव कृष्णोऽपि भ्रामयित्वा महागदाम् ।
 निकुम्भमूर्द्धनि तदा पातयामास भारत ॥४४॥
 अवष्टम्भ्य मुहूर्तं तु हरिः कीमोदकी गदाम् ।
 तस्थौ जगद्गुरुर्धमान्मुमोह पतिनः क्षितौ ॥४५॥
 हाहाभूत जगत्सर्वं तत्कालमवत्तदा ।
 तथा गते वासुदेवे नरदेव महात्मनि ॥४६॥

उपर देवेन्द्र सभी देवताओं के सहित वहाँ आकर उस भीषण संग्राम को देखने लगे ॥३८॥ उन्हें देख कर भगवान् कृष्ण ने उस दैत्य को मारने की इच्छा से कीमोदकी गदा चलाते हुए पैतरा बदला ॥३९-४०॥ तब वह दैत्य भी अपनी फाँटी वाली गदा लेकर उनके चारों ओर घूमने लगा ॥४१॥ तब गर्जन-शील बेलो, बिघाड़ने वाले हावियों या क्रोधित हुए शृगालों के समान दोनों ही चक्कर काटने लगे । तब निकुम्भ ने श्रीकृष्ण पर अपनी गदा से आघात किया और श्रीकृष्ण भी भयकर सिंहनाद करके आगे बढ़े तथा उन्होंने अपनी कीमोदकी गदा उसके मस्तक पर दे मारी ॥४२-४४॥ उसके बाद वह कुछ देर तक तो निश्चेष्ट खड़े रहे और फिर मूर्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़े, इससे समस्त ससार में हाहाकार होने लगा ॥४५-४६॥

आकाशगङ्गातोयेन शीतेन च सुगन्धिना ।
 सिपेचामृतमिश्रेण कृष्णं देवेश्वरः स्वयम् ॥४७॥
 नूनमात्मेच्छया कृष्णस्तथा चक्रे सुरोत्तमः ।
 को हि शयतो महात्मान युद्धे मोहयितु हरिम् ॥४८॥
 कृष्णः प्रत्यागतप्राणश्चक्रमुद्यम्य भारत ॥
 प्रतीचेति दुरात्मानमुवाच रिपुनाशनः ॥४९॥
 निकुम्भोऽप्यतिमायावी उत्पपात दुरासदः ।
 शरीरं तत्परित्यज्य न तु त वेत्ति केशवः ॥५०॥

श्रीकृष्ण की ऐसी स्थिति देख कर इंद्र ने तुरन्त ही उनके मुख पर आकाश गंगा का अमृतमय जल छिड़क दिया ॥४७॥ स्वयं श्रीकृष्ण ने ही मूर्छित होने का

भाव धारण किया था अथवा ससार में उह मूर्छित करने वाला कौन हो सकता है ? ॥४८॥ कुछ भी हो, उहे चेत आगया और वे तुरत ही अपना चक्र लेकर निकुम्भ से बोले—अरे पापात्मन् ! सावधान हो जा ॥४९॥ श्रीकृष्ण की गदा के आघात से वह भी मूर्छित हुआ पड़ा था, परंतु उसने अपने उस शरीर को छोड़ कर दूसरा देह धारण किया और वह देह वही पड़ा रहा ॥५०॥

मुमुक्षुर्वापि मृतो वायमिति मत्वा जनार्दन ।
 ररक्ष स्मरमाणोऽथ वीरो वीरव्रत विभो ॥५१॥
 अथ प्रद्युम्नकोन्तेयावागतौ लक्ष्मचेतनौ ।
 स्थितौ नारायणाभ्याशे निकुम्भवधनिश्चितौ ॥५२॥
 प्रद्युम्नोऽप्ययं मायावी विदित कृष्णमत्रोत्तु ।
 निकुम्भस्तात नास्त्यत्र गत क्वापि सुदुर्मति ॥५३॥
 प्रद्युम्नेनैवमुक्ते तु तन्ननाश कनेवरम् ।
 प्रहसाथाय भगवानर्जुनेन सह प्रभु ॥५४॥
 तदाऽप्युतसहस्राणि निकुम्भानां जनाधिप ।
 ददृशुस्ते ततो वीरा क्षिप्तौ दिवि च सजंत ॥५५॥
 सहस्राण्येव वृष्ण तु तथा पाथमरिदम् ।
 रीतिमणेय तथा वीर तदद्भुतमिवाभवत् ॥५६॥

श्रीकृष्ण ने युद्ध में पतित हुए शत्रु पर प्रहार करना उचित न समझ कर उगरे उठन की प्रतीक्षा की, इतने में ही अर्जुन और प्रद्युम्न भी स्वस्थ होकर उतरे पास आये तथा निकुम्भ को मारने की इच्छा करने लगे ॥५१-५२॥ फिर प्रद्युम्न ने निकुम्भ की माया को समझ लिया और उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा—हे साधु ! निकुम्भ इस समय रंग दह को त्याग कर वही अथर्व चला गया है ॥५३॥ प्रद्युम्न अभी जाता ही था पाये थे कि तभी यह रूढ़ भी अदृश्य हो गया, यह देग कर कृष्ण और अर्जुन अदृष्टम कर उठ ॥५४॥ तभी निकुम्भ ने दग हजार शरीर वृषिनी और आवास पर प्रभुता हुए दिखाई दिये ॥५५॥ फिर हजारों कृष्ण, धनुर्धर और प्रद्युम्न भी प्रवृत्त होकर निषरण करने लगे, यह दग कर सब । अथर्व विरह्य हुआ ॥५६॥

पाण्डवस्य धनु केचित्केचिदस्य महाशरान् ।
 अन्येऽस्य जगृहुर्हस्तावन्ये पादौ महासुरा ॥५७॥
 एव ग्रहाय त वीरमगमस्ते विहायसि ।
 पार्थानामपि कोटवस्तु गृहीताना तदाऽभवन् ॥५८॥
 नान्त ददशं कृष्णश्च कार्णिकश्च रिपुनाशनी ।
 विच्छिद्य तौ शरैर्जरी निकुम्भ पार्थवज्जितौ ॥५९॥
 एकैकस्तु द्विग्राच्छिन्नौ द्वेधा भग्नि भारत ।
 दिव्यज्ञानस्तदा कृष्णो भगवाननुदृष्टवान् ॥६०॥
 निकुम्भ तत्त्वतश्चापि दशं मधुसूदन ।
 पटार सर्वमायाना हर्तार फाल्गुनस्य च ॥६१॥
 स चक्रेण शिरस्तस्य चकर्त्ताऽमुरसूदन ।
 पश्मता सर्वभूताना भूतभव्यस्यो हरि ॥६२॥

तदनन्तर उन निकुम्भ शरीरों में से किसी ने अर्जुन वा धनुष, किसी ने बाण, किसी ने दोनों हाथ और किसी ने दोनों पात्र पकड़े और उन्हें आकाश मार्ग में ले उड़े । सभी एक साथ करोड़ों अर्जुन प्रकट होगये ॥ ५७ ५८ ॥ सब कृष्ण और प्रद्युम्न व उप दैत्य को खोजा परन्तु उसका कहीं भी पता न चला । फिर उन्होंने निकुम्भ को बाणों से काट-काट कर दो दो टुकड़े किये तो वे सभी टुकड़े निकुम्भ बनने लगे । यह देख कर श्रीकृष्ण ने दिव्य दृष्टि का सहारा लिया तो उन्हें श्रात हुआ कि निकुम्भ द्वारा अर्जुन का अपहरण किया जा रहा है ॥५९-६१॥ यह जानते ही उन्होंने अपने सुदर्शन चक्र के द्वारा उसके मस्तक के दो टुकड़े कर डाले ॥६२॥

स मुक्ता फाल्गुन राजञ्छि ने शिरसि भारत ।
 पपातासुरमुत्थोऽयं च्छिन्नमूल इव द्रुम ॥६३॥
 अथाकाशगत पार्थ पतमान विहायस ।
 कृष्णवाक्येन जग्राह वार्ष्णिर्वियति मानद ॥६४॥
 निकुम्भे पतिते भूमौ समाश्रयस्य घनञ्जयम् ।

जगाम द्वारका देव पार्थकामसमन्वित ॥६५॥
 समियाय दशार्होऽथ द्वारका मदितो विभु ।
 नारद च महात्मान ववन्दे यदुनन्दन ॥६६॥
 नारदोऽथ महानेजा भानु यादवमब्रवीत् ।
 भानो मा कार्ष्णिमन्यु त्व श्रूयता भैमनन्दन ॥६७॥
 क्रीडन्त्या रैवतीक्षाने दुर्वासा कोपितोऽनया ।
 स शशाप ततो रोषान्मुनिर्दुहितर तव । ६८॥
 अतिदुर्ललितं कन्या शत्रुहस्त गमिष्यति ।
 सुतार्यं ते मया साद्धं मन्त्रिभि स प्रसादित ॥६९॥
 वाला व्रतवती कन्यामनागसमिमा मुने ।
 शप्तवानसि धर्मज्ञ कथ धर्मभृता वर ।
 अनुग्रह विप्रत्स्वात्र वय दिज्ञापयामहे ॥७०॥

हे राजन् ! तब उस दैत्य ने अर्जुन को छोड़ दिया और मूल में से कटे हुए वृक्ष के समान वह स्वयं आकाश से गिर कर धराशायी होगया ॥६३॥ इधर अर्जुन को गिरना हुआ देख कर प्रद्युम्न ने उन्हे बीच में ही सभाल लिया, जिससे उन्हे कोई चोट नहीं लगी ॥६४॥ इस प्रकार निकुम्भ के मारे जाने पर अर्जुन को साथ लेकर भगवान् द्वारका में लौट आये ॥६५॥ वहाँ आकर प्रसन्न हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने नारदजी को देखा और उनके चरणों में प्रणाम किया ॥६६॥ उसका पदचातु देवर्षि नारद ने यादव श्रेष्ठ भानु से कहा—ह यदुवशिष्यो में श्रेष्ठ ! तुम अपनी कन्या के विषय में किसी प्रकार की शका मत करो ॥६७॥ एक समय जब वह रैवतीक्षान में बालक्रीडा कर रही थी तभी उनके किसी अपराध पर महर्षि दुर्वासा क्रोधित होगया और उन्होंने उसे शाप दे दिया कि तू इस चंचलता के दोष से अपने शत्रु के हाथ में पड़ेगी ! तब मैं अन्यान्य ऋषियों के साथ महर्षि दुर्वासा के पास गया और तुम्हारी कन्या को शाप से मुक्त करने के लिये उनसे अनुग्रह विनय करने लगा । मैंने कहा कि—हे धार्मिको ! मैं श्रेष्ठ महर्षि । यह गतिवा भानुगनी अभी नितान्त अबोध और चंचल स्वभाव की है, इसलिये इस-

वै अपराध पर आप रुष्ट न हो । जिस प्रकार भी समझ हो सके आप उसे क्षमा करके शाप से छुड़ा दें ॥६८-७०॥

अस्माभिरेजमुक्तस्तु दुर्वासा भैमनन्दन ।
 उवच॥धोमुखो भूत्वा मूहूर्तं कृपयाऽन्वितः ॥७१
 यदवोचमह वाक्य तत्तथः न तदन्यथा ।
 रिपुहस्तमवश्य हि गमिष्यति न सशयः ॥७२
 अद्रूपितानुधर्मेण भर्तारमुपलप्स्यति ।
 बहुपुत्रा बहुधना सुभगा च भविष्यति ॥७३
 सुगन्धगन्धा च सदा कुमारी च पुन पुन ।
 न च शोकमिमं घोरं तन्वज्जी धारयिष्यति ॥७४
 एव भानुमती वीर सहदेवाय दीयताम् ।
 श्रद्धावानः स शूरश्च धर्मशीलश्च पाण्डवः ॥७५
 ततो भानुमती भानुर्ददौ माद्रीमुताय वै ।
 सहदेवाय धर्मात्मा नारदस्य वचः स्मरन् ॥७६
 आनीत सहदेवश्च प्रेषितश्चक्रपाणिना ।
 विवाहे च तदा वृत्ते सभायं स पुरी गतः ॥७७
 इमं कृष्णस्य विजयं यः पठेच्छृणुयादपि ।
 विजयं सर्वकृत्येषु श्रद्धावानो लभेन्नरः ॥७८

हे यदव श्रेष्ठ ! हमारी बात सुन कर महर्षि दुर्वासा नीचा मुख बिये हुए कुछ देर तक सोचते रहे । फिर उन्होंने दयापूर्वक कहा कि मेरा वचन तो कभी मिथ्या नहीं हो सकता, इसे शत्रु के हाथ में तो अवश्य जाना होगा, परन्तु वह उससे किसी प्रकार द्रुपित न हो सकेगी और जब उसके पास से लौटेगी तब अपने पति को प्राप्त होती हुई महान् वैभव, पुत्र, और सौभाग्य श्री को प्राप्त करेगी ॥७१-७३॥ उसके देह से सर्व सुगन्ध निकलेगी और उसे जिस शाप की प्राप्ति हुई है, उसके कारण उसे किसी प्रकार का शोक नहीं होगा ॥७४॥ हे वीर ! अब तुम अपनी शाप से मुक्त हुई इस बन्धा को सहदेव को दे दो, क्योंकि

वह श्रद्धालु धार्मिक और वीर पाण्डुपुत्र है ॥७५॥ हे राजन् ! देवर्षि नागदजी के वचनों पर विश्वास करते हुए यादवों ने इसका अनुमोदन किया और तब श्रीकृष्ण ने सहदेव को हस्तिनापुर से बुलवा कर भाग्य की कन्या भानुमती का विवाह उनसे करा दिया । विवाह कार्य के सम्पन्न होने पर सहदेव अपनी बहू को लेकर हस्तिनापुर लौट गये ॥७६-७७॥ भगवान् श्रीकृष्ण की इस विजय-यात्रा का जो कोई मनुष्य श्रद्धा सहित पठ अथवा श्रवण करता है, उसे अपने सभी मनोरथों में विजय की प्राप्ति होती है ॥७८॥

॥ वज्रनाभ को वरदान ॥

हन्त ते वर्तयिष्यामि वज्रनाभयश्च नृप ।
 विजय चैव कामस्य सास्यं च भारत ॥१॥
 मेरो भानो नरपते तपश्चक्रं गृहं सुर ।
 वज्रनाभ इति ख्यातो निश्चित सभित्तिजय ॥२॥
 तस्य नुष्टो मह तेजा ब्रह्मा लोकापितामह ।
 घरेण ऋन्दयामास तपसा परितोषित ॥३॥
 अवध्यता म देवेभ्यो वज्रे दानवसत्तम ।
 पुर वज्रपुर चापि सर्वरत्नमय शुभम् ॥४॥
 स्वच्छन्देन प्रवेशश्च न वायोरपि भारत ।
 अचिन्तितेन कामानामुपपत्तिर्नराधिप ॥५॥
 शाखानगरमुद्याना सवाहानां शतानि च ।
 नगरस्थाप्रमेयस्य समन्ताज्जनमेजय ॥६॥
 तथा तदभवत्तस्य वरदानेन भारत ।
 उवास वज्रनगरे वज्रनाभो महासुर ॥७॥

यक्षशासनजी ने कहा—हे राजन् ! अब मैं वज्रनाभ-यक्ष तथा साम्ब और प्रद्युम्न की विजय यात्रा तुमसे कहना हूँ उसे सुनो ॥१॥ एवं वज्रनाभ नामक प्रसिद्ध दानव न गुप्तेष्ट पर्वत की गुफा में जाकर घोर तप किया ॥२॥ इस प्रकार बृद्ध बाल तब यँटि तपस्या करने पर ब्रह्माजी प्रसन्न हुए और उसके सामने

प्रकट होकर उ होने उससे वर मांगने की बहा ॥३॥ तब उसने देवताओं द्वारा अवध्य होते, अत्यन्त सुन्दर वज्रपुर नामक नगर के निर्मित होने, उसमें सभी सुख साधनों के होने, पुर के चारों ओर उपनगरी और संकटों सुरम्य उपवनो के बनने तथा पुर में वायु तब के बिना आज्ञा प्रवेश न कर सारने आदि का वर उनसे मांगा ॥४-५६॥ तब ब्रह्माजी 'ऐसा ही होगा' कह कर वही अन्तर्धान होगये । उनसे वर प्राप्त होने पर उपर्युक्त सभी इच्छाएँ पूरी हुईं तथा वह अत्यन्त आनन्दपूर्वक अपने उस वज्रपुर में रहने लगा ॥७॥

कोटिशो वरनब्ध तमसुरा परिचार्य ते ।
ऊर्ध्वजपरे राजन्सवाहेषु तथैव च ॥८
शाखानगरमुत्थेषु रम्येषु च नराधिप ।
हृष्टपुष्टप्रमुदिता नृप देवस्य शत्रव ॥९
वज्रनाभोऽथ दुष्टात्मा वरदानेन दर्पित ।
पुरेऽस्य चात्मनश्चैव जगद्वाप्तिमुद्यत ॥१०
महेन्द्रमग्नवीद्गत्वा देवलोक विनापते ।
अहमीशितुमिच्छामि त्रैलोक्य पाकशासन ॥११
अथवा मे प्रयच्छस्व युद्ध देवगणेश्वर ।
सामान्य हि जगत्कृत्स्न काश्यपाना महात्मनाम् ॥१२
स बृहस्पतिना सार्द्धं मन्त्रयित्वा महेश्वर ।
वज्रनाभ सुरश्रेष्ठ प्रोयाच कुरुनशज ॥१३
सत्रेषु दीक्षित सौम्य कश्यपो न पिता मुनि ।
तस्मिन्वृत्ते यथा न्याय्य तथा स हि करिष्यति ॥१४

फिर सब ओर में बरोड़ी दैत्य वहाँ आकर उनके आश्रय में बस गये । कुछ असुर उपनगरी में और कुछ उपवनो में निवास करने लगे । वे सभी दैत्य विशालकाय प्रसन्न मुख और हृष्टपुष्ट थे ॥८॥ इस प्रकार सभी दानव आनन्द पूर्वक निवास कर रहे थे, तब वह दैत्य ब्रह्माजी के वर से गर्वीय होकर ससार को दस देने में तत्पर हुआ ॥१०॥ उस दैत्य ने एक बार स्वर्ग में जाकर इन्द्र

से कहा कि—हे महेन्द्र ! अब मैं तीनो लोकों पर राज्य करना चाहता हूँ इसलिये तुम मेरी इस बात को नहीं मानना चाहते तो मुझसे युद्ध करलो । वैसे इस विश्व पर राज्य करने का अधिकार हम कश्यप वंश वालों की ही है ॥ ११-१२ ॥ तब इन्द्र ने अपने गुरु बृहस्पतिजी से परामर्श करके सते उत्तर दिया कि—हे सोम्य ! हमारे पिता कश्यपजी ने यज्ञ की दीक्षा से रखी है जब उनका यज्ञ पूर्ण हो जायगा तब उनसे आदशानुसार ही सब निर्णय हो सकेगा ॥ १३-१४ ॥

ततः स पितरं गत्वा कश्यपं दानवोऽब्रवीत् ।
 यथोक्तं देवराजेन तमुवाचाथ कश्यप ॥ १५
 सत्रे वृत्ते ऋष्यामि यथान्यायं भविष्यति ।
 त्वं तु वज्रपुरे पुनः वस गच्छ समाश्रित ॥ १६
 एवमुक्ते वज्रनाभः स्वमेव नगरं गतः ।
 महेन्द्रोऽपि ययौ देवो द्वारका द्वारशालिनीम् ॥ १७
 गत्वा चार्णहितो देशो वागुदेवमथान्वीत् ।
 वज्रनाभस्य वृत्तात् तमुवाच जनार्दन ॥ १८
 शीरैरुपस्थितो देवः वाजिमेघो महाक्रतुः ।
 तस्मिन्वृत्ते वज्रनाभः पातयिष्यामि वासव ॥ १९
 तक्षोऽयं प्रवेशे तु चित्तमाव सता गते ।
 नानिच्छया प्रवेशोऽस्ति तत्र वायोरपि प्रभो ॥ २०

फिर उस दैत्य ने अपने पिता कश्यपजी के पास जाकर उन पर अपना अभिप्राय प्रकट किया । तब वे उससे बोले—हे बेटा ! अभी जब तक मैं यज्ञ के अनुष्ठान में लगा हूँ, तब तक तुम आनन्द से वज्रपुर में निवास करो, जब यज्ञ सम्पूर्ण हो जायगा, तब इस पर विचार करूँगा ॥ १५ १६ ॥ पिता की बात सुन कर दैत्य अपने घर को चला गया और इधर इन्द्र ने द्वारका जाकर श्रीकृष्ण को सब वृत्तांत बताया । तब श्रीकृष्ण ने उनसे कहा—हे देवेन्द्र ! महात्मा वसुदेवजी शीघ्र ही अवलम्ब यज्ञ आरम्भ करने वाले हैं, उस यज्ञ के अवसर पर ही मैं उस-का वध कर दानूँगा ॥ १७ १८ १९ ॥ परन्तु ब्रह्माजी के वर के कारण उसके

पुर में वायु भी उसकी आज्ञा के बिना नहीं घुस सकता, इसलिये कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिये कि ब्रह्माजी के वचन का भी उल्लंघन न हो पावे और पुर में भी प्रवेश हो सके ॥२०॥

ततो गतो देवराजो वासुदेवेन सत्कृत ।
 वाजिमेधे च संप्राप्ते वसुदेवस्य भारत ॥२१॥
 तस्मिन् यज्ञे वर्तमाने प्रवेशार्थं सुगोत्तमौ ।
 चिंतयामासतुर्वीरो देवराजाच्युतावुभौ ॥२२॥
 तत्र यज्ञे वर्तमाने सुनाट्येन नटस्तदा ।
 महर्षीस्तोषयामास भद्रनामेति नामत ॥२३॥
 त वरेण मुनिश्रेष्ठाश्छन्दयामासुरात्मवान् ।
 स वव्रे तु नटो भद्रो वर देवैश्चरौ गम ॥२४॥
 देवेन्द्रकृष्णच्छन्देन सरस्वत्या प्रचोदित
 प्रणिपत्य मुनिश्रेष्ठानश्वमेधे समागतान् ॥२५॥
 भोज्यो द्विजाना सर्वेषा भवेय मुनिसत्तमा ।
 सप्तद्वीपा च पृथिवी विचरेयमिमामहन् ॥२६॥
 प्रसिद्धाकाशगमन शक्नुवश्च विशेषत ।
 अवध्य सर्वभूताना स्थावरा ये च जङ्गमा ॥२७॥
 यस्य यस्य च वेपेण प्रविशेयमहं खलु ।
 मृतस्य जीवतो वापि भाव्येनोत्पादितस्य वा ॥२८॥
 सतूर्यस्तादृश स्या वै जरारोगविर्वाजित ।
 तुष्येयुमु नयो नित्यमन्ये च मम सर्वदा ॥२९॥

इस प्रकार के वार्तालाप के पश्चात् भगवान् के द्वारा सत्कार को प्राप्त हुए देवराज स्वर्ग लोको को चले गये और इधर कुछ समय में ही वसुदेवजी का यज्ञ आरम्भ होगया ॥२१॥ इसी अवधि में श्रीकृष्ण और इन्द्र दोनों ही देवराज के वज्रपुर में घुसने के उपाय पर विचार करने लगे ॥२८॥ जिस समय वसुदेवजी का यज्ञ निर्वहण चल रहा था, तभी अत्र नाटक एक नट ने

नाम की पुत्री प्रभावती के समान सौ दर्यमयी कन्या तीनों लोको में कही भी नहीं है उसकी मुक्त कान्ति चन्द्रमा ने समान है ॥२८॥ सुना गया है कि उसकी माता को उसकी प्राप्ति भगवती पावतीजी के वरदान से हुई थी । अब उसके बधुओं ने उसका स्वयंवर करना स्थिर किया है । वह वन्या स्वेच्छापूर्वक जिस पुरुष की चाहेगी, उसे वरण कर लेगी ॥३९-४०॥ इसलिये, तुम्हें उस बावली में रहने हुए उस वन्या के आगे प्रद्युम्न के रूप, शील तथा गुणों का वर्णन करते रहना है ॥४१॥ वचनाभमुता प्रभावती जब प्रद्युम्न के रूप को प्रति आसक्त हो जाय, तब उसकी सूचना मुझे यहाँ आकर देना ॥४२॥

॥ प्रद्युम्न आदि का वज्रपुर प्रस्थान ॥

ते वासवयच्च श्रुत्वा हसा वज्रपुर ययु ।
 पूर्वोचित हि गमन नेपा तस्य जनाधिप ॥१॥
 ते दीर्घिकासु रम्यासु निपेतुर्वीर पक्षिण ।
 पद्मोत्पलैरावृतासु काञ्चनं स्पर्शनक्षमं ॥२॥
 ते वै नदन्तो मधुर सस्कृतापूर्वभाषिण ।
 पूर्वमप्यागतास्ते तु विस्मय जनयन्ति हि ॥३॥
 अन्त पुरोषभोग्यासु चेरुर्वापीषु ते नृप ।
 दृष्टास्ते वज्रनाभस्य त्रिविष्टपनिवासिन ॥४॥
 आलपन्त सुमधुर धार्तराष्ट्रा जनेश्वर ।
 स तानुवाच दंतेयो धार्तराष्ट्रानिद वच ॥५॥
 त्रिविष्टपे नित्यरता भवन्तश्चाहमाषिण ।
 यदैवेहोत्सवोऽस्माकं भवद्भिरवगम्यते ॥६॥
 आगन्तव्य जालपादा स्वमिदं भवता गृहम् ।
 विस्रब्धं च प्रवेष्टव्यं त्रिविष्टपनिवासिभि ॥७॥

वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजा ! इन्द्र की बात सुन कर सभी हसगण उस वज्रपुर में जा पड़े, जहाँ से वे पूर्व परिचित थे ॥१॥ वहीं जाकर उहें

एक अत्यन्त रमणीक बावली में निवास किया ॥२॥ इससे पहिले भी वे मधुर स्वर में कलरव करते हुए घूमते थे, तब उन्हें देख कर वहाँ के निवासी बड़े प्रसन्न होते थे । इसलिये, इस समय भी वे उसी प्रकार कल-रव करते करते हुए अन्त-पुर की बावलियों में घूमने लगे । उन्हें देख कर वज्रनाभ ने स्नेह प्रदर्शित करते हुए उनसे कहा—हे हसगण ! तुम स्वेच्छापूर्वक स्वर्ग में रहते हो तो रहो, परन्तु, मेरे यहाँ किसी उत्पन्न के अवसर पर अवश्य आज्ञाया करो । तुम इसे अपना घर समझ कर चाहे जब आने के लिये स्पतन्त्र हो ॥३-७॥

ते तथोक्ता शकुनयो वज्रनाभेन भारत ।

तथेत्युक्त्वा हि विनिशुर्दान्द्रनिवेशनम् ॥८

चक्रं परिचय ते च देवकार्पव्यपेक्षया ।

मानुपालापिनस्ते तु कथाश्चक्रं पृथग्विधा ॥९

वशबद्धा काश्यपाना सर्वकल्याणभागिनाम् ।

स्त्रियो रेमुविगेपण शृङ्खलस्य सङ्गता कथाः ॥१०

विधरन्तस्तातो ह्या ददृशुश्चारुहासिनीम् ।

प्रभावनी वरारोहा वज्रनाभसुता तदा ॥११

हसा परिचिता चक्रुस्ता ततश्चारुहासिनीम् ।

सखी शुचिमुखी चक्रे हसी राजसुता तदा ॥१२

सा ता कदाचित्प्रप्रच्छ वज्रनाभसुता सखीम् ।

विश्रम्भिता पृथक्सूक्तीराख्यानकशतैर्वराम् ॥१३

त्रैलोक्यसुन्दरी वेदि त्वामह हि प्रभावति ।

रूपशीलगुणैर्देवि किञ्चित्त्वा वक्तुमुत्सहे ॥१४

व्यतिक्रामति ते भीर यौवनं चारुहासिनि ।

यदतीत पुनर्नेति गत स्रोत इवाम्भस ॥१५

हे राजन् ! वज्रनाभ की बात सुन कर हमो ने 'जो आज्ञा' कह कर उसे स्वीकार किया और पुरी में पहुँच कर देवताओं का कार्य सिद्ध करने के लिये यहाँ की सब वस्तुओं को देखने लगे । उनके कलरव से अन्त पुर की स्त्रियों की

यहाँ आकर अपना नृत्य दिखलाया, जिससे यज्ञ में उपस्थित सभी ऋषिगण अत्यन्त प्रसन्न होकर उससे वर माँगने को बहने लगे । देवताओं के समान उस नट ने जैसे ही वर माँगना चाहा, वैसे ही श्रीकृष्ण और इन्द्र की प्रेरणा से सरस्वतीजी ने उसके कंठ पर अधिकार कर लिया । इसलिये वह नट उन ऋषियों से बोला ॥२३-२६॥ आकाश भ्रमण में मेरी अबाध गति हो, स्थावर-जंगम किसी भी प्राणी के द्वारा मैं मर न सकूँ, मैं अपनी इच्छा से मरे हुए, जीवित अथवा भविष्य में होने वाले शरीर धारियों का रूप धारण करके जहाँ जाना चाहूँ, वही चला जाऊँ, वृद्धावस्था मेरा स्पर्शन कर सके और सभी मुनि आदि मुझ पर सदैव प्रसन्न रहें । बस, मेरी यही कामना है, इसलिये ऐसा ही वर मुझे प्रदान कीजिये ॥२७-२८-२९॥

एवमस्त्विति सप्रोक्तो ब्राह्मणैर्न पते नट ।
 सप्तद्वीपा वसुमती पर्यटत्यमरोपम ॥३०॥
 पुराणि दानवेन्द्राणामुत्तराश्च कुरु स्तथा ।
 भद्राश्वान्केतुमालाश्व कालाभ्र द्वीपमेव च ॥३१॥
 पर्वणीषु तु सर्वासु द्वारका यदुमण्डिताम् ।
 आयानि वरदत्ता स लोकवीरो महानटः ॥३२॥
 ततो हसाभार्तराष्ट्रान्देवलोऽनिवासिन ।
 उवाच भगवान्शक्रः सान्त्वयित्वा सुरेश्वर ॥३३॥
 भवन्तो भ्रान्तोऽस्माकं काश्यपा देवपक्षिण ।
 विमानवाहा देवानां मुकृतीनां तथैव च ॥३४॥
 देवानामस्ति कर्तव्यं कार्यं शत्रुवघ्नान्वितम् ।
 तत्कर्तव्यं न मन्त्रश्च भेत्तव्यो व. कथंचन ॥३५॥

मुनियों ने 'ऐसा ही होगा' कह कर उसे वर प्रदान किया और तब वह नट इस सप्तद्वीपा पृथिवी पर अपनी इच्छानुसार विचरण करने लगा ॥ ३० ॥ इस प्रकार वह दैत्यों की सभी पुरियों में, उत्तरकुरु में तथा केतुमाल और कालाभ्र द्वीपादि स्थानों में घूमने लगा ॥३१॥ फिर वह यादवों की दारुवापुरी में

भी प्रत्येक पर्व अथवा महोत्सव के अवसर पर जाने सगा ॥३२॥ इसी अवसर पर इन्द्र ने स्वर्ग लोक में ही निवास करने वाले हंसों को बुला कर उनसे कहा कि—हे हंसगण ! आप महात्मा कश्यपजी के वंशज होने से कारण मेरे भी भाई हो और स्वर्ग में निवास करते हुए तुम देवताओं ब्रह्मा अन्य पुष्पात्मियों के यानों का भी तुम स्वेच्छानुसार उपभोग कर सकते हो ॥३३-३४॥ इस समय शत्रुओं के मारन विषयक देवताओं का एक कार्य उपस्थित होगया है, उसे तुम ही पूरा कर सकने हो । परन्तु मैं तुम्हें जो कहता हूँ, उस रहस्य को किसी पर प्रकट मत कर देना ॥३५॥

न कुर्वता देवताशामुग्रो दण्ड पतेदपि ।

सर्वनाप्रतिषिद्धो गमन हससत्तमा ॥३६॥

गत्वाऽप्रवेश्यमन्येषा वज्रनामपुरोत्तमम् ।

इतोऽन्त पुरवापीपु चरद्गमुचित हि प. ॥३७॥

तस्यास्ति वन्यारत्न हि त्रैलोक्यातिशय शुभम् ।

नाम्ना प्रभायती नाम चन्द्राभेव प्रभायती ॥३८॥

वरदानेन सा लब्धा माता किल वरानना ।

हैमवत्या महादेव्या सकाशादिति न श्रुताम् ॥३९॥

स्वयंवरा च सा कन्या बन्धुभि र्वापिता रासी ।

आत्मेच्छया पतिं हसा वरयिष्यति शोभना ॥४०॥

तद्भवद्भिर्गुणा वाच्या प्रद्युम्नरय महात्मनः ।

सद्भूता कुलरूपस्य शीतारय ययसरतथा ॥४१॥

यदा सा रक्तभावा च वज्रनामगुता रासी ।

तस्या सकाशात्सदेशो नयितव्य समाधिना ॥४२॥

हे हंस श्रेष्ठो ! देवताओं की आज्ञा का परसमन करने वालों को तदा दण्ड भय उपस्थित रहता है । तुम सभी स्थानों पर जाने में समर्थ हो, इसलिये मैं उस देवताओं को तुमसे कहता हूँ, गुणों—तुम गुरुरा ही वज्रनाम की गुरुरात्त नगरी में जाकर वहाँ की भावली में निवास करो ॥३६-३७॥ दानवराज पश्य-

बड़ा आनन्द आने लगा ॥८-१०॥ फिर उन्होंने सुन्दर मुसकान वाली अत्यन्त रूप-
वती वञ्चनाभमुता प्रभावती को देखा तो एक-एक हम ने उससे परिचय प्राप्त कर
लिया और उनमें जो एक शुचिमुखी हसी थी, उससे तो उमका सहेली भाव ही
होगया ॥११-१२॥ तदनन्तर एक दिन उस हमी और प्रभावती के मध्य विविध
वात्तयें छिड़ गईं और तब अवसर पाकर हमी ने उससे कहा—हे सखी ! तुम
रूप, गुण, स्वभाव आदि में तीनों लोको में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी हो । मैं देखती हूँ
कि तुम्हारी यौवनावस्था व्यतीत होती जा रही है । जैसे जल का प्रवाह पीछे बगे
नहीं लौटता, वैसे ही गया हुआ यौवन पुन नहीं आता ॥१३-१४॥

कामोपभोगतुल्या हि रतिर्देवि न विद्यते ।
स्त्रीणा जगति कल्याणि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥१६॥
स्वयंवरे च न्यस्ता त्व पित्रा सर्वाङ्गशोभने ।
न च वाञ्छिचद्वयसे देवासुरकुलोद्भवान् ॥१७॥
व्रीडिता यान्ति सुश्रोणि प्रत्याख्यातास्त्वया शुभे ।
रूपशौर्यगुणैर्युक्तान्सदृशास्त्व कुलस्य हि ॥१८॥
आगतान्नेच्छसे देवि सदृशान्कुलरूपयो ।
इहैष्यति किमर्थं त्वा प्रद्युम्नो रुक्मिणीसुत ॥१९॥
अलोक्ये यस्य रूपेण सदृशो न कुलेन वा ।
गुणैर्वा चारुसर्वाङ्ग शौर्येणाप्यति वा शुभे ॥२०॥
देवेषु देव सुश्रोणि दानवेषु च दानव ।
मानुषेष्वपि घर्मात्मा मनुष्य स महाबल ॥२१॥
य सदा देवि दृष्ट्वा हि खवन्ति जघनानि हि ।
आपीनानीव घेनूना स्रोतासि सरितामिव ॥२२॥

स्त्रियों के लिये भोग के समान आनन्दप्रद कोई वस्तु नहीं है यह मैं
सत्य कहती हूँ ॥१६॥ मैं हँसी नहीं कर रही हूँ तुम्हारे पिता ने तुम्हें स्वेच्छापूर्वक
पति वरण करने का अधिकार दिया है, परन्तु तुम दैत्यवश अथवा देववश के
फिस्की भी पुरुष को पसंद नहीं कर रही हो ॥१७॥ जो भी तुम्हारे वश, रूप,

गुण, बल आदि में समान युवक यहाँ आये, वे सब तुम्हारी अस्वीकृति के कारण लज्जा से सिर झुका कर यहाँ से चले जाते हैं ॥१८॥ जब तुम अपने अनुरूप सभी युवकों को लोटा चुकी तो अब कौन तुमसे तिरस्कृत होना चाहेगा ? मैं एक ओर राजकुमार को बताती हूँ—वे रत्नमणीजी के पुत्र प्रद्युम्न हैं, उनके समान रूप, गुण, बल और वीरता में कोई भी पुरुष संसार में नहीं है ॥१९-२०॥ जो देवताओं में देवता माने जाते हैं, असुरों में असुर और मनुष्यों में पराक्रमी मनुष्य समझे जाते हैं ॥२१॥ जिनका एक बार दर्शन कर लेने पर स्त्रियाँ कामासक्त हो जाती हैं ॥२२॥

न पूर्णचन्द्रेण मुख नयने वा कुशेशये ।
उत्सहे नोपमातु हि मृगेन्द्रेणाय वा गतिम् ॥२३॥
जगत सारमुद्धृत्य पुन स विहित शुभे ।
कृत्वाऽनङ्ग वर साङ्ग विष्णुना प्रभावष्णुना ॥२४॥
हृतेन शम्भरो बाल्ये येन पापे निर्वहित ।
मायाश्च सर्वा संप्राप्ता न च शील विनाशितम् ॥२५॥
यान्दान्गुणान्पृथुश्रोणि मनसा कलयिष्यसि ।
एष्टव्यास्त्रिषु लोकेषु प्रद्युम्ने सर्व एव ते ॥२६॥
रक्ष्या वह्निप्रतीकाश क्षमया पृथिवीसम ।
तेजसा सूर्यसदृशो गाम्भीर्येण हृदोपम ।
प्रभायती शुचिमुग्धी हितोद्दोवाच भामिनी ॥२७॥

जिनका मुख पूर्ण चन्द्रमा के समान, आँखें कमल के समान और घात हथौड़ी के समान बसा, उससे भी बड़ कर है ॥२३॥ जिन्होंने अपने बालकपन में ही शम्भुरासुर को मार दिया, जो सत्र प्रकार के मायाओं को जानते हैं, जो सदैव निष्पट स्वभाव वाले हैं और जिन्हें भगवान् विष्णु ने अपने पुत्र रूप में ही उत्पन्न किया है ॥२४-२५॥ जो अग्नि के समान दीप्ति वाले, पृथिवी के समान क्षमाशील, सूर्य के समान तेजोमय और समुद्र के समान गम्भीर हैं । इन गुणों के अनतिशय भी जिन गुणों की तुलना करना बर मानी हो, वे सभी ध्येष्ट गुण

उनमे विद्यमान हैं । परन्तु तुम्हारे द्वारा यदि राजकुमारो का इस प्रकार तिरस्कार होना रहा तो प्रद्युम्न को यहाँ किस प्रकार लाया जा सकेगा ? हसी यह कह कर चुप होगई ॥२६ २७॥

विष्णुर्मानुपलोकस्थ श्रुत मुवहुशो मया ।
 पितु कथयत सीम्य नारदस्य च धीमत ॥२८
 शत्रु किल स दैत्याना वर्जनीय सदाऽनघे ।
 कुलानि किल दैत्याना तेन दग्धानि मानिनि ॥२९
 प्रदीप्तेन रथाग्नेन शाङ्गण गदया तथा ।
 शाखानगरदेशेषु वसन्ति किं येऽसुरा ॥३०
 प्रद्युम्न स्याद्यथा भर्ता स मे वृष्णि कुलोद्भव ।
 अत्यन्तवैरी दैत्यानामुद्वेजनकरो हरि ॥३१
 असुराणा स्त्रिधो वृद्धा कथयन्त्यो मया श्रुता ।
 प्रद्युम्नस्य तथा जन्म पुरस्तादपि मे श्रुतम् ॥३२
 यथा च तेन निहतो बलवान्कालशम्बर ।
 हृदि मे वतते नित्य प्रद्युम्न खलु सत्तमे ॥३३
 हेतु स नास्ति स्यात्तेन यथा मम समागम ।
 दासी तवाह सत्याहं दूत्ये त्वां च विसर्जये ॥३४
 पण्डिताऽसि वदोपाय मम तस्य च सङ्गमे ।
 ततस्ता सान्त्वयित्वा सा प्रहसन्तीदमब्रवीत् ॥३५

तब प्रभावती ने कहा—हे सखी ! महर्षि नारदजी और अपने पिताजी के द्वारा इस समय भगवान् विष्णु क मत्पलोक मे होने की बात मैं सुन चुकी हूँ ॥२८॥ दैत्यो के परमशत्रु उन विष्णु के चक्र घनुष और गदा के द्वारा हमारे दैत्यवग का बड़ा अपकार हुआ है—यह बताते हुए मेरे पिता सभी दैत्यो को उन से बचने को कहने रहते हैं ॥२९ ३०॥ तब यह बताओ कि जब प्रद्युम्न के पिता श्रीकृष्ण दैत्यो के परमशत्रु हैं तो प्रद्युम्न के साथ मेरा विवाह किस प्रकार हो ? ॥३१॥ प्रद्युम्न के जन्म होने और उनसे द्वारा गम्बराशुर के मारे जाने का सब

वृत्तान्त मैं वृद्धाओ के मुख से सुन चुकी हूँ, तभी से मेरा चित उनके प्रति आसक्त हो गया है ॥३२-३३॥ परन्तु, उनके साथ मिलने का कोई भी उपाय दिखाई नहीं देना, इसलिये यदि तुम इस विषय मे मेरी सदेश बाहिका बन सको तो बड़ी कृपा होगी ॥३४॥ तुम सब कार्यों मे अत्यन्त कुशल हो, इसलिये तुम ही कोई उपाय बताओ । यह सुन कर हृषी ने सान्त्वना भरे शब्दों मे उससे कहा ॥३५॥

तत्र दूती गमिष्यामि तवाह चारुहामिनि ।
 हमा भक्ति तवोदारा प्रवक्ष्यामि शुचिस्मिते ॥३६॥
 तथा चैव करिष्यामि यथेष्ट्यात् तवान्तिकम् ।
 साक्षात्कामेन मुश्रोणि भविष्यति सकामिनी ॥३७॥
 इति मे भाजित नित्य स्मरेया शुचिलोचने ।
 कथाकुशलता पिबे कथयस्वायतेक्षणै ॥३८॥
 ममत्वं तत्र मे देवि ह्रिव सम्प्रकप्रपत्स्वसे ।
 इयुक्ता सा तथा चक्रे यत्तत्सा तामथ ब्रवीत् ॥३९॥
 दानवेन्द्रश्च ता हसी पप्रच्छान्त.पुरे तदा ।
 प्रभायत्या समाख्याना कथाकुशलता तव ॥४०॥
 तत्त्वं शुचिमुखि ब्रूहि कथा योग्यतया वरे ।
 किं त्वया दृष्टमाश्चर्यं जगत्पुत्तमपक्षिणि ॥४१॥

शुचिमुखी हृषी बोली—हे सुन्दर मुसकान वाली मखी ! मैं तुम्हारी सदेश-बाहिकी बन कर अभी यहाँ जाती हूँ और प्रद्युम्न को तुम्हारे प्रेम का सदेश देकर उ हे यहाँ लाने का भी प्रयत्न करूँगी । यदि तुम्हारा यह कार्य बन गया तो फिर तुम माधाव कामदेव की भार्या बन जाओगी ॥३६-३७॥ हे सुन्दर नयन वाली ! तुम मेरे वचन की सत्प्रता को तो भविष्य मे देखोगी, परन्तु अभी तो तुम अपने पिता के पास जाकर मेरे वाक्-चातुर्य के विषय मे उनसे कहो ॥३८॥ मेरा विश्वास है कि तुम्हारी कामना अग्रय पूरी होगी । शुचिमुखी को गत गुन कर प्रभावती उगी समय अपने पिता के पास गई और उमन उन्हे हृषी के वाक्-चातुर्य की बात बतायी ॥३९॥ दैत्यराज ने अपनी पुत्री के गुण मे हृषी की गत

विशेषता सुनी तो वह तुरन्त ही उसके पास जाकर बोला—हे हृषी ! प्रभावती ने मुझे तुम्हारे वाक् चातुर्य के विषय में बताया था, जिससे प्रभावित होकर ही मैं तुम्हारे पास आया हूँ ॥ ४० ॥ इस समय मैं यही पूछना चाहता हूँ कि क्या तुमने इस जगत् में शुभ अशुभ युक्त अथवा अभूतपूर्व किसी आश्चर्य उत्पन्न करने वाली घटना को देखा है ? यदि देखा हो तो उसे भले प्रकार मुझमें कहो ॥ ४१ ॥

अदृष्टपूर्वमन्यैर्वायोग्यायोग्यमनिन्दिते ।
 सोवाच वज्रनाभ तु ह सी वरनरोत्तम ॥४२
 श्रूयतामित्यथामन्य दानवेन्द्र महाद्युतिम् ।
 दृष्टा मे शाण्डिली नाम सध्वी दानवसत्तम ।
 आश्चर्यं कर्म कुर्वन्ती मेरपाश्व मनस्विनी ॥४३
 सुमनाश्चैव वीशल्या सर्व भूतहिते रता ।
 कथञ्चिद्वरशाण्डिल्या शैलपुण्या शुभा सखी ॥४४
 नटश्चैव मया दृष्टो मुनिदत्तवरे शुभ ।
 कामरूपी च भोज्यश्च त्रैलोक्ये नित्य समत ॥४५
 कुरून्यात्युत्तरान्वीर कालभ्रद्वीपमेव च ।
 भद्राश्वान्केतुमालाश्च द्वीपानन्यास्तथानघ ॥४६
 देवगन्धवगेयानि नृत्यानि विविधानि च ।
 स वेत्ति देवान्नृत्येन विस्मापयति सर्वथा ॥४७

हे राजन् ! दैत्यराज की बात सुन कर हृषी ने उसे अभिवादन किया और बड़ने लगी—हे राजन् ! जो मैं कहती हूँ, उसे सुनो । सुमेरु पर्वत के निकट शाण्डिली नाम की मनस्विनी तथा सब प्राणियों का हित करने वाली एक साध्वी ने विस्मयजनक कार्यों को मैंने देखा है ॥४२-४३॥ उसकी एक परम सखी वीशल्या नाम की मनस्विनी है । उसके अतिरिक्त मैंने एक ऐसे नट को भी देखा है जो मुनियों के वरदान के कारण अपनी इच्छानुसार रूप धारण करने वाला, नृत्य और अभिनय में कुशल तथा सब का प्रिय है । वह कभी उत्तर कुरु, कभी वाताभ द्वीप, कभी भद्राश्व, कभी केतुमाल अथवा अग्यान्य स्थानों में जाता

हुआ तीतो लोको मे विचरण करता रहता है ॥४४४५-४६॥ उसके देवताओं और गधवों के समान नृत्य को देख बर और गायन को सुन कर देवताओं को भी आश्चर्य होता है ॥४७॥

श्रुतमेतन्मया हसि न चिरादिव विस्तरम् ।
चारणाना कथयता मिद्वाना च महात्मनाम् ॥४८॥
कुतूहल ममाप्यस्ति सर्वथा पक्षिनन्दिनि ।
नटे दत्तवरे तस्मिन्सस्तवस्तु न विद्यते ॥४९॥
सप्तद्वीपान्त्रिचरति नट स दितिजोत्तम ।
गुणवन्त जन श्रुत्वा गुणकार्यं स सर्वथा ॥५०॥
तव चेच्छृणुयाद्वीर सद्भूत गुणविस्तरम् ।
नट तदागत विद्धि पुर तव महासुर ॥५१॥
उपाय सृजता हसि येनेह स नट शुभे ।
आगच्छेन्मम भद्र ते विषय पक्षिनन्दिनि ॥५२॥
ते ह सा वज्रनाभेन वार्यहेतोर्विसजिता ।
देवेन्द्रायाथ कृष्णाय शशसु सर्वमेव तत् ॥५३॥
अधोक्षजेन प्रद्युम्नो नियुक्तस्तस्य कर्मणि ।
प्रभायत्याश्च ममर्गे वज्रनाभवधे तथा ॥५४॥

वज्रनाभ बोला—हे हमी ! कुछ दिन पहिले सिद्धो और चारणो ने उस नट के विषय मे मुझे बत कुछ बनाया था ॥४८॥ मैं भी उसे देखने के लिये अत्यन्त उत्सुक हूँ, परन्तु उसे बुलाने के लिये किसी प्रकार का निहोरा न बरके ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि वह मेरी प्रशंसा सुन कर स्वयं ही यहाँ आजाय ॥४९॥ इस पर हमी ने कहा—हे दैत्यराज ! वह नट सभी द्वीपों मे भ्रमण करता रहता है । यह लोग गुण को ग्रहण करने वाले होते हैं, वे जहाँ पर गुण पा होना सुनते हैं, वही स्वयं पहुँच जाते हैं ॥५०॥ जब वह आपके परम गुणों को सुनेगा, तब यही अवश्य ही आकर उपस्थित हो जायगा ॥५१॥ हमी ने यह कहने पर वज्रनाभ बोला—हे हमी ! तुम उसे मेरे नगर मे बुलाने के लिये कोई उपाय

करो ॥५२॥ यह वह कर दैत्यराज ने उन सभी हंसों को वहाँ से जाने की अनुमति प्रदान कर दी । हे गङ्गन् ! यद्यपि वे हंस वज्रनाभ के कार्य से गये थे, परन्तु उन्होंने वहाँ से स्वर्ग में जाकर इन्द्र को और द्वारका जाकर श्रीकृष्ण को सब वृत्तांत सुना दिया ॥५३॥ तत्र श्रीकृष्ण न प्रभावती ने साथ विवाह करने और वज्रनाभ को मारने विषयक सभी कार्य प्रद्युम्न पर छोड़ दिया ॥५४॥

दैवी माया समाश्रित्य सविधाय हरिर्नटम् ।
 नटवेषेण भैमाना प्रेषयामास भात ॥५५॥
 प्रद्युम्न नायक कृत्वा साम्ब कृत्वा विदूषकम् ।
 पारिपाश्वर्गे गद वीरमन्यान्भैमास्तथैव च ॥५६॥
 धारमुत्था नटी कृत्वा तत्तयसदृशास्तदा ।
 तथैव भद्र भद्रस्त सहायाश्च तथाविधान् ॥५७॥
 प्रद्युम्नविहित रम्य विमान ते महारथा ।
 जग्मुराहू कार्यं देवानामभिनीजसाम् ॥५८॥
 एकैकस्य समा रूपे पूरुषा पुरुषस्य ते ।
 स्त्रीणां च सदृशा सर्वे ते स्वस्पर्शनराशिना ॥५९॥
 ते वज्रनगरस्याथ शाखानगरमुत्तमम् ।
 जग्मुर्दानसकीर्णं स्वपुर नाम नामत ॥६०॥

फिर उन्होंने दिव्य माया के द्वारा यादवों का नट वेश बनाया और उन्हें वज्रनाभ पुर जाने का आदेश दिया ॥५५॥ उन नट मण्डली के नायक प्रद्युम्न हुए तथा साम्ब ने विदूषक का वेश बनाया और गद आदि अन्योन्य यादवगण तथा अनेकों वार वज्र नटी के वेश में सुसज्जित की गई । इस प्रकार श्रीकृष्ण के द्वारा नट वेश में सुसज्जित यादवगण प्रद्युम्न के आदेशानुसार रथारूढ होकर देवताओं का कार्य करने के लिये वहाँ से चले ॥५६-५७-५८॥ उन नट वेश वाले यादवों का अद्वितीय रूप था, उनका बठ-स्वर और देहगन लावण्य स्त्रियों को भी मोहित करने वाला था ॥५९॥ इस प्रकार नट वेशधारी वे यादव दानवों से भरे वज्रनाभ पुर के उपनगर स्वपुर में जा पहुँचे ॥६०॥

॥ प्रद्युम्न-प्रभावती-मिलन ॥

तत सुपुत्रवासीनामसुराणां नराधिप ।
 ददावाजां वज्रनाभो दीयतां गृहमुत्तमम् ॥१॥
 आतिथ्य क्रियतामेषा बहुरत्नमुपायनम् ।
 वासांश्च सुविचित्राणि सुखाय जनरञ्जनम् ॥२॥
 भर्तुं राज्ञा समालभ्य तथा चक्रुश्च सर्वशः ।
 पूर्वं श्रुतो नटः प्राप्तः कौतूहलमजीजनत् ॥३॥
 नटस्याथ ददुर्दत्ताः सत्कार परया मुदा ।
 पर्यायार्थं ददुश्चापि रत्नानि सुबद्धयथ ॥४॥
 ततः स ननूते तत्र वरदत्तो नटस्तथा ।
 स्वपुरे पुरवासीनां परं हर्षं समादधत् ॥५॥
 रामायण महाकाव्यमुद्देश्य नाटकीकृतम् ।
 जन्म विष्णोरमेयस्य राक्षसेन्द्रवधेऽप्यया ॥६॥

वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! उन नटों के आगमन से सभी नगर-
 नियासी उत्सुक हो उठे और वज्रनाभ ने दैत्यों को उनके टहरने के लिये उत्तम
 स्थान देने का आदेश दिया ॥१॥ उनका उचित सरकार किया जाय तथा उपहार
 स्वरूप विविध रत्न, वस्त्रादि उन्हें दिये जाय—इस आज्ञा के मिलते ही दानवी
 ने तुरन्त ही वैसी व्यवस्था करदी । उन नटों की प्रमिद्धि भी बड़ी पहिले में ही
 होरही थी ॥२-३॥ इसलिये सभी दानवी ने उन नटों का भले प्रकार अतिथि-
 सरकार कर उन्हें सुमजिबत होने के लिये अनेक प्रकार के रत्न प्रदान किये ॥४॥
 फिर जब उन नटों के नायक ने नृत्य आरम्भ किया तब तो नागरिकों में अमी-
 मित आनन्द छागया ॥५॥ नृत्य के पश्चात् रामायण महाकाव्य पर आधारित
 अभिनय प्रारम्भ हुआ, उसमें रावण के मारने के लिये राम का जन्म होने का
 रस्य दिखाया जा रहा था ॥६॥

संस्काराभिनयौ तेषां प्रस्तायानां च धारणम् ।
 दृष्ट्वा सर्वे प्रवेशं च दानवा रिम्भयन्तताः ॥७॥

ते रक्ता विस्मयं नेदुरसुगः परया मुदा ।
 उत्थायोत्थाय नाटयस्व विषयेषु पुन पुन ॥८
 ददुर्वस्त्राणि तुष्टाश्च ग्रैवेप्रवलयानि च ।
 हारान्मनोहराश्चैव हेमवैदूर्यभूषितान् ॥९
 ततो ह सी प्रभावत्या सखी प्राह प्रभावतीम् ।
 गताऽस्मि द्वारका रम्या भैमकुलामभिन्दिते ॥१०
 प्रद्युम्नश्च मया दृष्टो विविषते चारुलोचने ।
 भक्तिश्च कथिता तस्य मया तव शुचिस्मिते ॥११
 तेन हृष्टेन कालश्च कुनः कमललोचने ।
 अद्य प्रदोषसमये त्वया सह समागमे ॥१२

उनकी अभिनय कुशलता और प्रस्तावना आदि कार्यों को देख कर सभी
 उपस्थित दृश्य बड़े विस्मित हुए और जब नाटक का एक एक दृश्य अभिनीत
 होकर बदलने लगा तब तो वे आनन्द के कारण कीलाहल करने लगे । साथ ही
 उन्होंने उन अभिनेताओं को श्रेष्ठ रत्न, कठ हार, वैदूर्य आदि मणियों से जड़ी
 हुई माला आदि तथा श्रेष्ठ वस्त्रादि भेंट किये ॥७-८-९॥ इसी अवसर पर
 शुचिमुखी हसी प्रभावती के पास गई और उसमें बहने लगी—हे राजकुमारी !
 मैं यादवों की द्वारका पुरी में गई थी और वहाँ प्रद्युम्न से {एवान्त में मिल कर
 तुम्हारे प्रेम का वृत्तान्त उन्हें सुना दिया, इस पर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और
 आज ही सायंकाल में तुम्हारे पास आने का उन्होंने वचन दिया है ॥१०-११-१२॥

तदद्य रुचिरश्रोणि तव प्रियसमागमः ।
 न ह्यात्मवति भापन्ति मिथ्या भैमकुलदूताः ॥१३
 ततः प्रभावती हृष्टा ह सी तामिदमब्रवीत् ।
 उपिताऽसि मयाऽऽवासे स्वप्नुमहंसि सुन्दरि । १४
 त्वयाऽहं सहिताऽऽवासे द्रष्टुमिच्छामि कैशविम् ।
 निःसाध्वना भविष्यामि त्वया सह विहङ्गमे ॥१५
 हंसी तथेति चोपाच सखी वमतलोचनाम् ।
 आरुरीह च तदम्यं प्रभावत्या विहङ्गमा ॥१६

विश्वकर्मकृते तस्य हर्म्यपृष्ठे प्रभावती ।

सविधान चकाराशु प्रद्युम्नागमनक्षमम् ॥१७॥

इसलिये आज तुम्हारा अपने प्रिय से मिलना अवश्यभावी है, क्योंकि यदु-
वशी कभी मिथ्या भाषण नहीं करते ॥१३॥ तब प्रभावती बड़ी हर्षित हुई और
बह हसी से बोली—हे सखी ! तुम बहुत काल से मेरे घर में रहती हो, इसलिये
आज रात्रि में भी तुम्हें यहाँ रहना होगा ॥१४॥ क्योंकि कृष्णपुत्र प्रद्युम्न को मैं
तुम्हारे सामने ही देखना चाहती हूँ उस समय तुम यहाँ रहोगी तो मुझे कोई
भय नहीं रहेगा ॥१५॥ राजकुमारी के प्रस्ताव से सहमत हुई हुई हसी उसके
साथ ही एक विश्वकर्मा निर्मित प्रासाद पर चढ़ कर प्रद्युम्न के सत्कार-योग्य
वस्तुओं को इकट्ठा करने लगी ॥१६-१७॥

॥ प्रद्युम्न प्रभावती विवाह ॥

आविष्टेय मया वाला सर्वथेत्यवगम्य तु ।

काष्णिहं धेन मनसा ह सीमिदमुवाच ह ॥१॥

दैत्येन्द्रतया प्राप्तमव गच्छस्व मामिह ।

पटपदै सह पटपादो भूत्वा माल्ये निलीय हि ॥२॥

विधेयोऽस्मि प्रभावत्या यथेष्ट मयि वर्तताम् ।

इत्युक्त्वा दर्शयामास सुरूपो रूपमात्मन ॥३॥

तद्धर्म्यपृष्ठ प्रभया द्योतित तस्य धीमत ।

अभिमूता प्रमा चैव राजश्चन्द्रोद्भवा शुभा ॥४॥

प्रभावत्यास्तु त दृष्ट्वा बबृधे वाममागर ।

चन्द्रस्येवोन्मये प्राप्ते पर्वण्या सरिता पति ॥५॥

सलज्जाद्योमुगो त्रिजिन्वित्त्रिजित्तिर्यगवेक्षिणी ।

प्रभावती तदा तस्यो निश्चल वमलेशणा ॥६॥

करेणाध प्रदेक्षे ता चान्मपणभूषिताम् ।

रूपोद्भास्य सरारोहा रोमज्जिन्वित ॥७॥

मनोरथशतैर्लब्धं किं पूर्णेन्दुसमप्रभम् ।

अधोमुखं मुखं कृत्वा न मा कञ्चित्प्रभापसे । ॥

वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! श्रीकृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न ने प्रभावती को अपने ऊपर आसक्त जान कर हथी से कहा कि तुम देव्यपति वज्रनाभ की पुत्री से कह दो कि मैं भीरो मे मिल कर माता के साथ ही उनके यहाँ आकर उपस्थित होगया हूँ ॥१-२॥ इस समय मैं प्रभावती का अनुगत हूँ, और जैसा वह बहे वैसा ही करने को तत्पर हूँ, यह कहते हुए प्रद्युम्न अपने यथार्थ रूप में वहाँ प्रकट हो-
गये ॥३॥ उनके रूप की आभा से सम्पूर्ण महल जगमगा उठा और चन्द्रमा की चाँदनी भी फीकी पड़ गई ॥४॥ जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा को देख कर समुद्र उमड़ने लगता है, वैसे ही प्रद्युम्न के दर्शन करते ही, प्रभावती के हृदय का प्रेम रूपी समुद्र उमड़ पड़ा ॥५॥ परन्तु वह पद्माक्षी लज्जा से सिर झुकाये हुए और कभी-कभी उनकी ओर देवती हुई मौन भाव से बैठी रही ॥६॥ तब प्रद्युम्न ने उसकी ठोड़ी को ऊपर की ओर करते हुए कहा कि मैं घोर परिश्रम करने के पश्चात् तुम्हारे चन्द्रमुख को देख सफा हूँ, फिर तुम सिर झुकाये हुए क्यों बैठी हो ? ॥७॥

प्रमोपमदं मा कार्पीवन्दनस्य वरानने ।

साध्वस त्यज्यता भीरु दास साध्वनुगृह्यताम् ॥८॥

न कालमिव पश्यामि भीरु भीरुत्वमुत्सृज ।

याचाम्येपोऽञ्जलिं कृत्वा प्राप्तकाल निबोध मे ॥९॥

गान्धर्वेण विवाहेन कुरुव्रानुग्रहं मम ।

देशकालानुरूपेण रूपेणाप्रतिमा सती ॥१०॥

उपस्पृश्य ततो भौमो मणिस्थ जातवेदसम् ।

जुहाव समये वीर पुष्पर्मन्त्रानदीरयन् ॥११॥

जग्राहाय करे तस्या वरामरणभूषितम् ।

चक्रे प्रदक्षिण चैव तं मणिस्थं हुताशतम् ॥१२॥

प्रज्ज्वाल स तेजस्वी मानयन्नच्युतात्मजम् ।

भगवान्जगन्तः साक्षी शुभस्याथाशुभस्य च ॥१३॥

उद्दिश्य दक्षिणा वीरो विप्राणा यदुनन्दन ।

उवाच ह सी द्वारस्था तिष्ठावा रक्ष पक्षिणि ॥१५॥

हे श्रेष्ठ मुख वाली ! तुम भयभीत न हो और जब मैं तुम्हारा अनुगत यहाँ उपस्थित हूँ तो भय का कोई कारण है भी नहीं ॥१६॥ मैं तुम्हें किंचित् भी भयभीत नहीं देखना चाहता, इपलिये तुम भय को बिल्कुल ही छोड़ दो और इस समय गाधर्व विशाह बरने की मुझे अनुमति दो ॥१०-११॥ यह कह कर प्रद्युम्न ने मनी का उच्चारण कर माँ में स्थित अग्नि को स्पर्श करके आहुति प्रदान की ॥१२॥ फिर श्रेष्ठ आभूषण वाली प्रभावती का पाणिग्रहण करके मणि में स्थित अग्नि की परिक्रमा करने लगे ॥१३॥ तभी सम्पूर्ण विश्व के शुभ-अशुभ कर्मों के द्रष्टा अग्नि देवता प्रद्युम्न के सम्मानार्थ प्रज्वलित हो उठे ॥१४॥ इस प्रकार विवाह होने के उपलक्ष्य में ब्राह्मणों की दक्षिणा सकल्प करके उन्होंने हसी को रक्षा के लिये द्वार पर नियुक्त किया ॥१५॥

वज्रनाभस्य तु भ्राता सुनाभो नाम विश्रुत ।

दुहितृद्वयं च नृपतेस्तस्य रूपगुणान्विनम् ॥१६॥

एका चन्द्रवती नाम्ना गुणवत्यथ चापरा ।

प्रभवात्यालयं ते तु व्रजतं यलु नित्यदा ॥१७॥

ददृशाते तु ते तत्र रतिसक्ता प्रभावतीम् ।

परिपप्रच्छनुश्चैव विलम्बोपगता सतीम् ॥१८॥

सोत्राच्च मम विद्याऽस्ति याऽग्नीनां वाक्षितं पतिम् ।

रत्यर्थं साऽऽनयत्याशु सौभाग्यं च प्रयच्छति ॥१९॥

देव वा दानव वापि विवशं मद्य एव हि ।

साऽहं रमामि कान्तेन देवपुत्रेण धीमता ॥२०॥

दृश्यतां मत्प्रभावेण प्रद्युम्न सुप्रियो मम ।

ते दृष्ट्वा विस्मयं याते रूपयौवनसम्पदम् ॥२१॥

दैत्यराज वज्रनाभ का गुनाभ नामक एक भाई था । उसकी दो पुत्रियाँ चन्द्रवती और गुणवती नाम की थी । वे दोनों सुंदरी प्रभावती के भवा में प्रति

का पाणिग्रहण कर लिया । उनमें गद का चन्द्रवती में और साम्ब का गुणवती से विवाह हुआ ॥३२-३३॥ फिर वे इन्द्र और श्रीकृष्ण के आदेश प्राप्ति की प्रतीक्षा करते हुए उन दानव पुत्रियों के साथ आनन्दपूर्वक दिन काटने लगे ॥३४॥

॥ श्रीकृष्ण द्वारा शिवजी की स्तुति ॥

जगतश्चक्षुषि ततो मुहूर्ताभ्युदिते रवौ ।
 प्रादुरासीद्वरिदेवस्ताक्ष्येणोरगशश्रुणा ॥१॥
 ह सवायुमनोभिश्च सुशीघ्रतरंग भग ।
 तस्यो वियति शक्रस्य समीपे कुसुमन्दन ॥२॥
 समेत्य च यथान्याय कृष्णो वासवसन्निधौ ।
 पाञ्चजम्य हरिर्दध्मौ दैत्याना भयवर्द्धनम् ॥३॥
 त श्रुत्वाऽभ्यागतस्तत्र प्रद्युम्नो वरवीरहा ।
 वज्रनाभ जहोत्युक्त केशवेन त्वरेति च ॥४॥
 ताक्ष्यमारुह्य गच्छेति पुनरेव प्रणोदित ।
 चकार स तथा वीर प्रणिपत्य सुरोत्तमौ ॥५॥
 स मनोरहसा वीर ताक्ष्येणाशु ययौ नृप ।
 अभ्यास वज्रनाभस्य महाद्वन्द्वस्य भारत ॥६॥
 ततस्ताक्ष्यगतो वीरस्ततर्द्ध रणमूर्द्धनि ।
 वज्रनाभ स्थिरो भूत्वा सर्वास्त्रविदनिन्दित ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! फिर सूर्योदय होने के उपरान्त जब छह दण्ड दिन चढ़ गया, तब भगवान् श्रीकृष्ण गरुड पर चढ़ कर वज्रपुर में आये ॥१॥ उस समय गरुड वायु से भी अधिक वेग से चले और आकाशमाग में स्थित हुए इन्द्र के पास जाकर ठहर गये ॥२॥ इस प्रकार जब इन्द्र और उपेन्द्र श्रीकृष्ण को भेंट हुई तब श्रीकृष्ण ने दैत्यों को भयभीत करने वाले अपने पाञ्चजम्य शस्त्र की ध्वनि की ॥३॥ उस शस्त्र ध्वनि को सुनते ही प्रद्युम्न श्रीकृष्ण के समक्ष जाकर उपस्थित हुए । उस समय श्रीकृष्ण ने उनसे कहा—हे पुत्र ! तुम

तुरंत गरुड पर चढ़ कर दैत्यराज वज्रनाभ की मार डालो ॥४॥ पिता का आदेश सुन कर प्रद्युम्न उठे और इन्द्र को प्रणाम किया तथा सन के से वेग वाले गरुड पर चढ़ कर वज्रनाभ के सामने जा पहुँचे । ५६॥ फिर शस्त्र विद्या में पारंगत प्रद्युम्न ने युद्ध क्षेत्र में जाकर अपने अत्यन्त पौने वाणों से वज्रनाभ पर प्रहार किया ॥७॥

तेन ताक्ष्यंगतेनैव गदया वृष्णसूनुना ।
उरस्यभ्याहतो वीरो वज्रनाभो महात्मना ॥८॥
स तेनाभिहतो वीरो दैत्यो मोहवश गत
चक्षार च भृश रक्त बभ्रामैव गतासुवत् ॥९॥
आश्वसेत्यथ त कार्ष्णिस्त्वाच रणदुजय ।
लब्धसज्ज स वीरस्तु प्रद्युम्नमिदमब्रवीत् ॥१०॥
साधु यादव वीर्येण श्लाघ्यो मम रिपुर्भवान् ।
प्रतिप्रहारकालोऽयं स्थिरो भव महाबल ॥११॥
एवमुक्त्वा महानाद मुक्त्वा मेघशतोपमम् ।
गदा मुमाच वेगेन सघण्टा बहूकण्टकाम् ॥१२॥
तथा ललाटेऽभिहत प्रद्युम्ना गदया नृप ।
उद्धमन् रुधिर भ्रि मुमोह यदुनन्दन ॥१३॥
त दृष्ट्वा भगवान्कृष्ण पाञ्चजन्य जलोद्भवम् ।
दध्मायाश्वासनकर पुस्तस्य रिपुनाशन ॥१४॥
त पाञ्चजन्यशब्देन प्रत्याश्वस्त महाबलम् ।
दृष्ट्वा प्रमुदिता लोका विशेपेणेन्द्रकेशवी ॥१५॥

थोड़े ही समय में उन गरुड वाहन प्रद्युम्न ने गदा प्रहार से हृदय पर आपात की प्राप्त हुआ वज्रनाभ रुधिर वमन करता हुआ मूर्च्छित हो गया ॥८॥ फिर जब उठी चेत हुआ, तब प्रद्युम्न उससे बोले—हे दैत्येन्द्र ! धीरज रखो । इस पर वज्रनाभ ने कहा—हे यदुधुमार ! अबश्य ही तूम् महाबली और प्रणाम के योग्य हो । परन्तु अब मेरे प्रहार की सहन करने के लिये संभव जाओ ॥१०॥

दिन जाती थी ॥१६१७॥ उन दोनों ने जब प्रभावती को भोगों में आसक्त हुई देखा, तब उन्होंने परिहासपूर्वक उसका वारण पूछा ॥१८॥ इस पर प्रभावती बोली कि मुझे एक विद्या सिद्ध है, जिसके प्रभाव से देवता, दैत्य अथवा जिस अन्यान्य युवक को पति रूप में मान कर उसकी कामना की जाय तो वह तुरन्त ही आजाता है । वह देखो, मैंने उसी विद्या के प्रभाव से प्रद्युम्न पति मान कर यहाँ बुला लिया है । उसके सकेत पर उन दोनों ने प्रद्युम्न को वहाँ देखा तो वे दोनों ही चौंक पड़ी ॥१६-२१-२१॥

पुनरेवाग्रवीत्ते तु भगिन्यो चारुहासिनी ।
 प्रभावती वरारोहा कालप्राप्तमिदं वच ॥२२
 देवा धर्मरता नित्यं दम्भशीला महासुरा ।
 देवास्तपसि रक्ता हि सुखे रक्ता महासुरा ॥२३
 देवा सत्ये रता नित्यमनृते तु महासुरा ।
 धर्मस्तपश्च सत्यं च यत्नं तत्तज्जयो ध्रुवम् ॥२४
 देवपुत्रो रयता पती विद्या ददाम्यहम् ।
 उचिती मत्प्रभावेण सद्य एवोपलप्स्यथ ॥२५
 ता तथेत्यूचतुष्टुं भगिन्यो चारुचोचनाम् ।
 परिप्रच्छ भ्रमं च कार्यं तत्पतिमानिनी ॥२६
 स पितृव्यं गदं वीरं साम्बं चाथाग्रवीत्तदा ।
 रूपान्विता च सुशीला च शूरी च रणकर्मणि ॥२७
 परितुष्टेन दत्ता मे विद्या दुर्वाससा पुरा ।
 परितुष्टेन सौभाग्यं सदा कन्यात्वमेव च ॥२८
 देवदानवयक्षाणां यदप्यास्यसि स ते पति ।
 भवितेति भया चैव वीरोऽयमभिकाक्षित ॥२९

तब उस थोळ मुगवान वाली प्रभावती ने उनसे कहा—देवता सदा धार्मिक कार्यों की और दानव दम्भ के कारण बुरे कर्मों को करते रहते हैं । देवता सदा सत्य शीलते और दैत्य मिथ्या भाषण में स्तब्ध रहते हैं । परन्तु जहाँ

तप और धर्म है, वही सत्य और विजय है ॥२२-२३-२४॥ इसलिये मैं तुम्हें भी उस विद्या को बताती हूँ, तुम भी दो देवताओं की पति रूप में अभिलाषा करो तो वे तुम्हारे सामने तुरन्त ही आजायेंगे ॥२५॥ यह सुन कर चन्द्रवती और गुणवती दोनों ने उसकी बात मान ली, तब प्रभावती ने प्रद्युम्न से सब समाचार कह कर अब क्या करना चाहिये—यह पूछा ॥२६॥ तब प्रद्युम्न ने अपने पितृव्य गद और भाई साम्ब के विषय में कहा कि वे दोनों ही अत्यन्त मुन्दर, गुणी, सुशील तथा युद्ध-कुशल हैं ॥२७॥ यह जान कर प्रभावती ने उन दोनों को जाकर बताया कि महर्षि दुर्वासा ने इस विद्या के प्रदान पूर्वक मुझ से कहा था कि देवता, दैत्य, यक्ष आदि में से तुम जिसे भी अपना पति बनाने की इच्छा करोगी, वही तुम्हारा पति हो जायगा । इसीलिये मैंने प्रद्युम्न को अपना पति बताया है ॥२८-२९॥

गृहणीतं तदिमां विद्या सद्यो वा प्रियसङ्गमः ।

ततो जगृहतुर्हृष्टे तां निद्या भगिनीमुखात् ॥३०॥

दध्यनुगंदमाम्बो च विद्यामभ्यस्य ते शुभे ।

तो प्रद्युम्नेन सहितो प्रविष्टौ भैमनन्दनौ ३१

प्रच्छन्तौ मायया वीरी कार्त्तिकेना मायिना नृप ।

गान्धर्वेण विवाहेन तावप्यरिबलार्दनौ ॥३२॥

पाणि जगृहतुर्वीरो मन्त्रपूर्वं सता प्रियौ ।

चन्द्रवत्या गदः साम्बो गुणवत्या च कैशविः ॥३३॥

रेमिरेऽसुरकन्याभिर्वीरास्ते यदुपुङ्गवाः ।

मार्गमाणास्त्वनुज्ञां ते शक्रकेशवयोस्तदा ॥३४॥

इसलिये, तुम भी इस विद्या को सीख कर शीघ्र ही प्रिय के मिलन का सुख प्राप्त करो । यह सुन कर दोनों बहिनों ने प्रभावती से उस विद्या को प्राप्त करके गद और साम्ब की कामना की तो वे दोनों यादव बुद्ध देर में ही वहाँ आये ॥३०-३१॥ परन्तु मायावी प्रद्युम्न की माया के प्रभाव से उस दान का स्मि को पता न लग सका । फिर मन्त्रोच्चारण पूर्वक उन दोनों ने, दोनों कन्याओं

११॥ यह वह रुद्र वज्रनाभ ने अपनी घण्टा और पाँटी से युक्त गदा को भीषण गर्जन पूर्वक प्रद्युम्न पर चलाया ॥१२॥ तब लगने लगे प्रद्युम्न बुरी तरह घायल होकर मुख से रक्त वमन करने लगे और उह मूर्च्छा आ गई ॥१३॥ उनकी यह दशा देख कर श्रीकृष्ण ने अपने पाञ्चजन्य शस्त्र की ध्वनि की, जिसे सुन कर प्रद्युम्न को चेतन्यता आई, यह देख कर इन्द्र और कृष्ण को अत्यन्त हर्ष हुआ ॥ १४-१५ ॥

तस्य चक्र करे यात कृष्णच्छन्देन भारत ।
 धुरनेमिसहस्रार दैत्ययधकुलातकम् ॥१६॥
 तन्मुमोचाच्युतसुतस्तस्य नाशाय भारत ।
 तमस्कृत्वा सुरेन्द्रायैकृष्णाय च महात्मने ॥१७॥
 वज्रनाभस्य तत्कामादुच्चकर्त शिरस्तदा ।
 नारायणसुनोन्मुक्त दैत्यानामनुपश्यताम् ॥१८॥
 गद सुनाभमवधीद्यतमान रणाजिरे ।
 हर्म्यपृष्ठे जिघासन्त रणहृष्ट भयानकम् ॥१९॥
 साम्ब समरमध्यस्थानसुरानरिमर्दन ।
 निनाय निशितैर्वाणैः प्रेताधिपपरिग्रहम् ॥२०॥
 निकुम्भोऽपि हते वीरे वज्रनाभे महासुरे ।
 जगाम षट्पुर वीरो नारायणभर्यादिनम् ॥२१॥

इसके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण का दानव वश विध्वंसक सुदर्शन चक्र प्रद्युम्न के हाथ में पहुँच गया ॥१६॥ चक्र के हाथ में आते ही प्रद्युम्न ने श्रीकृष्ण और सुरेन्द्र को प्रणाम करके उस चक्र को वज्रनाभ के सहारार्थ प्रेरित किया ॥१७॥ तब उस प्रेरित हुए चक्र ने वज्रनाभ के मस्तक को सब दैत्यों के देखते-देखते छिन्न भिन्न कर धरती पर गिरा दिया ॥१८॥ वज्रनाभ के भाई रणदत्त और सुनाभ अपने भवनों पर चढ़े हुए यादवों को लक्ष्य बना कर मार रहे थे, उन दोनों को गद ने वाणों के प्रहार से मार डाला ॥१९॥ तदनन्तर साम्ब ने रणक्षेत्र में उपस्थित सभी दानवों को अपने सुतीक्ष्ण वाणों ॥ वध कर-करके उन्हे यम रादन की प्राप्ति कराई ॥२०॥ हे राजन् ! महादानव वज्रनाभ की मृत्यु का

समाचार मिलते ही भगवान् कृष्ण से भयभीत होकर निकुम्भ अपने नगर वटपुर को चला गया था ॥२१॥

निवर्हिते देवरिपी वज्रनाभे महासुरे ।
 अवतीर्णो महात्मानो हरी वज्रपुरं तदा ॥२२
 लब्धप्रशमनं चैव चक्रतु सुरसत्तमो ।
 सान्त्वयामास तुश्चैव बालवृद्ध भयार्दितम् ॥२३
 इन्द्रोपेन्द्रो महात्मानो मन्त्रयित्वा महाबली ।
 आयत्त्या च तदात्वे च बृहस्पतिमनानुगौ ॥२४
 वज्रनाभस्य तद्राज्यं चतुर्धा चक्रतुर्नृप ।
 विजयस्य चतुर्भागं जयन्ततनयस्य वै ॥२५
 प्रद्युम्नस्य चतुर्भागं रौक्मिणेशसुतस्य च ।
 चन्द्रप्रभस्य ददतुश्चतुर्भागं जनेश्वर ॥२६
 कोट्यश्चतस्रो ग्रामाणामधिकास्ता विशांपते ।
 शाखापुरसहस्रं च स्फीत वज्रपुरोपमम् ।
 चतुर्धा चक्रतुस्तान सहृदोः शक्रकेशवौ ॥२७

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण और इन्द्र दोनों ही वज्रपुर में जाकर प्रकट होगये । उनके आने से भय-विभ्रित हुए दानव बालक, वृद्धो आदि को उन्होंने सात्वना दी ॥२२-२३॥ फिर वज्रपुर का शासन-प्रग्रन्थ ठीक प्रकार से चयन करे, इगल लिये उन्होंने देवगुरु बृहस्पतिजी से मन्त्रणा करने वज्रपुर की चार सण्डो में विभक्त कर दिया । उनमें से एक सण्ड जयन्त पुत्र विजय को, दूसरा प्रद्युम्न पुत्र धनिष्ठ को, तीसरा सण्ड साम्य के पुत्र को और चौथा सण्ड मद के पुत्र चन्द्र-प्रभ को प्रदान किया ॥२४-२६॥ वज्रपुर के चारो ओर जो चार बरोड गाँव और वज्रपुर के समान हजारो उपनगर थे, वे तथा गम्दल, चर्म, वस्त्र, रत्नादि विविध मेख्यं ने भी चार भाग करने चन्दी में बाँट दिये ॥२७-२८॥

॥ शम्बरामुर द्वारा प्रद्युम्न का अपहरण ॥

य एष भवता पूर्वं शम्बरघ्नेत्युदाहृतः ।
 प्रद्युम्न स कथं चघ्ने शम्बरं तद्व्रवीहि मे ॥१॥
 रुक्मिण्या वासुदेवस्य लक्ष्या कामो धृतव्रतः ।
 शम्बरान्तकरो जज्ञे प्रद्युम्न कामदर्शनः ।
 सनत्कुमार इति यः पुराणे परिगीयते ॥२॥
 तं सप्तरात्रे संपूर्णे निशीथे सूतिकागृहात् ।
 जहार कृष्णस्य सुतं शिशुं त्रैकालशम्बर ॥३॥
 विदितं तस्य कृष्णस्य देवमायानुवर्तिनः ।
 ततो न निगृहीतः स दानवो युद्धदुर्मदः ॥४॥
 स मृत्युना परीतायुर्मायया सजहार तम् ।
 दोर्म्यामुत्क्षिप्य नगरं स्वनिनाय महासुर ॥५॥
 अनपत्या तु तस्यासीद्भार्या रूपगुणान्विता ।
 नाम्ना मायावती नाम मायेव शुभदर्शना ॥६॥
 ददौ तं वासुदेवस्य पुत्रं पुत्रमिवात्मजम् ।
 तस्या महिष्या मायिन्या दानवः कालचोदितः ॥७॥

राजा जनमेजय ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आपने प्रद्युम्न को शम्बरामुर का मारने वाला बताया है, तो वृषभा वह कथा मुझे सुनाइये कि प्रद्युम्न ने उसे कैसे मारा ? ॥१॥ वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण की रुक्मिणी नाम की भार्या ने प्रद्युम्न को जन्म दिया था । वे प्रद्युम्न कामदेव के अवतार और पूर्वकाल में सनत्कुमार नाम से विख्यात थे ॥२॥ जन्म होने से सात दिन व्यतीत होने पर आधी रात के समय सूतिकागृह से ही शम्बरामुर ने प्रद्युम्न को हरण कर लिया था ॥३॥ यद्यपि माया के जानने वाले भगवान् को यह सब विषय ज्ञात था, फिर भी उन्होंने शम्बरामुर को मारने का कोई यत्न नहीं किया ॥४॥ इसी-लिये काल के वशीभूत हुआ वह दैत्य प्रद्युम्न को उठा कर अपने पुर में ले गया ॥५॥ माया ही समान ही मायावती नाम की उसकी पत्नी थी, अभी तब उनके

कोई पुत्र नहीं हुआ था, इसलिये शम्बरसुर ने प्रद्युम्न को मायावती को दे दिया
॥ ६-७ ॥

मायावती तु तं दृष्ट्वा सप्रहृष्टतनूहृष्टा ।
हर्षेण महता युवता पुनः पुनरुदेक्षत ॥८
अथ तस्या निरीक्षन्त्याः स्मृतिं प्रादुर्वभूव ह ।
अयं स मम कान्तोऽभूत्स्मृत्वा चान्वचिन्तयत् ॥९
अयं स नाथो भर्ता मे यस्यार्थेऽहं दिवानिशम् ।
चिन्ताशोकाणवे मग्ना न विन्दामि रतिं क्वचित् ॥१०
अयं भगवता पूर्वं देवदेवेन शूलिना ।
प्रेदितेन कृतोऽनङ्गो दृष्ट्वा जात्यन्तरे मया ॥११
कथमस्य स्तनं दास्ये मातृभावेन जानती ।
भर्तुं भार्या त्वहं भूत्वा वक्ष्ये वा पुत्र इत्युत ॥१२
एव सचिन्त्य मनसा धात्र्यास्त सा समर्पयत् ।
रसायनप्रयोगैश्च शीघ्रमेव व्यवधंयत् ॥१३
धात्र्याः सकाशात्स च ता शृण्वन् नृ निमणिनन्दनः ।
मायावतीमविज्ञानान्मेने स्वामेव मातरम् ॥१४
सा च तं वर्दयामास कार्णिण कमललोचनम् ।
मायाश्चारमं ददौ सर्वा दानवी काममोहिता ॥१५

प्रद्युम्न को देखते ही मायावती पुनर्जित हो उठी और अत्यन्त हर्षित हो-
कर उसे बारम्बार देखने लगी ॥८॥ फिर उसे पूर्वजन्म का स्मरण हुआ कि यह
तो मेरे पति ही थे । वह सोचने लगी कि मैं इन्हीं की प्राप्ति के लिये इतनी व्य-
थित रहती थी ॥९-१०॥ मायावती को यह भी याद आ गई कि निवन्त्री ने क्रोध
परके इसे देह-रहित कर दिया था ॥११॥ इसलिये मैं इन्हे स्तन पान कैसे करा
सूँगी और पुत्र भी कैसे कहूँगी ? ॥१२॥ यह सोच कर उसने प्रद्युम्न के लिये
एक घाघ की निगुचित की और रसायन आदि के प्रयोग से यह उनकी शीघ्रता
से दृष्टि कराने लगी ॥१३॥ निमिषी पुत्र प्रद्युम्न ने घाघ के बहने से मायावती

को ही अपनी माता समझा ॥१॥ फिर जैसे जैसे प्रद्युम्न की देह-वृद्धि होने लगी,
वैसे-वैसे ही कामासक्त हुई मायावती उन्हें विविध दानवी मायाएँ सिखाने लगी
॥ १५ ॥

स यदा यौववस्यस्तु प्रद्युम्नः कामदर्शनः ।
चिकीर्षितज्ञो नारीणां सर्वास्त्रविधिपारगः ॥१६॥
तं सा मायावती कान्त कामयामास कामिनी ।
इङ्गितैश्चापि वीक्षन्ती प्रालोभयत्, सस्मिता ।
प्रमज्जन्ती तु ता देवी वभापे चारुहसिनीम् ॥१७॥
मातृभावं व्यतिक्रम्य किमेव वर्ततेऽन्यथा ।
अहो दुष्टस्वभावाऽसि स्त्रीत्वे चपल मानसा ॥१८॥
या पुत्रभावमुत्सृज्य मयि लोभात्प्रवर्तसे ।
न तु तेऽहं सुतः सौम्ये कोऽयं शीलविपर्ययः ॥१९॥
तत्त्वमिच्छाम्यहं देवि वयित को न्वय विधिः ।
विद्युत्सम्पातचपलः स्वभावः प्लु योपिताम् ॥२०॥
या नरेषु प्रसज्जन्ते नगाग्रेषु घना इव ।
यदि तेऽहं सुतः सौम्ये यदि वा नात्मजः । शुभे ॥२१॥
वयित तत्त्वमिच्छामि किमिदं ते चिकीर्षितम् ।
एवमुक्ता तु सा भीरु कामेन व्ययितेन्द्रिया ॥२२॥
प्रिय प्रोवाच वचनं विविकते केशवात्मजम् ।
न त्वं मम सुतः कान्त नापि ते शम्भरः पिता ॥२३॥

इस प्रकार युवावस्था में प्रवेश करते हुए प्रद्युम्न माया और अस्त्रविद्या में पारगत होकर स्त्रियों के हाव-भाव समझने लगे । उस समय उनके रूप पर मोहित हुई मायावती विविध प्रकार के कामप्रद हाव भावों का प्रदर्शन करने लगी, इससे प्रद्युम्न ने मायावती का अपने ऊपर कामासक्त होना समझ लिया और उससे कहने लगे कि हे देवि ! तुम माता होकर भी इस प्रकार के विचारी और दुष्टतापूर्ण भावों को क्यों प्रदर्शित करती हो ? जान पड़ता है कि दुष्टा होने के

कारण ही तुम इस प्रकार के चंचल मन वाली हो ॥१६-१९॥ मैं तुम्हारे इस स्वभाव का कारण जानने का इच्छुक हो उठा हूँ । वैसे तो स्त्रियाँ स्वभाव से ही विद्युत् के समान चंचला होती हैं और मेघों के पर्वतशिखर पर जाने के समान ही स्त्रियों का मन पुरुषों की ओर आकर्षित रहता है । चाहे मैं तुम्हारा पुत्र हूँ अथवा नहीं, परन्तु तुम मेरे प्रति विपरीत भाव से क्यों आकर्षित हो ? यह मुझे बताओ । यह सुन कर मायावती प्रद्युम्न को एकान्त में लिवा ले गई और मोठे शब्दों में कहने लगी—हे प्रिय ! तुम मेरे पुत्र नहीं हो और यह शम्बरासुर भी तुम्हारा पिता नहीं है ॥२०-२३॥

रूपशानसि प्रिक्रान्तस्त्वं जात्या वृष्णिनन्दन ।
पुत्रस्त्ववासुदेवस्य रुक्मिणप्रानन्दवर्धन ॥२४॥
दिवसे सप्तमे बालो जातमालोपवाहितः ।
सूतिकागारमध्यात्वं शिशुरुत्तानशायितः ॥२५॥
मम भर्ता हूतोऽसि त्व बलवीर्यप्रवर्तिना ।
पितुस्ते वासुदेवस्य धर्पयित्वा गृहं महत् ॥२६॥
पाकशासनकल्पस्य हूतस्त्व शम्बरेण ह ।
सा च ते करुणं माता त्वां बालमनुशोचती ॥२७॥
अत्यर्थं तप्यते वीर विवत्सा सौरभी यथा ।
सोऽपि शक्रादपि महान्विता ते गरुडध्वज ॥२८॥
इह त्वा नाभिजानाति बालमेवोपवाहितम् ।
कान्त वृष्णिकुमारस्त्व न हित्व शम्बरात्मज ॥२९॥

तुम यादवों में थोड़े भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा रुक्मिणीजी के गर्भ से उत्पन्न हुए हो ॥२४॥ तुम्हारे जन्म के सातवें दिन ही यह असुर तुम्हारा हरण कर लाया है ॥२५॥ मेरे पति शम्बरासुर ने इस प्रकार इन्द्र जैसे तेज वाले श्रीकृष्ण का घर तुम्हारे बिना सूना कर दिया और तुम्हारी माता बछड़े से बिगुड़ी हुई गौ के समान सदा रोती होगी ॥२६-२८॥ परन्तु श्रीकृष्ण को यह पता नहीं है कि शम्बरासुर ने तुम्हें हर लिया है । इस प्रकार तुम शम्बर के नहीं, श्रीकृष्ण के पुत्र हो ॥२९॥

वीर नैवविधान्पुत्रान्दानवा जनयन्ति हि ।
 जतोऽहं कामयामि त्वा न हि त्व जनितो मया ॥३०
 रूप ते सौम्य पश्यन्ती सीदामि हृदि दुर्बला ।
 यन्मे व्यवसित कान्त यत्तु मे हृदि वर्तते ॥३१
 तन्मे मनसि वाष्ण्येय प्रतिसन्धातुमर्हसि ।
 एष ते कथितः सर्वं सद्भावस्त्वयि यो मम ॥३२
 यथा न मम पुत्रस्त्व न पुत्र शम्बरस्य च ।
 श्रुत्वैयमखिल सर्वं मायावत्या प्रभापितम् ॥३३
 चक्रायुषात्मज क्रुद्ध शम्बर स समाह्वयत् ।
 सर्वमायास्वमिजोऽसौ नाम विश्राव्य चात्मनः ॥३४
 अहो दानवदुष्टात्मा केशवस्यात्मज शिशुम् ।
 हरते निर्भयश्चैव भयमद्य करोम्यहम् ॥३५

हे वीर ! दैवो के वश मे तुम्हारे जैसे स्ववान् पुत्र अभी जन्म नहीं लेते । मैं तुम्हारी माता न होने के कारण ही तुम पर अनुरक्त हुई हूँ ॥३०॥ तुम्हारे अद्वितीय सौंदर्य ने मेरे चित्त को विह्वल कर दिया है । मैंने अपने अनुराग का यथार्थ कारण तुम्हें बता दिया और इसी सद्भाव के कारण इस रहस्य को भी खोल दिया है, अब तुम मेरी इच्छा को पूर्ण करो ॥३१३-२॥ हे राजन् ! माया-यती से सम्पूर्ण वृत्त न्त जान कर श्रीकृष्ण पुत्र प्रद्युम्न के नेत्र क्रोध से रक्त वर्ण होगये और उन्होंने तुरन्त ही शम्बर सुर के पास जाकर उसे सलकारते हुए अपना नाम बताया ॥३३-३४॥ और उससे कहा कि तूने श्रीकृष्ण के मुक्त बालक का अपहरण करते हुए किन्ति भी भय नहीं माना, अब मैं ही तुझे भयभीत करूँगा ॥ ३५ ॥

॥ प्रद्युम्न द्वारा शम्बर की सेना का महार ॥

तत प्रवृत्त युद्धं तु तुमुन सोमदपणम् ।
 प्रम्यगम्य तु प्याणा रुक्मिण्या नन्दनस्य च ॥१

तत क्रुद्धा महादैत्या शरशक्तिपरश्वधान् ।
चक्रतोमरकुन्तानि भुशुण्डीमुसलानि च ॥२
युगपत्पातयन्ति स्म प्रद्युम्नोपरि वेगिता ।
काष्णायनिस्तु सक्रुद्ध सर्वास्त्रानुषन्वृते ॥३
एकैक पञ्चभि क्रुद्धस्त्रिचैद रणमूर्धनि ।
पुनरेवासुरा क्रुद्धा सर्वे ते कृतनिश्चया ॥४
ववृषु शरजालानि प्रद्युम्नवधकाक्षया ।
तत प्रकुपितोऽनङ्गो धनुरादाय सत्पर ॥५
शम्बरस्य जघानाशु दश पुत्रान्महीजस ।
ततोऽपरण भल्लेन कुपित केशवात्मज ॥६
चिच्छेदाशु शिरस्तस्य चित्तसेनस्य वीर्यवान् ।
ततस्ते हतशेषास्तु समेत्य समयुद्धधन ॥७
शरवर्षं विमुञ्चन्तो ह्यभ्यधावज्जिघासितुम् ।
तत सन्धाय बाणास्ते विमुञ्चन्तो रणोत्सुका ॥८
क्रीडन्निव महातेजा शिरास्येषा न्यपातयत् ।
निहत्य समरे सर्वाञ्छतमुत्तमघन्विनाम् ॥९
प्रद्युम्न समराकाक्षी तस्थी सग्राममूर्धनि ।
हत पुत्रशत श्रुत्वा शम्बर क्रौन्मादधे ॥१०

वंशम्पायनजी बोले—ह राजन् । इसके पश्चात् रुक्मिणीसुत प्रद्युम्न और शम्बरसुर के मध्य घोर संग्राम उत्पन्न हुआ ॥१॥ दैत्यो ने अत्यन्त क्रोधपूर्वक बाण, शक्ति परश्वध, चक्र, तोमर, कुन्त, भुशुण्डी और भूनल आदि के द्वारा सब ओर से प्रद्युम्न पर प्रहार किया, तब प्रद्युम्न ने भी पाँच पाँच बाणों को धनुष पर चढ़ा कर दैत्यो के सब शस्त्र छिन्न भिन्न कर डाले । इस पर वे दैत्य पड़िते से भी अधिर बलशाली होकर प्रद्युम्न को मारने की इच्छा से सब ओर से बाणों को बरसाने लगे । सभी प्रद्युम्न ने एक अन्य धनुष ग्रहण करके शम्बरसुर के दश पुत्रों का वध कर दिया और फिर माने के प्रहार से चित्रमेन का शिर काट दिया । यह देव कर देप रहे दैत्यो ने एक साथ भिन कर उन पर भीषण प्रहार

आरम्भ किया । १२-७१। उस समय सभी दानव प्रद्युम्न को मारने के लिये कटिबद्ध हो गये और सावधानी से अन्नो अन्नो की छोड़ने लगे । इधर प्रद्युम्न ने लीला पूर्वक ही सौ दंत्यों की मार डाला और युद्ध करने के लिये मैदान में ही खड़े रह । अपने सौ पुत्रों की मृत्यु का वृत्तान्त सुन कर शशबरासुर की अत्यन्त क्रोध हुआ ॥ ८-१० ॥

॥ प्रद्युम्न को नारद का परामर्श ॥

शश्वरस्तु तत ऋद्ध सूनमाह विशापते ।
 शत्रुप्रमुखतो वीर रथ मे वाहय द्रुतम् ॥१
 यावदेन शरैर्हन्मि मम विप्रियशारवम् ।
 ततो भर्तृन् च श्रुत्वा सूनस्तत्प्रियकारवम् ॥२
 रथ सञ्चोदयामास चामीनरयिभूपितम् ।
 त दृष्ट्वा रथमायान्त प्रद्युम्न फुन्नलोचन ॥३
 सदधे चापमादाय शरं वनयभूपितम् ।
 तेनाहनत्सुसंक्रुद्ध कोपशञ्जवर रणे ॥४
 दये ताडिनस्तेन देवशत्रु सुविक्रलव ।
 रथशक्ति समश्रित्य तस्यै सोऽय विचेनन ॥५
 स चेतना पुन प्राप्य धनुरादाय शश्वर ।
 विभ्याध कार्पिण कुपित सप्तभिनिशितै शरै ॥६
 ताप्राप्ताञ्जराब्धोऽय सप्तभि सप्तधाऽच्छिनत् ।
 शम्बर च जघानाय मत् त्या निशितै शरै ॥७
 पुन शरसहस्रेण बहुदृष्टिणवाससा ।
 अहनच्छवर क्रोधादाराभिरिव पर्वतम् ॥८

पंथायनश्री ने कहा—ह राजन् । उपाधिज हूँ शम्बरगुरु ने अपने शारधी की कुमा कर कहा—ह मूढ । तुम मर रथ की मोघ हो शत्रु के गामन से करो ॥१॥ शरीर भगवती हन् की अथ मैं मोघ ही मार देना चाहता ह ।

अपने स्वामी का आदेश सुनते ही सारथि ने रथ में योजित सोने के आभूषणों से सजे हुए भल्लूकों को चलाया । शम्बर को रथ के द्वारा आता हुआ देख कर प्रद्युम्न हर्षित हो गये और उन्होंने अपने घनुष पर बाण चढ़ा कर शम्बरामुर पर प्रहार किया ॥२४॥ वह बाण उसके हृदय में जाकर लगा तब चेतना हीन होकर रथ के सहारे ही टिका रहा ॥५॥ फिर कुछ क्षणों में ही चैतन्य होकर उसने अपने सात सुतीक्ष्ण बाणों को घनुष पर चढ़ा कर प्रद्युम्न को लक्ष्य किया ॥६॥ परन्तु प्रद्युम्न ने उन बाणों को बीच में ही काट कर सत्तर बाणों को एक साथ छोड़ कर दैत्यराज को उनसे बीच डाला ॥७॥ फिर उन्होंने उस असुर पर इन्द्र द्वारा पर्वतों पर जल-वृष्टि करने के समान ही एक हजार बाणों की वर्षा की ॥ ८ ॥

प्रदिशो विदिशश्चैव शरधारासमावृता ।
स दिशो विदिशश्चैव शरधारा समावृणोत् ॥८॥
अन्धकारीकृत व्योम दिनकर्ता न दृश्यते ।
ततोऽन्धकारमुत्सार्य बध्नुतास्त्रेण शम्बर ॥९॥
प्रद्युम्नस्य रथोपस्थे शरवर्षं मुमोच ह ।
तदस्त्रजालं प्रद्युम्न शरेणानतपर्वणा ॥१०॥
विचोद बहुधा राजन्दर्शयन्पाणिना धवम् ।
हृते तस्मिन्ममहावर्षे शराणां कार्त्तिकिना तदा ॥११॥
द्रुमवर्षं मुमोचाथ मायया कालशम्बर ।
द्रुमवर्षोच्छ्रित दृष्ट्वा प्रद्युम्न क्रोधमूर्च्छित ॥१२॥
आग्नेयास्त्रं मुमोचाथ तेन वृक्षाननाशयत् ।
भस्मीभूते वृक्षवर्षे शिनासघातमुत्सृजत् ॥१३॥

उम भीषण वायु-वर्षा से सभी दिशाएँ आच्छादित हो गईं और सर्वत्र अन्धकार छागया, सूर्य भी उसके कारण छिप गये, तब शम्बरामुर ने बध्नुतास्त्र से उस अधिपति को नष्ट कर दिया और अन्यान्य बाणों की वृष्टि द्वारा प्रद्युम्न के रथ को आच्छादित कर दिया । परन्तु प्रद्युम्न ने अपने हस्त कीशत से उन सभी

बाणों को अपने आनर्तपर्व नामक बाणों से तत्काल काट डाला । जब शम्बरासुर के बाण निष्फल होगये तब वह अपनी माया के प्रभाव से प्रद्युम्न पर वृक्षों की वर्षा करने लगा । यह देख कर प्रद्युम्न भी अत्यन्त क्रोधित हुए ॥६-१३॥ फिर उन्होंने आनेयास्त्र के प्रयोग से उन वृक्षों को जला कर भस्म कर दिया । तब शम्बरासुर ने शिलाओं की वर्षा आरम्भ की ॥१४॥

प्रद्युम्नस्तं तु वायव्यैः प्रोत्सारयत संयुगे ।
ततो मायां परां चक्रे देवशत्रुः प्रतापवान् ॥१५॥
सिंहान्ब्याघ्रान्बराहान् च तरक्ष नृक्षवानरान् ।
वारणान्वारिदप्रह्यान्ह्यानुष्ट्रान्विशापते ॥१६॥
मुमोच धनुरायम्य प्रद्युम्नस्य रथोपरि ।
गन्धर्वैस्तेन चिच्छेद सर्वास्तान्खण्डस्तदा ॥१७॥
शम्बरस्तु ततः क्रुद्धो हतया मायया तदा ।
सैही माया महातेजाः सोऽसृजद्दानवेश्वरः ॥१८॥
सिंहानापततो दृष्ट्वा रौक्मिणेयः प्रतापवान् ।
अस्त्रं गान्धर्वमादाय शरभानसृजत्तदा ।
तेऽष्टापदा बलौदया नखदंष्ट्रायुधा रणे १९॥
सिंहान्विद्रावयामासुर्गर्ग्युर्जलधर्गानिव ।
सिंहान्विद्रवतो दृष्ट्वा माययाष्टपदेन वै ॥२०॥
शम्बरश्चिन्तयामास कथमेनं निहन्मि वै ।
अहो मूर्खस्वभावोऽहं यन्मया न हतः शिशुः ॥२१॥

उन शिलाओं को भी उन्होंने अपने वायव्यास्त्र से दूर कर दिया । यह देग कर उतने अपनी बसवती माया की वृद्धि करके प्रद्युम्न के रथ पर सिंह, व्याघ्र, बराह, तरक्ष, वीर्य, बन्दर, हाथी, घोड़े और ऊँट आदि की वर्षा की, परन्तु प्रद्युम्न ने उगरी वह माया भी अपने गन्धर्वास्त्र से छिन्न-भिन्न कर दी ॥१५-१७॥ इससे क्रोधित हुए शम्बरासुर ने सैही माया की रचना की, जिससे उत्पन्न हुए सिंहों को बाणों पर आक्रमण करने देव कर प्रद्युम्न ने चरमी माया के

विस्तार द्वारा उन सभी सिंहों को जैसे पवन मेघों को उड़ा देता है, वैसे ही भगा दिया । इस प्रकार शरभी माया के द्वारा सिंहों को नष्ट हुए देख कर शम्बरसुर विचार करने लगा कि अब इसका वध किस प्रकार हो ? मैंने इसे इसके बालक-पन में ही नहीं मार दिया, यह भारी मूल होगई ॥१८-२१॥

प्राप्तयौवनदेहस्तु कृतास्त्रचापि दुर्मतिः ।
तत्कथं निहनिष्यामि शत्रुं रणशिरःस्थितम् ॥२२॥
मया सा तिष्ठते तीव्रा पन्नगी नाम भीषणा ।
दत्ता मे देवदेवेन हरेणासुरघातिना ॥२३॥
ता सृजामि महामायामाशीविपसमाकुलाम् ।
तया दह्येत दुष्टात्मा ह्येष मायामयो बली ॥२४॥
सा सृष्टा पन्नगी माया विपज्वालासमाकुला ।
तया पन्नगमय्या तु सरथ सहवाजिनम् ॥२५॥
ससूतं स हि प्रद्युम्न वबन्ध शरबन्धनैः ।
वध्यमानं तया दृष्ट्वा आत्मानं वृष्णिवशजः ॥२६॥
माया सचिन्नयामास सौपर्णी सर्पनाशिनीम् ।
सा चिन्तिता महामाया प्रद्युम्नेन महात्मना ॥२७॥
सुपर्णा विचरन्ति स्म सर्पा नष्टा महाविपा ।
भग्नाया सार्पमायाया प्रशसन्ति सुरासुराः ॥२८॥
साधु वीर महाबाहो रुक्मिण्यानन्दवर्धन ।
यत्त्वया ध्वप्तिता माया तेन स्म परितोपिताः ॥२९॥

परन्तु अब यह यौवनावस्था को प्राप्त होता हुआ रास्त्र विद्या में भी पारंगत हो चुका है । इसलिये अब मैं इसे किस प्रकार मार सकता हूँ ? ॥२२॥
परन्तु अभी तो पन्नगी माया रोप रह गई है, वह भगवान् दाबर ने प्रसन्न होकर मुझे प्रदान की थी ॥२३॥ इसलिये अब उसी माया का प्रयोग करना उचित प्रतीत होता है । यह दुरात्मा उन माया की विपाणि में दग्ध होकर मर जायगा ॥२४॥ यह सोच कर शम्बरसुर ने पन्नगी माया का प्रयोग किया । उससे

उत्पन्न हुए सर्पों ने रथ, अश्व और सारथी सहित प्रद्युम्न को जकड़ लिया । तब उन्होंने उद्विग्न होकर सर्पों को नष्ट करने वाली सौपर्णी माया से असख्य गरुडों को प्रकट किया, जिनके कारण समस्त सर्प उभी क्षण अदृश्य होगये और इस प्रकार दैत्यराज की पन्नगी माया के नष्ट होने पर देवता और दैत्य सभी प्रद्युम्न की सराहना करने लगे ॥२५-२८॥ उन्होंने कहा कि—हे महाबाहो ! हे रुक्मिणी मन्दन ! तुम्हारा रण-चातुर्य एवं माया का नाश करना देख कर हमें दडा हर्ष हुआ है ॥ २६ ॥

हताया सर्पमायाया शम्बरश्चिन्तयत्पुन ।
 अस्ति मे कालदण्डाभो मुद्गरो हेमभूषितः ॥३०॥
 तमप्रतिहत युद्धे देवदानवमानवै ।
 पुरा यो मम पार्वत्या दत्त परमतुष्टया ॥३१॥
 गृहाण शम्बरमे त्वमुद्गर हेमभूषितम् ।
 मया सृष्ट स्वदेहे वै तपः परमदुश्चरम् ॥३२॥
 मायान्तरकरण नाम सर्वाभिरविनाशनम् ।
 अनेन दारवौ रौद्री बलिनी कामरूपिणी ॥३३॥
 शुम्भश्चैव निशुम्भश्च सगणौ सृदिता मया ।
 प्राणसशयमापन्ने त्वया मोक्षयः स शश्वे ॥३४॥
 इत्युक्त्वा पार्वती देवी तत्रैवान्तरधीयत ।
 तदहं मुद्गरं श्रेष्ठ मोचयिष्यामि क्षत्रवे ॥३५॥

परन्तु, शम्बरामुर ने अपनी पन्नगी माया को नष्ट हुई देख कर उन्हें मारने के लिये पुन उपाय सोचा, तब उस स्मरण हुआ कि एक बार भगवती पार्वतीजी ने अत्यन्त प्रयत्न होकर मुझे एक स्वर्ण भडित मुगदर प्रदान किया था । उस पानदण्ड जैसे भयंकर मुगदर का नाम मायान्तरकरण है । यह सभी देव-दानवों को मारने में समर्थ है । इसी मुगदर के द्वारा मैंने दृष्ट्या रूपधारी शुम्भ-निशुम्भनामक दैत्यों को मारा था । परन्तु, अब तुम्हें अपने प्राण पर संकट उत्पन्न हुआ दिखाई दे, तभी इसको प्रयुक्त करना ॥३०-३४॥ यह कह कर पार्वती वहीं अन्तर्धान होगई । अब मुझे मुगदर भी सहायता लेनी चाहिये ॥३५॥

तस्य विज्ञाय चित्ते तु देवराजोऽभ्यभाषत ।
 गच्छ नारद शीघ्रं त्वं प्रद्युम्नस्य रथं प्रति ॥३६॥
 सर्वोद्यम महाबाहुं पूर्वजानि च मोक्षय ।
 वैष्णवास्त्र प्रतच्छास्त्रं वधार्थं शम्बरस्य च ॥३७॥
 अभेद्यं कवचं चास्य प्रयच्छासुरसूदने ।
 एवमुक्तो मधवता नारदः प्रययौ त्वरम् ॥३८॥
 आकाशेऽधिष्ठितोऽवोचन्मकरद्वजकेतनम् ।
 कुमार पश्य मां प्राप्तं देवगन्धर्वनारदम् ।
 प्रेषितं देवराजेन तव सर्वोद्यमाय वै ॥३९॥
 स्मर त्वं पूर्वकं भाव कामदेवोऽसि मानद ।
 हरकोपानलाद्गन्धस्तेनानङ्ग इहोच्यते ॥४०॥
 त्वं वृष्णिवशजातोऽसि रुक्मिण्या गर्भसंभवः ।
 जातोऽसि केशवेन त्वं प्रद्युम्न इति कीर्त्यसे ॥४१॥
 आहृत्य शम्बरेण त्वमिहानीतोऽसि मानद ।
 सप्तरात्रे त्वसंपूर्णे मूर्तिकागारमध्यतः ॥४२॥

देवराज इन्द्र ने शम्बरसुर के इस अभिप्राय को जान कर नारदजी से कहा—हे देवर्षि ! आप प्रद्युम्न के पास शीघ्र ही पहुँच कर उन्हें उनकी उत्पत्ति का वृत्तान्त बता कर शम्बरसुर को मारने के लिये अभेद्य कवच और वैष्णवास्त्र दे दीजिये । इन्द्र की बात सुन कर नारदजी ने तुरन्त ही वहाँ से प्रस्थान किया और प्रद्युम्न के पास जाकर आकाश मार्ग में खड़े होते हुए बोले—हे कुमार ! मैं देव-गन्धर्वों में प्रतिष्ठित नारद हूँ, इन्द्र के भोजने से यहाँ आया हूँ । अपने पूर्वजन्म की याद करो, जिसमें तुम कामदेव थे और भगवान् शक्र की क्रीडामणि में भस्म होगये थे ॥३६-४०॥ इस जन्म में तुम वृष्णिवशीय भगवान् श्रीकृष्ण के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए हो और तुम्हारा नाम प्रद्युम्न है । जन्म होने के सातवें दिन ही यह शम्बरसुर तुम्हें मूर्तिवाणूह से हरण कर लाया था ॥४१-४२॥

रते संपादनार्थाय प्रैषयत्यनिशं तदा ।

एव प्रद्युम्न वृद्ध्वा वै तस्य भार्या प्रतिष्ठिता ॥४३॥

हत्वा त्व शम्बरं वीर वैष्णवास्त्रेण सयुगे ।
 गृह्य मायावती भार्या द्वारका गन्तुमर्हसि ॥४३॥
 गृहाण वैष्णवं चास्त्रं कवचं च महाप्रभम् ।
 शक्रेण तव संगृह्य प्रेषितं शत्रुसूदन ॥४४॥
 शृणु मे ह्यपरं वाक्यं क्रियतामविशङ्कया ।
 अस्य देवरिपोस्तात मुद्गरो नित्यमूर्जितः ॥४५॥
 पार्वत्यां परितुष्टाया दत्तः शत्रुनिवर्हणः ।
 अमोघश्चैव मग्नमे देवदानवमानवैः ॥४६॥
 तदस्त्रप्रविधातार्थं देवी त्व स्मर्तुं मर्हसि ।
 स्तव्या चैव नमस्या च महादेवी रणोत्सुकैः ॥४७॥
 ततः वै क्रियता यत्नः मग्नमे रिपुणा सह ।
 इत्युक्त्वा नारदो वाक्यं प्रययौ यत्नं वासवः ॥४८॥

आपके पूर्व जन्म की पत्नी रति ही इस समय तुम्हारी सेवा-गुथुपा में निरन्तर लगी है । इस प्रकार हे प्रद्युम्न ! इस जन्म में भी यह मायावती तुम्हारी ही भार्या है ॥४३॥ इसलिये, अब तुम इस वैष्णवास्त्र से शम्बरसुर को मार कर मायावती के सहित द्वारका की चले जाओ ॥४४॥ मैं यह महा तेजस्वी कवच और वैष्णवास्त्र तुम्हें दे रहा हूँ, देवराज इन्द्र ने इन्हें तुम्हारे लिये ही भेजा है, अतः ग्रहण करो ॥४५॥ मैं तुम्हें यह भी बताता हूँ कि इग दैत्य के पाग जो भयकर मुगदर है, उसे बाधा देने में देवता, दैत्य या मनुष्यों में से कोई भी शीघ्र समर्थ नहीं है, वह मुगदर इमे भगवती पार्वतीजी ने प्रगल्भ होकर प्रदान किया था ॥४६-४७॥ इसलिये उग अस्त्र को स्पर्श करने के लिये तुम भगवती पार्वतीजी का स्मरण कर, भगवत्पद पूर्वक उनकी स्तुति करो और फिर अपने मुक्त प्रयत्नों में वेगपूर्वक लग जाओ । यह कह कर देवर्षि नारदजी नहीं से पात्र कर दण्ड से पाठ जा पहुँचे ॥४८॥

॥ प्रद्युम्न द्वारा शम्बर वध ॥

शम्बरस्तु ततः क्रुद्धो मुद्गरं त समाददे ।
 मुद्गरं गृह्यमाणे तु द्वादशार्काः समुत्थिताः ॥१॥
 पर्वताश्चलिताः सर्वे तथैव वसुधातलम् ।
 उन्मार्गाः सागरा याताः सक्षुब्धाश्चापि देवताः ॥२॥
 गृध्रचक्राकुल व्योम उल्कापातो वभूव ह ।
 ववर्ष हृदिरं देवः परुषं पवनो ववौ ॥३॥
 एवं दृष्ट्वा महोत्थातान्प्रद्युम्नः स स्वरान्वितः ।
 अवतीर्य रथाद्वीरः कृताञ्जलिपुटः स्थितः ॥४॥
 देवी सस्मार मनसा पार्वती शङ्करप्रियाम् ।
 प्रणश्य शिरसा देवी स्तोतुं समुपचक्रमे ॥५॥
 ॐ नमः कात्यायन्यै गिरीशायै नमो नमः ।
 नमस्त्रै लोक्ष्यमायायै कात्यायन्यै नमो नमः ॥६॥
 नमः शत्रुविनाशिन्यै तमो गौर्यै शिवप्रिये ।
 नमस्ये शुम्भमथनी निशुंभमथनीमपि ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—फिर क्रोडित हुए शम्बरसुर ने उस मुद्गर को प्रहण किया, जिसकी प्रभा देख कर द्वादश आदित्यों के एक साथ उदित होने का आभास होने लगा ॥१॥ सभी पर्वतों के सहित पृथिवी काँप उठी, समुद्रों ने अपनी सर्पादि छोड़ दी और देवताओं में उद्विग्नता फैल गई ॥२॥ आकाश में समूह के समूह गृध्र भेंडराने लगे, उल्कापात और रक्त की वर्षा होने लगी तथा वायु का वेग बढ़ गया ॥३॥ इन कुलक्षणों को देख कर प्रद्युम्न रथ से उतर कर भगवती पार्वतीजी का स्मरण करने लगे और फिर मन ही मन प्रणाम करते हुए उन्होंने इस प्रकार स्तुति की ॥४-५॥ प्रद्युम्न ने कहा—हे भगवती ! हे कात्यायनि ! हे शक्तिवैद्यजनी ! आप तीनों लोकों की माया को नमस्कार है ॥६॥ हे मातेश्वरि ! आप शत्रुओं का नाश करने वाली, गौरी, त्रिवल्लभा और शुम्भ-निशुम्भ का मर्दन करने वाली हैं । आपको मेरा नमस्कार है ॥७॥

कालरात्रि नमस्तुभ्य कौमार्ये च नमो नम ।
 कान्तारवासिनी देवी नमस्यामि कृताञ्जलि ॥८॥
 विन्ध्यवासिनी दुर्गन्ता रणदुर्गा रणप्रियाम् ।
 नमस्यामि महादेवी जया च विजया तथा ॥९॥
 अपराजिता नमस्येऽहमजिता शत्रुनाशिनीम् ।
 घण्टाहस्ता नमस्यामि घण्टामालाकुला तथा ॥१०॥
 त्रिशूलिनी नमस्यामि महिषासुरघातिनीम् ।
 सिंहासना नमस्यामि सिंहप्रवरकेतनाम् ॥११॥
 एकानशा नमस्यामि गायत्री यज्ञसत्कृताम् ।
 सावित्री चापि विप्राह्णा नमस्येऽहकृताञ्जलि ॥१२॥
 रक्ष मा देवि सतत सग्रामे विजय कुरु ।
 इति कामवचस्तुष्टा दुर्गा सप्रीतमानसा ॥१३॥
 उवाच वचन देवी सुप्रोतेनान्तरात्मना ।
 पश्य पश्य महाबाहो हविर्मध्यानन्दवर्द्धन ॥१४॥
 वर वरय वत्स त्वममोघ दर्शन मम ।
 देव्यास्तु वचन श्रुत्वा रोमाञ्चोदगतमानस ॥१५॥

आप कालरात्रि रूपिणी को नमस्कार है, आप ही कौमारी एवं कान्तार-
 वासिनी हैं, मैं आपको करबद्ध प्रणाम करता हूँ ॥८॥ हे माता । आप विन्ध्य
 पर्वत पर निवास करती हैं, आप दैत्यो के दुर्गों को तोड़ने वाली रणदुर्गा एवं
 रण प्रिया हैं, आप ही जया और विजया हैं, हे महादेवि । ऐसी आपको मेरा
 बारबार नमस्कार है ॥९॥ आप कभी पराजित न होने वाली अजिता तथा
 शत्रुओं का नाश करने वाली हैं, आप घण्टाहस्ता और घण्टामाला को मेरा नमस्कार
 है ॥१०॥ आप ही महिषासुर के मारने वाली त्रिशूलिनी है, आप ही सिंहवाहिनी
 तथा सिंह ध्वज वाली हैं मेरा आपको नमस्कार है ॥११॥ आप एकानशा को
 नमस्कार है, आप यज्ञो द्वारा सत्कृत गायत्री रूपिणी ब्राह्मणों की सावित्री को
 मेरा हाथ जोड़ कर प्रणाम है ॥१२॥ हे देवि । युद्ध भूमि में मेरी रक्षा करती हुई
 मुझे विजय प्रदान करें । इस प्रकार की स्तुति से परम प्रसन्न हुई भगवती

पार्वतीजी ने प्रद्युम्न से कहा—हे महाबाहो ! हे रुक्मिणी के आनन्द की वृद्धि करने वाले वत्स ! देख इधर देख ॥१४॥ मेरा आगमन कभी व्यर्थ नहीं होता, इसलिये तुझे जो इच्छा हो, वही वर माँगले । यह सुन कर प्रद्युम्न का मन रोमांचित हो उठा ॥१५॥

प्रणम्य शिरसा देवी विज्ञप्तुमुपचक्रमे ।
यदि त्वं देवि तुष्टाऽसि दीयतां मे यदीप्सितम् ॥१६॥
वरं च वरदे याचे सर्वामितेषु मे जय ।
यस्त्यया मुद्गरो दत्त शम्बरस्यात्मसम्भव ॥१७॥
एष मे गात्रमासाद्य माला पद्मवती भवेत् ।
तथास्त्विति च साऽप्युक्त्वा तर्जवान्तरधीयत ॥१८॥
प्रद्युम्नस्तु महातेजास्नुष्टो रथमथारुहत् ।
मुद्गरं च गृहीत्वा च शम्बरं क्रोप्रमूर्च्छित ॥१९॥
भ्रामयित्वा स चिक्षेऽ प्रद्युम्नोरसि वीर्यवान् ।
स गत्वा मदनभ्याशं मालां भूत्ना तु पीडकरी ॥२०॥
प्रद्युम्नस्य च वण्ठे तु समासक्ता व्यराजत ।
नक्षत्राणां तु माताया यथा परिवृतो विधु ॥२१॥

तब प्रद्युम्न ने भगवती को प्रणाम करके कहा—हे वरदे ! हे मातेन्दुरि ! यदि आप यद्यार्थ मे मुझ पर प्रसन्न हुई हैं तो मुझे मेरा इच्छित वर दीजिये ॥१६॥ हे माता ! मैं अपने सख शम्भुओं की पराजित करना चाहता हूँ । आपकी कृपा से शम्बरसुर को ओ मुद्गर प्राप्त हुआ है, वह मुद्गर मेरे शरीर से लगते ही पद्ममयी माला बन जाय । यह सुनते ही भगवती 'ऐसा ही होगा' कहती हुई वही अदृश्य होगई ॥१७-१८॥ तदनन्तर प्रद्युम्न भी अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने रथ पर चढ़ गये । तभी क्रोध से व्याप्त हुए दैत्यराज न उनके हृदय पर, उस भयंकर मुद्गर का प्रहार किया । परन्तु उनके हृदय का स्पर्श होना ही वह मुद्गर पद्ममयी माला होकर गोमा पाने लगा । उस समय ऐसी जोर की हुई जैसे नक्षत्रों की माता से गुप्तोन्मिल आगमा हो ॥१९-२१॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
 साधु साध्विति वाचाभिः पूजयन्केशवात्मजम् ॥२२॥
 मुदगर पुष्पभूतं तु दृष्ट्वा प्रद्युम्नसन्निधौ ।
 वैष्णवं परमास्त्रं तु नारदेन वदाहृतम् ॥२३॥
 संदधे चापमानस्य इदं तचनमब्रवीत् ।
 यद्यहं रविमणोपुत्रः केशवस्यात्मजो ह्यहम् ॥२४॥
 तेन सत्येन वाणेन जहि त्वं शम्बरं रणे ।
 हत्युक्त्वा चापमाकृष्य सन्ध्याय च महामनाः ॥२५॥
 चिक्षेप शम्बरस्याय दहल्लोकत्रयं यथा ।
 स क्षिप्तो वृष्णिर्हिनेन शरः कठ्यादमोहनः ॥२६॥
 हृदय शम्बरस्याय भित्वाघरणिमागतः ।
 न चास्य मामं न स्तामुर्नास्ति न त्वद् न शोणितम् ॥२७॥
 सयं तद्गुह्यं साद्रूतं वैष्णवस्त्रास्य तेजसा ।
 हते दैत्ये महाकाये दानवे शम्बरेऽग्रे ॥२८॥
 जहृपूर्ववगन्धर्वा ननूतुश्चाप्यरोगणाः ।
 उगंनो मेनका रम्भा विप्रचित्तिस्तिलोत्तमा ॥२९॥
 ननूतुर्हंष्टमनगो जगत्स्वावरजद्गमन् ।
 देवराजस्तु गुप्रीतः सर्वदेवगणैः सह ।
 प्रद्युम्नं पुष्पवर्षेण तमस्यैव प्रहृष्टवत् ॥३०॥
 अप समरहते तु दैत्यगजे मनुमयनस्य मुतेन यैष्णवाः ।
 विगतस्त्रिभुजाः सुराश्च जम्बुर्मकरविभूषणकेतनं स्नुयन्तः ॥३१॥
 स च समरपरिश्रमं वहन्त्ये नगरमुग्रं प्रविवेक रोषमजेषः ।
 प्रियतम इव वान्तया प्रहृष्टवदरितपद रतिदर्शनं पकार ॥३२॥

उक्त मुदगर को पणमासा ने हर में देव हर सभी देव, ऋषय, गिद्ध, परम
 श्रुति श्रुति ने प्रद्युम्न की अत्यन्त प्रशंसा की, तब प्रद्युम्न ने देवों को नारद प्रसन्न
 वैष्णवाणों को मनुष्य पर बना कर कहा—हे गर । यदि मैं रविमणी में उत्पन्न
 हुआ भगवान् श्रीकृष्ण का पुत्र हूँ तो तुम सुराणों की इन मुझ सेव में शम्बरान्तर

का सहार कर डाली । यह कह कर उन्होंने दैत्यराज पर उस बाण को छोड़ दिया, तब उस बाण के प्रकाश से तीनों लाकड़गमगा उठे । उस समय वह बाण आमिष भोजी पशुओं की प्रसन्नता का बढ़ाने वाले शम्बरसुर के हृदय की पार करके पृथिवी पर जा गिरा । उस अस्र के तेज से शम्बरसुर के देह में मास, हड्डी, नाड़ी चम और रुधिर का मेषमात्र भी न बचा और वह जल कर वही भस्म होगया । उस महाकाय दैत्य के इस प्रकार मृत्यु की प्राप्ति होने पर देवता और गंधर्व अत्यन्त हर्षित हुए और उषशी मेनवादि अप्सराएँ नृत्य करने लगी । सम्पूर्ण विश्व निभय और सुखी हागया तथा सत्र देवताओं के सहित इंद्र भी हर्षित होकर प्रद्युम्न पर पूजा की वर्षा करने लगे ॥२२३०॥ हे राजन् । श्री-कृष्ण पुत्र प्रद्युम्न ने जब वैष्णव स्त्र के द्वारा दैत्यराज शम्बरसुर का वध कर दिया तब देवता तृप्त भय से रहित होगये और प्रद्युम्न रूपी कामदेव की स्तुति करते हुए अपन अपने लोक को गये । ३१॥ तथा प्रद्युम्न भी अपनी भार्या जती विजय लक्ष्मी को प्राप्त होकर उसी वीर वेश में नगर में पहुँच कर मायावती रूपिणी रात के पास पहुँचे ॥३२॥

॥ प्रद्युम्न-मायावती का द्वारका आगमन ॥

समाप्तमायो मायाज्ञा विक्रान्त समरेऽब्धय ।
अष्टम्या निहतो युद्धे मायावी कालश वर ॥१॥
तमृक्षवन्ते नगरे निहत्यामुरसत्तमम् ।
गृह्य मायावती देवीमागच्छ नगर पितु ॥२॥
सोऽन्तरिक्षगतो भूत्या मायावी शोघ्रविक्रम ।
आजगाम पुरी रम्या रक्षिता तेजसा पितु ॥३॥
सोऽन्तरिक्षान्निपतित केशवान्त पुरे शिशु ।
मायावत्या सह तथा रूपवानिव मन्मथ ॥४॥
तस्मिन्स्तत्रावपतिते महिष्य केशवस्य या ।
विस्मिताश्चैव हृष्टाश्च भीताश्चैवाभवस्तत ॥५॥
ततस्त कामसकाश कान्तया सह सङ्गतम् ।
प्रेक्षन्त्यो ह्येव तवदना पिबन्त्यो नयनोत्सवम् ॥६॥

तं श्रीदत्तमुग्रं दृष्ट्वा लज्जमानं पदे पदे ।

अभवन्स्निग्धमद्भुता. मवस्ताः वृष्णयोपितः ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! देखो देखो नम्बर १ अत्यन्त मायावी होने हुए भी जब उसको माया ममाप्य हो गई, तब उगवा प्राण अष्टमी तिथि को निरता ॥ १ ॥ इस प्रकार धीरे-धीरे प्रद्युम्न नम्बरामुर को मार कर और मायावती को माय सेकर अपने बिना द्वारा पालित द्वारका पुरी में आवास मार्ग में जा पहुँचे ॥२-३॥ साक्षात् कामदेव के समान ध्येष्ट स्वरूप पाले प्रद्युम्न मायावती के महिष आवास मार्ग से आते हुए सीधे श्रीवृष्ण के अन्तःपुर में पहुँचे ॥४॥ उन्हे यहाँ आया हुआ देख कर वृष्ण को पत्नियों की अत्यन्त प्रगल्भता, भव और आश्चर्य—जीनों की एक माय प्राप्ति हुई ॥५॥ ये नारिणी मायावती स्वरूपा रति के महिष कामदेव के समान प्रद्युम्न का रूप-रस-गान करती हुई उन्हे देगने लगी ॥ ६ ॥ तब उन्हें यह अवस्था विनयनील, सज्जवायु, गरुड युवक तथा मय प्रकार श्रीवृष्ण के समान हो दिखाई दिये ॥७॥

रिमिणी नय तं दृष्ट्वा शोभनीं पुण्यदिनी ।

गणनीजनगन्धुर्गा गवाता मायमत्रयीत् ॥८॥

मायमय्यन्तो मया दृष्टो निनायां योने मने ।

नगाणि ममाभीय दत्ता मायारत्नवम् ॥९॥

निरिमिप्रतीतानं मुताः समिधुतितम् ॥

मन्तोनाममागेय मम १०० नवद्वय ॥१०॥

दामा मुतादेना स्त्री मुतादेनादिनिर्गता ।

नवद्वय निरीक्षणी प्रतिष्ठा मम देवमनि ॥११॥

तया पुनरं मुता स्नाति रमिणीमुता ।

श्रीदेवमनि माता स्त्री मन्तोनाय पातिना ॥१२॥

मम मुतामुतादेना दत्ता नवद्वय तया मम ।

दत्ता नवद्वय स्त्री देवी स्त्री देवी दृष्टमानमा ॥१३॥

मन्तोनाय देवी मुता श्रीदेव म मुता ।

पन्ता नवद्वय मुता देवी देवी देवी ॥१४॥

पुत्र शीघ्र से विह्वल हुई रुक्मिणीजी ने जैसे ही उन्हें देखा, वैसे ही वे अपनी सत्र सपत्नियों की ओर दगती हुई बहने लगी ॥८॥ आज रात्रि के समय स्वप्न में मैं देना कि भगवान् ने मुझे अरु म केवर चद्र बिगुणों के तुल्य एक मोतियों का हार मेरे कण्ठ में डाल दिया ॥ ६१० ॥ उससे बाद ही श्याम वर्ण की, शुभ्र वेश वाली, सुन्दर केश युक्त एक नारी हाथ में पद्ममाल लिये हुए मेरे भवन में घुम रही है ॥११॥ उसने मुझे श्रेष्ठ शीतल जल से स्नान कराया और मेरे मस्तक को मूँघ कर एक पद्ममाल मेरे कंठ में डाल दी । इस प्रकार अपनी सखियों को देखे हुए स्वप्न की बातें कहती हुई रुक्मिणीजी ऽद्युम्न को देख कर बोली—यह कामदेव के समान प्रिय दत्त कुमार जिस माता का पुत्र होगा, वह माता यथायं मे कृतार्थ है ॥१२-१४॥

ईदृश कामसकाशो यौवने प्रथमे स्थित ।

जोव पुत्र त्वया पुन काऽमौ भाग्यसमन्विता ॥१५॥

त्रिमयं चाबुदयाम सभायंस्त्वमिहागत ।

अस्मिन्वयसि सुव्यक्त प्रद्युम्नो मम पुत्रक ॥१६॥

भवेद्यदि न नीत स्यात्कृतान्तेन बलीयसा ।

व्यक्त वृष्णिकुमारस्त्व न मिथ्या मम तर्कितम् ॥१७॥

विज्ञातोऽसि मया चिह्नं विना चक्र जनार्दन ।

मुख नारायणस्येव केशा केशान्त एव च ॥१८॥

ऊरू वक्षो भुजौ तुल्यौ हलिन श्वशुरस्य मे ।

कस्त्व वृष्णिकुल सर्व द्योतयन्वपुषा स्थित ॥१९॥

अहो नारायणस्येव दिव्या ते परमा तनु ।

एतस्मिन्मन्तरे वृष्ण सहसा प्रविवेश ह ।

नारदस्य वच श्रुत्वा शम्बरस्य वध प्रति ॥२०॥

हे वत्स ! तुम किस सोभाग्यशालिनी के तनय हो और अपनी पत्नी के साथ यहाँ क्यों आये हो ? यदि मेरा पुत्र काल के माल से वंचा होता तो उसकी भी इतनी ही अवस्था होती । परन्तु मैं समझती हूँ कि तुम भी वृष्णिवंश के ही

कुमार हो, मेरी यह धारणा, मिथ्या नहीं हो सकती ॥१५-१७॥ तुम तो मुझे साक्षात् श्रीकृष्ण जैसे ही प्रतीत हो रहे हो, केवल चर्कचक्रे ही तुम्हारे देह पर नहीं है, तुम्हारा मुख और केशों का अगला भाग भी उन्हीं के समान लग रहा है ॥१८॥ तुम्हारा उरदेश बाहुएँ और वक्षस्थल मेरे ज्येष्ठ श्वशुरमजी के तुल्य लगते हैं परन्तु तुम अपने शरीर के तेज से वृष्णिवश को तजस्वी बनाने वाले कौन हो ? ॥१९॥ तुम्हारे गुणों को देख कर तो तुम्हें भगवान् श्रीनारायण कहने में भी कोई अशुक्ति नहीं होगी । उसी समय नारदजी से शम्बरसुर की मृत्यु का समाचार सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ आगये ॥२०॥

मोऽपश्यत्त मुत ज्येष्ठ सिद्ध मन्मथलक्षणे ।
 स्नुषा मायावती चैव हृष्टचेता जनार्दन ।
 सोऽब्रवीत्सहसा देवी रुक्मिणी देवतामिव ॥२१॥
 अयं स देवि संप्राप्त सुतश्चापधरस्तव ॥२२॥
 अनेन शम्बर हत्वा मायायुद्धविशारदम् ।
 हता मायास्तु ताः सर्वा याभिर्देवानवाधयत् ॥२३॥
 सती चेय शुभा साध्वी भार्या वै तनयस्य ते ।
 मामावतीति विख्याता शम्बरस्य गृहोपिता ॥२४॥
 मा च ते शम्बरस्येय पत्नीति भवतु व्यथा ।
 मन्मथे तु गते नाश गते चानङ्गता पुनः ॥२५॥
 कामरत्नी न कर्तव्या शम्बरस्य रतिप्रिया ।
 मायासूतेन तं दैत्य मोहयत्यमृतच्छुभा ॥२६॥
 न चैषा तस्य वीमारे वशे तिष्ठति शोभना ।
 आत्ममायामयं हत्वा रूपं शम्बरमाविशत् ॥२७॥
 पत्न्येया मम पुत्रस्य स्नुषा तव वरानङ्गता ।
 मोहयन्तस्म माहात्म्यं करिष्यति मनोमयम् ॥२८॥
 त्रेयन्मतां मया पूज्या ज्येष्ठा स्नुषा मम ।
 चिरं प्राप्य च मुत ममस्य पुनरागतम् ॥२९॥

उन्होंने देखा कि साक्षात् कामदेव के समान प्रद्युम्न और रति के तुल्य मायावती वहाँ पड़े हैं। तब श्रीकृष्ण ने रुक्मिणीजी से कहा— हे देवि ! यह घनुष को धारण किये हुए तुम्हारा ही पुत्र यहाँ उपस्थित है। २१-२२॥ इसी ने मायामय युद्ध के प्रवीण शम्बरसुर को मारा है। वह दंभ्य अपनी जिन मायाओं के प्रभाव से देवताओं को सन्तप्त करता रहता था, वे सब मायाएँ इस बालक के द्वारा नष्ट हो गई हैं ॥२३॥ यह मायावती तुम्हारे इस पुत्र की पत्नी है, अभी तब यह शम्बरसुर के भवन में नियास करती थी ॥२४॥ किं तु इसे शम्बरसुर की पत्नी होना मत समझना। यथार्थ में यह कामदेव की पत्नी रति है। जब भगवान् शक्र की बोधोग्नि में भस्म हुआ कामदेव अनग हो गया था, तब से शम्बरसुर के यहाँ रह कर इसने उसे मोहित किया हुआ था ॥२५-२६॥ इसने अपने वास्तविक देह से शम्बरसुर की सेवा नहीं की थी इसकी छायामयी मूर्ति ही उसके साथ रहती थी ॥२७॥ यह मेरे पुत्र की भार्या होने से तुम्हारी पुनर्बन्ध है, और यह सदैव इसकी सहायता में तत्पर रहेगी ॥२८॥ चिर काल में गया हुआ मेरा यह पुत्र आज मिल गया है, अब इस पुत्र और पुत्रवतू को तुम अपने भवन में ले चलो ॥२९॥

श्रुत्वा तु वचनं देवी कृष्णेनोदाहृतं तदा ।
 प्रहर्षमंतुलं लब्ध्वा रुक्मिणी वाक्यमब्रवीत् ॥३०॥
 अहो धन्यतराऽस्मीति वीरपुत्रसमागमात् ।
 अद्य मे सकलं कामं पूगो मेऽहं मनोरथः ॥३१॥
 चिरप्रणष्टपुत्रस्य दर्शनं प्रियया सह ।
 आगच्छ पुत्रं भवनं समार्यं प्रविशेह च ॥३२॥
 तनोऽभिवाद्य चरणौ गोविन्द मातरं च ताम् ।
 प्रद्युम्नं पूजयामास हलिनं च महाबलम् ॥३३॥
 उत्थाप्य तं परिष्वज्य मूर्च्छ्युपाध्याय वीर्यवान् ।
 प्रद्युम्नं बलिना श्रेष्ठं केशवं परकीरहा ॥३४॥
 स्नुषां चोत्थाप्य तां देवी रुक्मिणी रुक्मसूचना ।
 परिष्वज्योपसंगृह्य स्नेहाद्गदगदमयिणी ॥३५॥

समेत्य भवन पत्न्या शचीन्द्रमदितिर्यया ।

प्रवेशयामास तदा रुक्मिणी सुतमागतम् । ३६

वैष्णवायनजी ने कहा—हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से इस सम्पूर्ण वृत्तान्त को सुन कर रुक्मिणीजी अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त होती हुई कहने लगी—चिरकाल क पश्चात् आज मैं अपने खोये हुए पुत्र को और साथ ही उस की पुत्रवधू का प्राप्त कर पूर्ण काम होगई हूँ । हे पुत्र ! अब तुम अपनी इस भार्या व साथ घर के भीतर प्रवेश करो ॥३० ३२॥ रुक्मिणीजी के वचन सुन कर प्रद्युम्न ने अपने पिता, माता और बलरामजी के चरणों में प्रणाम किया ॥३३॥ फिर श्रीकृष्ण ने पुत्र को और रुक्मिणीजी ने पुत्रवधू को गोद में उठा कर उनका मस्तक चूम और फिर अदिति द्वारा दम्भ इन्द्राणी को घर में प्रविष्ट कराने के समान ही रुक्मिणीजी अपन पुत्र और पुत्रवधू को अपने भवन में ले गई । ३६॥

॥ वाणासुर का वरदान प्राप्त करना ॥

शृणुष्यावहितो राजन्पृष्णस्यामिनतेजस ॥१॥

मनुष्यलोके वाणेन यथाऽभूद्विग्रही महान् ।

वागुदेवेन यत्रासी रद्रस्कन्दसहायवान् ॥२॥

यनिपुत्रो रणशतायी जित्वा जीवन्विमजित ।

यथा चास्य वरो दत्त शफरेण महात्मना ॥३॥

नित्य सानिद्र्यता चैव गात्रपत्य तथाऽशयम् ।

यथा वाणस्य तच्छुद्ध जीवन्मृतो यथा च स ॥४॥

मया च देवदेवस्य पुत्रस्य गोऽनुगो गत ।

मथर्षं च महच्छुद्ध सत्यमेव च शृणु ॥५॥

वैष्णवायनजी ने कहा—हे राजन् ! अब मैं तुमसे लग पृष्ठान्त को कहना है । त्रिमय वाणासुर और श्रीकृष्ण का घोर महायुद्ध हुआ तथा अनेक वीरों और

स्वामि वातिकेयजी न उमे वर प्रदान किया था और जिस कारण से भगवान् श्रीकृष्ण को उससे युद्ध करना पड़ा था, उसे तुम सावधान होकर सुनो ॥ १ ॥ वह भी बताना है कि उसने किम प्रकार भगवान् शिवजी का पुत्रत्व प्राप्त किया और किस प्रकार स्वयं भगवान् रुद्र और स्वामि वातिकेयजी का उसके घर में निवास हुआ तथा किस प्रकार उसे गणपत्य पद की प्राप्ति हुई और किस प्रकार उसे श्रीकृष्ण न रणक्षेत्र में हरा कर भी मारा नहीं ॥१-४॥ जिस कारण से इनमें यह घोर युद्ध हुआ था, वह सब तुम्हारे प्रति कहता हूँ, तुम प्रयत्नपूर्वक सुनो ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा यपु कुमारस्य क्रीडतश्च महात्मन
 बनिपुहो महावीर्यो विस्मय परम गत ॥६॥
 तस्य बुद्धि समुत्पन्ना तपश्चतु सुदुष्करम् ।
 रुद्रस्याराधनार्थाय देवस्य स्या यश सुत । ७
 ततोऽग्लपयदात्मान तपसा श्लाघते च स ।
 देवश्च परम तोष जगाम च सहोमया ॥८॥
 नीलकण्ठ परा प्रीतिं गत्वा चासुरमब्रवीत् ।
 वर वरय भद्र ते यत्ते मनसि वर्त्तते ॥९॥
 अथ वाणोऽत्रयीद्राक्ष्य देवदेव महेश्वरम् ।
 दैव्या पुनस्त्रमिच्छामि त्रया दत्त त्रिजोचन ॥१०॥
 श करस्तु तथेत्युक्त्वा रुद्राणोमिदमब्रवीत् ।
 यनीयान्वातिकेयस्य पुत्रोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥११॥
 यक्षोऽस्त्रितो महासेन सोऽग्निजो रुधिर पुरे ।
 तस्रोद्ग्रे पुर चास्य भविष्यति न सशय ॥१२॥
 नाम्ना तच्छोणितपुर भविष्यति पुरोत्तमम् ।
 मयाऽभिगुप्त श्रीमन्त न कश्चित्सहृष्यति ॥१३॥

एक दिन की बात है—शिवजी के पुत्र स्वामि वातिकेयजी बालक्रीडा कर रहे थे उसी समय वाणागुर उनके देह के श्रृंखल गठन को देख कर अत्यन्त

विस्मय को प्राप्त हुआ ॥६॥ तभी उमके चित्त में ऐसा विचार हुआ कि मैं भी घोर तपस्या करके भगवान् शिवजी का पुत्र बनूँगा । अपने इस निश्चय के अनुसार वह घोर तप करने लगा ॥७॥ उससे उमका देह मूलने लगा । उसकी कठिन तपस्या को देख कर भगवान् शकर और भगवती पार्वतीजी—दोनों ही उस पर अत्यन्त प्रसन्न हो गये ॥८॥ उस समय भगवान् शकर ने परम प्रीतिपूर्वक असुर के सामने होकर कहा—हे भद्र ! तुम अपनी इच्छा के अनुसार घर माँग लो ॥९॥ यह सुन कर धनि के पुत्र बाणासुर ने उनसे निवेदन किया— हे भगवन् ! मैं आपके और भगवती पार्वतीजी के पुत्रत्व की कामना करता हूँ ॥१०॥ भगवान् ने उससे 'ऐसा ही होगा' कह कर फिर पार्वतीजी से कहा—आज से हमने इसे कार्तिकेय से छोटा पुत्र मान लिया है, इसलिये तुम इसे ग्रहण करो ॥११॥ जिस स्थान पर कार्तिकेय की अग्नि से उत्पत्ति हुई थी, वह स्थान शोणितपुर के नाम से प्रसिद्ध होगा । उस पुरी को आक्रमण से बचाने के लिये, मैं स्वयं उमका रक्षक होऊँगा ॥ १२-१३ ॥

तत स निवसन्वाण पुरे शोणितसाह्वये ।
 राज्य प्रशासते नित्य क्षोभयन्सर्वदेवताः ॥१४॥
 अवतीर्य मदोत्सिक्नो वाणो बाहुसहस्रवान् ।
 अचिन्तयन् देवगणान्युद्धमाकाङ्क्षते सदा ॥१५॥
 ध्वज चास्य ददौ प्रीत कुमारो ह्यग्नितेजसम्
 बाहनं चैव बाणस्य मयूर दीप्ततेजसम् ॥१६॥
 न देवा न च गन्धर्वा न यक्षा नापि पन्नगाः
 तस्य युद्धे व्यतिष्ठन्त देवदेवस्य तेजसा ॥१७॥
 त्र्यम्बकेणाभिगुप्तश्च दर्पोत्सिक्तो महासुर ।
 भूयो भृगयते युद्धशूलिनं सोऽभ्यगच्छत ॥१८॥
 स रुद्रमभिगम्याथ प्रणिपत्याभिवाद्य च ।
 बलिसूनुरिदं वाक्यं पप्रच्छ वृषभध्वजम् ॥१९॥
 असकृन्निर्जिता देवाः ससाध्याः समरुद्गणा
 मया मदवलोत्सेकात्सत्तेन्येन तवाश्रयात् ॥२०॥

इन्के पश्चात् बाणासुर शोलितपुर में रह कर वहाँ का राज्य करने लगा, उसके व्यवहार से सभी देवता उद्भिन्न हो उठे ॥१४॥ कुछ कालोपरान्त हजार भुजाओं वाला वह दानव अग्ने गर्व के कारण देवताओं से युद्ध करने का बहाना ढूँढने लगा ॥१५॥ फिर स्वामि बर्गनिकेयजी ने प्रसन्न होकर उसे अग्नि के समान तेजोमय एक ध्वज तथा चढ़ने के लिये एक महा तेजस्वी मोर दिया ॥१६॥ उस समय भगवान् शंकर की कृपा से बाणासुर के सामने कोई भी देवता, गंधर्व, यक्ष और नाग रणक्षेत्र में सामना नहीं कर सकता था ॥१७॥ भगवान् शंकर द्वारा सुरक्षित हुए उस दैत्य को घोर अहंकार हो गया और वह सदा ही युद्ध के लिये छेड़ छाड़ करता रहता था ॥१८॥ उसने एक दिन भगवान् शंकर के समक्ष उपस्थित होकर उनसे कहा—हे प्रभो ! आपकी कृपा से मैंने साध्यगण, मरुद्गण और देवताओं को अनेकों बार सैन्य परास्त किया है ॥१९-२०॥

इम देश समागम्य वमन्ति स्म पुरे सुखम् ।
 ते पराजयसन्नस्ता निराशा मत्पराजये ॥२१॥
 नाकपृष्ठमुपागम्य निवसन्ति ययासुखम् ।
 सोऽह निराशो युद्धस्य जीवित नाद्य कामये ॥२२॥
 अयुध्यतो वृथा ह्येषा बाहूना धारण मम ।
 तद्ब्रूहि मम युद्धस्य कच्चिदागमन भवेत् ॥२३॥
 न मे युद्ध विना देव रतिरस्ति प्रसीद मे ।
 तत प्रहृष्य भगवानब्रवीद्वृषभध्वज ॥२४॥
 भविता बाण युद्ध वै यथा तच्छृणु दानव ।
 ध्वजस्यास्य यदा भङ्गस्तव तात भविष्यति ।
 स्वस्थाने स्थापितस्याथ तदा युद्ध भविष्यति ॥२५॥
 इत्येवमुक्त्वा प्रहसन्बाणस्तु बहुशो मुदा ।
 प्रसन्नवदनो भूत्वा पादयो पतितोऽब्रवीत् ।
 दिष्ट्या बाहुसहस्रस्थ न वृथा धारण मम ॥२६॥
 दिष्ट्या सहस्राक्षमह विजेता पुनराहवे ।
 आनन्देनाश्रुपूर्णाभ्या नेत्राभ्यामरिमर्दन ।

पञ्चाञ्जलिशतैर्देव पूजयन्नतितो भुवि ॥२७॥
 उत्तिष्ठोतिष्ठ बाहूनामात्मन स्वकुलस्य तु ।
 सदृशं प्राप्स्यसे वीर युद्धमप्रतिमं महत् ॥२८॥
 एवमुक्तस्ततो वाणस्यम्बकेण महात्मना ।
 हर्षेणात्युच्छ्रित शीघ्रं नत्वा स वृषभध्वजम् ॥२९॥
 शितिकण्ठविसृष्टस्तु वाणः परपुरजय ।
 ययौ स्वभवनं तत्र यत्नं ध्वजगृहं महत् ॥३०॥

अब वे मुझे हराने में अपने को सर्वथा असमर्थ मान कर निराशा और उद्विग्नतापूर्वक देवलोक में रह रहे हैं, इसलिये अब किसी सग्राम की सम्भावना प्रतीत नहीं होती । परन्तु, इस प्रकार युद्ध विहीन रह कर मेरी इन हजार भुजाओं का क्या उपयोग रह गया है ? हे देव ! युद्ध के बिना मेरी सन्तुष्टि किसी अन्य प्रकार से नहीं हो सकती । इसलिये युद्ध का अवसर अब कब उपस्थित होगा ? यह बताने की कृपा करिये । उसकी इस बात को सुन कर शिवजी ने कहा—हे वत्स ! जय तुम्हारी यह ध्वजा टूट कर पृथिवी पर गिरेगी, तभी तुम्हें अपने ही स्थान बैठे बैठे युद्ध का अवसर हाथ लग जायेगा ॥२१-२५॥ भगवान् शकर के वचनों को सुनकर वाणासुर ने अट्टहास किया और उसके नेत्रों में हर्ष के आँसू आगये । तब उसने अपने हाथों को जोड़ कर भगवान् शकर के चरणों में झुक कर निवेदन किया—हे भगवन् ! अब मुझे अपनी भुजाओं की सार्यक्ता का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और मैं आशा करता हूँ कि अब युद्ध क्षेत्र में इन्द्र को पछाड़ने का अवसर मुझे प्राप्त हो जायगा ॥२६-२७॥ हे राजन् ! इस पर भगवान् शकर ने पुनः कहा—हे वत्स ! तुम्हारे भुग्वल अनुरूप सग्राम की ही तुम्हें प्राप्ति होगी, अब तुम उठ पड़ो ॥२८॥ शिवजी के वचन सुन कर दैत्य श्रेष्ठ वाणासुर प्रसन्न होता हुआ उठा और उनका पूजन करके उनकी आज्ञा से अपने स्थान को चला गया ॥२९-३०॥

॥ उषा की विरह कथा ॥

क्रीडाविहारोपगतः कदाचिदभवद्भुवः ।
 देव्या सह नदीतीरे रम्ये श्रीमति स प्रभुः ॥१॥
 क्षातानित तत्ताप्सरसां चिक्रीडुश्च समन्ततः ।
 सर्वतुं कवने रम्ये गन्धर्वपतयस्तथा ॥२॥
 कुमुदः पारिजातस्य पुष्पैः सन्तानकस्य च ।
 गन्धोद्दाममिवाकाशं नदीतीरं तु सर्वशः ॥३॥
 वेणुवीणामृदङ्गैश्च पणवैश्च सहस्रशः ।
 वाद्यमानैः स शुश्राव गीतमप्सरसा तदा ॥४॥
 सूतमागधकल्पैश्चास्तुवन्नप्सरसा गणाः ।
 देवदेवं सुवपुषः सन्निविष्टं रक्तवाससम् ॥५॥
 श्रीमद्देश देवदेवमर्चयन्ति मनोरमम् ।
 ततस्तु देव्या रूपेण चित्तलेखा वराप्सरसाः ॥६॥
 भव प्रसादयामास देवी च प्राहसत्तदा ।
 प्रसादयन्तीमीशानं प्रहसन्त्यप्सरोगणाः ॥७॥
 भवस्य पार्यदा दिव्या नानारूपा महोजसः ।
 देव्या ह्यनुज्ञया सर्वं क्रीडन्ते तल तल ह ॥८॥
 अथ ते पार्यदास्तत्र रहस्ये सुविपश्चितः ।
 महादेवस्य रूपेण तच्छिह्नं रूपमास्थिताः ॥९॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! एक समय की बात है कि भगवान् शंकर अपनी प्रियतमा पार्वतीजी के साथ नदी के परम रमणीक किनारे पर विचर-रण कर रहे थे ॥१॥ तभी संकडो गधर्व और अप्सराएँ वहाँ आ उपस्थित हुई और उनको चारो ओर से घेर कर क्रीडा करने लगी ॥२॥ पारिजात और सन्तान-क पुष्पों की सुगन्धि से सम्पूर्ण नदी तट सुवासित होगया ॥३॥ उस समय भग-वान् शिवजी वेणु, वीणा, मृदङ्ग और पणव आदि वाद्यों के सहित अप्सराओं का नृत्य-गान सुनने में तल्लीन होगये ॥४॥ तब वे अप्सरायें रक्ताम्बर धारी

नीलकण्ठ भगवान् शंकर और भगवती पार्वतीजी को अपनी थोड़ी कला के प्रदर्शन से प्रसन्न करने लगी । फिर जैसे सूत, मागध एवं वदीजन स्तुतियाँ बहते हैं, उस प्रकार वे अप्सराएँ उन दोनों की स्तुति करने लगी ॥५॥ तभी चित्रलेखा नाम की अप्सरा पार्वतीजी का रूप धारण करके शिवजी को प्रसन्न करने लगी । उसके उस कला कौशल पर प्रसन्न हुई पार्वतीजी हँस पड़ी, तभी शिवगणों ने भगवान् शंकर का रूप धारण कर लिया ॥६-६॥

ततो देव्याः सुरूपेण लीलया वचनेन च ।
 देवी प्रहास मुमुचे ताश्चैवाप्सरसस्तदा ।
 ततः किलकिलाशब्द प्रादुर्भूत समन्ततः ॥१०॥
 प्रहर्षमतुल लेभे भव प्रीतमनास्तदा ।
 बाणस्य दुहिता कन्या तलोषा नाम भामिनी ॥११॥
 देव सक्रीडित दृष्ट्वा देव्या सह नदीगतम् ।
 दीप्यमान महादेव द्वादशादित्यतेजसम् ॥१२॥
 नानारूप वपुः कृत्वा देव्या प्रियचिकीर्षया ।
 उपा मनोरथचक्रे पार्वत्या सन्निधौ तथा ॥१३॥
 धन्या हि भर्तृसहिता रमत्येव समागता ।
 मतसा त्वथ सकल्पमुपया भाषित तथा ॥१४॥
 विज्ञाय तमभिप्रायमुपाया पर्वतात्मजा ।
 प्राह देवी ततो वाक्यमुपा हर्षयती शनैः ॥१५॥
 उपे त्वं शीघ्रमप्येव भर्ता सह रमिष्यसि ।
 यथा देवो भया साढं शङ्कर शक्नोति ॥१६॥

यह देख कर पार्वतीजी और अप्सराएँ अत्यन्त हर्षित हुई और उनके अट्टहास से वह समस्त नदी तट भूँज उठा ॥१०॥ उस हँसी को सुन कर शिवजी भी हँस पड़े । उसी समय बाणासुर की पुत्री उपा ने वहाँ आकर शिव-पार्वती को इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए देखा तो उसकी भी क्रीड़ा करने की इच्छा हुई ॥११-१२॥ फिर वह पार्वतीजी के पास जाकर अपने मन में विचार करने लगी कि

इस प्रकार अपने प्रियतम के साथ क्रीड़ा करने वाली स्त्रियाँ सब प्रकार से धन्य हैं ॥१४॥ उसके उम मनोभाव को भगवती उमा ने समझ लिया और वे बोली—हे उषे ! जैसे मैं भगवान् शंकर के साथ विहार करती हूँ, वैसे ही तुम भी शीघ्र ही अपने अनुरूप वर को प्राप्त होकर आनन्दोपभोग करोगी ॥१५-१६॥

एवमुक्ते तदा देव्या वाक्ये चिन्ताविलेक्षणा ।
उपा भाव तदा चक्रे भर्ता रंस्ये कदा सह ॥१७
तदा हैमवती वाक्य सप्रहस्येदमब्रवीत् ।
उषे शृणुष्व वाक्य मे यदा सयोगमेष्यसि ॥१८
वैशाखे मासि हर्म्यस्या द्वादश्या त्वा दिनक्षये ।
रमयिष्यति य स्वप्ने स ते भर्ता भविष्यति ॥१९
एवमुक्ता दैत्यसुना कन्यागणसमावृता ।
अपाक्रामत हर्षेण रममाणा यथासुखम् ॥२०
तत सखीभिर्हस्यन्ती हर्षेणोत्फुल्ललोचना ।
तालिकासन्निपातैश्च ह्यन्योन्यमभ्यवर्तत ॥२१
किन्नर्यो यक्षकन्याश्च नानादैतेयकन्यका ।
अप्सरोगणकन्याश्च उपाया सखिता गता ॥२२
उक्ता च तप्त ताभिश्च भर्ता तव वरानने ।
भविष्यत्यचिरेणैव देव्या वचनकलिरित् ॥२३
न हि देव्या वचो मिथ्या भविष्यति कदाचन ।
रूपाभिजनसपन्न पतिस्ते कल्पितस्तया ॥२४

पार्वतीजी का वचन सुन कर उपा ने ऐसा भाव प्रदर्शित किया जैसे वह अपनी अभिलाषा पूर्ण होने में किनना विलम्ब है, यह जानना चाहती हो ॥१७॥ तब उसके मनोभाव को जान कर पार्वतीजी ने हँसते हुए कहा—अधिक विलम्ब नहीं है । वैशाख की द्वादशी के रात्रिकाल में तू जिस पुरुष की सगति का स्वप्न देखेगी, वही पुरुष तेरा पति होगा ॥१८-१९॥ पार्वतीजी के मुख से इस प्रकार का आश्वासन सुन कर दैत्य-कन्या उपा अत्यन्त हर्षित होकर क्रीड़ा करने लगी ॥२०॥ उस समय अप्सराओं की किन्नरों की, यक्षों की तथा दैत्यो आदि की जो

कन्याएँ उसकी सहेली थी, वे सब हास-परिहास करती और ताली बजाती हुई बोली—हे सखी ! भगवती पार्वतीजी का वचन सदा सत्य होता है, उनकी कृपा से तुम्हें शीघ्र ही पति की प्राप्ति होगी ॥२१-२४॥

॥ चित्रलेखा का द्वारका गमन ॥

तत्रस्थाः परमा नार्याश्चित्रेण परमाद्भुताः ।
 ततो हर्म्ये शयानां तु वैशाखे मासि भामिनीम् ॥१॥
 द्वादश्यां शुक्लपक्षस्य सखीगणवृतां तदा ।
 यथोक्तः पुरुषः स्वप्ने रमयामास तां शुभाम् ॥२॥
 विचेष्टमाना रुदती देव्या वचनचोदिता ।
 सा स्वप्ने रमिता तेन स्त्रीमात्रं चापि लम्बिता ।
 शोणिताकता प्ररुदती सहस्रवोत्पता निशि ॥३॥
 तां तया रुदती दृष्ट्वा सखी भयसमन्विता ।
 चित्रलेखा वचः स्निग्धमुवाच परमाद्भुतम् ॥४॥
 उपे मा भैः किमेवं त्वं रुदती परितप्यसे ।
 यत्नेः सुतमुना च त्वं प्रख्याता किं भयान्विता ॥५॥
 न भय विद्यते लोके तव सुभ्रू विशेपतः ।
 अभय तव वामोरु पिता देवान्तको रणे ॥६॥
 उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते विपाद मा कृपाः शुभे ।
 नैयविधेपुवासेषु भयमस्ति वरानने ॥७॥
 असृद्देवमहितः शचीमर्ता सुरेश्वरः ।
 अप्राप्त एव नगरं विधा ते मृदितो रणे ॥८॥

यंशम्पावनजी ने कहा—हे राजन् ! इसके पश्चात् जब यंशराज की द्वादशी यागई, तब उसी रात्रि को उगा अपनी सगियों के साथ शयन कर रही थी, तभी राध्यावस्था में उसे एक सुन्दर पुरुष का सयोग प्राप्त हुआ ॥१-२॥ स्वप्न में इस प्रकार सयोग होने पर उगा महत्ता पीरवार करती हुई उठी और उगने अपने की स्त्री-भाव में पाया । पीरवार गून कर उगनी मन्त्री चित्रलेखा भी पीर

कर उठ पड़ी और उमने उपा से कहा—हे सखी ! भय मत करो, तुम शोक विरघात महाराज बाणासुर की सुपुत्री होकर इस प्रकार भयभीत होनी हो ? अरे, तुम रो क्यों रही हो ? तुम्हारे पिता के सामने कोई भी धीर युद्धक्षेत्र में नहीं टिक पाता तो तुम्हें भय मानो या रोन का क्या कारण हो सकता है ? ॥३-६॥ इसलिये हे सखी ! तुम मन में उत्पन्न हुए शिवाद का परित्याग करो । देखो, देव-साओं के अधिपति इन्द्र ने अपनी सेना के सहित जब-जब इस नगर पर आक्रमण किया, सभी-सभी ऊट परास्त होकर भागना पड़ा है ॥७-८॥

अय देवसमूहस्य भयदश्च पिता तव ।

महासुरवर श्रीमान्बले पुनो महाबल ॥८॥

एव साऽपि हिता सञ्जा बाणपुत्री यशस्विनी ।

रवन्ने ह्य यथा दृष्ट न्यवेदयदनिन्दिता ॥९॥

उपोवाच ।

एय सन्धर्पिता साऽत्री कथं जीवितुमुत्सहे ॥१०॥

पितरं किं नु वक्ष्यामि देवशत्रुमरिन्दमम् ।

एव सद्रूपणयरी व शस्यास्य महौजस ॥११॥

श्रेयो हि मरणं मह्यं न मे श्रेयोऽद्य जीवितम् ।

ईप्सितो वा यथा कोऽपि पुरुषो विगतो हि मे ॥१२॥

जाग्रतीव यथा चाहमवस्थेयं कृता मम ।

कथमेव कृता नाम वन्द्या जीविनुमुत्सहे ॥१३॥

कुलोपक्रोशनकरी कुलाङ्गारी निराश्रया ।

जीवितुं न स्पृहे-नारी साध्वीनामाग्रत स्थिता ॥१४॥

जब देवगण भी तुम्हारे पिता के भय से सदैव डरते रहते हैं, तो फिर तुम्हें भय करने का कोई कारण नहीं है । तुम्हारे पिता महाराज बलि के अत्यन्त पराक्रमी पुत्र तथा सब दैत्यों के स्वामी हैं, यह समझ कर तुम्हें शान्त होना चाहिये ॥१॥ चित्रलेखा के वचन सुन कर उपा ने उसे अपने स्वप्न का सम्पूर्ण विवरण सुनाते हुए कहा—हे सखी ! मैं सती, साध्वी तथा उच्च वर्ण की कन्या

हैं, परन्तु इस प्रकार लाञ्छित होकर अब किस प्रकार से जीवित रह सवूँगी ॥१०-११॥ शत्रुओं का नाश करने और देवताओं को भी भयभीत करने वाले अपने पिता से मैं इस विषय में क्या कह पाऊँगी ? जब मेरे कारण मेरे पितृकुल पर कलक लगता है तो मेरी मृत्यु होना ही श्रेयस्कर है । फिर जिस इच्छित पुरुष से संयोग हुआ था, वह भी तो मेरी दुर्दशा करके चला गया है, नव मेरे जीवन से क्या प्रयोजन है ? ॥१२-१५॥

इत्येव बाष्पपूर्णाक्षी सखीजनवृत्ता तदा ।
 विललाप चिरं कालमुपा कमललोचना ॥१६
 अनाथवत्तां रुदती सख्यः सर्वा विचेतनः ।
 ऊचुरश्रुपरीताक्षीमुपा सर्वा. समागता. ॥१७
 दुष्टेन मनसा देवि शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
 क्रियते न च ते सुभ्रु किञ्चिद्दुष्टं मनः शुभे ॥१८
 प्रसन्न दैवसयोगाद्यदि भुक्ताऽसि भामिनि ।
 स्वप्नयोगेन कल्याणि घतलोपो न विद्यते ॥१९
 व्यभिचारेण ते देवि नास्ति कश्चिद्व्यतिक्रमः ।
 न च स्वप्नकृतो दोषो मर्त्यलोकेऽस्ति सुन्दरि ॥२०
 एव विप्रर्षयो देवि धर्मज्ञा कथयन्ति वै ।
 मनसा च वाचा च कर्मणा च विशेषतः ।
 दुष्टा या त्विभिरेतस्तु पापा सा प्रोच्यते युधिः ॥२१

हे राजन् ! पद्माक्षी उपा यह कह कर बहुत समय तक रोती रही । उस समय सखियाँ उसके चारों ओर बैठ गईं और उसे व्याकुल देख कर वे भी अघोर हो उठी । फिर उन सखियों ने गद्गद स्वर में उससे कहा—हे सखी ! दूषित चित्त से ब्रिये गये कार्य का ही बुरा फल मिल सकती है, परन्तु तुम्हारे मन में कोई बुरा विचार नहीं था ॥१६-१८॥ यदि दैवयोग से किसी पुरुष का यसात् संयोग प्राप्त भी हुआ है तो वह स्वप्न की घटना होने के कारण असत्य है, उससे तुम्हारा कीमार्ग भंग नहीं हो सकता ॥१९॥ यह घटना व्याभिचार नहीं बही जा सकती । फिर मर्त्यलोक में तो स्वप्नावस्था का दोष, दोषों की गणना में ही

नहीं है ॥२०॥ धर्म के जानने वालों का कथन है कि मन, वचन और कर्म से पाप करने वाली नारी ही पापिनी हो सकती है ॥२१॥

न च ते दृश्यने भीरु मन प्रचलित सदा ।
 कथं त्वं दोषसदुष्टा नियता ब्रह्मचारिणी ॥२२॥
 यदि सुप्ता सती साध्वी शुद्धभावा मनस्विनी ।
 इमामवस्था प्राप्ता त्वं नैव धर्मो विलुप्यते ॥२३॥
 यस्या दुष्ट मन पूर्वं कर्मणा चोत्पादितम् ।
 तामाहूरमती नाम सती त्वमसि भामिनि ॥२४॥
 भुराजा रूपसपत्ना नियता ब्रह्मचारिणी ।
 इमामवस्था नीताऽमि कालो हि दुरतिक्रम ॥२५॥
 इत्येवमुक्ता रुदती वाष्पेणावृतलोचनाम् ।
 कुम्भाण्डदुहिता वाक्य परम त्विदमब्रवीत् ॥२६॥
 त्यज शोकं विशालाक्षि अपापा त्वं वरानने ।
 श्रुतं मे यदिदं वाक्यं याथातथ्येन तच्छृणु ॥२७॥
 उपेयमुक्ता देव्याऽसि भर्तारं ध्यायती तदा ।
 समीपे देवदेवस्य स्मरं भामिनि तद्वच ॥२८॥

जब तुम्हारा मन कभी क्षणभर के लिये भी चंचल नहीं हुआ और जब तुम सदा ब्रह्मचर्य पालन पूरक रही हो तब तुम्हें दुष्टा कैसे कहा जा सकता है ? ॥२२॥ स्वप्न काल में यदि तुम्हारे जैसी शुद्ध भाव वाली सती, साध्वी कुमारी देवयोग से ऐसी घटना में फँस जाय तो उसका धर्म कभी भी लुप्त नहीं होना ॥२३॥ जो स्नेहचारिता पूर्वक दुष्टकर्मों में लगी रहती है उसी को असती कहते हैं ॥२४॥ तुम रूप, गुण, कुल, शील आदि में सर्वश्रेष्ठ एवं सती हो । यह घटना तो काल की गति से ही अनायास घट गई है ॥२५॥ इस प्रकार सब सखियों के भाति भाँति से समझाने पर भी उपा का मन शांत नहीं हुआ और वह आसुओं की धारा बहाती हुई रोती रही । उसे इस दशा में देख कर कुम्भाण्ड नामक मन्त्री की पुत्री ने उससे कहा—हे विशाल नयनों वाली ! तुम इस शोक का परित्याग

करो । इस विषय मे तुम्हारा किंचित् भी दोष नहीं है, क्योंकि इस समय मुझे जिस बात का स्मरण हुआ है, उससे भी तुम्हारा निरपराध होना सिद्ध होता है ॥२६-२७॥ तुम अपने मन को शा न करके भगवान् शंकर के समक्ष कहे गये भगवती पार्वती के वचनो का स्मरण करो ॥२८॥

द्वादश्या शुक्लपक्षस्य वैशाखे मासि यो निशि ।
 हर्म्ये शय'ना रुदती स्त्री तया समुपनेष्यति ॥२८॥
 भविता स हि ते भर्ता शूर शस्त्रनिबर्हण ।
 इत्युवाच वचो हृष्टा देवी तव मनोगतम् ॥३०॥
 न हि तद्वचन मिथ्या पार्वत्या यदुदाहृतम् ।
 सा त्व किमिदमत्यर्थं रोदिपीन्दुनिभानने ॥३१॥
 एवमुक्ता तया बाला स्मृत्वा देवीवचस्तत ।
 अभवन्नष्टशोका सा धाणपुत्री शुभेक्षणा ॥३२॥
 स्मरामि भामिनि वचो देव्या क्रीडागते भवे ।
 यथोक्त सर्वमखिल प्राप्त हर्म्यंतले मया ॥३३॥
 भर्ता तु मम यद्यप लोचनाथम्य भार्यया ।
 व्यादिष्ट स कथ ज्ञेयस्तत्र कार्य विधियताम् ॥३४॥
 इत्येवमुक्ते वचने कुम्भाण्डदुहिता पुन ।
 व्याजहार यथान्यायमर्थतत्त्वविशारदा ॥३५॥
 न हि तस्या कुल देवि न कीर्तिर्नानि पौरुषम् ।
 कश्चिज्जानाति तत्त्वेन किमिद त्व विमुह्यसे ॥३६॥

उन्होंने कहा था कि वैशाख की द्वादशी की तुम्हारी स्वप्नावस्था मे जिस पुरुष का तुम्हे सयोग प्राप्त होगा, वही तुम्हारा पति बनेगा । इस प्रकार पार्वती-जी ने तुम्हारा मन चाहा वर प्रदान किया था ॥२६-३०॥ भगवती के वचन कभी भी असत्य नहीं हो सकते, इसलिये अब, जब कि तुम्हारे समक्ष अनुवृत्त अवसर उपस्थित होगया, तब क्यों रो रही हो ? ॥३१॥ हे राजन् ! मन्त्रीतनया के वचन सुन कर उपा का शोक मिट गया और वह कहने लगी ॥ ३२ ॥ उपा

घोनी—हे सती ! अब मुझे मग्दनी पावनीजी ने ठीका के समय जो वचन कहे थे, उनकी याद आ गई है, परंतु उनके द्वारा इच्छित मेरा वह पति कौन है, यह जानने का उपाय होना चाहिये ॥३३-३४॥ उपा की जान मुन कर अर्थ तत्त्व विचारदा कुभाण्डतनया ने रक्ता—हे मग्धी ! उग पुरुष के रूप गुण आत्म से कोई भी नहीं जानती तो मन में ध्यय ही सतप्त हो से क्या ।
॥ ३५ ३६ ॥

अदृष्टश्चाश्रुतश्चंद्र दृष्टः स्वप्ने च य शुभे ।
कथं ज्ञेयो भवेद्धीर मोहमाभी रतितस्कर ॥३७॥
येन त्वमसितापाङ्गि मत्तकाश्रिनि विस्मयात् ।
रदती प्रसभ भुक्ता प्रविश्यान्त पुर सपि ॥३८॥
न ह्यसौ प्राकृत कश्चिद्य प्रविष्ट प्रसह्यते ।
नगर लोकजित्यानमेक शत्रुनिवर्हण ॥३९॥
आदित्या वसवो रुद्रा अध्वनी च महीजसी ।
न शक्ता शोणितपुर प्रवेष्टु भीमविद्यमा ॥४०॥
सोऽयमेतै शतगुणं त्रिंशद्विंशच्चारिसूदन ।
प्रविष्ट शोणितपुर राणनाम्प्य मूर्धनि ॥४१॥
यस्या नैव विधो भर्ता भवेत्तु विचारद ।
कस्तस्या जीविनेनार्थो भोगे त्रिस्त्यम्बुजेश्वरे ॥४२॥
धन्याऽस्यनुगुहीताऽसि यस्यास्ते पतिरीदृश ।
प्राप्तो देव्या प्रसादेन कन्दर्पसमविक्रम ॥४३॥
इदं तु यत्कार्यतम शृणु त्व तन्मयेरितम् ।
विज्ञेयो यस्य पुत्रो वै यन्नामा यत्कुलश्च स ॥४४॥

हमने न तो उसे कभी देखा और न कानो से उसके विषय में कुछ सुना तथा तुम भी केवल स्वप्न में ही उसे देख सकी हो, तब हम में से कोई उसे किस प्रकार पहचान पायेगी ? ॥ ३७ ॥ फिर इस लोक प्रसिद्ध नगर में वह इकला ही अपने पराक्रम से आकर तुमसे मिला, तो अवश्य ही वह कोई असाधार-

रण पुरुष होगा ॥३८-३९॥ देखो, आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण और अश्विद्वय महायशस्वी होकर भी इस नगर में प्रवेश नहीं कर सकें ॥४०॥ परन्तु वह पुरुष बाणासुर के शिर पर पाँव रख कर शोणितपुर में घुस आया था, तो अवश्य ही वह उनसे शतगुणा पराक्रमी होगा ॥४१॥ जिस नारी का पति इतना पराक्रमी न हो उसे भोगों का सुख अथवा जीवन का आनन्द ही उपलब्ध नहीं हो सकता ॥४२॥ इस प्रकार हे सखी ! तुम धन्या और अनुग्रहीता हो । यदि ऐसा न होगा तो पार्वतीजी तुम पर प्रसन्न ही क्यों होती अथवा तुम्हें ऐसे कामोपम पति की प्राप्ति का वर ही क्यों प्रदान करती ? ॥४३॥ अब मैं तुम्हें जो उपाय बताती हूँ, उसे सुन कर वैसा कार्य करो तो तुम्हें उस युवक के पिता, वंश और नाम का पता सुगमता से लग सकता । ४४॥

इत्येवमुक्ते वचने तक्षोपा काममोहिता ।

उवाच कुम्भाडसुना कथं ज्ञास्याम्यहं सखि ॥४५॥

• त्वमेव चिन्तय सखि नोत्तरं प्रतिभाति मे ।

स्वकार्ये मुह्यते लोको यथा जीवं लभाम्यहम् ॥४६॥

उपाया वचनं श्रुत्वा रामा वाक्यमिदं पुनः ।

उवाच रुदती चोपा कुम्भाण्डदुहिता सखी ॥४७॥

कुशला ते विशालाक्षि सर्वथा सन्धिविग्रहे ।

अप्सरा चित्रलेखा वै क्षिप्रं विज्ञाप्यता सखि ॥४८॥

अस्याः सर्वमशेषेण त्रैलोक्यं विदितं सदा ।

एवमुक्त्वा तर्दं वोपाः पूर्णमागतविस्मया ॥४९॥

तामन्तरसमानाद्यं चित्रलेखा सखी प्रियाम् ।

कृताञ्जलिपुटा दीना उपा वचनमब्रवीत् ॥५०॥

सा तच्छ्रुत्वा तु वचनमुपायाः परिकीर्तितम् ।

आश्वासयामास सखी वाणपुत्री यशविनीस्म ॥५१॥

इस पर काम से मोहित हुई उपा उससे बोली— हे सखी ! अपना कार्य उपस्थित होने पर उमकी चिन्ता में सभी का चित्त भ्रान्त हो जाता है, इसलिये

मैं भी अपने कर्त्तव्य का निश्चय नहीं कर पा रही हूँ । अतः तुम ही कोई ऐसा यत्न करो जिससे मेरे प्रियतम का पता लग सके ॥४७-४६॥ उपा ने वचन सुन कर कुम्भाण्ड-पुत्री ने कहा—हे सखी ! सन्धि-विग्रह की नीति में चित्रलेखा बहुत चतुर है और वह तीनों लोकों के वृत्तांत को भनने प्रवार जानती है, इसलिये इस विषय में उसी से परामर्श करना चाहिये । यह सुन कर उपा ने अत्यन्त हर्ष एव आश्चर्य हुआ ॥४७-४६॥ उसन उसी समय चित्रलेखा को युला पर उसे सम्पूर्ण वृत्तान्त बता दिया, तब उसकी बात को समझ कर चित्रलेखा ने उसे आश्वासन दिया ॥४७-४६॥

तत मा विस्मयाविष्टा वचन प्राह दुर्वचम् ।
 चित्रलेखामप्सरस प्रणयात्ता सखीमिदम् ॥४२
 परम शृणु मे वाक्य यत्त्वा वक्ष्यामि भामिनि ।
 भर्तारि यदि मेऽद्य त्व नानयिव्यसि मत्प्रियम् ॥४३
 कान्त पद्मपलाशाक्ष मत्तमातगमामिनम् ।
 न्यक्ष्याम्यहं तत प्राणानचिरात्तनुमध्यमे ॥४४
 चित्रलेखाऽब्रवीद्वाक्यमुषा हर्षयती शनै ।
 नैषोऽर्थं शक्यतेऽस्माभिर्वेत्तु भामिनि सुशक्ते ॥४५
 न कुलेन न वर्णेन न शीलेन न रूपत ।
 न देशतश्च विज्ञात स हि चोरो मया सखि ॥४६

फिर आश्चर्य में भरी हुई उपा अपनी सहेली चित्रलेखा से विनीत भावपूर्वक बोली—हे सखी ! तू मेरा अन्तिम निश्चय सुन लो । यदि तू आज ही मेरे मत्त गजराज जैसे पराक्रमी प्रियतम का पता न लगा सकी तो मेरा यह प्राण नहीं रहेगा ॥४२-४४॥ इस पर चित्रलेखा ने उसे सान्त्वना देकर कहा—मैं इस विषय में कुछ भी नहीं कह सकती, क्योंकि मैं तुम्हारे चित्त को आकर्षित करने वाले पुरुष के रूप, गुण, वंश, शील और देश आदि को किंचित् भी नहीं जानती ॥ ४५-४६ ॥

किन्तु कर्तुं यथाशक्यं बुद्धिपूर्वं मया सखि ।
 प्राप्तं च शृणु मे वाक्यं यथा काममनाप्स्यसि ॥५७
 देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
 ये विशिष्टाः प्रभावेण रूपेणाभिजनेन च ॥५८
 यथाप्रभावं तान्सर्वानालिखिष्याम्यहं सखि ।
 मनुष्यलोके ये चापि प्रवरा लोकविश्रुताः ॥५९
 सप्तरात्रेण ते भीरुदर्शयिष्यामि तानहम् ।
 ततो विज्ञाय पादस्थ भर्त्तारं प्रतिपन्स्यसे ॥६०
 सा चित्रलेखाया प्रोक्ता उपा हितचिकीर्षया ।
 कियतामेवमित्याह चित्रलेखा सखी प्रियाम् ॥६१

फिर भी उसे प्राप्त करने का एक उपाय मैंने सोचा है, उसे कहती हूँ, सुनो ॥५७॥ देवता, दैत्य, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, नाग और मनुष्यों में जो-जो पुरुष विख्यात हैं, उन-उन के चित्र बना कर तम्हें दिखाऊँगी । यह चित्र एक सप्ताह में तुम्हारे सामने आजायगे, तब उनमें यदि तुम्हारा इच्छित पुरुष हो तो उसे पहिचान लेना ॥५८ ६०॥ चित्रलेखा की बात सुन कर उपा ने कहा—हे सखी ! अब तुम्हें जो उचित प्रतीत हो, वही करो ॥६१॥

ततः कुशलहस्तत्वाद्यथालेज्यं समन्ततः ।
 इत्युक्त्वा सप्तरात्रेण कृत्वा लेख्यगतास्तु तान् ॥६२
 चित्रगृहगान्मुख्यानां नगामां शोभना ।
 ततः प्रस्तीर्य पट्टं सा चित्रलेखा स्मय कृतम् ॥६३
 उपायं दर्शयामास सखीनां तु विशेषतः ।
 एते देवेषु ये मुन्यास्तथा दानववर्जाः ॥६४
 विन्नरोरगयक्षाणां राक्षसानां ममन्ततः ।
 गन्धर्वसुरदैत्यानां ये चान्ये भोगिनः स्मृताः ॥६५
 मनुष्याणां च सत्येषां ये विशिष्टाश्च नराः ।
 तदेतान्पश्य सर्वास्त्वं यथैव निखितान्मया ॥६६

यस्ते भर्ता यथास्पो भयाभिलिखितः सखिः ।

त त्व प्रत्यभिजानीहि स्नप्ने य दृष्टवत्यसि ॥६७

फिर चित्रलेखा नाम की वह अप्सरा अपनी चतुराई से एक सप्ताह में ही चित्रलेखन कार्य को सम्पूर्ण कर और उपा के पास आकर सब सखियों के सामने चित्रों का प्रदर्शन करती हुई बोली—देवता, दानव, यक्ष, गंधर्व, विन्दर, नाग और मनुष्यों में जो सब खेळ समझे जाते हैं, उन सब के चित्र मैंने बना दिये हैं, अब तुम स्वप्न में देखे हुए अपने उस इच्छित पुरुष को इतने से पहिचान लो ॥ ६२-६७ ॥

तत क्रमेण सर्वास्तान्दृष्ट्वा सा मत्तकाशिनी ।

देवदानवगन्धर्वविद्याधरगणानथ ।

अतीत्य च यदून्सर्वान्दिदशं यदुनन्दनम् ॥६८

तत्रानिरुद्ध दृष्ट्वा सा विस्मयोत्फुल्ललोचना ।

उवाच चित्रलेखा तामय चीर स वै सखि ॥६९

येनाह दूषिता पूर्वं स्वप्ने हर्म्यगता सती ।

सोऽय विज्ञातरूपा मे कुतोऽय रतितस्कर ॥७०

चित्रलेखे वदस्व न तत्स्वतो मम शोभने ।

कुशीलाभिजनतो नाम किं चास्य भामिनि ।

तत पराचाद्विधास्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ॥७१

अय त्रैलोक्यनाथस्य नप्ता कृष्णस्य धीमतः ।

भर्ता तव विशालाक्षि प्राद्युम्निर्भामविक्रमः ॥७२

न ह्यस्ति त्रिषु लोकेषु सदृशोऽस्य पराक्रमे ।

उत्पाट्य पर्वतानेष पर्वतानेष शातयेत् ॥७३

धन्याऽस्यनुगृहीताऽसि यस्यास्ते यदुपुङ्गव ।

त्र्यक्षपत्न्या समादिष्टः सदृश सज्जन पति ॥७४

इस प्रकार उपा देव, दानव, गंधर्व आदि के चित्रों को देखती हुई जब मनुष्यों के चित्रोंको देख रही थी, तभी सहसा उसकी दृष्टि अतिरिक्त के चित्र पर

जा पहुँची और उसे देखते ही कह उठी — हे सखी ! यही तो वह चितचोर है ॥६८-६९॥ उस दिन यही मेरी स्वप्नावस्था मे मुझसे मिला था । अब तुम बताओ कि यह कहाँ होगा ? ॥७०॥ इसका बुल, शील, रूप और नाम आदि का यथार्थ पता बताओ, फिर भविष्य का वर्तुण स्थिर किया जायगा ॥७१॥ तब चित्रलेखा ने कहा—हे सखी ! यह भगवान् श्रीवृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध हैं, इनके पिता का नाम प्रद्युम्न है । तीनो लोको मे इनके समान कोई वीर नहीं है । यह पर्वतो को उखाड़ कर उन्ही के प्रहार से अन्यान्य पर्वतो को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं ॥७२-७३॥ अवश्य ही तुम कृत्यकृत्य हो गई हो, यदि यह बात न होती तो भगवती पावती तुम्हारे लिये ऐसा थोछ पति क्यों प्राप्त कराती ? ॥७४॥

त्वमेवास्त्रं विशालाक्षि योम्या भव वरानने ।
 न शक्या हि गतिश्चान्या अगत्या मे गतिर्भव ॥७५॥
 अन्तरिक्षचरा च त्व योगिनी कामरूपिणि ।
 उपायस्यास्य कुशला क्षिप्रमानय मे प्रियम् ॥७६॥
 सर्वथा सस्तुता तेऽह वाक्यैरमृतसोदरै ।
 कारिता च समुद्योग प्रिय कान्तैश्च भापितै ॥७७॥
 एषा गच्छाम्यह भीरु क्षिप्र वं द्वारका पुरीम् ।
 भर्तारमानयाम्यद्य तव वृष्णिकुलोद्भवम् ।
 अनिरुद्ध महाबाहु प्रविश्य द्वारका पुरीम् ॥७८॥
 सा वचस्तथ्रमशिव दानवाना भयावहम् ।
 उक्त्वा चान्तर्हिता क्षिप्र चित्रलेखा मनोजवा ॥७९॥
 सखीभि सहिता ह्यूपा चिन्तयन्ती तु सा स्थिता ।
 तृतीये तु भूहर्ते सा नष्टा वाणपुरात्तदा ॥८०॥
 सखीप्रिय चिकीर्षन्ती पूजयन्ती तपोधनान् ।
 क्षणेन समनुप्राप्ता द्वारकां कृष्णपालिताम् ॥८१॥
 कैलासशिखराकारैः प्रासादैरुपशोभिताम् ।
 ददर्श द्वारका रम्या दिवि तारामिव स्थिताम् ॥८२॥

नगरे शोणितपुरे वाणो नाम महासुरः ।
 तस्य कन्या वरारोहा नाम्नोपेति च विश्रुता ॥७॥
 भगवन्सानुरक्ता च प्राद्युष्मि पुरुषोत्तमम् ।
 देव्या वरविसर्गेण तस्या भर्ता विनिर्मितः ॥८॥
 त च नेतुं समायाता तत्र सिद्धिं त्रिघत्सव मे ।
 मया नीतेऽनिरुद्धे तु नगर शोणिनाह्वयम् । ९॥
 प्रवृत्तिं पुण्डरीकाक्षे त्वयाऽऽख्येया महामुने ।
 अवश्य भविता चैव कृष्णेन सह विग्रहः ।
 वाणस्य सुमहान्सख्ये दिव्यो हि स महासुरः ॥१०॥

वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् । द्वारका स्थित भगवान् श्रीकृष्ण के भवन-द्वार पर जाकर चित्रलेखा सोचने लगी कि मैं अनिरुद्ध के पास किस प्रकार पहुँच सकती हूँ, जिससे कि उपा या वृत्तान्त उन्हें सुनाया जा सके ? ॥१॥ तभी एक जलाशय के किनारे पर बैठे हुए देवर्षि नारद को उसने भगवान् का ध्यान करने हुए देखा ॥२॥ इससे वह बड़ी प्रसन्न हुई और तुरन्त ही उनके पास आकर प्रणाम पूर्वक विनीत भाव से खड़ी हो गई ॥३॥ तभी नारदजी का ध्यान भग हुआ और वह बोले—हे अप्सरे ! तुम यहाँ किस प्रयोजन से आई हो, यह यथार्थ रूप से कहो ॥४॥ इस पर चित्रलेखा ने हाथ जोड़ कर तीनी लोको में सम्मानित उन नारदजी से कहा—हे भगवन् । मैं जिस कार्य से यहाँ आई हूँ, उसे कहती हूँ । मुझे यहाँ से अनिरुद्ध को लिवा ले जाना है । क्योंकि शोणितपुर के अधिपति वाणासुर की एक अत्यन्त सुन्दरी 'उपा' नाम की कन्या है ॥ ५-७ ॥ भगवती पार्वती ने उसे पति रूप में अनिरुद्ध को प्राप्त करने का वर प्रदान किया है और उपा की भी उनमें अत्यन्त आगति है, इसीलिये मैं उन्हें लिवा ले जाना चाहती हूँ । हे भगवन् ! मुझे इस कार्य में जिस प्रकार सफलता मिल सके, वह उपाय करिये और जब मैं उन्हें यहाँ से ले जाऊँ, तब यह वृत्तान्त भगवान् श्रीकृष्ण को भी बता दीजिये । परन्तु ऐसा होने पर युद्ध में अत्यन्त दुर्घट दैत्यराज वाणासुर के साथ सश्रम छिड़ने की सम्भावना है ॥८-१०॥

न च शक्तोऽनिरुद्धस्त युद्धे जेतु महासुरम् ।
 सहस्रबाहुमायान्त जयेत्कृष्णो महाभुज ॥११॥
 भगवन्सन्निकर्षं ते यदर्थमहमागता ।
 कथं हि पुण्डरीकाक्षो ज्ञापितस्तदिदं भवेत् ॥१२॥
 त्वत्प्रसादान्च भगवन् मे कृष्णाद्भयं भवेत् ।
 स हि तत्त्वार्थदृष्टिस्तु अनिरुद्ध कथं ह्रियेत् ॥१३॥
 क्रुद्धो हि स महाबाहुस्त्रैलोक्यमपि निर्दहेत् ।
 पौत्रशोकाभिसतप्त शोकेन स दहेत् माम् ॥१४॥
 तत्रोपगम्य च भगवश्चिन्तितु वै त्वमर्हसि ।
 यथा ह्यूपा लभेत्कान्तं मम चैवाभयं भवेत् ॥१५॥

इसलिये उसका अनिरुद्ध से परास्त होना संभव नहीं है अतः मे भगवान् श्रीकृष्ण को ही उसे हराना पड़ेगा ॥११॥ इस समय भगवान् श्रीकृष्ण को यह वृत्तांत किस प्रकार सुनाया जाय, मैं आपसे यही जानना चाहती हूँ । १२॥ यदि आप मुझ पर क्रुद्ध करके यह समाचार भगवान् श्रीकृष्ण को स्वयं ही सुना दें, तो मैं निभय ही जाऊँ । उनके मनोभाव का ज्ञान हुए बिना अनिरुद्ध का अपहरण करने का मुझे साहस नहीं हो रहा है ॥१३॥ भगवान् श्रीकृष्ण अपने क्रोध से तीनो लोकों को भस्म करने में समर्थ हैं, यदि मैं उनके जाने बिना ही अनिरुद्ध का अपहरण कर लूँगी तो वे पौत्र शोक से सतप्त होकर कहीं मुझे ही भस्म न कर डालें ॥१४॥ इसलिये आप ही कोई उपाय करें जिससे उपा को उसके प्रिय पति की प्राप्ति हो सक और मैं भय से मुक्त हो सकूँ ॥१५॥

इत्येवमुक्तो भगवाश्चित्रलेखा स नारद ।
 उवाच स शुभं वाक्यं मा भैस्त्वमभयं शृणु । १६
 त्वया नीतेऽनिरुद्धे तु कन्यावेश्मप्रवेशिते ।
 यदि युद्धं भवेत्तत्र स्मर्तव्योऽहं शुचिस्मिते ॥१७॥
 ममैव परमं कामो युद्धं द्रष्टुं मनोरमे ।
 तद्दृष्ट्वा च महाप्रीतिं प्रवृत्तिश्च दृढा भवेत् ॥१८॥

ह्यतां तामसी विद्यां सर्वलोकप्रमोहिनीम् ।
 कृतकृत्यस्तु ते देवि एष विद्या ददाम्यहम् ॥१६
 एवमुक्ते तु वचने नारदेन महर्षिणा ।
 तथेति वचनं प्राह चित्रलेखा मनोजवा ॥२०
 अभिवाद्य महात्मानमृषीणा नारदं वरम् ।
 सा जगामानिरुद्धस्य नृहं चैवान्तरिक्षगा ॥२१
 ततो द्वारवतीमध्ये कामस्य भुवनं शुभम् ।
 तत्समीपेऽनिरुद्धस्य भवनं सा विवेश ह ॥२२

चित्रलेखा के वचन सुन कर नारदजी ने कहा—हे अप्सरे ! तुम्हे किसी प्रकार भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि मैं तुम्हे भय से बचने का उपाय बताता हूँ ॥१६॥ जब तुम अनिरुद्ध की वाणामुर की पुत्री के पास पहुँचा दो, तब यदि किसी प्रकार युद्ध होने लगे तो मेरी याद करना ॥ १७ ॥ क्योंकि युद्ध को देख कर मेरा चित्त अत्यन्त आनन्दित हो उठता है, इसलिये मैं युद्ध देखने के लिये सदा उत्सुक रहता हूँ । इसलिये मैं तुम्हे विश्व को मोह में डालने वाली तामसी विद्या दे रहा हूँ, तुम उसे ले लो ॥१८-१९॥ तब चित्रलेखा ने नारदजी से तामसी विद्या प्राप्त कर उन्हें प्रणाम किया और आकाश मार्ग से होकर द्वारका के मध्य प्रद्युम्न भवन के पार्श्व भाग में स्थित अनिरुद्ध के महल में प्रवेश किया ॥ २०-२२ ॥

ददर्श भवनं यत्र प्राद्युम्निरवसत्सुखम् ।
 ततः प्रविश्य भवनं सहसा तस्य तन्महत् ॥२३
 तत्तानिरुद्धं सापश्यन्चित्रलेखा वराप्सराः ।
 मध्ये परमनारीणां तारापतिमिवोदितम् ॥२४
 व्यपतमस्य हि सत्स्वप्नो हृदये परिवर्तते ।
 इति तत्तैव बुद्ध्या च निश्चिता गतसाध्वसा ॥२५
 सा दृष्ट्वा परमस्त्रीणां मध्ये शक्रध्वजोपमम् ।
 चिन्तयाविष्टहृदया चित्रलेखा मनस्विनी ॥२६

कथं कार्यमिदं कार्यं कथं स्वस्ति भवेदिति ।
 साञ्ज्त्हिता चिन्तयित्वा चित्रलेखा यशस्विनी ॥२७॥
 तामस्या छादयामास विद्यया शुभलोचना ।
 ततोऽन्तरिक्षादेवाशु प्रासादोपर्यधिष्ठिता ॥२८॥
 प्राद्युष्मि वचनं प्राह श्लक्ष्ण मधुरया गिरा ।
 चक्षुर्दत्त्वा तु सा तस्मै कृत्वा चात्मनि दर्शनम् ॥२९॥
 विविक्षते सा च वै देशे तं वाक्यमिदमब्रवीत् ।
 अपि ते कुशल वीर सर्वज्ञ यदुनन्दन ॥३०॥
 अहस्तावत्प्रदोषो वा कच्चिद्गच्छति ते सुखम् ।
 शृणुष्व त्वं महाबाहो विज्जिप्ति मे रतीसुत ॥३१॥

फिर जिस वक्ष में अनिरुद्ध अनेक सुन्दरियों के मध्य में बैठे रह कर तारिकाओं के मध्य में चन्द्रमा जैसे प्रतीत हो रहे थे, वहाँ वह जा पहुँची ॥२२-२४॥ परन्तु अनिरुद्ध के स्त्रियों से घिरे होने के कारण चित्रलेखा ने सोचा कि इस प्रकार भरा कार्य कैसे होगा ? फिर कुछ स्थिर कर वह नारद प्रदत्त तामसी विद्या के प्रभाव से अदृश्य रह कर भवन के ऊपर जा पहुँची और उसने सब को मोहित कर अनिरुद्ध को चिन्तन रहने की शक्ति देकर उन्हीं स्त्रियों के रहते हुए मधुर स्वर में उनसे कहा—हे यदुनन्दन ! हे वीर ! आप कुशल से तो हैं ? आपके दिन-रात तो सुखपूर्वक व्यतीत होते हैं ? इस समय मैं आपसे जो कुछ कहना चाहती हूँ, उसे सुनिये ॥२५-३१॥

उपाया मम सत्यास्तु वाक्यं वक्ष्यामि तत्त्वतः ।
 स्वप्ने तु या त्वया दृष्टा स्तोभाव चापि भाविता ॥३२॥
 त्रिभक्तिं हृदये या त्वामुपया प्रेषिता त्वहम् ।
 रुदन्ती जम्भती चैव नि श्वसन्ती मुहुर्मुहुः ॥३३॥
 त्वद्दर्शनपरा सौम्य कामिनी परितप्यते ।
 यदि त्वं यास्यसे वीर धारयिष्यति जीवितम् ३४
 अदर्शनेन मरणं तस्या नास्त्यत्र सशयः ।
 यदि नारीमन्य ते हृदिस्य यदुनन्दन ॥३५॥

स्त्विया कामयमानाया कर्तव्या हस्तधारणा ।

त्व च तस्या वरोत्सर्गे दत्तो देव्या. मनोरथः ॥३६॥

आपने स्वप्न में देख कर ही जिसके साथ पत्नी के समान आचरण किया था, उस उपा ने उसी समय से आपको अपने हृदय मंदिर में स्थान दे रखा है । वह कभी रोती, कभी जम्हाई लेती और कभी-कभी निश्वास छोड़ती हुई आपको याद करती है । मुझे उसी ने आपके पास भेजा है ॥३२-३३॥ हे सोम्य ! आपके बिना वह जीवित नहीं रहेगी । वैसे आपकी सेवा हजारों स्त्री-रत्न उत्पन्न हैं, फिर भी यदि कोई नारी आपको कामना करती है तो उसका पाणिग्रहण करना आपका कर्त्तव्य है । भगवती पार्वतीजी के घरदान से ही वह आपके प्रति आभावान हुई है ॥ ३४-३५-३६ ॥

चित्रपट्ट मया दत्त त्वच्चित्तं दृश्यं जीवति ।

सानुकोशो यदुश्रेष्ठं भव तस्या मनोरथे ॥३७॥

उपा ते पतते मूर्ध्ना वयं च यदुनन्दन ।

श्रूयता चोद्भवस्तस्या कुलशीलं च यादृशम् ॥३८॥

संस्थानं प्रकृतिं चास्या पितरं च श्रुवीमि ते ।

वैरोचनिसुतो वीरो बाणो नाम महामुर ॥३९॥

स राजा शोणितपुरे तस्य त्वामिच्छते सुता ।

त्वद्भावगतचित्ता सा त्वन्मयं चापि जीवितम् ॥४०॥

मनोरथकृतो भर्ता देव्या दत्तो न संशयः ।

त्वत्सगमात्सा सुश्रोणी प्राणान्धारयते शुभा ॥४१॥

मैंने उसे आपका चित्र बना कर दिखाया था, वह सदा उसी को अपने अंक में लिये रहती है । मेरी प्रार्थना है कि आप मेरी सखी पर दया कीजिये और जैसे भी हो सके उसका मनोरथ पूरा करने की कृपा करिये । अब मैं उसके कुल, शील, स्थान, प्रकृति और उसके पिता का परिचय देती हूँ ॥ ३७-३८-३९ ॥ शोणितपुर का राजा बाणामुर दैत्यराज वलि का पुत्र तथा महान् वीर है, यही उस उपा का पिता है । वह मन्दरी आपको अपना मन अर्पण करके अपने जीवन

को अपना आश्रित बर चुकी है ॥४०॥ भगवती पार्वती ने भी उसे आपको वर रूप में प्राप्त करने का वर प्रदान दिया था । इसलिये भी वह अनुरक्त आपकी अभाव में कभी भी जीवन धारण नहीं करेगी ॥४१॥

चित्रलेपावच श्रुत्वा सोऽनिरुद्धोऽब्रवीदिदम् ।

दृष्टा स्वप्ने मया सा हि तन्मत्त शृणु शोभने ॥४२॥

रूपं कान्तिं मतिं चैव सयोग रुदित यथा ।

एव सर्वमहोरात्र मुह्यामि परिचित्तयन् ॥४३॥

यद्यहं समनुग्राह्यो यदि सद्यस्मिच्छसि ।

नयस्व चित्रलेखे मां द्रष्टुमिच्छाम्यहं प्रियाम् ॥४४॥

कामसन्तापसन्नप्त प्रियासङ्गमकामत ।

एषोऽञ्जलिमया यद्ध सत्यं स्वप्नं कुरुष्व मे ॥४५॥

तस्य यद्वचनं श्रुत्वा चित्रलेखा वराप्परा ॥

मफलोऽद्य मम वलेश सरगा मे यत्प्रयाचितम् ॥४६॥

ईप्सितं तस्य विज्ञाय अनिरुद्धस्य भामिनी ।

चित्रलेखा ततस्तुष्टा तथेति च तमब्रवीत् ॥४७॥

हर्म्ये स्त्रीगणमध्यस्थं कृत्वा चान्नर्हितं यदा ।

उत्पपात गृहीत्वा सा प्रायुष्मिन् युद्धमुदम् ॥४८॥

चैतन्पावनश्री ने कहा—हे राजन् ! चित्रलेखा के वचन सुन कर अनिरुद्ध बोले कि मैंने भी उसे जब से स्वप्न में देखा है, तभी से दुःखता प्रसन्न हो रहा हूँ । तुम उगवा पियरप सुनो ॥ ४२ ॥ मैं भी उसी समय से उसके रूप-लावण्य एवं सयोगादि का विचार करता हुआ निरस्त-विमूढ बन गया हूँ और उससे दान के लिये निगा लगा हुआ हूँ । इग्निये यदि तुम युग पर कुछ अनुग्रह करना चाहती हो तो शीघ्र ही उसका पाग ले चलो ॥४३-४४॥ हे अम्बारे ! मैं अपनी उत प्रिय-तमा से भेंट करने के लिये बहुत ही असीर हो गया हूँ, इग्निये मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि मेरे स्वप्न को मत्त करके देता दो ॥४५॥ यह सुन कर चित्रलेखा अरर ! प्रजा हुई और उठी । गुरुत्वा ही अनिरुद्ध को उन महिलाओं के मध्य से

अपहृत कर लिया । फिर वह उन्हें साथ लेकर आकाश मार्ग से यह सोचती हुई उड़ चली कि मेरी सखी द्वारा सौंपा गया कार्य पूरा हो चुका है ॥४६-४७-४८॥

॥ तमश्चानमागम्य सिद्धचारणसेवितम् ।
 सहसा शोणितपुरं प्रविवेश मनोजवा ॥४६॥
 अदर्शनं तमानीय भायथा कामरूपिणी ।
 अनिरुद्धं महाभागा यत्रोपा तत्र गच्छति ॥४७॥
 उपाया दशं यच्चैनं चित्राभरणभूषितम् ।
 चित्राभयरघर वीरं रहस्यमररूपिणम् ॥४८॥
 तत्रोपा विस्मिता दृष्ट्वा हर्म्यस्या सज्जिमन्निवो ।
 प्रवेशयामास च त तदा सा स्वगृहं ततः ॥४९॥
 प्रहर्षोत्फुल्लनयया प्रिय दृष्ट्वाऽर्थकोविदा ।
 सा हर्म्यस्या तमर्घ्येण यादेव समपूजयत् ॥५०॥
 चित्रलेखा परिष्वज्य प्रियाख्यानेष्वपूजयत् ।
 त्वरिता कामिनी प्राह चित्रलेखा भयातुरा ॥५१॥
 सखीद वै कथं कार्यं गुह्यं कार्यं विशारदे ।
 गुह्यं कृते भवेत्स्वस्ति प्रकाशे जीवितक्षय ॥५२॥

फिर वह सिद्धगणो और चारणो से सेवित मार्ग को पार करती हुई शोणितपुर में प्रविष्ट हुई और अपनी भाया ने प्रभाव से अनिरुद्ध को अदृश्य रखती हुई उपा के भवन में ले पहुँची ॥४६-४७॥ उस समय उस अद्भुत शस्त्रास्त्रो से युक्त अनिरुद्ध के दर्शन कर उपा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ, तब चित्रलेखा उन दोनों को घर के अन्तरंग भाग में ले गई ॥४८-४९॥ वहाँ उपा ने अत्यन्त हर्षित होकर अनिरुद्ध को अर्घ्य प्रदान किया और चित्रलेखा को हृदय से लगा कर कहा—हे सखी ! अब इनको छिपा कर रखने का कोई उपाय करना चाहिये, अन्यथा सदा ही प्राण सकट में रहेंगे ॥५०-५१-५२॥

इत्युक्त्वा त्वरमाणा सा गुहादेशे स्वलकृत ।

कान्तेन सह सयुक्ता स्थिता वै भीतभीतवत् ॥५३॥

चिक्षलेखाऽत्रवीद्वाक्य शृणु त्व निश्चय सखि ।
 कृत पुरुषकारेण दैव नाशयते सखि ॥५७
 यदि देव्या प्रसादस्ते ह्यनुकूलो भविष्यति ।
 अथ मायाकृत गुह्य न कश्चिज्ज्ञास्यते नर ॥५८
 सख्या वै एवमुक्ता सा पर्यवस्थितचेतना ।
 एवमेतदिति प्राह साऽनिरुद्धमिद वच ॥५९
 विष्टया स्वप्नगतश्रीरो दृश्यते सुभग पति ।
 यत्कृते तु वय खिन्ना दुर्लभप्रियकाङ्क्षया ॥६०
 कच्चित्तव महाबाहो कुशल सर्वतोगतम् ।
 हृदय हि गृधु स्त्रीणा तेन पृच्छाम्यह तव ॥६१

यह वह वर उपा अपने प्रियतम को उस भवन के एवान्त स्थान में ले
 जाती हुई आशका से व्याकुल होगई । उसकी उस व्याकुलता को देख कर चित्र-
 लेखा ने कहा कि—हे सखी ! यदि पुरुषार्थ हो तो विधाता का विधान भी लांघा
 जा सकता है । फिर भगवती पार्वतीजी की कृपा होने पर तो इसका भेद किसी
 को मिल ही नहीं सकता ॥५६-५७ ५८॥ चित्रलेखा के वचन सुन कर उपा के
 मन में कुछ शान्ति हुई और वह अनिरुद्ध की ओर देख कर बोली—मैं इतने
 समय से जिनकी प्राप्ति की अभिलाषा में व्याकुल हो रही थी, उन अपने पितृचोर
 का आज दर्शन कर सकी हूँ ॥५९-६०॥ हे महाबाहो ! आप कुशलपूर्वक तो हैं ?
 यह प्रश्न मैंने इतलिये किया है कि अबलाओं का हृदय अत्यन्त कोमल होता
 है ॥ ६१ ॥

तस्यास्तद्वचन श्रुत्वा उपाया श्लक्ष्णमर्थवत् ।
 सोऽप्याह यदुशादूत शुभाक्षरतर वच ।
 हर्षविप्लुतनेत्राया पाणिनाऽथ प्रमृग्य च ॥ ६२
 प्रहस्य सस्मित प्राह हृदयग्राहक वच ।
 पुशल मे वरारोहे सर्वत्र मितभाषिणि ॥६३
 त्वत्प्रसादेन मे देवि प्रियमावेदयामि ते ।
 अदृष्टपूर्वञ्च मया देशोऽयं शुभदर्शने ॥६४

निशि स्वप्नो यथा दृष्टः भकृत्कन्यापुरे तथा ।
 एवमेवमहं भीरु त्वप्रसादादिहागतः ॥६१
 न च तद्रुद्रपत्न्या वै मिथ्या वाक्यं भविष्यति ।
 देव्यास्ते प्रीतिमाज्ञाय त्वत्प्रियार्थं च भामिनि ॥६६
 अनुप्राप्तोऽस्मि चार्द्यं व प्रसीद शरणं गतः ।
 इत्युक्ता त्वरमाणा सा गुह्यदेशे स्वलङ्घिता ॥६७
 कान्तेन सह सयुक्ता स्यिता वै भीतभीतवत् ।
 ततश्चोद्वाहधर्मेण गान्धर्वेण समीयतुः ॥६८

उषा के मधुर वचनों को सुन कर प्रसन्न हुए अनिरुद्ध ने मुमकाते हुए कहा—हे मितभाषिणी ! मैं सब प्रकार से कुशलपूर्वक हूँ । मैंने जीवन में कभी भी इस देश को नहीं देखा था, जिसे तुम्हारे प्रसाद से आज देख रहा हूँ ॥६२-६३॥ एक रात्रि में स्वप्नावस्था के समय ही तुम्हारा दर्शन हुआ था और आज भगवती पार्वतीजी की कृपा से तुम्हारा प्रिय करने के लिये मैं यहाँ उपस्थित हूँ । मुझे विश्वास है कि उनका वचन कभी अत्यन्त नहीं होता । इसलिये ह सुन्दर मुख वाली भामिनी ! अब तुम मुझ पर प्रसन्न हो जाओ । यह सुन कर उषा ने हृषं प्रकट किया और तब उन दोनों का शापर्व विवाह होगया ॥६४-६८॥

अन्योन्य रमतुस्ती तु चक्रवाकी यथा दिवा ।
 पतिना साऽनिरुद्धेन मुमुदे तु वराङ्गना ॥६९
 कान्तेन सह सयुक्ता दिव्यवस्त्रानुलेपना ।
 रममाणाऽनिरुद्धेन अविज्ञाता सुता तदा ॥७०
 तस्मिन्नेव क्षणे प्राप्ते यदूनामृपभो हि सः ।
 दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्यस्रगनुलेपनः ॥७१
 उषया सह संयुक्ता विज्ञातो बाणरक्षिभिः ।
 ततस्तंश्चारपुरुषैर्वाणस्यावेदित द्रुतम् ॥७२
 यथा दृष्टमशेषेण कन्यायास्तदतिक्रमम् ।
 ततः किङ्करसैन्य तु व्यादिष्टं भीमकर्मणा ॥७३

बले पुत्रेण वीरेण बाणेनामिलघातिना ।
गच्छन्व सहिता सर्वे हन्यतामेव दुर्मति ॥७४॥
येन न कुलचारित दूषित दूषितात्मना ।
उपाया धर्पिताया हि कुल नो धर्मित महत् ॥ ७५॥

फिर चरई-चरवे के समान बिहर उपा और अनिरुद्ध वरते हुए मुख-
पूवक समय व्यतीत करने लगे और उस मुख में तन्मयता पूर्वक रम जाने से उन्हें
व्यतीत होते हुए समय का भी ज्ञान नहीं था ॥६६-७०॥ एक दिन दिव्य वस्त्रा-
लकार और अनुलेपनादि से सुशोभित हुए अनिरुद्ध उपा के पास गये तभी किसी
प्रकार अन्त पुर के रक्षकों पर उनका भेद प्रकट होगया, अब उन्होंने तुरन्त ही
दैत्यराज के पास जाकर सम्पूर्ण वृत्तान्त निवेदन किया जिसे सुनते ही बाणासुर
ने अपने सैनिकों को आदेश दिया कि उस दुष्ट का शीघ्र ही वध कर दो ॥७१-
७४॥ जिस दुष्ट ने उपा को बन्धित करके मरे कुल को ही दूषित कर दिया है,
उसके साथ दया-भाव की कोई आवश्यकता नहीं है ॥७५॥

अमप्रदत्ता योस्माभि स्वयग्राहमधर्वयत् ।
अहो वीर्यमहो धर्ममहो ग्राह्यं च दुर्मते ॥७६॥
य पुर भवन चेद प्रविष्टो न स बालिश ।
एवमुक्त्वा पुनस्तामनु किङ्काराचोदगद्भृशम् ॥७७॥
तै तस्याज्ञामधो गृह्य सुसन्दा विनिर्ययु ।
यत्रानिरुद्धो ह्यमवत्तत्रागच्छन्महायन ॥७८॥
नानाशस्त्रोद्यतकरा नानारूपा भयङ्करा ।
दानवा समभिक्षुदा प्राद्युम्निवधनाक्षिण ॥७९॥
रुरोद तद्वल दृष्ट्वा बाष्पेणावृतलोचना ।
प्रद्युम्निवधनीता सा बाणपुत्री यशस्विनी ॥८०॥
ततस्तु रदती दृष्ट्वा ता सुता भृगलोचनाम् ।
हा हा वान्नेति वेपन्तीमनिरुद्धोऽभ्यभाषत ॥८१॥
अमय तेऽन्तु सुत्रोणि मा भैम्य हि मयि स्थिन ।
सप्राप्तो ह्येवालयस्ते नेहास्ति मयारणम् ॥८२॥

कृत्स्नोऽयं यदि बाणस्य भृत्यवर्गो यशस्विनि ।

आगच्छति न मे चिन्ता भीरु पश्याद्य विक्रमम् ॥८३॥

मेरे द्वारा कन्यादान न करने पर भी इस प्रकार का गहित कार्य करना वास्तव में मेरे मान सम्मान पर आपात करना है । उस पापी के साहस को तो देखो कि वह मेरे अन्तःपुर में ही प्रविष्ट होगया । परन्तु नसने ऐसा साहस किया ही कैसे ? अच्छा अब तुम शीघ्र वहाँ जाकर उस दुरात्मा को मार डालो ॥७६-७७॥ हे राजन् ! राजा की आज्ञा मिलते ही वे मनिक् तुरन्त ही शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर अनिरुद्ध को मारने के लिये अन्तःपुर की ओर वेग से चल पड़े ॥७८॥ उनके हाथों में स्थित शस्त्रास्त्र अत्यन्त तीक्ष्ण थे और वे सभी सैनिक अत्यन्त विकराल देह वाले थे ॥ ७९ ॥ जब उपा ने उस सेना को अपनी ओर आती हुई देखा तो वह भय विह्वल नेत्रों से अधुनात् करने लगी ॥ ८० ॥ उस बाणासुर पुत्री को हा कात कह कर रुदन करती और काँपती हुई देख कर अनिरुद्ध ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—हे सुभ्राणि ! मेरे यहाँ स्थित रहते हुए तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं करना चाहिए । क्योंकि यह समय भय का नहीं, हृष्य मनाने का है ॥८१-८२॥ यदि बाणासुर अपनी सम्पूर्ण सेना को मुझ से युद्ध करने के लिये भेज दे तो भी मुझे कुछ चिन्ता नहीं होगी, अब तुम मेरे बल-विक्रम को देखो ॥ ८३ ॥

तस्य सैन्यस्य निन्द श्रुत्वाऽभ्यागच्छतस्ततः ।

सहस्रत्रोत्थित श्रीमान्प्राद्युम्नि विमितिं ब्रुवन ॥८४॥

अयं सोऽगच्छत बल नानाप्रहरणोद्यतम् ।

स्थित समततस्तत्र परिवार्य गृहं महत् ॥८५॥

ततोऽभ्यागच्छत्वरितो यत्र तद्वेष्टित बलम् ।

क्रुद्ध स्ववलमास्थाय अदशदृशनच्छदम् ॥८६॥

ततो योद्धुमपोढानां बाणायानां निशम्य तु ।

सा चित्रतोयाऽस्मरत नारद देवदशनम् ॥८७॥

ततो निमेषमात्रेण सप्राप्तो मुनिपुङ्गव ।

स्मृतोऽथ चित्रलेखाया पुर शोणितसाह्वयम् ॥८८॥

आविध्य परिघं घोर तेषा मध्ये व्यतिष्ठत ।

सूर्यो दिवि चग्न्मध्ये मेघानामिव सर्वशः ॥६६॥

जय उन्होने भीषण गजना करती हुई उस सेना को अपनी ओर आते हुए देखा तो जैसे अफुन मारने से हावी तेजी से बढ़ना है, वैसे ही अत्यन्त वेग से उस सेना पर दृढ़ पड़े ॥६१॥ अनिरुद्ध को कोवतूर्वक दाँते में ओच्छ चत्राते और भवन से उतर कर अपनी ओर आते देख कर दानवी सेना घबरा कर भागने लगी ॥६२॥ उसी समय अन्नपुर के द्वार पर स्थित अर्जुन को ग्रहण करके अनिरुद्ध ने उस सेना पर प्रहार किया ॥६३॥ सब के दंश्य भी बाण, मूशल, गदा, खड्ग, शक्ति और दूनादि से अनिरुद्ध को बीजने लगे ॥६४॥ अस्त्र विद्या के ज्ञाना के दानव घोर अनेरुद्ध पर सब ओर से शास्त्रास्त्रों की वर्षा कर रहे थे और अनिरुद्ध भी उनसे बगलिन न होकर अपने हाथ में उस भयानक परिघ को लिये हुए ही भय के समान गजने हुए उस सेना के बीच विचरण कर रहे थे ॥ ६५-६६ ॥

अयुध्यत महावीर्यैर्दानवै सह सयुगे ।

तेषामेव च जग्राह परिधास्तोमरानपि ॥६७॥

तैरेव च तदा युद्धे ताञ्जघान महाबलः ।

पुनः परिघमुत्सृज्य प्रगृह्य रणमूर्धनि ॥६८॥

स तेन विचरन्मार्गानिक णस्रुनिबहूण ।

भ्रान्तमुद्भ्रातमाविद्धमाप्लुत विप्लुनप्लुनम् ॥६९॥

इति प्रकारान्धाक्षिणद्विचरन्नाभ्यदृश्यत ।

एक सहस्रशरयात्र ददृश रणमूर्तिं ॥१००॥

कोडन्त बहुधा युद्धे व्यादिनास्यमिशान्तरम् ।

तनन्तेनाभिसनन्ना रधिरोषपरिप्लुताः ॥१०१॥

पुनर्भग्नाः प्राद्वन्त यत्र बाणो व्यवस्थितः ।

गजवाजिरथोपेन्ते चोद्यमानाः ममन्ततः ॥१०२॥

गृत्वा चातस्वरं घोर दिशो जग्मूहंतीजघः ।

एकं वस्योरि नरा तेज्योन्यं भक्ष्योडिताः ॥१०३॥

बाणासुर के साथ अनिरुद्ध का युद्ध]

वमन्त शोणित जग्मुर्विषादाद्विमुखा रणे ।

न यभूव पुरा देवैर्युध्यता तादृशं भयम् ॥१०४

फिर उन दैत्यो के हाथ से ही शस्त्रास्त्रों को छीन कर उन्ही से उनको मार गिराते थे । फिर परिष लेकर उन्होंने भ्रान्त, उद्भ्रान्त, अविद्ध, आप्लुत, विप्लुत और सुप्त आदि बत्तीस प्रकार के पतरे बदल-बदल कर युद्ध किया, जिससे वे एक के हजारो अनिरुद्ध प्रतीत होने लगे ॥६७ १००॥ उस समय दैत्य सेना अत्यन्त सशस्त्र और रुधिर में स्नान करती हुई अनिरुद्ध की काल के समान समझ कर रणभूमि से भाग पड़ी । उन सब के मुख से रक्त बह रहा था । हाथी, घोड़े, रथ, और पंख सजी हैनिक व्याकुलता से चीत्कार करते हुए भागे जा रहे थे । इस युद्ध में दैत्यो को जैसा भय प्रतीत हुआ, वैसा तो देवासुर सग्राम में भी नहीं हुआ था ॥ १०१-१०४ ।

यादृश युध्यमानानामनिरुद्धेन सयुगे ।

केचिद्वभन्तो रुधिर ह्यपतन्वमुघातले ॥१०५

दानवा गिरिशृङ्गाभा गदाशूलासिपाणय ।

ते बाणमुत्सृज्य रणे जग्मुर्भयसमाकुला ॥१०६

विशालमावाणतल दानवा निर्जितास्तदा ।

नि शेषमग्ना महती दृष्ट्वा ता बाहिनी तदा ॥१

बाण क्रोधात्प्रजज्वाल समिद्धोऽग्निरिवाध्वरे ।

अन्तरिक्षचरो भूत्वा साधुवादी समन्तत ॥१०८

नारदो नृत्यति प्रीतो ह्यनिरुद्धस्य सयुगे ।

एतस्मिन्नन्तरे चैव बाण परमकोपन ॥१०९

कुम्भाण्डसगृहीत तु रथमास्थाय वीर्यवान् ।

ययौ यत्रानिरुद्धो व उद्यतासी रथे स्थित ॥११०

पट्टिशासिगदाशूलमुद्यम्य च परश्वघ्नान् ।

वर्भा बाहुमहर्षेण शक्रो ध्वजशतैरिव ॥१११

भागते हुए वे दैत्य भय के कारण एक दूसरे के ऊपर गिर रहे थे और उनके मुख से रक्त-वमन हो रहा था ॥१०५॥ गदा, शूल, खड्ग आदि अस्त्र-शस्त्र को फेंक कर और बाणामुर को वहीं छोड़ कर पर्वत शिखर के समान विशाल वे दैत्य आकाश मार्ग से भाग निकले । अपनी सेना का इस प्रकार पलायन देख कर बाणामुर क्रोध से अग्नि के समान रखा वर्ण हो गया और कुम्भाण्ड द्वारा चलाये जाने वाले रथ पर चढ़ कर अनिरुद्ध की ओर चल पड़ा । आकाश में स्थित मारुदजी अनिरुद्ध का युद्ध कौशल देख कर बड़े प्रसन्न हो रहे थे ॥१०६-११०॥ अपनी सहस्र भुजाओं में पट्टिश, तलवार, गदा, शूल, परश्वप आदि शस्त्रास्त्रों को धारण किये हुए वह बाणामुर इन्द्र के समान शोभा पाने लगा ॥१११॥

सोऽभिभूय रणे बाणमास्वितो यदुनन्दन ।
 मिहप्रमुञ्चतो दृष्ट्वा गजमेक यथा वने ॥११२॥
 ततो बाणः स बाणौघममभेदिमिराशुगेः ।
 विध्याद्य निशितैस्तीक्ष्णं प्राद्युष्मिमपराजितम् ॥११३॥
 समाहतस्ततो बाणैः खड्गचमंधरोऽपतत् ।
 तमापतन्त निशिनैरभ्यघ्नन्मायतेस्तथा ॥११४॥
 सोऽतिविद्धो महाबाहुर्वाणैः सन्ततपर्वभिः ।
 क्रोधेनाभिजज्वाल चिकीर्षुः कर्म द्रुकरम् ॥११५॥
 रुधिरोष्प्लुतैर्गात्रैर्वाणवर्षैः समाहताः ।
 अभिभूतः सुमक्रुद्धो ययौ बाणरथं प्रति ॥११६॥
 असिभिर्मुसलैः शूलैः पट्टिणैस्तोमरैस्तथा ।
 सोऽतिविद्धः शरीरघञ्च प्राद्युष्मिर्न व्यगम्यत ॥११७॥
 आप्लुत्य सहसा क्रुद्धो रथेपा तस्य सोऽच्छिन्नत् ।
 आप्लुत्यगहसा क्रुद्धो रथेपा तस्य सोऽच्छिन्नत् ।
 जघान चाश्वान्पद्मेन बाणस्य रणमूर्धनि ॥११८॥
 त पुनः शरवर्षेण पट्टिणैस्तोमरैरपि ।
 घराश्वान्तरित बाणो युद्धमार्गमिगारः ॥११९॥
 ततोऽयमिति विज्ञाय प्राणदन्नेश्वरता गणाः ।
 तातोऽप्यप्लुत्य मरणा रथपार्ये व्यसिधतः ॥१२०॥

तब हाथी को देख कर सिंह के सड़े होने के समान अनिरुद्ध भी बाणासुर को आया देख कर उसके सामने जा खड़े हुए ॥११२॥ यह देख कर बाणासुर ने उन पर बाणों की वर्षा की और तलवार ग्रहण कर अपनी ओर वेग से आते हुए अनिरुद्ध को उमने बीघना आरम्भ किया ॥११३-११४॥ इससे अनिरुद्ध रक्त में नहा गये और बाणासुर को मार देने की इच्छा से उसकी ओर वेग से झपटे ॥११५-११६॥ यह देख कर उसने मूसल, शूल, पट्टिश और तोमर आदि से उन पर प्रहार किये, परन्तु अनिरुद्ध उससे भी विचलित न हुए ॥ ११७ ॥ फिर उन्होंने सहसा क्रोधपूर्वक उछल कर अपनी तलवार से उसके रथ की डोर काट कर घोड़ों को भी मार गिराया ॥११८॥ तब युद्ध कुशल बाणासुर ने तोमर, पट्टिश और बाणादि की वर्षा से उन्हें ढक दिया ॥११९॥ इस प्रकार बाणों की वर्षा से आच्छादित हुए अनिरुद्ध को मर गया समझ कर बाणासुर अपनी सेना के सहित सिंहनाद करने लगा, उसी समय अनिरुद्ध सहसा उसके रथ के पास जा पहुँचे ॥ १२० ॥

शक्तिं बाणस्ततः क्रुद्धो घोररूपा भयानकाम् ।

जग्राह ज्वलिता घोरा घण्टामाकुला रणे ॥१२१॥

ज्वलनादित्यसकाशा यमदण्डोग्रदर्शनाम् ।

प्राहिणोत्तामसङ्गेन महोल्का ज्वलितामिव ॥१२२॥

तामापनन्ती सप्रक्षय जीवितान्तकरी तदा ।

सोऽभिलुप्त्य तदा शक्तिं जग्राह पुरुषोत्तम ॥१२३॥

निर्विभेद ततो बाण तया शक्त्या महाबल ।

सा भित्त्वा तस्य देहं वै प्राविशद्वरणीतलम् ॥१२४॥

स गाढविद्धो व्यथितो ध्वज्यष्टि समाश्रित ।

ततो मूर्च्छाभिभूतः त कुम्भाण्डो वाक्यमब्रवीत् ॥१२५॥

उनेक्षसे दानवेन्द्र किमव शत्रुमुद्यतम् ।

लब्धलक्षो ह्ययं वीरो निर्विकारोऽद्य दृश्यते ॥१२६॥

मायामाश्रित्य युध्यस्व नाय वध्योऽन्यथा भवेत् ।

आत्मानं मा च रक्षस्व प्रमादात्किमुपेक्षसे ॥१२७॥

वेष्टितो बहुधा तस्य देह पन्नगराशिभि ।
 स तु वेष्टितसर्वाङ्गो वद्ध प्राद्युम्निराहवे ।
 निष्प्रयत्न कृतस्तस्थौ मृनाक इव पर्वत ।
 ज्वालावलीढवदने सर्पभोगैर्विचेष्टित ॥१३६॥

यह सुन कर दैत्यराज बाणासुर ने अत्यन्त क्रोधित होकर कुम्भाण्ड को कठोरता से इस प्रकार उत्तर दिया ॥१२६॥ हे सारथी मैं उसे मारने का उपाय अभी किये देता हूँ जैसे गरुड सर्प को निगल जाता है वैसे ही मैं इसे अपने उदर में रख लूँगा ॥१३०॥ यह कह कर वह दैत्य अपने रथ, अश्व, ध्वज और सारथी के सहित अदृश्य होगया ॥१३१॥ उस समय अपने शत्रु को अदृश्य रह कर बाण-वर्षा करते देख कर अनिरुद्ध ने सब ओर दृष्टि घुमाई, परन्तु वह उन्हें दिखाई न दिया । तभी दैत्यराज ने सर्पमय तीक्ष्ण बाणों की भीषण वर्षा की, जिनसे अनिरुद्ध ढक गये और उनके शरीर को वे विषघर सप सब ओर से जकड़ने लगे । उस समय अनिरुद्ध बेबस होकर पर्वत के समान निश्चल भाव से खड़े रहे ॥ १३२ १३६ ॥

अभित पर्वताकार प्राद्युम्निरभवद्रणे ।
 निष्प्रयत्नगतिश्चापि सर्ववक्त्रमयं शरै ॥१३७॥
 न विध्यथ स भूतात्मा सर्वत परिवेष्टित ।
 ततस्त वाग्भिरुग्राभि सरब्ध समतर्जयत् ॥१३८॥
 बाणो ध्वज समाश्रित्य प्रोवाचामपितो वच ।
 कुम्भाण्ड वध्यता शीघ्रमय वै कुलपासन ॥१३९॥
 चारित्र्येन मे लोके दूषित दूषितात्मना ।
 इत्येवमुक्ते वचने कुम्भाण्डो वाक्यमब्रवीत् ॥१४०॥
 राजन्वक्ष्याम्यह किञ्चित्तन्मे शृणु यदिच्छसि ।
 अय विज्ञायता कस्य कुतो वाऽयमिहागत ॥१४१॥
 केन वाऽयमिहानीत शक्तुल्यपराक्रम ।
 मयाय बहुशो राजन्दष्टो युध्यन्महारणे ॥१४२॥

क्रीडन्निव च युद्धेषु दृश्यते देवसूनुवत् ।
 बलवान्मत्त्वसंपन्नः सर्वशास्त्रविशारदः ॥१४३॥
 नायं वधकृत् दोषमर्हते दैत्यसत्तम ।
 गान्धर्वेण विवाहेन कन्येयं तव संगता ॥१४४॥
 अदेया ह्यप्रतिग्राह्या अतश्चिन्त्य वधं कुरु ।
 विज्ञाय च वध वाऽस्य पूजा वाऽस्य करिष्यसि ॥१४५॥

यद्यपि अनिरुद्ध हिल भी नहीं सकते थे, फिर भी उनका मन स्थिर रहा ।
 उसी समय बाणासुर ने ध्वज दण्ड को पकड़ कर अत्यन्त क्रोध पूर्वक कहा— हे
 कुम्भाण्ड ! इस कुलागार को तुरन्त ही मार डालो । क्योंकि इसने मेरे कुल को
 दूषित किया है । यह सुन कर कुम्भाण्ड ने बाणासुर से कहा— हे महाराज ! यदि
 आप उचित समझें तो मेरा एक निवेदन सुनें । प्रथम यह जानना आवश्यक है कि
 यह युवक कौन है और कहाँ से आगया है ? ॥१३७-१४१॥ इसे यहाँ कौन लिवा
 कर लाया ? हे राजन् ! मैंने इन्द्र के समान अत्यन्त पराक्रमी इस युवक को
 भीषण युद्ध करते हुए देख कर इसे अत्यन्त बली, पराक्रमी, साहसी और युद्ध
 कौशल में चतुर पाया है ॥१४२-१४३॥ इसलिये हे दैत्येन्द्र ! इसको मारना उचित
 नहीं होगा, क्योंकि मेरा अनुमान है कि इसने आपकी कन्या के साथ गान्धर्व विवाह
 अवश्य कर लिया होगा ॥१४४॥ इस समय कन्या का त्याग अपना उसे घर में
 रहने देना—यह दोनों ही कार्य विचारणीय होगये हैं । इसलिये पहिले इस विषय
 में भले प्रकार विचार करिये और फिर मारने योग्य हो तो मारिये और पूजन-
 योग्य हो तो पूजन कीजिये ॥१४५॥

उचितं यदि ते राजन्ज्ञेयो वीर्यवलान्वितः ।
 कन्या चेय न चान्यस्य निर्यात्येतेन सङ्गता ॥१४६॥
 यदि चेष्टतमः कश्चिदयं वंशे महात्मनाम् ।
 ततः पूजामयं वीरः प्राप्स्यते चासुरोत्तम ॥१४७॥
 रक्षयतामिति चौक्त्वैव तथाऽस्त्विति च तस्थिवान् ।
 एवमुक्ते तु वचने कुम्भाण्डेन महात्मना ॥१४८॥
 तयेत्याह च कुम्भाण्डं वाणः शूलनिपदनः ।

सरक्षिणस्ततो दत्त्वा अनिरुद्धस्य धीमत ॥१४६॥
 ययौ स्वमेव भवन बले पुनो महायशा ।
 सयत मायया दृष्ट्वा अनिरुद्ध महाबलम् ॥१४७॥
 ऋषीणा नारद श्रेष्ठोऽब्रजद्द्वारवती प्रति ।
 ततो ह्याकाशमार्गेण मुनिद्वारिवती गत ॥१४८॥

इसलिये यह बौर्य-बल सम्पन्न युवक कौन है, इसका जानना आवश्यक है, क्योंकि यदि आपकी कन्या इससे सगति को प्राप्त हो चुकी है तो उसे किसी अन्य वर को देना भी आपके लिये अनुचित ही होगा ॥१४६॥ इसलिये, यदि यह युवक किसी श्रेष्ठ वंश का हो तो इसके पूजन करने में भी क्या हानि हो सकती है ? ॥१४७॥ इस प्रकार मेरे मत में तो इसे मारने से तो बचना ही अधिक श्रेयस्करो है । कुम्भाण्ड के वचन सुन कर बाणामुर सहमत होगया और अनिरुद्ध को रक्षकों की देख रेख में छोड़ कर स्वयं अपने घर जा पहुँचा । देवर्षि नारद ने अनिरुद्ध को इस प्रकार मायापाश में बँधा देख कर भगवान् श्रीकृष्ण को समाचार देने के लिये द्वारका को प्रस्थान किया ॥१४८-१४९॥

॥ श्रीकृष्ण का शोणितपुर को प्रस्थान ॥

ततोऽनिरुद्धस्य गृहे रुरुदु सर्वयोपित ।
 प्रिय नाथमपश्यन्त्य कुर्ये इव सङ्क्षश ॥१॥
 अहो धिक्किमिदं नाथ नाथे कृष्णे व्यवस्थिते ।
 अनाथा इव सत्रस्ता रुदिमो भयपीडिता ॥२॥
 यस्येन्द्रप्रमुखा देवा सादित्या समरद्गणा ।
 बाहृच्छायामुपाश्रित्य वसन्ति दिवि देवता ॥३॥
 तस्योत्पन्नमिदं लोके भयदस्य महाभयम् ।
 नस्यानिरुद्ध पीतस्तु वीर केनापि नो हृत ॥४॥
 अहो नास्ति भय नूनं तस्य लोके सुदुर्मते ।
 वासुदेवस्य यः क्रोधमुत्पादयति दुसहम् ॥५॥
 व्यादितास्यस्य यो भृत्योर्दंष्ट्राग्रे परिवर्तते ।
 स वासुदेव समरे मोहादभ्युदियाद्रिपू ॥६॥

इदमेवंविधं कृत्वा विप्रियं यदुपुंगवे ।

कथं जीवन्विमुच्येत साक्षादपि शचीपतिः ॥७॥

हृतनाथाः स्म शोच्याः स्म वय नाथं विना कृताः ।

विप्रयोगेन नाथस्य कृतान्तवशगाः कृताः ॥८॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! द्वारका स्थित अनिरुद्ध भवन में अनिरुद्ध को न देख कर उनकी सब स्त्रियाँ कुररी के समान चीत्कार करने लगी ॥१॥ उन्होंने कहा—अहो, महाप्रभु श्रीकृष्ण के विद्यमान रहते भी हम अबलाओं को भय के कारण इस प्रकार रोना पड़ रहा है ॥२॥ जिनके भुज-बल के आश्रय में आदित्यगण, मरुद्गण तथा इन्द्रादि सभी देवता निर्भय होकर स्वर्ग में रहते हैं और जिनके दण्ड-भय से तीनों लोकों के जीव सदा शक्ति रहते हैं, आज उन्हीं जगन्नाथ श्रीकृष्ण के समक्ष भी भय उपस्थित हो गया है, जो कोई उनके परम वीर पौत्र का हरण करके ले गया है ॥३-४॥ जिस दुरात्मा ने भगवान् श्रीकृष्ण की क्रोधाग्नि को इस प्रकार प्रज्ज्वलित किया है, जान पड़ता है कि उस वृद्धिहीन को कोई डर नहीं लगा है ॥५॥ यदि यह बात न होती तो वह मुख खोले खड़ी हुई मृत्यु के दाँतो का घास क्यों बनता और भगवान् से क्यों शत्रुता करता ? ॥६॥ जब कि भगवान् श्रीकृष्ण का अप्रिय करके इन्द्र भी सुखी नहीं रह सकते, तब वह उनके इस अप्रिय कार्य को करके कैसे सुखी रह सकता है ? ॥७॥ कुछ भी हो, आज तो उसने हमारे प्रियतम से वियोग करा के हमारी यह शोचनीय दशा कर दी और हमे मृत्यु के निकट पहुँचा दिया है ॥८॥

इत्येवं ता वदन्त्यश्च रुदन्त्यश्च पुन पुनः ।

नेत्रजं वारि मुमुचुरशिव परमाङ्गनाः ॥९॥

तासां वाष्पाम्बुपूर्णानि नयनानि चकाशिरे ।

सलिलेनाप्लुतानीव पङ्कजानि जलागमे ॥१०॥

तासां मरालपद्माणि राजयन्ति शुभानि च ।

रुधिरैणाप्लुतानीव नयनानि चकाशिरे ॥११॥

तासां हर्म्यंतलस्थानां रुदन्तीनां महास्वनः ।

ऋररीणामिवाकाशे रुदन्तीना सहस्रश ॥१२॥

त श्रुत्वा निनद घोरमपूर्वं भयमागतम् ।
 उत्पेतुः सहसा स्वेभ्यो गृहेभ्यः पुरुषर्षभा ॥१३॥
 कस्मादेपोऽनिरुद्धस्य श्रूयते सुमहास्वनः ।
 गृहे कृष्णाभिगुप्ताना कुतो नो भयमागतम् ॥१४॥
 इत्येवमू चुस्नेऽन्योन्य स्नेहविवलवगद्गदाः ।
 अर्वापिता यथा सिंहा गुहाभ्य इव नि सृता ॥१५॥
 सन्नाहभेरी कृष्णस्य आहता महती तदा ।
 यस्याः शब्देन ते सर्वे समागम्य च धिष्ठिताः ॥१६॥

इस प्रकार प्रलाप युक्त रुदन बरती हुई वे स्त्रियाँ अमंगल सूचक आँसुओं को बरसाने लगी ॥६॥ उनके जल भरे नयन वर्षाकाल के जल सिंचित कमल जैसे प्रतीत हो रहे थे ॥१०॥ उन नयनों को रुदन के कारण लाल हुए देख कर ऐसा लगने लगा जैसे उनमें रक्त भर आया हो ॥११॥ उन सहस्रो स्त्रियों का कुररी के समान रुदन सुन कर सभी यादव व्याकुल होकर अपने अपने घरों से निकल कर परस्पर बोले कि अनिरुद्ध के घर से इस प्रकार की आर्त्ति पुकार क्यों आ रही है ? ॥१२-१३॥ भगवान् श्रीकृष्ण की छत्र छाया में हम सब अपने को सुरक्षित समझते हुए आनन्दपूर्वक रहते हैं परन्तु इस रुदन को सुन कर हम भी भयभीत हो उठे हैं ॥ १४ ॥ यह कहते हुए वे समस्त यादव वीर क्रुद्ध सिंह के समान अपने-अपने घरों से बाहर आये ॥१५॥ तभी भगवान् श्रीकृष्ण की सभा में सन्नाह भेरी बज उठी, जिसके शब्द को सुन कर सब एकत्रित हुए यादवगण वहाँ जा पहुँचे ॥१६॥

किमेदिति तेऽन्योन्य समपृच्छन्त यादवा ।
 अन्योन्यस्य हि ते सर्वे यथावृत्तमवेदयन् ॥१७॥
 ततस्ते वाष्पपूर्णाक्षाः क्रोधसरक्तलोचनाः ।
 नि श्वसतो व्यतिष्ठन्त यादवा युद्धदुर्मताः ॥१८॥
 तूष्णींभूतेषु सर्वेषु विप्रश्रुर्विक्रियमब्रवीत् ।
 कृष्णं प्रहरतां श्रेष्ठं नि श्वसन्त मुहुर्महं ॥१९॥

किमिदं चिन्तयाविष्टं पुरुषेन्द्र भवानिह ।

तव बाहुबलप्राणमाश्रिता सर्वयादवा ॥२०॥

भवन्तमाश्रिता कृष्ण सविभक्ताश्च सर्वश ।

तथैव बलवाञ्छकस्त्वग्रावेश्य जयाजयी ॥२१॥

सुखं स्वपिनि नि शङ्क कथं त्वं चिन्तयाऽन्वित ।

शोकसागरमक्षोभ्य सर्वं ते ज्ञातयो गता ॥२२॥

परस्पर सभी यह प्रश्न कर रहे थे कि क्या घटना घटी है ? सभी घीरे-घीरे उनको अनिरुद्ध के अदृश्य होने का वृत्तांत मालुम हुआ ॥१७॥ उस समय क्रोध से सब के मुख ताम्रवर्ण के होगये और नेत्रों में आँसू भर गये तथा दीर्घ श्वास छोड़ते हुए वे सभी यादव वहाँ किर्त्तव्य विमूढ जैसे खड़े होगये । १८॥ इस प्रकार सब के निस्तब्ध भाव से खड़े हो जाने पर दीर्घ नि श्वास का त्याग करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण से विप्रश्नु कहने लगा—हे पुरुषेन्द्र ! आप चिन्ता से व्याकुल होकर बारम्बार दीर्घ श्वास क्यों छोड़ते हैं ? हम सभी आपके भुज-बल के आश्रय में रह कर भय-रहित जीवन बिता रहे हैं ॥१९॥ देवराज इंद्र ने भी अपनी विजय और पराजय का भार आपको सौंपा हुआ है, तब आपका इस प्रकार चिन्तित होना ही यादवों को शोक सागर में डालने का एक मात्र कारण है ॥ २१-२२ ॥

तान्मज्जमानानेकस्त्व समुद्धर महाभुज ।

किमेव चिन्तयाविष्टो न किञ्चिदपि भापसे ॥२३॥

चिन्तां कर्तुं वृथा देव न त्वमर्हसि माधव ।

इत्येवमुक्तं कृष्णस्तु निश्वस्य सुचिरं बहु ॥२४॥

प्राह वाक्यं स वाक्यज्ञो बृहस्पतिरिव स्वयम् ।

विप्रश्नो चिन्तयाविष्टो ह्यतत्कार्यमचिन्तयम् ॥२५॥

विचिन्तयस्त्वहं चास्य कार्यस्य न लभे गतिम् ।

तथाऽहं भवताप्युक्तो नोत्तरं विदधे नवचित् ॥२६॥

दाशार्हणमध्येऽहं वदाम्यर्थवती गिरम् ।

शृणुष्व यादवा सर्वे यथा चिन्तान्वितो ह्यहम् ॥२७॥

अनिरुद्धे हृते वीरे पृथिव्यां सर्वपाथिवा ।

अशक्ता इति मंस्यन्ते सर्वानस्मान्स्ववान्धवान् ॥२८॥

आहुकश्च नो राजा हृतः शास्त्रेण वै पुरा ।

प्रत्यानीनः स चास्माभिर्युद्धं कृत्वा सुदारुणम् ॥२९॥

अब आप ही उनका उद्धार करने में समर्थ हैं, फिर भी आप मीमांसक सौकर बंटे हैं । हे विमो ! इस आपत्तिकाल में आपका इस अवस्था में बैठे रहना उचित प्रतीत नहीं होता । विपृथु के ऐसे वचन सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण ने अत्यन्त गभीरता पूर्वक ब्रह्मा—हे विपृथो ! अब तब मैं इसी पर विचार कर रहा था कि हमारा इस विषय में क्या कर्तव्य है ? इसीलिये मैं आप को कोई उत्तर नहीं दे सका था ॥ २३-२६ ॥ इस समय यहाँ लगभग सभी पादव वीर उत्तस्थित हैं, मैं उनके सामने एक रहस्य की बात कहता हूँ, उन पर ध्यान दीजिये । अनिरुद्ध का अपहरण होने से पृथिवी भर के राजागण हमें बलहीन तथा अकर्मण्य समझ बैठेंगे ॥२७-२८॥ पहिले एक बार हमारे राजा आहुक का शास्त्र ने अपहरण किया था, तब हम उसे भयकर युद्ध करके उससे छीन लाये थे ॥२९॥

प्रद्युम्नश्चाग्नि नो बाल शम्बरेण हृतो ह्यमृत ।

स त निहत्य समरे प्राप्तो रुक्मिणिनन्दनः ॥३०॥

इदं तु सुमहत्कष्टं प्राद्युम्नि क्व प्रवासित ।

नैव त्रिधमहं दोषं न स्मरे मनुजर्वभा ॥३१॥

भस्मना गुण्ठितः पादो येन मे मूर्ध्नि पातितः ।

तस्याहं सानुबन्धस्य हरिष्ये जीवितं रणे ॥३२॥

इत्येवमुक्ते कृष्णेन सात्यकिर्वीर्यमब्रवीत् ।

चारा, कृष्ण प्रणीयन्तामनिरुद्धस्य मार्गणे ।

सपर्वतवनोद्देशा मार्गन्तु वसुधामिमाम् ॥३३॥

आहुकं प्राह कृष्णस्तु स्मितं कृत्वा वचस्तदा ।

आभ्यन्तराश्च बाह्याश्च व्यादिश्यन्ता चरा नृप ॥३४॥

केशवस्य वचः श्रुत्वा आहुकस्त्वरितोऽब्रवीत् ।

अन्वेपणोऽनिरुद्धस्य स चारान्दिष्ट्वास्तददा ॥३५॥

ततश्चारास्तु व्यादिष्टः पार्थिवेन यशस्विना ।
 हया रथाश्च व्यादिष्टाः पार्थिवेन महात्मना ।
 अभ्यन्तरं च मार्गध्वं बाह्यतश्च समन्ततः ॥३६॥
 वेणुमन्तं लताविष्टं तथा रैवतकं गिरिम् ॥
 श्रक्षवन्तं गिरिं चैव मार्गध्वं त्वरिता हयैः ॥३७॥
 एकैकं तत्र चोद्यानं मार्गध्वं काननानि च ।
 यातव्यं चापि निःशङ्कमुद्यानानि समन्ततः ॥३८॥
 हयानां च सहस्राणि रथानां चाप्यनेकशः ।
 आरुह्य त्वरिताः सर्वे मार्गध्वं यदुनन्दनम् ॥३९॥

शिशुकाल में प्रद्युम्न का भी शम्भरासुर द्वारा अपहरण हुआ था, परन्तु प्रद्युम्न ने ही उस असुर का वध कर दिया और स्वयं द्वारका लौट आये थे ॥३०॥ परन्तु इस समय तो यही समझ में नहीं आता कि अनिरुद्ध को कौन यहाँ से उठा ले गया ? ऐसी दुःखदायिनी घटना की मैंने कभी भी कल्पना नहीं की थी ॥३१॥ जिसने मेरे शिर पर अपने घूल घूसरित पाँव को रखने की चेष्टा की है, मैं उसका समूल नाश कर डालूँगा ॥३२॥ भगवान् कृष्ण के वचन सुन कर सात्यकि ने कहा—अनिरुद्ध की खोज के लिये दूतों को भेजिये, जो कि पर्वत और वन आदि से युक्त सम्पूर्ण पृथिवी पर जाकर उन्हे ढूँढ़ें ॥३३॥ सात्यकि के सभाय पर मुमवाते हुए श्रीकृष्ण ने आहुक से कहा—हे राजन् ! अनिरुद्ध की खोज के लिये अब आप अविलम्ब दूतों को भेजिये, जो बाहरी और गुप्तरौति से भी उनकी खोज करें ॥३४-३६॥ तथा वशवारोही दूत रैवतक और श्रक्षवान् आदि पर्वतों और वन आदि स्थानों पर जाकर मरने वार्य में जुट जायें ॥३७॥ इस प्रकार सब दून शका-रहित मन से सभी उद्यानों, मार्गों, वनों आदि में जा-जाकर खोज करें । हे वीरो ! तुम सहस्रो रथों और घोड़ों पर चढ़ कर इस कार्य के लिये मुरख ही चल पड़ो ॥३८-३९॥

सेनापतिरनाघृष्टिरिदं वचनमब्रवीत् ।

कृष्णमविलष्टकर्माणमच्युतं भीतभीतवत् ॥४०॥

शृणु कृष्ण वचो मह्य रोचते यदि ते प्रभो ।
 चिरात्प्रभृति मे वचतु भवन्त जायते मति ॥४१॥
 असिलोमा पुलोमा च निमुन्दनरक्षी हतो ।
 सौम. शाल्वश्च निहतौ मैत्री द्विविद एव च ॥४२॥
 हयग्रीवश्च सुमहान्सानुबन्धम्वया हत ।
 तादृशे विग्रहे वृत्ते देवहेतो मुदारुणे ॥४३॥
 सर्वाण्येतानि कर्माणि नि शेषा ण रणे रणे ।
 कृतवानसि गोविन्द पार्ष्णिग्राहश्च नास्ति मे ॥४४॥
 इदं कर्म त्वया कृष्ण सानुबन्धं महत्कृतम् ।
 पारिजातस्य हरणे यत्कृतं कर्म दुष्करम् ॥४५॥
 तत्र शकस्त्वया कृष्ण ऐरावतशिरोगत ।
 निर्जितो बाहुवीर्येण त्वया युद्धविशारद ॥४६॥
 तेन वैरं त्वया साद्धं कर्तव्यं नास्ति संशयः ।
 वैरानुबन्धश्च महास्तेन कार्यस्त्वया सह ॥४७॥
 तत्तानिहृदहरणं कृतं मघवता स्वयम् ।
 नह्यन्यस्य भवेच्छक्तिर्वैरनिर्घातनं प्रति ॥४८॥

इसके पश्चात् सेनाध्यक्ष अनाघृष्ट ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा—हे प्रभो ! मैं बहुत देर से एक निवेदन करना चाह रहा था, उसे कह रहा हूँ । यदि आप चाहे तो सुन कर उस पर विचार करने की कृपा करें ॥४०-४१॥ किसी एक समय आपने असिलोमा पुलोमा, निमुन्द, भीमानुर नरकामूर, मैद, द्विविद, हयग्रीव आदि को परिवार सहित मार दिया था । उन सभी युद्धों को आपने देवताओं के उपकारार्थ ही किया था और उसके कारण अब आपका कोई वंश सत्रु शेष नहीं रहा है ॥४२-४४॥ आपके यह सब कर्म महान् थे तथा पारिजात-हरण के समय भी आपने अनेक दुष्कर कर्म किये थे ॥४५॥ उसी युद्ध में ऐरावत हाथी पर चढ़ने वाले देवराज इन्द्र को भी आपके द्वारा परास्त होना पड़ा था ॥४६॥ इसी-लिये मुझे शक होरही है कि अपनी पुरानी शत्रुता के प्रतिशोध स्वरूप इन्द्र ने

ही अनिरुद्ध का अपहरण कर लिया है, अन्यथा आपके साथ इस प्रकार की रायुता मोल लेने वाला और कौन होगा ? ॥४७४८॥

इत्येवमुक्ते वचने कृष्णो नाग इव श्वसन् ।
 उवाच वचनं धीमाननार्घ्यं महामलम् ॥४९
 सेनानीस्तात मा मैव न देवाः क्षुद्रकर्मिणः ।
 नाकृतज्ञा न च क्लीवा नावलिप्ता न बालिशाः ॥५०
 देवतार्थं च मे यत्नो महान्दानवसंक्षये ।
 तेषां प्रियार्थं च रणे हृन्मि दृप्तान्महाबलान् ॥५१
 तत्परस्तन्मनाश्वास्मि तद्भुक्तस्तत्प्रिये रतः ।
 कथं पारं करिष्यन्ति विजयैव विध्वं हि माम् ॥५२
 अक्षुद्राः सत्यवन्तरच नित्यं भवतानुरुग्मिनः ।
 तेभ्यो न विद्यते पापं बालिशत्वात्प्रमापसे ॥५३
 कदाचिद्ब्रह्म पुंश्चल्या अनिरुद्धो हृतो भवेत् ।
 देवेषु समहेन्द्रेषु नैतत्कर्मविधीयते ॥५४

अनाधृष्ट की बात सुन कर श्रीकृष्ण ने कहा—यह क्यों उचित नहीं है । देवगण ऐसी निम्न प्रकृति के नहीं होते और न उनके द्वारा ऐसी अवृत्तभृता, पुरुषार्थ हीनता, और मूर्खता ही हो सकती है ॥ ४९ ५० ॥ मैं उन्हीं के हितार्थ दानवी को मारने के लिये सदैव तैयार रहता हूँ और उन्हीं की प्रसन्नता के लिये युद्ध में बड़े-बड़े अहंकारियों को नष्ट कर डलता हूँ ॥ ५१ ॥ इस प्रकार मैं देवताओं का भक्त एवं देव-परायण हूँ, इस दशा में यह संभव नहीं है कि देवगण मेरे जैमे हितं की का अहित करने लगे ॥ ५२ ॥ वे क्षुद्र नहीं हैं बल्कि सत्यव्रता और भक्तों पर अनुग्रह करने वाले हैं । उनके मन में कभी पार नहीं रहता । उनकी महिमा का ज्ञान न होने से ही तुम्हारी ऐसी धारणा हुई है । ५३ ॥ मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह कार्य किसी पुंश्चली स्त्री का होगा, इन्द्रादि देवता ऐसा कार्य कभी नहीं कर सकते ॥ ५४ ॥

एवं विन्तयमानस्य कृष्णस्याद्भुतकर्मणः ।

कृष्णस्य वचनं श्रुत्वा ततोऽक्रूरोऽन्नवीद्वचः ॥५५

मधुर श्लक्ष्णया वाचा अर्थवाक्प्रविशारद ।
यच्छक्रम्य प्रभो काय तदस्माक विनिश्चितम् ॥५६॥
अस्माक चापि यत्कार्यं तद्धि कार्यं शचीपते ।
सरदयाश्च वय देवैरस्माभिश्चापि देवता ।
देवतार्थं वय चापि मानुषत्वमुपगमना । ५७
एवमक्रूरवचनं श्रोतुं दितो मदुमूदन ।
स्निग्धगम्भीरया वाचा पुन कृष्णोऽभ्यभाषत ॥५८॥
नाय देवैर्न गन्धर्वैर्न यक्षैर्न च राक्षसैः ।
प्रद्युम्नपुनोपहृत पुश्चल्या नु महायशा ॥५९॥
मायाविदग्धा पुश्चल्यो दैत्यदानवयोषित ।
ताभिर्हन्तो न सदेहो नान्यतो विद्यते भयम् ॥६०॥
इत्येवमुक्ते वचने कृष्णेन तु महात्मना ।
अथावगम्य तत्त्वेन यद्भूतं यदुमण्डले ॥६१॥
हर्षयन्तु सर्वपा सूनमागधवन्दिनाम् ।
मधुर श्रूयते घोषो माधवस्य निवेशने ॥६२॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! अदभुत वचन बोले मगधान् श्रीकृष्ण के वचन सुन कर अक्रूर बोले—हे भगवन् ! त्रैलोक्येश्वर इन्द्र के कार्य का हमें भले प्रकार ज्ञान है तथा वे भी हमारे कार्यों को जानते हैं । वे हमारे रक्षक हैं और उनके तथा देवताओं के कार्यों की सिद्धि के लिये ही हमने मनुष्य देह धारण किया है ॥५५॥ ५७॥ अक्रूर के वचन सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण ने गभीरता पूर्वक कहा—यह कार्य किसी देव गन्धर्व यक्ष अथवा राक्षस का नहीं हो सकता । मैं समझता हूँ कि किसी पुश्चली स्त्री ने ही अनिरुद्ध का हरण किया है ॥ ५८॥ ५९॥ दैत्यों और दानवों की स्त्रियाँ माया के जानने वाली होती हैं, इसलिये यह कार्य उनके अतिरिक्त अन्य किसी का नहीं हो सकता ॥६०॥ वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण के वचनों से सभी को यथार्थ बात का ज्ञान होगया और तब श्रीकृष्ण की प्रशंसा में सूत, मागध, वन्दीजन आदि मधुर स्तरो में स्तुति करने लगे और जन समूह में बोलारहने लगे ॥६१॥ ६२॥

ते चारा सर्वः सर्वे सभाद्वारमुपागता ।
 शनैर्गदगदया वाचा इदं वचनमब्रुवन् ॥६३॥
 उद्यानानि गृहा शैला सभानद्य सप्तसि च ।
 एकैकं शनशो राजमार्गित न च दृश्यते ॥६४॥
 अन्ये कृणु चरा राजनुनागम्य तदाऽब्रुवन् ।
 सर्वे नो विदिता देशा प्राद्यम्निर्न च दृश्यते ॥६५॥
 यदन्यस्स विधातव्य विधानं यदुनन्दन ।
 तदाज्ञापय न क्षिप्रमनिरुद्धस्य मार्गणे ॥६६॥
 ततस्ते दीनमनस सर्वे बाष्पाकुलेक्षणा ।
 अन्योन्यमभ्यभाषन्त किमतं कार्यमुत्तरम् ॥६७॥
 सद्यष्टौष्ठपुटा केचित्केचिद्बाष्पाकुलेक्षणा ।
 केचिद्भृकुटिनास्त्राय चिन्तयन्त्यर्थसिद्धये ॥६८॥
 एव चिन्तयन्ता तेषां बह्वयंमभिमापितम् ।
 अनिरुद्धं कुतश्चेति सभ्रमं मुमहानभूत् ॥६९॥
 अन्योन्यमभिबीक्षते यदवा जातमन्यव ।
 ता निशा विमनस्कास्ते गमयेयुः कथंचन ।
 अनिरुद्धो हतश्चेति पुनः पुनररिदम् ॥७०॥

इसी समय अनिरुद्ध भी खोज में गये हुए द्रुत लीज कर आगये और उन्होंने
 सभा के द्वार पर सड़े होकर कहा—हे महागज ! उद्य न, गुहा, पर्वत, सभा,
 नदी, सरोवर आदि सब स्थानों में हमने सी-सी बार खोज लिया, परन्तु अनिरुद्ध
 की वही भाँ नहीं पा सके ॥ ६४ ॥ हे यदुनन्दन ! अब हमारे लिये और कोई
 आज्ञा हो तो कहिये । यह कह कर द्रुत चुप सड़े होकर एक-दूसरे को देखते हुए
 सोचने लगे कि अब क्या होता है ? ॥ ६५-६७ ॥ उनमें से कुछ के नेत्र जल से
 परिपूर्ण हो रहे थे, कुछ दाँतों से ओष्ठ भींच रहे थे और कुछ भृकुटियों को चढ़ाये
 बाधों में तत्पर प्रतीत हो रहे थे ॥ ६८ ॥ फिर सभी लोग परस्पर सोचते लगे कि
 अनिरुद्ध वहाँ गये । इस प्रकार से एक-दूसरे का मुँह देखते हुए अपना कर्तव्य निश्चय नहीं कर
 सब यादव परस्पर एक-दूसरे का मुँह देखते हुए अपना कर्तव्य निश्चय नहीं कर

पा रहे थे । इस प्रकार वह दुःखमयी रात्रि अत्यन्त कठिनता से व्यतीत हुई और सभी के मुख से हमारे अनिच्छ को कौन ले गया ? यही शब्द बारम्बार निकल रहे थे ॥ ७० ॥

एवं च द्रुवतां तेषां प्रभाता रजनी तदा ।
ततस्तूर्यनिनादैश्च शङ्खानां च महास्वनैः ।
प्रबोधनं महाबाहोः कृष्णस्याक्रियतालये ॥७१॥
ततः प्रभाते विमले प्रादुर्भूते दिवाकरे ।
प्रविवेश सभामेको नारदः प्रहसन्निव ॥७२॥
दृष्ट्वा तु यादवान्सर्वान्कृष्णेन सह संगतान् ।
ततः स जयशब्देन भाषव प्रत्यपूजयत् ॥७३॥
अथाभ्युत्थाय विमनाः कृष्णः समितिर्जयः ।
मधुपर्कं च गा चैव नारदाय ददौ प्रभुः ॥७४॥
सोपविश्यासने शुभ्रे सर्वास्तरणसकृत् ।
सुखासीनो ययान्यायमुवाचेद ववोऽर्थवत् ॥७५॥
किमेवं चिन्तयाविष्टा निःसङ्गा गतमानसा ।
उत्साहहोना सर्वे वं क्लीवा इव समासते ॥७६॥

प्रातःकाल होने पर भगवान् कृष्ण के जागने की सूचना स्वरूप तुरही और शंखादि वाद्य बज उठे । श्रीकृष्ण अपनी शय्या को त्याग कर उठ बैठे ॥७१॥ फिर भगवान् सूर्य उदित हुए और सभी यादव सभा भवन में आफर एकत्रिण होगये । इसी समय देवादि नारद भी वहाँ आ गये ॥७२॥ उन्होंने भगवान् का जय-जयकार किया और उग्रसेन आदि सभी यादवों ने उनका अभिनन्दन तथा भगवान् कृष्ण ने अर्घ्य-गोदानादि से सत्कार किया ॥७३-७४॥ तब वे श्रेष्ठ एवं शुभ आसन पर विराजमान होकर बहने लगे ॥७५॥ नारदजी बोले—आज आप सभी इस प्रकार वायरी की भाँति निरस्ताह होकर क्यों बैठे हुए हैं ? ॥७६॥

इत्येवमुक्ते वचने नारदेन महात्मना ।
यामुदेवोऽग्रवीढ्यायं ध्रुवतां भगवन्निदम् ॥७७॥

अनिरुद्धो हृतो ब्रह्मन्केनापि निशि सुव्रत ।
 तस्यार्थे सर्वं एवास्मि चिन्तयाविष्टचेतसः ॥७८
 एष ते यदि वृत्तान्तं श्रुतो दृष्टोऽपि वा मुने ।
 भगवन्कथ्यतां साधु प्रियमेतन्ममानघ ॥७९
 इत्येवमुक्ते वचने केशवेन महात्मना ।
 प्रहस्यैतद्वचः प्राह श्रूयतां मधुसूदन ॥८०
 निवृत्तं सुमहद्युद्धं देवासुरसमं महत् ।
 अनिरुद्धस्य चक्रस्य बाणस्यापि महामृष्टे ॥८१
 उषा नाम सुना तस्य बाणस्याप्रतिभीजसः ।
 तस्यार्थे चित्रलेखा वै जहाराशु तमप्सराः ॥८२
 उभयोरपि तत्रासीन्महायुद्धं सुदारुणम् ।
 प्राद्यम्निबाणयोः सख्ये बलिवासवयोरिव ॥८३

नारदजी की बात सुन कर श्रीकृष्ण ने उनसे कहा—हे भगवन् ! इस व्याकुलता का कारण यह है कि रात्रिकाल में यहाँ से अनिरुद्ध को कोई उठा ले गया है, इसलिये उसका पता न लग सकने के कारण ही हम इस प्रकार उद्विग्न हो रहे हैं ॥७७-७८॥ यदि आपने इस विषय में कुछ देखा या सुना हो अथवा किसी और प्रकार से आत्मीय जानकारी हो तो कृपاً करके हमें बतलाइये ॥ ७९ ॥ भगवान् कृष्ण की बात सुन कर नारदजी ने कुछ मुसकाते हुए कहा—हे यदुनन्दन ! इस विषय में जो कुछ मैं कहता हूँ, उसे सुनिये ॥८०॥ आपके अनिरुद्ध का बाणासुर के साथ देवासुर-संग्राम जैसा भीषण समर मचा हुआ है ॥८१॥ उस बाणासुर की उषा नाम की एक सुन्दरी कन्या है, उसी के लिये चित्रलेखा नाम की अप्सरा ने अनिरुद्ध का हरण किया है । इसलिये अनिरुद्ध और बाणासुर में बलि और इन्द्र के समान घोर युद्ध उपस्थित होगया ॥८२-८३॥

अस्माभिश्चापि तद्युद्धं दृष्टं भुमहदद्भुतम् ।
 अनिरुद्धो भयात्तेन संयुगेष्वनिवर्तिना ॥८४
 दशैव नानाधातुवाय वद्धो नागैर्महाबलः ।
 व्यादिष्टस्तु वधस्तस्य बाणेन गरुडध्वज ॥८५

त निवारितवान्मन्त्री कुम्भाण्डो नाम तरय ह ।
 कुमारस्यानिरुद्धस्य तेनासवतेन सयुगे ॥८६
 बाणेन मायामास्थाय सर्पेनियमन कृतम् ।
 उत्तिष्ठतु भवाञ्छीघ्र यशसे विजयाय च ॥८७
 नाय सरक्षितु काल प्राणास्तात जयैषिणाम् ।
 प्राणं किञ्चिद्गतैर्वीरो धैर्यमालम्ब्य तिष्ठति ॥८८

हे मधुसूदन ! यह दृश्य मैंने स्वयं देखा है कि दैत्यराज बाणासुर उन्हें परास्त करने में असमर्थ रहा, तब उसने मायामय युद्ध के द्वारा उन्हें नागपाश में बांध कर बध करने की आज्ञा दी, परन्तु उसके मंत्री कुम्भाण्ड ने उनका मारा जाना रूपांतर कर दिया है। वह बालक अभी भी नागपाश के बन्धन में है। आप यश और विजय की प्राप्ति के लिये अब शीघ्र तैयार हो जाइये ॥८६ ८७॥ विजय की कामना वाले वीरों के लिये यह समय कटिबद्ध होने का है। जब प्राण सकट में डिलाई दे तब वीरों को धैर्य धारण करना ही उचित है ॥८८॥

इत्येवमुक्ते वचने वासुदेव प्रतापवान् ।
 प्रायानिकान्वै स भारानाज्ञापयत वीर्यवान् ॥८९
 ततश्चन्दनपूर्णैश्च लाजैश्चैव समन्तत ।
 निर्यमौ स महाबाहु कीर्यमाणो जनार्दन ॥९०
 आस्यितो गरुड देवस्तस्य चानु हलायुग ।
 पृष्ठतोऽनु वलस्यापि प्रच्युम्न शत्रुकर्षण ॥९१
 जय वाण महाबाहो ये चास्यानुगता रणे ।
 न हि ते प्रमुखे स्थातु कश्चिच्छत्रो महामृधे ॥९२
 प्रसादे ते ध्रुवा लक्ष्मीर्विजयश्च पराक्रमे ।
 विजेष्यसि रणे शत्रु दैत्येन्द्र सहस्रनिकम् ॥९३
 सिद्धचारणस घाना महर्षीणा च सर्वश ।
 शुण्डन्वाचोऽत्तरिक्षे वै द्रव्यो केशवो रणे ॥९४

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! नारद की बात पूरी होते ही भगवान् श्रीकृष्ण ने तुरन्त ही युद्ध सामग्री एकत्र करने की आज्ञा दी और युद्ध के लिये चन्न दिये ॥८६॥ उनके चन्नते समय सब ओर से सुगन्ध, चन्दन और धान आदि की उन पर वर्षा होने लगी ॥८७॥ उस समय बलराम और प्रद्युम्न को साथ लेकर भगवान् श्रीकृष्ण गहड़ की पीठ पर आरुढ़ हुए तभी आकाश में स्थित सिद्ध, चाणूर और महर्षिगण उनसे बोले—हे कृष्ण ! आप शीघ्र ही दैत्यराज बाणासुर को उसके अनुचरों सहित मार डालिये, क्योंकि युद्ध में देवराज इन्द्र भी आपका सामना करने में समर्थ नहीं हैं। इस सग्राम में भी आप अवश्य विजयी होंगे। आपके द्वारा सेना सहित दानवराज बाणासुर का सहार होना निश्चित है। इस प्रकार आज्ञाश्रवाणी को सुनते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने युद्ध के लिये प्रस्थान किया ॥८१-८४॥

॥ कृष्णजी का अग्नि के साथ युद्ध ॥

ततस्तूर्यनिनादेन शंखाना च महास्वनैः ।
 वन्दिमागधसूताना स्तवैश्चापि सहस्रशः ॥१॥
 स तून्मुखैर्त्रयाशीभिः स्तूयमानो हि मानवैः ।
 दम्भार रूपं सोमार्कशक्राणा प्रतिमा तदा ॥२॥
 अतीव शुशुभे रूप व्योम्नि तस्योत्पतिस्यतः ।
 वैनतेयस्य भद्र ते वृहति हरितेजसा ॥३॥
 अयाध्रवाहु कृष्णस्तु पर्वताकारस निभः ।
 विवर्मी पुण्डरीवाक्षो विक्राड्भ्रान्याणस क्षयम् ॥४॥
 अतिचक्रगदावाणा दक्षिणं पार्श्वमास्थिता ।
 वमं शार्ङ्गं तथा चाप शंखं चैवास्य वामतः ॥५॥
 शीर्षाणां च सहस्रं तु विहितं शार्ङ्गधन्वना ।
 सहस्रं चैव कायाना बहन्स कर्पणस्तदा ॥६॥
 श्वेतप्रहरणोऽधृष्यः कलास इव शृङ्गवान् ।
 प्रस्थितो गह्वरेणाय उत्पन्निव दिवाकरः ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—ह राजन् ! सब ओर से तुरही की ध्वनि, शल-
नाद और सूत, मागध तथा वरीजन का स्तुति पाठ प्रारम्भ होगया और भगवान्
श्रीकृष्ण उस समय सूर्य, चन्द्र और इन्द्र के समान शोभायमान होने लगे ॥१-२॥
भगवान् के ही तज स सम्पन्न तथा उठने के लिये तत्पर हुए गरुड की शोभा भी
विशेष थी ॥३॥ उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण का देह पर्वत के समान विकराल
होगया और आठ भुजाएँ प्रकट होगई, इस प्रकार वे बाणासुर को मारने के
कार्य में तत्पर हुए ॥ ४ ॥ उनकी दाहिनी भुजाओं में तलवार, चक्र, गदा और
बाण तथा बाईं भुजाओं में डाल, धनुष, सप्त बाँदर स्थित थे ॥ ५ ॥ उसी समय
उनके सहस्र मस्तक होगये तथा वनरामजी ने सहस्र देह धारण किये ॥६॥ उनके
हाथों में जो तीक्ष्ण शस्त्रास्त्र थे, उनसे बड़े प्रतीत होते थे, जैसे शिखरों के
सहित साक्षात् कैलास पर्वत पर सूर्योदय हो रहा हो ॥७॥

सनत्कुमारस्य वपु प्रादुरासीन्महात्मनः ।
प्रद्युम्नस्य महाबाहो स ग्रामे विक्रमिष्यत ॥८॥
स पक्षवलविक्षेपैर्विधुन्वन्पर्वतान्वहून् ।
जगाम मार्गं बलवान्वातस्य प्रतिपेद्यन् ॥९॥
अथ बायोरतिगतिमास्याय गरुडस्तदा ।
सिद्धचारणसङ्घानां शुभ मार्गंमवातरत् ॥१०॥
अथ रामोऽब्रवीद्वाक्यं कृष्णमप्रतिमं रणे ।
स्वामि प्रभामिहीना स्म कृष्ण कस्मादपूर्ववत् ॥११॥
सर्वे कनकवर्णाभा स वृत्ता स्म न स शय ।
किमिदं ब्रुहि नस्तत्त्वं किं मेरो पाश्वर्गा वयम् ॥१२॥
मन्ये वाणस्य नगरमभ्यासस्थमरिदम ।
रक्षार्यं तस्य निर्यातो वह्निरेयं स्थितो ज्वलन् ॥१३॥
अग्नेराहवनीयस्य प्रभया स्म समाहृताः ।
तेन नो वर्णवैरूप्यमिदं जातं हलायुध ॥१४॥
यदि स्म सन्निकर्षस्था यदि निष्प्रभता गता ।
तद्विधत्स्व स्वयं बुद्ध्या यदज्ञानन्तरं हितम् ॥१५॥

कुरुष्व वनतेय त्व यच्च कार्यमनन्तरम् ।

त्वया विधाने विहिते करिष्याम्यहमुत्तमम् ॥१६॥

युद्ध क्षेत्र में अपना पराक्रम दिखाने वाले प्रद्युम्न की शोभा भी सन्तुमार जैसी होरही थी ॥ ८ ॥ पक्षिराज गरुड समस्त आकाशमार्ग को रोक कर चलने लगे, जिनके पखो से निकलने वाली वायु के कारण अनेक पर्वत काँप रहे थे ॥ ९ ॥ वायु वेग से चलते हुए गरुड ने सिद्धों और चारणों के मार्ग को शीघ्र ही पार कर लिया ॥ १० ॥ तभी बलरामजी ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा—हे कृष्ण ! इस समय हमारी प्रभा कसे फीकी होरही है, पहिले तो ऐसा कभी न हुआ था ॥११॥ अब हम मव स्वर्ण जैसे वर्ण के होगये प्रतीत होते हैं, इसका क्या कारण है ? क्या हम सुमेरु पर्वत के निबट पड़च गये हैं ? ॥१२॥ भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—मुझे ऐसा लगता है कि हम बाणासुर के नगर के समीप आगये हैं, जिसकी रक्षा के लिये यह अग्नि प्रज्ज्वलित है तथा उसी आहवनीय अग्नि की प्रभा से हमारी देह-कान्ति स्वर्ण के समान होगई है ॥१३॥ तब बलरामजी बोले—हे कृष्ण ! यदि बाणासुर की नगरी के समीप आने से ही हमारी प्रभा नष्ट होगई है, तो हमें अपने कर्त्तव्य को अब भले प्रकार सोच लेना उचित है ॥१४॥ तब श्रीकृष्ण ने गरुड से कहा—हे गरुड ! अब हमें क्या करना चाहिये पहिले तुम्हीं इस पर अपने विचार प्रकट करो इसके बाद ही हम कोई निर्णय लेंगे ॥१५॥

एतच्छ्रुत्वा तु गरुडो वासुदेवस्य भाषितम् ।

चक्रे मुखसहस्रं हि कामरूपी महाबल ॥१७॥

गङ्गामुपागमत्तूष्णं वनतेयो महाबल ।

आप्लुत्याकाशगङ्गायामपीय सलिल बहु ॥१८॥

प्रववर्षोपरि गतो वनतेय प्रताम्वान् ।

तेनार्गि शमयामास बुद्धिमान्विनतात्मज ॥१९॥

अग्निराहवनीयस्तु ततः शातिमुपागमत् ।

त दृष्ट्वाऽऽहवनीय तु शान्तमाकाशगङ्गाया ॥२०॥

परम विस्मय गत्वा सुपर्णो वाक्यमब्रवीत् ।

अहो वीर्यमयान्नेस्तु यो दहेद्युगसं क्षये ॥२१॥

त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ।

कृष्णः स कर्पणश्चैव प्रद्युम्नश्च महाबलः ॥२२

ततः प्रशान्ते दहने स प्रतस्थे स पक्षिराट् ।

स्वपक्षवलविक्षेपं कुर्वन्धोर महास्वनम् ॥२३

वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण के वचन सुन कर गरुड ने भी सहस्र मुख धारण कर लिये ॥१७॥ फिर उन्होंने आकाशगंगा के तट पर जाकर उसका जल पान किया और उस जल को वही से बाणनगरी पर बरसाया । उनके इस कार्य से आहवनीय अग्नि शान्त होगया । इस प्रकार अग्नि की शान्त हुआ देख कर स्वयं गरुड भी विस्मित होगये और बोले—देखो, अग्नि जितने व्यापक प्रभाव वाला है कि वह प्रलयकाल में सम्पूर्ण विश्व को ही भस्म कर डालता है । इसी के प्रभाव से भगवान् की देह-कान्ति में भी परिवर्तन हो गया । मेरे विचार में तीनों लोकों में तीन अग्नियाँ ही सब कर्म करने में समर्थ हैं । इस प्रकार अग्नि के शान्त होने पर कृष्ण, बलराम और प्रद्युम्न को पीठ पर बैठा कर गरुड चल पड़े, उस समय उनके पंखों के चलने से भयकर ध्वनि निकल रही थी ॥१८-२३॥

तान्हृष्टा विस्मयं तत्र रुद्रस्यानुचराग्नयः ।

आस्थिता गरुड ह्येते नानारूपा भयावहाः ॥२४

किमर्थमिह स प्राप्ताः के वापीमे जनास्त्रयः ।

निश्चयं नाधिगच्छन्ति ते गिरिव्रजवह्नयः ॥२५

प्रावर्तयश्च सग्रामे तैस्त्रिभिः सह यादवे ।

तेषां युद्धप्रसवतानां स नादः सुमहान्भूतः ॥२६

तच्च श्रुत्वा महानादः सिंहानामिव गर्जन्ताम् ।

अथाङ्गिरा स्वपुरुषं प्रेषयामास बुद्धिमान् ॥२७

यत्नं तद्वर्तते युद्धं तत्र गच्छस्व मा चिरम् ।

दृष्ट्वा तत्सर्वमागच्छ इत्युक्तः प्रहितस्त्वरन् ॥२८

भयवशत् छुकर के अनुचर अग्निपों ने जैसे ही गरुड को देखा जैसे ही

सोचने लगे कि यह गरुड पर चढ़े हुए अनेक रूप वाले और भयानक कौन हैं ? इनका आगमन किस लिये हुआ है ? ऐसा विचार करते हुए भी वे कुछ स्थिर नहीं कर पाये ॥२४-२५॥ फिर उन अग्नियो ने इन कृष्ण, यलराम और प्रद्युम्न के साथ सद्राम छेड़ दिया, तब वहाँ घोर कोलाहल होने लगा ॥२६॥ उस भय-कर शब्द को सुन कर बाणासुर ने एक दूत बुला कर उसे आज्ञा दी कि हे दूत ! तुम युद्ध क्षेत्र में जाकर वहाँ के ठीक समाचार लेकर शीघ्र आओ ॥२७-२८॥

तथेत्युक्त्वा स तद्युद्ध वर्तमानमवक्षत ।
 अग्नीना वासुदेवेन ससक्ताना महामृधे ॥२९॥
 ते जातदेवसः सर्वे कल्माष. कुसुमस्तथा ।
 दहनः शोपणश्चैव तपनश्च महाबलः ॥३०॥
 स्वाहाकारस्य विषये प्रख्याताः पञ्च बह्वयः ।
 अथापरे महाभागाः स्वर्गनीकैर्व्यवस्थिताः ॥३१॥
 पिठरः पतंगः स्वर्णः श्वागाधो भ्राज एव च ।
 स्वधाकाराश्रयाः पञ्च अयुध्यंस्तेऽपि चाग्नयः ॥३२॥
 ज्योतिष्टोमविभागी च वषट्काराश्रयो पुनः ।
 द्वावग्नी संप्रयुध्येते महात्मानो महाद्युती ॥३३॥
 आग्नेयं रथमास्याय शरमुद्यम्य भास्वरम् ।
 तयोर्मध्येऽङ्गिराश्चैव महर्षिर्विवभौ रणे ॥३४॥

बाणासुर की आज्ञा सुनते ही दूत ने वहाँ आकर इन तीनों के साथ अग्निगणों का भयकर युद्ध होता हुआ देखा, उस समय स्वाहा युक्त आहुतियों को ग्रहण करने में समर्थ कल्माष, कुसुम, दहन, शोपण और तपन नामक पाँच और स्वधा ग्रहण करने वाले पिठर, पतंग, स्वर्ण, श्वागाध और भ्राज नामक पाँच—इस प्रकार यह दस अग्निगण अपनी-अपनी सेनाओं के सहित घोर सद्राम कर रहे थे ॥३०-३२॥ उनके साथ वषट्कार के आध्य में रहने वाला अग्नि और ज्योतिष्टोम का विभाग करने वाला अग्नि—यह दोनों भी युद्ध करने में तत्पर हैं ॥३३॥ उन दोनों अग्नियों के बीच में अग्निमय रथ पर चढ़े हुए महर्षि अंगिरा अपने हाथ में त्रिशूल लिये हुए रणक्षेत्र में उपस्थित हैं ॥३४॥

स्थितमङ्गिरस दृष्ट्वा विमुञ्चन्त शिताञ्छरान्
 नृपण प्रोवाच स क्रुद्ध स्मयन्निव पुन पुन ॥३३॥
 तिष्ठन्वयमनय सर्वे एष वो विदधे भयम् ।
 ममास्त्रतेजसा दग्धा दिशो यास्यथ त्रिद्रुता ।
 अथाङ्गिरास्त्रिशूलेन दीप्तेन समघावत ॥३४॥
 आददान इव क्रोधात्कृष्णप्राणान्महामृधे ।
 त्रिशूल तस्य दीप्त तु चिच्छेद परमेष्ठिनि ॥
 अर्धचन्द्रस्तथा तीक्ष्णैर्यमान्तकनिभोपमं ॥३५॥
 स्थूणाकर्णेन प्राणेन दीप्तेन स महामना ।
 त्रिव्याघ्रान्तकतुल्येन वक्षस्यङ्गिरस तत ॥३६॥
 रुद्रिरोघप्लतैर्गर्तैरङ्गिरा विह्वलन्निव ।
 विष्टब्धगाल सहसा पपात धरणीतले ॥३७॥
 शोपास्ततः स्रजय सर्वे चत्वारो ब्रह्मण सुता ।
 आघावन्तस्तदा शीघ्र बाणम्य पुरमन्तिकात् ॥३८॥

उहे तीक्ष्ण बाणों की वर्षा करते हुए देख कर श्रीकृष्ण बोले—हे अग्निभयो ! मैं अभी तुम्हारे नाश का उपग्रह करता हूँ तब तुम मेरे शस्त्रों से भस्म होते हुए भागोगे । यह सुन कर महर्षि अगिरा एक प्रज्वलित त्रिशूल तान कर श्रीकृष्ण की ओर झपटे ॥३५-३६॥ उस समय उनको मृत्यु के समान अपनी ओर आता देख कर श्रीकृष्ण ने घम, क्रोध और अग्नि की प्रभा से तीक्ष्ण हुए शार्ङ्ग-बाणों से उनके त्रिशूल को माग में ही काट दिया ॥३७॥ तब तब उन्होंने अपने धनुष पर स्थूलाभण नामक तेजोमय बाण चढ़ा कर अगिरा के हृदय को वीथ डाला ॥३८॥ इससे महर्षि अगिरा रक्त में भीग कर विह्वल होते हुए भूमि पर जा गिरे ॥३९॥ इसके पश्चात् ब्रह्माजी के पुत्र रून सभी अग्नि युद्ध क्षेत्र को छोड़ कर शोणितपुर की ओर भाग गये ॥४०॥

॥ श्रीकृष्ण ज्वर युद्ध ॥

अथागमन्त नृपणो यत्र बाणपुर तत ।
 अथ बाणपुर दृष्ट्वा दूरात्प्रोवाच नारद ॥१॥

एतत्तच्छोणितपुरं कृष्ण पश्य महाभुज ।
 अथ रुद्रो महातेजा रुद्राण्यां सहितोऽवसत् ॥२
 गुह्यश्च बाणगुप्त्यर्थं सतत क्षेमकारणात् ।
 नारदस्य वचः श्रुत्वा कृष्णस्त्विदमथाब्रवीत् ॥३
 क्षणं चिन्तयतामत्र श्रूयता च महामुने ।
 यदि वाऽवतरेद्रुद्रो बाणसंरक्षणं प्रति ॥४
 शक्तितो वयमप्यत्र सह योत्स्याम तेन वै ।
 एवं विवदतोऽनत्र कृष्णनारदयोस्तदा ॥५
 प्राप्ता निमेषमात्रेण शीघ्रया गरुडेन ते ।
 ततः शंखं समाधाय वदने पुष्करेक्षणः । ६

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! फिर भगवान् श्रीकृष्ण भी आगे बढ़ते हुए शोणितपुर के पास जा पहुँचे । उस पुर को देखते ही नारदजी ने उन्हें बताया—हे महाबाहो ! यही वह शोणितपुर है, जहाँ बाणामुर का भगल पारने के लिये पार्वतीजी और स्वामिकांतिकेय के सहित साक्षात् भगवान् शंकर निवास करते हैं । यह सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—हे महामुने ! यदि रुद्रदेव स्वयं युद्ध क्षेत्र में आकर बाणामुर की रक्षा करेंगे तो मुझे भी उनके साथ युद्ध करना पड़ेगा । इस प्रकार श्रीकृष्ण और नारद के मध्य वार्तालाप हो ही रहा था, कि इतने में ही शोणितपुर आगया और वहाँ उन्होंने अपने पाचजग्य शंख की ध्वनि की ॥ १-६ ॥

वायुवेगसमुद्भूतो मेघश्चन्द्रमिवोद्गिरन् ।
 ततः प्रध्माप्य त शंखं भयमुत्पाद्य वीर्यवान् ॥७
 प्रविवेश पुरं कृष्णो बाणस्याद्भुतकर्मणः ।
 ततः शंखप्रणादैश्च भेरीणा च महास्वनैः ॥८
 बाणानीकानि सहसा स नह्यन्त समन्ततः ।
 ततः किकरसंन्य तु व्यादिष्टं समरे भयात् ॥९
 कोटिशश्चापि बहुशो दीप्तप्रहरणास्तदा ।
 तदसंख्येयमेकस्थं महाभ्रवनसंनिभम् ॥१०

नीलाञ्जनचयप्रद्यमप्रमेयमथाक्षयम् ।

दीप्तप्रहरणा. सर्वे दैत्यदानवराक्षसाः ॥११

प्रमाथगणमुत्थाश्च अयुध्यन्कृष्णमव्ययम् ।

सर्वतस्तैः प्रदीप्तास्त्यै सार्चिष्पद्भिरिवाग्निभिः ॥१२

अभ्युपेत्य तदात्युग्रैर्य क्षराक्षसकिन्नरैः ।

पीयते रुधिरं तेषां चतुर्णामपि संयुगे ॥१३

उस समय राक्ष के मुख पर पहुँचने से मेघो मे से चन्द्रोदय होने जैसी शोभा हुई । इस प्रकार शखनाद से भय की सूचना देते हुए श्रीकृष्ण शोणितपुर में घुस गये । सभी उस शंख ध्वनि को सुन कर भेगी बजाती हुई बाण-सेना युद्ध के लिये सुगजिज्ञत होने लगी और युद्ध की आज्ञा मिलते ही तीक्ष्ण हथियारों के सहित चलने लगी । हे राजन् ! उस असह्य सेना को देख कर ऐसा प्रतीत होता था, जैसे आकाश में मेघो के समूह ही छा गये हो । ७ १० । नीलगिरि के समान नीली पोशाकी वाले वे असह्य दैत्य, दानव और राक्षस अनेक प्रकार के तेज युवन शस्त्रास्त्रों की लेकर बढ़ रहे थे ॥११॥ इस सेना में रुद्र के प्रमथगण अधिक थे । युद्ध क्षेत्र में आते ही वह सेना भगवान् श्रीकृष्ण के माथ सप्राम में तत्पर हुई । उस समय वे अग्नि के समान प्रदीप्त मुख वाले यक्ष, राक्षस एवं दैत्यादि सब ओर से आ-आकर श्रीकृष्णादि बीगो का रक्त पान की चेष्टा में लगे ॥ १२-१३ ॥

वातोद्भूतैरिव घर्नत्रिप्रकीर्णैरिवाचलैः ।

शुशुभे तल बहुलरनीकैर्हृदयग्विभिः ।

भुसलैरसिभिः शूलैर्गदाभिः परिघैस्तथा ॥१४

अबाधं तदस ख्येय शुशुभे सर्वतो बलम् ।

ततः स कर्षणो देवमुवाच मधुसूदनम् ॥१५

कृष्ण कृष्ण महाबाहो यदेतद्दृश्यते बलम् ।

एतैः सह रणे योद्धुमिच्छामि पुरुषोत्तम ॥१६

ममाप्येष व सञ्जाता बुद्धिरित्यब्रवीच्च तम् ।

एभिः सह रणे योद्धुमिच्छेयं योधसतमैः ॥१७

युद्धयतः प्राङ्मुखस्थास्तु सुपर्णो वै ममाग्रतः ।
 सव्यपाश्वर्षे तु प्रद्युम्नस्तथा मे दक्षिणे भवान् ।
 रक्षितव्यमयान्योन्यमस्मिन्धोरे महामृघे ॥१८॥
 एवं ब्रुवन्तस्तेऽन्योन्यमधिरुढाः पगोत्तमम् ।
 गिरिशृङ्गनिभैर्घो रङ्गदामुमललाङ्गलैः ॥१९॥
 युध्यतो रौहिणेयस्य रौद्र रूपमभूत्तदा ।
 युगान्ते सर्वभूतानां कालस्येव दिग्धक्षतः ॥२०॥
 आकृष्य लाङ्गलाग्रेण मुसलेनावपोययत् ।
 चचारातिबलो रामो युद्धमार्गं विशारदः ॥२१॥

उस विशाल सेना को देख कर प्रतीत होता था कि वायु के पपेटों से भेष उमड़ आये हैं या अनेक पर्वत इधर-उधर बिखर गये हैं । फिर वह सेना कुबिश, पट्टिश, शूल, गदा, मूसल आदि शस्त्रास्त्रों का प्रहार करने लगी । कुछ क्षण में ही वह भूमि असंख्य सैनिकों से परिपूर्ण होगई, यह देख कर बलरामजी बोले—हे कृष्ण ! हे महाबाहो ! मैं इस दानवी सेना से युद्ध करना चाहता हूँ ॥१४-१५-१६॥ इस पर श्रीकृष्ण ने कहा—हे भगवन् ! मैं भी इन वीर सैनिकों से युद्ध करने के लिये उत्सुक हूँ ॥१७॥ मैं पूर्वाभिमुख होकर लड़ूँगा, गरुड मेरे आगे रहेगा, प्रद्युम्न बाईं ओर तथा आप दायीं ओर रहे । इस प्रकार युद्ध करते हुए हम परस्पर में एक-दूसरे का बचाव भी कर सकेंगे ॥१८॥ बैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! इस प्रकार स्थिर कर वे गरुड की पीठ पर आरुढ़ होगये । बलरामजी ने पर्वतशिखर के समान गदा, मूसल और लांगलास्त्र ग्रहण कर अपनी आकृति को विकराल बनाया और युद्ध करने लगे । उस समय वे प्रलयाग्नि के समान संसार को उदरस्थ करने में तत्पर प्रतीत हुए ॥१९-२०॥ वे अपने लांगलास्त्र से खींच खींच कर शत्रुओं को मारते हुए युद्ध क्षेत्र में घूम रहे थे ॥२१॥

प्रद्युम्नः शरजालैस्तान्समन्तात्पर्यारयत् ।
 दानवान्पुरुषव्याघ्रो युध्यमानान्महाबलः ॥२२॥

स्निग्धाञ्जनचयप्रम्यं शंखचक्रगदाधरं ।
 प्रथमाय बहुय शयमयुध्यत जनार्दनः ॥२३॥
 पक्षप्रहारिनहता नग्तुण्डाग्रदाग्निता ।
 नीता वचस्पतपुरं वनतेयेन धीमता ॥२४॥
 तहंन्यमान दैत्यानामनीकं भीमत्रिमम् ।
 अभज्यत तदा मरये घाणवर्षसमाहतम् ॥२५॥
 भज्यमानेष्वनीकेषु नातुकाम समभ्ययात् ।
 ज्वरद्विशिरा पङ्क्तुजो नवलोचन ॥२६॥
 भस्मप्रहरणो रौद्र कालान्तकयमोपमः ।
 नदन्मेषसहस्रेण तुल्यो निर्घातिनि स्वन ॥२७॥

महाबली प्रद्युम्न भी अपने भीषण बाणों की बरसात कर दानवों का संहार कर रहे थे ॥२२॥ स्निग्ध अञ्जन के समान श्याम वर्ण वाले भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने दाव का घोष करते हुए युद्ध कर रहे थे ॥२३॥ गड्ढ भी अपने पत्नों, मखों और चोच की मार से अपरूप दैत्यों को नष्ट कर रहे थे ॥२४॥ इस प्रकार वह महापराक्रमी दैत्य-वेना अत्यन्त अस्त होकर युद्ध क्षेत्र से पलायन करने लगी ॥२५॥ उसी समय दैत्य सैनिकों के रक्षार्थ काल के समान भयानक तीन पैर तीन सिर, छह हाथ और नौ नेत्र वाला ज्वर वहाँ आगया । उसके हाथों में भस्मास्त्र था और वह मेष के समान गर्जनशील बठ रक्षर से गर्जना कर रहा था ॥ २६-२७ ॥

नि श्वसञ्जृम्भमाणश्च निद्राऽन्विततनुभृशम् ।
 नेताभ्यामाकुल वक्त्रमुहु कुर्वन्भ्रमन्मुहु ॥२८॥
 सहृष्टरोमा ग्लानाक्षो भग्नचित्त इव श्वसत् ।
 हलायुधमभिक्रुद्ध साक्षेपमिदमब्रवीत् ॥२९॥
 किमेव बल मत्तोऽसि न मा पश्यसि स युगे ।
 तिष्ठ तिष्ठ न मे जीवन्मोक्ष्यसे रणमूर्धनि ॥३०॥
 भस्म तदा क्षिप्त ज्वरेणाप्रतिभीजसा ।
 शोघ्रचाद्वक्षो निपतितं शरीरे पर्वतोपमे ॥३१॥

तद्भस्म वक्षसस्तस्य मेरो शिखरमागतम् ।
 प्रदीप्त पतित तत्र गिरिशृङ्ग व्यदारयत् ॥३२॥
 शोषेण चापि जज्वाल भस्मना कृष्णपूर्वज ।
 नि श्रमञ्जृम्भमाणश्च निन्द्रान्विततनुर्भूशम् ॥ ३३

वह बारम्बार दीर्घ श्वास लेता और जम्हाई ले-लेकर मुख खोलता था । उसका देह निद्रित व्यक्तित्व जैसा तदा नेत्र तिरछे और घूमते हुए थे ॥२८॥ उसकी रोमावलि हथित, नेत्रों में निद्रा और चित्त में चंचलता थी । उसने क्रोध से श्वास लेते हुए क्रोध पूर्वक बलरामजी से कहा—अरे, तुम ऐसे मदमत्त क्यों हो रहे हो ? क्या तुम्हें मेरा यहाँ आना दिखाई नहीं देता ? अब तुम यहाँ जीवित नहीं बच सकोगे ॥२९-३०॥ फिर उस महाबली ज्वर ने अपने भगमास्त्र से बलरामजी के हृदय पर प्रहार किया । परन्तु वह उनके हृदय में न घुस कर पर्वत के ऊपर जा पड़ा जिसमें मेरु पर्वत के शिखर फट गये ॥३१-३२॥ उस भस्म का जो सूक्ष्म अंश उनके देह पर लगा रह गया था उसके प्रदीप्त होने से बलराम के देह में निद्रा व्याप्त होगई और वे दीर्घ श्वास लेने लगे ॥३३॥

ततो हलधरो भग्न कृष्णमाह विचेतन ।
 कृष्ण कृष्ण महाबाहो प्रदीप्तोऽस्म्यभयं कुह ॥३४॥
 दह्यामि सर्वं तस्तात कथं शान्तिर्भवेन्मम ।
 इत्येवमुक्ते वचने बलेनामिततैजसा ॥३५॥
 प्रहस्य वचनं प्राह कृष्ण प्रहरता वर ।
 न भेतव्यमितीत्युक्त्वा परिष्वक्तो हलायुध ॥३६॥
 कृष्णेन परमस्नेहात्ततो दाहात्प्रमुच्यत ।
 मोक्षयित्वा बलं तत्र दाहात्तु मधुसूदन ॥३७॥
 प्रोवाच परमक्रुद्धो वासुदेवो ज्वरं तदा ।
 एतद्देहि ज्वरं युध्यस्व या ते शक्तिर्महामृधे ॥३८॥
 यच्च ते पीरय सर्वं तद्दर्शयतु नो भवान् :
 सव्येतराम्ना बाहुभ्यामेवमुक्तो ज्वरस्तदा ॥३९॥

चिक्षपेनं महद्भस्म ज्वालागर्भं महाबलः ।

ततः प्रदीप्तगात्रस्तु मुहुर्नममत्प्रभूः ॥४०

कृष्ण प्रहृता श्रेष्ठ शम चाग्निर्गतस्ततः ।

ततस्तेभुं जगाकारं बह्निमिस्तु त्रिभिस्तदा ॥४१

जघान कृष्ण गीवाया मुष्टिर्नकेन चोरसि ।

संप्रहारस्तुमुनस्नयो पुरुषसिंहयो ॥४२

ततो ज्वरं कनकविचित्रभूषणं न्यपीडयद्भूजबलयेन संयुगे ।

जगरक्षयं समुपनयञ्जत्पतीः शरीरघृग्गगनचरं महामृधे ॥४३

इस प्रकार भस्म के प्रभाव से पीड़ित हुए बलरामजी ने श्रीकृष्ण से कहा — हे कृष्ण ! मेरा देह दह्य हो रहा है, उसके शीतल होने का उपाय करो । यह सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण उनके देह से लिपट गये ॥३४-३५, ३६॥ उनके लिपटते ही बलरामजी का दाह शान्त होगया । फिर श्रीकृष्ण ने क्रोधित होकर ज्वर से कहा—हे ज्वर ! तुम मेरी शक्ति और पुरुषार्थ है तो मुझसे युद्ध करो । भगवान् के वचन सुन कर ज्वर ने भस्मास्त्र का एक तीव्र प्रहार उन पर भी किया, जिससे उनके देह में दाह उत्पन्न होगया ॥३७-४०॥ क्षण भर में ही उनके उस ताप का निवारण होगया । फिर उसने अपनी भुजाएँ फैला कर श्रीकृष्ण के कंधे पर एक मुक्ता मारा । इस प्रकार दोनों में भीषण युद्ध होने लगा ॥४१-४२॥ तब मानव रूपधारी श्रीकृष्ण ने उस आवाज में विचरण करने वाले उस ज्वर को पकड़ कर घर दबाया ॥४३॥

॥ वैष्णव ज्वर और शिव ज्वर में युद्ध ॥

मुनमित्यगिविज्ञाय ज्वरं शत्रुनिषूदन ।

कृष्णो भुजबलाभ्यां तु विक्षेपाथ महीतले ॥१

मुक्तगालं स बाहुभ्यां कृष्णदेहं विवेश ह ।

अमुक्त्वा विग्रहं तस्य कृष्णस्याप्रतिमोजसं ॥२

स ह्याविष्टस्तथा तेन ज्वरेणाप्रतिमोजसा ।

कृष्णः स्थलान्निव मुहुः क्षितौ गाढं व्यवर्तत ॥३

जृम्भते श्वमते चैव बल्गते च पुन पुन ।
 रोमाञ्चोत्थितगात्रश्च निद्रया चामिभूयते ॥४
 तत रथैव समालम्ब्य दृष्ट्वा परपुरजय ।
 विकुर्वन्ति महायोगी जृम्भमाण पुन पुन ॥५
 ज्वरगमिन्तमात्मानं त्रिजाय पुरुषोत्तम ।
 सोऽमृजज्वरमन्य तु पूर्णज्वरविनाशनम् ॥६
 घोर वैष्णवमृत्युं सर्वप्राणिभय करम्
 ससृष्टवान्स तेजस्वी त ज्वर भीमविक्रमम् ॥७

वैशम्पायनजी ने कहा—ह राजन् ! शत्रु नागक थीदृष्ट्वा ने ज्वर को मरा हुआ समझ कर जैसे ही पृथिवी पर फेंका, वैसे ही वह अहृदय रूप से उनको बेह में घुस गया । जिससे उनके पाँव डगमगाने लगे, कभी जम्हाई आती कभी श्वास का धेग दृढ़ता, कभी रोमाञ्च होता और कभी नींद आने लग जाती ॥१-४॥ तब भगवान् न सम्मत् किया कि मेरे देह में ज्वर घुस गया है, इननिये उसे मल्ट करने की इच्छा से उन्होंने एक अन्य ज्वर को उत्पन्न किया ॥ ५ ॥ भगवान् दृष्ट्वा द्वारा उत्पन्न वैष्णव ज्वर जीवों के लिये घोर भयावह था ॥७॥

ज्वर दृष्ट्वा त्रिसृष्टस्नु गृहीत्वा त ज्वर यत्नात् ।
 दृष्ट्वाय ह्यः प्रायच्छत् जग्राह ततो ह्यः ॥८
 ततस्त परमं दुःखं वासुदेवो महाबल ।
 स्वगात्रात्स्वरेणैव निष्प्रामयत वीर्यवान् ॥९
 आधिष्ठ भूतो चैव शतधा तत्तुमुं धत ।
 व्याधोपत ज्वरस्तत्र भो परित्रातुमर्हसि ॥१०
 आविध्यमाने तस्मिन्तु दृष्ट्वेनामिताजसा ।
 अशरीरं तनो यानी ह्यतस्त्रिधादनापत ॥११
 दृष्ट्वा दृष्ट्वा महाब्रह्मो यदा नन्दिबर्धन ।
 मा वर्धायै रमेन तु रक्षणीयमयाजय ॥१२

इत्येवमुक्ते वज्रने त मुणोच हरि स्वयम् ।
भूतभव्यविष्यस्य जगत परमो गुरु ॥१३॥

उस ज्वर ने शंख ज्वर को पकड़ कर श्रीकृष्ण के सामन उपस्थित किया। तब श्रीकृष्ण ने उसे पृथिवी पर गिरा दिया और उसे खण्ड खण्ड करने की इच्छा करने लगे, तभी शंख ज्वर चीत्कार करता हुआ 'मेरी रक्षा करो, रक्षा करो' कहने लगा ॥ ८-१० ॥ तभी आकाशवाणी हुई कि हे महाबाहो ! आप इस शंख ज्वर की रक्षा करिये ॥११-१२॥ ऐसी आकाशवाणी सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे मुक्त कर दिया ॥१३॥

॥ श्रीकृष्ण-शिव युद्ध ॥

ततस्ते त्वरिता सर्वे क्षयस्त्रय इवाग्नयः ।
वैनतेयमयारुह्य युध्यन्ते रणमूर्धनि ॥७॥
तत्र सर्वाभ्यनीकानि बाणवर्षैरवाकिन्तु ।
अर्द्यन्वेनतेयस्या नदन्तोऽतिबलाद्रणे ॥८॥
चक्रलाङ्गलपातैश्च बाणवर्षैश्च पीडितम् ।
सचक्रोप महानीक दानवावा दुरासदम् ॥९॥
कक्षेऽग्निरिव स वृद्ध शुष्के धनसमीरितः ।
कृष्णबाणान्निरुद्धूतो विवृद्धि परमा गतः ॥१०॥
दानवाना सहस्राणि तस्मिन्समरमूर्धनि ।
युगान्ताग्निरिवार्चिष्मान्दहमानो व्यराजतः ॥११॥
भग्न बल ततो दृष्ट्वा वृष्णेनाग्नितेजसा ।
सरवतनयन स्थाणुर्युद्धाय पर्यवर्तत ॥१२॥

वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! फिर बलराम कृष्ण और प्रद्युम्न—
यह तीनों ही महाबली गरुड की पीठ पर चढ़ कर युद्ध कर रहे थे । उनके द्वारा
की गई बाण वर्षा से सम्पूर्ण दत्य सेना आवृत्त होगई और उस सेना को नष्ट
हाती हुई देव कर व रणभेज भ गजन करते हुए विचरन लगे ॥११-१२॥ सुदर्शन

चक्र लागलास्त्र और भीषण वाणों के प्रहार से अत्यन्त सतप्त हुई दानव सेना अत्यन्त क्रोधित हो गई ॥३॥ जैसे घास में लगा हुआ अग्नि अधिक बढ जाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण का शस्त्र रूपी अग्नि दानव सैन्य रूपी ईंधन को प्राप्त कर अधिक प्रदीप्त हो उठी ॥४॥ उस प्रज्वालि के समान भीषण शस्त्रास्त्रों की अग्नि में पड कर हजारों दैत्य भस्म होने लग ॥५॥ इस प्रकार श्रीकृष्ण के तेज से नष्ट होनी हुई दैत्य सेना की दुःशा देख कर भगवान् ढककर अत्यन्त क्रोधित होकर स्वयं रण क्षेत्र में युद्ध के लिये आये ॥६॥

वाणस रक्षणं कर्तुं रयमास्थायमुप्रभम् ।
 देव कुमारश्च तथा रथेनाग्निसमेन वै ॥७॥
 नन्दीश्वरसमायुक्त रथसाम्यग्य कोपेनान् ।
 सदष्टौष्ठपुटौ रुद्र प्राघावत यतो हरि ॥८॥
 पिवन्निच नदाकाश सिंहमुक्थो महास्वन ।
 रथो भाति घनोन्मुक्त्वा षोणमास्य यथा शशी ॥९॥
 तता गणसहस्रं स्तु नानारूपमंयावहे ।
 नदद्भिर्विविधान्नादनूयो देवस्य शोभयत् ॥१०॥
 रुधिराद्रंभंटाववने महाद द्वा वलिप्रिया ।
 देव सपरिवार्याय महाशत्रुप्रमदनम् ॥११॥
 लीलायमानास्तिष्ठन्नि गग्रामाभिमुज्जोन्मुगा ।
 ततो दिव्य रथं दृष्ट्वा र्द्रस्याग्निनटमण ॥१२॥
 कृष्णो गरुडमास्थाय ययौ रुद्राय मयुगे ।
 येन तेयस्थमाम्यन्तमाया तमग्रणी हग्निम् ॥१३॥
 विष्वाध कृपितो वार्णनारायाना दतेन स ।
 सारं ररदिनस्तेन हरेणानिष्टमंणा ॥१४॥
 हग्निं प्राह कृपितो तत्र पाजंन्यभुत्तमम् ।
 प्रचक्षत ततो भूमिर्विष्णुर्द्रप्रपीडिता ॥१५॥

ही कार्तिकेयजी और नन्दी भी आरुढ़ होगये । वे दाँतो से होठो को चबाते हुए दीघ्रता से श्रीकृष्ण की ओर बढ़े ॥७-८॥ नभ मंडल का पान करने वाले रत्न के सिंह-योजित रत्न को देख कर प्रतीत होता था कि जैसे मेघो के बीच से चन्द्रमा निकल आया है ॥९॥ रथ के सब ओर भगवान् शंकर के प्रमथण घोर गर्जना करने लगे ॥१०॥ उन सब के विशाल मुख रत्न से भीग रहे थे । वे सब बड़े-बड़े दाँतो वाले और मांस-रसि भक्षण करने वाले थे । वे भगवान् शंकर के चारों ओर विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हुए चल रहे थे । तभी श्रीकृष्ण ने रथारूढ़ वद पर भीषण घाण-घर्षा की, तब शिवजी ने भी अत्यन्त क्रोध पूर्वक एक साथ सौ बाणों से श्रीकृष्ण पर प्रहार किया । फिर उनके बाणों से आहत हुए श्रीकृष्ण ने पार्जन्य नामक अस्त्र उठा लिया, उस समय उन दोनों के युद्ध को देख कर पृथिवी काँप उठी ॥११-१५॥

॥ हरिहरात्मक स्तोत्र ॥

ततस्तु जृम्भमाणस्य देवस्याविलष्टकर्मणः ।
ज्वाला प्रादुरभ्रद्वक्ताद्दहतोव दिशो दश ॥१॥
ततस्तु धरणी देवी पीडयमाना महात्मभिः ।
ब्रह्माण विश्वघातारं वेगमानाऽभ्युपागमत् ॥२॥
देवदेव महाबाहो पीडयामि परमोजसा ।
कृष्णरुद्रभराक्रान्ता भविष्यैकार्णवा पुनः ॥३॥
अविपद्मामिम भार चिन्तयस्व पितामह ।
लघ्वीभूता यथा देव धारयेयं चराचरम् ॥४॥
ततस्तु काश्यपी देवी प्रत्वीयुवाच पितामह ।
मुहूर्तं धारयात्मानमाशु लघ्वी भविष्यसि ॥५॥

वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! तब भगवान् शंकर ने जम्हाई लेने के लिये अपना मुख खोला जिससे अग्नि की लपटें निकलने लगी और उस अग्नि के प्रभाव से दसो दिशाएँ घबक उठी ॥१॥ तब उन दोनों महात्माओं के सघर्ष के कारण सतप से काँपनी हुई पृथिवी ब्रह्माजी की शरण में पहुँची ॥२॥ वहाँ

जाकर पृथिवी ने कहा—हे प्रभो ! श्रीकृष्ण और भगवान् शंकर के सघर्ष से मैं
अत्यन्त भयभीत हूँ क्योंकि इनके महातेज को न सह सकने के कारण मुझे पुनः
समुद्र की शरण लेनी पड़ेगी ॥३॥ हे पितामह ! अब अधिक भार को सहन करने
की सुक्षम क्षमता नहीं है इसलिये मेरा भार इतना कम हो सके कि मैं उसे
सुगमता पूर्वक धारण कर सकूँ, ऐसा प्रयत्न कीजिये ॥४॥ इस पर ब्रह्माजी ने
कहा—हे धरे ! तुम क्षण भर धीरज रखो । तुम्हारा भार अभी कम हुआ जाता
है ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा तु भगवान्ब्रह्मा रुद्र वचनमब्रवीत् ।
सृष्टो महानुत्पन्नं हि भूय परिरक्षासे ॥६॥
न च युद्धं महाबाहो तव कृष्णेन रोचते ।
न च युष्मत्सि कृष्ण त्वमात्मानं तु द्विधा वृतम् ॥७॥
ततः शरीरयोगाद्विभगवानव्ययं प्रभु ।
प्रविश्य पश्य ते तृत्स्नास्तीरलोवान्सचराचरान् ॥८॥
प्रविश्य योगयोगात्मा वरास्ताननुचिन्तयन् ।
द्वारवत्या यद्वनं च तदनुष्मृत्य सवशः ।
जगाद नोत्तरं त्रिचिन्विनृतोऽपी भवत्ततः ॥९॥
आत्मानं कृष्णयोनिस्य पश्यने त्वं ययोनिर्यम् ।
ततो हि नृप रुद्रं नृप्यस्तवादोऽभयमृधे ॥१०॥
ब्रह्माणं पाप्मनीदृष्टो न योऽस्ये भगवन्निति ।
कृष्णेन सह ममामे नृप्यो भवतु मद्विती ॥११॥
ततः कृष्णाज्यं रुद्रश्च परिष्वज्य परस्परम् ।
परां प्रीतिमुपागम्य ममामाश्नजग्मतु ॥१२॥

ना आपके लिये असोमनीय है ॥७॥ यह सुन कर भगवान् शंकर ने श्रीकृष्ण के चेहरे में धुम कर तीनों लोको के दर्शन किये ॥८॥ उस समय वहीं योगस्थ हो-
कर अपने जूम्भास्त्र की प्रभावहीन देखा फिर द्वारका में बाणासुर की मृत्यु
विषयक अपने घर का भी स्मरण किया, तब ब्रह्माजी की कोई उत्तर न देकर
युद्ध का परित्याग कर दिया ॥९॥ इस प्रकार श्रीकृष्ण के शरीर में स्थित ब्रह्माण्ड
को देख कर बाहर आये और ब्रह्माजी से बोले—अब मैं श्रीकृष्ण से नहीं सहूँगा,
अच्छा हो कि पृथिवी का भार हल्ला हो जाय ॥१०-११॥ फिर भगवान् शंकर
और श्रीकृष्ण दोनों ने ही परस्पर आलिंगन किया और युद्ध करने से निवृत्त हो-
गये ॥ १२ ॥

श्रीकृष्ण-बाणासुर युद्ध ॥

प्रमाथगणभूयिष्ठे सैन्ये दीर्घे महासुर ।
निर्जंगाम सतो बाणोमुद्रायाभिमुखस्त्वरन् ॥१॥
भीमप्रहरणैर्घोरे दैत्येन्द्रं सुमहारथं ।
महाबलं महावीरं वज्रीव सुरसत्तमं ॥२॥
पूगेहिता शत्रुवधं वदन्तस्तथैव चान्ये श्रुतशीलवृद्धाः ।
जपंश्च मन्त्रंश्च तथोपवीभिर्महात्मन स्वस्त्ययनं प्रचक्षुः ॥३॥
ततस्तूर्यप्रणादेशं च भेरीणां तु महास्वनं ।
सिंहनादैश्च दैत्यानां बाणं कृष्णमभिद्रवत् ॥४॥
दृष्ट्वा बाणं तु निर्घातं युद्धायैव व्यवस्थितम् ।
आरुह्य गरडं कृष्णो बाणायाभिमुखो ययौ ॥५॥

वंशम्पावनजो ने कहा—हे राजन् ! प्रमाथगणों के सहित सम्पूर्ण दानवी
सेना के भाग जाने पर बाणासुर शीघ्रता पूवक युद्ध क्षेत्र में उपस्थित हुआ ॥१॥
महाबली दैत्यगण भीषण शस्त्रास्त्रों को धारण कर अपने-अपने बाहनों के द्वारा
दैत्यराज के साथ चले ॥२॥ उस समय बाणासुर के पुराहितों ने शत्रु नाश का
आशीर्वाद देकर उसकी रक्षा के लिये जप, मंत्र और औषधादि उपचारों का

प्रयोग किया ॥३॥ फिर तुरही-भेरी आदि बाजे बज छे और वीरगण गजना करने लगे । उसी समय बाणासुर श्रीकृष्ण को देख कर वेग से उनकी ओर बढ़ा ॥४॥ श्रीकृष्ण भी उसे अपनी ओर आते देख कर गरुड पर चढ़ कर उसकी ओर लपके ॥ ५ ॥

तस्य शार्ङ्गं विनिमुञ्क्तैः शरैरशनिसन्निभैः ।

तिलशस्तद्रथं साश्वध्वजपताकिनम् ॥६॥

चिच्छेद कवचं कायान्मुकुटं च महाप्रभम् ।

कामुकं च महातेजा हस्तचापं च केशवः ॥७॥

विष्याध चैनमुरसि नाराचेन स्मयन्निव ।

स मर्माभिहतः संत्ये प्रमुमो हाल्पचेतनः ॥८॥

प्रयुध्येता ध्वजौ तत्र तावन्योन्यमभिद्रुतौ ।

युद्धं त्वभूद्वाहनयोरुभयोर्देवदैत्ययोः ॥९॥

गरुडस्य च संग्रामो मयूरस्य च धीमतः ।

पक्षतुण्डहारेस्तु चरणास्यनखैस्तथा ॥१०॥

अन्यान्यं जघ्नतुः क्रुद्धो मयूरगरुडावुभौ ।

यैततेयस्ततः क्रुद्धौ मयूरं दीप्ततेजसम् ॥११॥

जग्राह शिरसि क्षिप्रं तुण्डेनाभिपतन्सदा ।

उरिक्षिप्य चैव पक्षाभ्या निजघान महाबलः ॥१२॥

पद्भ्या पार्श्वामिघाताभ्या वृत्वा घातान्यनेकशः ।

क्रातुप्य चैनं तरसा विरुप्य च महाबला ॥१३॥

निःसर्जं पातयामास गगनादिव भास्करम् ।

मयूरे पतिते तस्मिन्पपातातिचलो भुवि ॥१४॥

इस प्रकाश उक्त दोनों गरुड और मयूरों के मध्य युद्ध होने तथा और श्रीकृष्ण के शार्ङ्गधनुष द्वारा बलासे गये बाणों से अरुण, ध्वज और पताका युद्ध

बाणामुर नर रथ धीरे-धीरे जीर्ण होने लगा ॥६॥ उन्होंने दैत्यराज का वचन, मुकुट, धनुष आदि को भग करके उसके हृदय की बीष डाला, जिसके कारण यह पुष्ट चेतना हीन होगया ॥७-८॥ इस प्रकार उन दोनों में घोर युद्ध चल रहा था, नभी उनके ध्वज परस्पर भिड़ गये । एक ओर बाणामुर का वाहन मयूर और दूसरी ओर श्रीकृष्ण के वाहन गरुड थे । दोनों ही परस्पर पक्ष, पैर, गुण्ड, नख, चोच आदि के प्रहारों से एक दूसरे को पीड़ित कर रहे थे सभी गरुड ने सहसा उड़न कर मयूर को अपनी चोच में दबा और दाहिने पक्ष से उसके मस्तक में तथा पैरों से पार्श्व में प्रहार करने लगे ॥९-१२॥ इस प्रकार पिटता पिटता मयूर मूर्च्छित होमया तब गरुड ने उसे उठा कर धरती पर दे मारा ॥१३॥ उस समय चेतना हीन होकर पृथिवी पर गिरता हुआ वह मोर आकाश से गिरते हुए सूर्य के समान प्रतीत होने लगा और उस मयूर के साथ ही बाणामुर भी पृथिवी पर गिर गया ॥ १४ ॥

बाणः समरस विग्नश्चिन्तयन्कार्यमात्मनः ।
मयाऽतिबलमत्तेन न कृतं सुहृदा वचः ॥१५॥
पश्यन्ना देवदैत्यानां प्राप्तोऽस्म्यापदमुत्तमाम् ।
त दोनमनसं ज्ञात्वा रणे बाणं सुविकलवम् ॥१६॥
चिन्तयद्भगवान्द्रो बाणरक्षणमातुरः ।
ततो नन्दि महादेवः प्राह गम्भीरया गिरा ॥१७॥
नन्दिकेश्वर याहि त्वं यतो बाणो रणे स्थितः ।
रथेनानेन दिव्येन सिंहयुक्तेन भास्वता ॥१८॥
बाणे सयोजमाशु त्वमल युद्धाय बाञ्जघ ।
प्रमाद्यगणमव्येऽहं स्थास्यामि न हि मे मनः ॥१९॥
यीदु वितरते ह्यद्य बाणं सरक्ष्य गम्यताम् ।
तथेत्युक्त्वा ततो नन्दी रथेन रथिना वरः ॥२०॥
यतो बाणस्ततो गत्वा बाणमाह शनैरिदम् ।
दैत्यामुं रथमातिष्ठ शीघ्रमेहि महाबल ॥२१॥

ततोयुध्यस्व कृष्णं वै दानवान्तकरं रणे ।
 आरूरोह रथ बाणो महादेवस्य धीमतः ॥२२
 आरूढः स तु बाणश्च तं रथं ब्रह्मनिर्मितम् ।
 तं स्यन्दनमधिष्ठाय भवस्यामिततेजः ॥२३
 प्रादुश्चक्रे महारीद्रमस्त्रं सर्वास्त्रघातनम् ।
 दीप्तं ब्रह्मशिरो नाम बाणः क्रुद्धोऽतिवीर्यवान् ॥२४
 प्रदीप्ते ब्रह्मशिरसि लोकाः क्षोभमुपागमन् ।
 लोकसरक्षणार्थं वै तत्सृष्टं ब्रह्मयोनिना ॥२५

इस प्रकार गिरा हुआ बाणासुर उद्विग्नता पूर्वक विचार करने लगा कि
 मैंने बल से गवित होकर अपने बन्धुओं के बचनों को नहीं माना, इसी से आज
 मेरी यह दुर्दशा हुई है । तब भगवान् रुद्र ने बाणासुर को विह्वल हुआ देख कर
 अपने नन्दी गण से कहा ॥१५-१६-१७॥ नन्दीश्वर ! तुम शीघ्र ही मेरे इन सिंहा
 योजित रथ को ले जाकर बाणासुर को दे दो और स्वयं उस युद्ध का संचालन
 करो । इस रथ के प्राप्न होते ही बाणासुर में शक्ति का विशेष संचार होगा ।
 इसलिये तुम शीघ्रता पूर्वक वहाँ जाकर बाणासुर की रक्षा के कार्य में लग जाओ ।
 यह सुन कर नन्दीश्वर ने तुरन्त ही प्रस्थान किया और बाणासुर को रथ देकर
 कहा कि—आप इस रथ पर शीघ्र ही बैठिये ॥१८-२१॥ फिर आप दानवों के
 सहारक श्रीकृष्ण से युद्ध कीजिये । नन्दी की बात पूरी होते ही बाणासुर उस रथ-
 निर्मित रथ पर जा बैठा ॥२२॥ उस रथ पर बैठते ही उसने अत्यन्त शोष पूर्वक
 सभी दानवों के नष्ट करने वाले ब्रह्मशिर नामक बाण को प्रवृत्त किया ॥२३-२४॥
 उस प्रज्वलित बाण के उद्गम होते ही सब लोक व्याकुल हो उठे, इन बाण की
 ब्रह्माजी ने पहिले लोक की रक्षा के लिये रचा था ॥२५॥

यपुषा तेज आघत्ते बाणस्य प्रमुग्धे स्थितम् ।
 शात्वाऽतितेजसा चक्रं कृष्णेनाभ्युदितं रणे ॥२६
 अप्रमेय एविहतं रुद्राणी चाग्रवीच्छिवम् ।
 अजयमेतत्प्रैलोभये चक्रं कृष्णेन धार्यते ॥२७

वाणं शायस्व देवि त्वं यावच्चक्रं न मुञ्चति ।
 ततस्त्र्यक्षवचः श्रुत्वा देवी लम्बामथान्नवीत् ॥२८
 गच्छेहि लम्बे शीघ्रं त्वं वाणसरक्षणं प्रति ।
 ततो योगं समाधाय अदृश्या हिमवत्सुता ॥२९
 कृष्णस्यैकस्य तद्रूपं दर्शयत्पाश्वर्भागता ।
 चक्रोद्यनकरं दृष्ट्वा भगवन्त रणाजिरे ॥३०
 अन्तर्धानमुपागम्यत्यज्य सा वाससी पुनः ।
 परिप्राणाय वाणस्य विजयाविष्ठिता ततः ॥३१

तब वाणासुर के सामने जाकर भगवान् ने उसके तेज को आवृणित किया । सभी भगवान् सार ने श्रीकृष्ण को चक्र धारण किये देख कर पार्वतीजी से कहा — हे देवि । श्रीकृष्ण का वह धक्र सम्पूर्ण संलोक्य से भी जीता नहीं जा सकता । इसलिये जय कर वह चक्र छोड़ा जाय, उसके पूर्व ही तुम वहाँ जाकर वाणासुर की रक्षा करो । शिवजी की बात सुन कर पार्वतीजी ने सम्पादेवी से कहा ॥२६-२७ २८॥ हे लम्बे ! तुम शीघ्र यहाँ से जाकर वाण को बचाओ । यह कह कर पावनीजी ने अलक्षित भाव से श्रीकृष्ण के निकट जाकर उन्हें दर्शन दिया और फिर लम्बादेवी वस्त्र परित्याग पूर्वक वाणासुर की रक्षा के लिये श्रीकृष्ण के सामने जाकर खड़ी होगई ॥२९-३०-३१॥

प्रमुखे वासुदेवस्य दिग्वासा. कोटवी स्थिता ।
 ता दृष्ट्वा ऽथ पुनः प्राप्ता देवी रुद्रस्य समताम् ॥३२
 लम्बां द्वितीयां निष्ठन्ती कृष्णो वचनमब्रवीत् ।
 भूयः सामर्पता आक्षो दिग्बस्त्राऽवस्थिता रणे ॥३३
 वाणसरक्षणपरा हन्मि वाण न संशयः ।
 एवमुक्ता तु कृष्णेन भूयो देव्यन्नवीदिदम् ॥३४
 जाने त्वां सर्वभूतानां सृष्टारं पुरुषोत्तमम् ।
 महाभागं महादेवमनन्तं लीनमव्ययम् ॥३५

पद्मनाभं हृषीकेशं लोकानामादिसंभवम् ।
 नार्हसे देव हन्तुं वै वाणमप्रतिमं रणं ॥३६॥
 प्रयच्छ ह्यभयं वाणे जीवपुत्रीत्वमेव च ।
 मया दत्तवरो ह्येष भूयश्च परिरक्ष्यते ॥३७॥
 न मे मिथ्या समुद्योगं कर्तुं मर्हसि माधव ।
 एवमुक्ते तु वचने देव्या परपुरजयः ॥३८॥
 कृष्णः प्रभापते वाक्यं शृणु सत्यं तु भामिनि ।
 वाणो बाहुसहस्रेण नर्दते दर्पमाश्रितः ॥३९॥

उसे नग्न वेष्टा मे सामने रखी देख कर श्रीकृष्ण बोले—हे देवि ! तुम अपने वस्त्रों को त्याग कर इस नग्न वेष्टा मे बाणासुर की रक्षा के लिये यह आ-
 गई हो, परन्तु मैंने आज इसे मारने का दृढ निश्चय कर लिया है । यह मुन कर
 लम्बा ने भीठे स्वर मे कहा—हे पुरुषोत्तम ! आप जगत् मे रचने वाले, देवताओं
 मे महान्, अन्त रहित, अठग्य, पद्मनाभ एव हृषीकेश हैं, इसलिये आपको इस
 बाणासुर का वध नहीं करना चाहिये ॥३२-३६॥ हे माधव ! आप ऐसे अभयदान
 देकर मुझे जीवित पुत्र वाली बनाइये, क्योंकि मैं इसरी वर दात्री होने के कारण
 इसे अब भी बचा रही हूँ । इसलिये, आप मेरे वचन को व्यर्थ न करिये । लम्बा-
 देवी की बात सुन कर श्रीकृष्ण बोले—हे भामिनी ! जब तुम मेरी बात सुनी,
 तुम्हारे पुत्र की अग्नी सहस्र भुज,ओ का गर्व है और वह उन्ही के कारण सदैव
 गरजता रहता है ॥३७-३८-३९॥

एतेषां वृटेदनं त्यक्त कर्तव्यं नाय मंशयः ।
 द्विधाह्वना च वाणेन जीवपुत्री भविष्यति ॥४०॥
 आनुरं दर्पमाश्रित्य न च मां संश्रयिष्यति ।
 एवमुक्ते तु वचने कृष्णे नाविटलकर्मणा ॥४१॥
 प्रोवाच देवी बाणाज्यं देवदत्तो भवेदिति ।
 अथ तां वार्तिपेयस्य मातरं गोर्जनिभाप्य यं ॥४२॥

प्रोवाच बाणं समरे वदता प्रवरं प्रभु ।
 युध्यता युध्यता संख्ये भवता कोटवी स्थिता ॥४३॥
 अशक्तानामिव रणे धिग्बाण तव पौरुषम् ।
 एवमुक्त्वा ततः कृष्णस्तच्चक्र परमात्मवान् ॥४४॥
 निमीलिताक्षो व्यसृज्यद्बाण प्रति महाबलम् ।
 क्षेपणाद्यस्य मुह्यन्ति लोकाः सस्याणुजङ्गमाः ॥४५॥

हमलिये मैं उसकी हजार भुजाओं में से केवल दो भुजाएँ छेप रहने दूँगा, इस प्रकार बाणासुर के जीवित रहने से तुम्हारे जीवित पुत्रिका बनी रहने में कोई अतिक्रम नहीं होगा ॥ ४० ॥ ऐसा होने से वह मर्या करने से निवृत्त हो जायगा । श्रीकृष्ण के ऐसे वचन सुन कर देवी बोली—हे प्रभो ! जैसे भी हो बाणासुर जीवित बच सके बैसा ही आप कीजिये । भगवान् बोले 'अच्छा, यही होगा' ॥४१-४२॥ फिर उन्होंने बाणासुर से कहा—हे दैत्यराज ! तुम बायरो की भाँति देवी का सहारा क्यों लते हो ? तुम्हारे इन प्रकार के अपौरुष युक्त कर्म को धिक्कार है । यह कह कर श्रीकृष्ण ने अपने नेत्रों को बन्द किया और बाणासुर पर चक्र चलाने लगे । परन्तु चक्र चलने की सम्भा—
 लोक मुँच्छि हो गये ॥४३-४४-४५॥

क्रव्यादानि च भूतानि तृप्तिं याति महामृधे ।
 तमप्रतिमकर्माण समान मूर्यवचसा ॥४६॥
 चक्रं चरस्य समरे कोपदीप्तो गदाधर ।
 स मुष्णन्दानव तेज समरे स्वेन तेजसा ॥४७॥
 चिच्छेद बाहूश्चक्रेण श्रीधर परमौजसा ।
 अलातचक्रवत्पूर्णं भ्राम्यमाण रणाजिरे ॥४८॥
 क्षिप्तं तु वासुदेवेन बाणस्य रणमूर्धनि ।
 विष्णुचक्रं भ्रमत्याशु शैघ्रयादरूपं नदृश्यते ॥४९॥
 तस्य बाहुसहस्रस्य पययिण पुन पुन ।
 बाणस्य छेदनं चक्रं तच्चक्रं रणमूर्धनि ५०

कृत्वा द्विवाहुं तं वाणं छिन्नशाखमिव द्रुमम् ।

पुनः कराग्रं कृष्णस्य चक्रं प्राप्तं सुदर्शनम् ॥५१॥

ऐसे मे ही श्रीकृष्ण ने सूर्य के समान तेजोमय अपने चक्र को छोड़ा, जो द्रुमरे सूर्य के समान अत्यन्त वेगपूर्वक घूमता हुआ अदृश्य रूप से बाणासुर के रथ भाग पर अग्रसर हुआ ॥४६-४९॥ तब उसने बाणासुर की एक-एक करके सब भुजाएँ बाँटते हुए केवल दो भुजाएँ छोड़ दीं । इस प्रकार दैत्यराज को सहस्रबाहु से द्विबाहु करके वह चक्र पुनः भगवान् श्रीकृष्ण की अंगुलियों पर स्थित हो गया ॥ ५०-५१ ॥

कृतकृत्ये तु संप्राप्ते चक्रे दैत्यनिर्पातने ।

ख्रवता तेन कायेन शोणितोघपरिप्लुतः ॥५२॥

अभवत्पर्वताकारश्छिन्नबाहुर्महासुरः ।

असृङ्मत्तश्च विविघ्नान्नादान्मुञ्चन्धनो मया ॥५३॥

तस्य नादेन महता वेशपो रिपुमूदनः ।

चक्रं भूयः क्षेप्तुवामो वाणनाशार्थं मया नः ।

तमुपेत्य महादेवः पुमारसहितोऽग्रयीत् ॥५४॥

कृष्णं कृष्णं महाबाहो जाने त्वां पुरुषोत्तमम् ।

मधुकटभहन्तारं देवदेव सनातनम् ॥५५॥

लोपानां त्वं गनिदो वदस्व प्रभूतमिदं जगत् ।

अजेयस्त्वं त्रिमूर्तिर्लोकैः समुरासुरपन्नगैः ॥५६॥

सम्मात्महरं दिव्यं त्वमिदं चक्रं समुद्यतम् ।

अनिवार्यं मरुहायं रणे शत्रुभयकरम् ॥५७॥

वाणम्यास्याम्य दत्तं मया वैशिनिपूदन ।

तन्मे न स्याद्वृथा वाक्यमतस्वत्यां क्षामयाम्यहम् ॥५८॥

जीवतां देव वाणोऽप्यमेतच्चक्रं निवर्तितम् ।

माग्नस्त्वं देवदेवानाममुगणां च सर्वजः ॥५९॥

नमस्तेऽस्तु गमिष्यामि यत्तामं तन्मतेऽन्यथा ।

न तान्निवर्तते सम्मान्यामनुशासुर्गमि ॥६०॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! जब सुन्धान चला अपने कार्य को पूर्ण करने भगवान् श्रीकृष्ण के पास लौट गया, उस समय बाणासुर के देह से रक्त की धाराएँ प्रवाहित हो रही थी ॥१२॥ भुजाओं के कटने पर यह पर्वत के समान दिखाई देने लगा और रक्षित मन्हा कर जलधर के समान गर्जन करने लगा ॥१३॥ उसकी गर्जना से क्रोधित हुए श्रीकृष्ण उस पर चढ़ छोटन के लिये फिर तत्पर हुए सभी स्वामि वातिकेय के साथ भगवान् शिव स्वयं वहाँ आकर बोले—हे महाबाहो ! हे पुरोत्तम ! हे देवदेव ! आप मधु कूटभ के मारने वाले, समाप्तन पुरष एक ससारी जीवों की एक मात्र शक्ति हैं, यह सम्पूर्ण जगत् आपसे ही उत्पन्न हुआ है । इसलिये देवता, दैत्य, मनुष्य अथवा अन्धमान्य जीवों में से कोई भी आपको परास्त नहीं कर सकता ॥१४॥ १५-१६॥ अतः अब आप अपने इस अनिवारणीय और अमहारणीय चक्र को रोकिये । हे केशव ! मैंने बाणासुर को अभय प्रदान किया हुआ है, इसलिये अब आप वही करें जिससे मेरे वचन भी रक्षा हो सके ॥१७-१८॥ श्रीकृष्ण ने कहा—हे रत्नदेव ! आप सभी देव दानवी, ॥ लिये पूजनीय हैं, इसलिये मैं आपके अनुरोध को स्वीकार कर अपने चक्र को निवारण करता हूँ, जिससे बाणासुर की प्राण रक्षा हो जायगी । १९॥ हे देवदेव शक्र ! मेरा निश्चय अपूर्ण ही रह गया । अब मैं यहाँ से जा रहा हूँ और आपको नमस्कार करता हूँ ॥२०॥

॥ उपा अनिरुद्ध विवाह ॥

वासुदेवोऽपि बहुधा नारद पर्यपृच्छत ॥ १
ववानिरुद्धोऽस्ति भगवन्स यतो नागबन्धनं ॥ २
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन स्नेहविलम्ब हि मे मन ।
अनिरुद्धे हृते वीरे क्षुभिता द्वारवा पुरी ॥ ३
शीघ्र त मोक्षयिष्यामो यदर्थं वयमागता ।
अथ त नष्टशत्रु वै द्रष्टुमिच्छामहे वयम् ॥ ४
स प्रदेशस्तु भगवन्विदितस्तव सुव्रत ।
एवमुतस्तु कृष्णेन नारद प्रत्यभाषत ॥ ५

कन्यापुरे कुमारोऽसौ वदो नागेश्व माधव ।
 एतस्मिन्ननरे शीघ्र चिरलेखा ह्युपस्थिता ॥६॥
 बाणस्योत्तमसर्वम्य दैत्येन्द्रस्य महात्मन ।
 इदमन्त पुर देव प्रविशस्व यथासुखम् ॥७॥
 ततः प्रविष्टास्ते सर्वे ह्यनिरुद्धस्य मोक्षणे ।
 बल सुपर्णा वृष्णस्तु प्रद्युम्नो नारदस्तथा ॥८॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! इसके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण नारदजी से बारम्बार पूछने लगे कि हे—भगवन् ! नागपाश के बन्धन में पड़ा हुआ अनिरुद्ध कहाँ है ? ॥२॥ मेरा चित्त स्नेह विह्वल होकर अब उसे देखने को उत्सुक है और उधर सब द्वारवासी भी उसके बिना व्याकुल हो रहे हैं ॥३॥ उस छुड़ाने के लिये ही हमारा यहाँ आगमन हुआ है इसलिये मैं उसे अब शीघ्र ही बन्धन से मुक्त करने को आनुर हूँ । ४ । हे मुने ! आप उग स्थान को जानते हैं । यह सुन कर देवर्षि नारद ने उनसे कहा—हे माधव ! नागपाश में बँधे हुए अनिरुद्ध इस समय बाणामुर की कन्या के अन्त पुर में बन्दी है । नारदजी अभी इतना ही कह पाये थे, तभी उपा की सहेली चिरलेखा उहाँ आगई ॥६॥ उसने कहा—हे देव ! हमारे दैत्यराज महात्मा बाणामुर का यह अन्त पुर है, आप इसमें सुखपूर्वक प्रवेश करें ॥७॥ यह सुन कर बलरामजी गरुड प्रद्युम्न और नारदजी के सहित श्रीकृष्ण अनिरुद्ध का बन्धन में छुड़ाने के लिये उस अन्त पुर में पहुँचे ॥ ८ ॥

ततो दृष्ट्वैव गरुड येऽनिरुद्धसारीरगा ।
 शरणा महासर्पा येयित्वा तनुं स्थिता ॥९॥
 ते सर्वे सहसा देहात्तस्य नि सृत्य भोगिन ।
 क्षितिं समभिवर्तित्वा प्रकृत्यावस्थिता शरा ॥१०॥
 दृष्ट्वा स्पृष्टश्च वृष्णेन सोऽनिरुद्धो महायणा ।
 स्थितः प्रीतमना भूत्वा प्राञ्जनिर्वनियमव्रवीत् ॥११॥
 देवदेव सदा युद्धे जेता त्वमसि वेशव ।
 न शक्नोति प्रमृग्ये स्यातु साक्षादपि शतव्रतु ॥१२॥

ततो महाबलं देव बलभद्रं यशस्विनम् ।
 अभिवादयते हृष्टः सोऽनिरुद्धो महामनाः ॥१३॥
 माधव च महात्मानमभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
 खगोत्तमं महावीर्यं सुवर्णमभिवाद्य च ॥१४॥
 ततो मकरकेतुं च चित्रवाणधर प्रभुम् ।
 पितरं सोऽभ्युपागम्य प्रद्युम्नमभ्यवादयत् ॥१५॥

उनके पहुँचते ही जिन बड़े-बड़े सपों ने अनिरुद्ध को घाँघ रखा था, वे गरुड के भय से तुरन्त ही अनिरुद्ध को छोड़ कर भाग गये ॥१६-१७॥ तब अनिरुद्ध को देख कर श्रीकृष्ण उनके पास पहुँचे और उन्होंने स्नेह से उनके देह पर हाथ फेरा । उस समय अनिरुद्ध ने हाथ जोड़ कर भगवान् से कहा—हे देवदेव । आप तो सभी युद्धों रुद्ध विजयी रहे हैं आपके सामने युद्ध करने में इन्द्र भी समर्थ नहीं हैं ॥११-१२॥ फिर अनिरुद्ध ने बलरामजी की प्रणाम किया और भगवान् श्रीकृष्ण और गरुड को भी प्रणाम करके अपने पिता प्रद्युम्न के चरणों में वन्दना की । १३-१५॥

सखीगणवृता चैव सा चोपा भवने स्थिता ।
 बल चातिबल चैव वासुदेव सुदुर्जयम् ॥१६॥
 अस ख्यातगतिं च व सुपण मभिवाद्य च ।
 पुष्पवाणधर चैव लज्जमानाऽभ्यवादयत् ॥१७॥
 तत शक्रस्य वचनान्नारद परमद्युति ।
 वासूदेवसमीप स प्रहसन्पुनरागत ॥१८॥
 वर्द्धापयति त देव गोविन्द शत्रुसूदनम् ।
 दिष्ट्या वर्द्धंति गोविन्द अनिरुद्धसमागसात् ॥१९॥
 ततोऽनिरुद्धसहिता नारदं प्रणता स्थिता ।
 आशीर्भवंर्द्धयित्वा च देवपि कृष्णमब्रवीत् ॥२०॥
 अनिरुद्धस्य वीर्याख्यो विवाहः क्रियता विभो ।
 जगत्त्रयमाणिकाटकं श्रद्धा दि मम जायते ॥२१॥

ततः प्रहसिताः सर्वे नारदस्य वचःश्रवात् ।

कृष्णः प्रोवाच भगवन्क्रियतामांशु मा चिरम् ॥२२

अनिरुद्ध के पीछे-पीछे उपा भी अपने सखियों के साथ उपस्थित हुई और उसने भी बलराम, कृष्ण, प्रद्युम्न और गरुड को प्रणाम किया ॥१६-१७॥ फिर इन्द्र के बहने से नारदजी श्रीकृष्ण के पास जाकर हँसते हुए बोले— हे मधुसूदन ! आज आपको अनिरुद्ध मिल गये हैं, इसलिये यह दिन परम सौभाग्य का है ॥१८-१९॥ फिर भगवान् श्रीकृष्ण ने अनिरुद्ध आदि के सहित आगे बढ़ कर नारदजी के चरण छुए और प्रणाम किया । तब नारदजी ने सब का आशीर्वाद देकर श्रीकृष्ण से कहा ॥२०॥ हे प्रभो ! आज यही उपा-अनिरुद्ध का विवाह कार्य सम्पन्न होना उचित है, क्योंकि मेरी इसके लिये बड़ी इच्छा है ॥२१॥ नारदजी के वचन सुन कर सभी उपस्थित जन हर्षित हुए और श्रीकृष्ण कहने लगे—हे भगवान् ! अब विलम्ब न करके, इस शुभ कार्य को आप ही सम्पन्न करें ॥२२॥

एतस्मिन्नन्तरे तात कुम्भाण्डः समुपस्थितः ।

वैवाहिकास्तु सभागंगृह्य कृष्ण नमस्य तु ॥२३

कृष्ण कृष्ण महाबाहो भव त्वमभयप्रदः ।

क्षरणाग्नोऽस्मि देवेश प्रसीद पोऽञ्जलिस्तव ॥२४

नारदस्य वच श्रुत्या सर्वे प्रागेव चाच्युतः ।

अभय यच्छते तस्मै कुम्भाण्डाय महात्मने ॥२५

कुम्भाण्ड मन्त्रिणा श्रेष्ठ प्रीतोऽस्मि तव सुप्रत ।

सुकृत ते विजानामि राष्ट्रिकोऽस्तु भवानिह ।

सज्ञातिपक्षः सुमुखी निवृत्तस्तु भवानिह ॥२६

राज्यं च ते भया दत्तं चिर जीव ममाश्रयात् ।

एवं दत्त्वा राज्यमस्मै कुम्भाण्डाय महात्मने ॥२७

विवाहमकरोत्तम्यानिरुद्धस्य जनार्दनः ।

ततश्चु भगवान्वह्निस्तत्र स्वयमुपस्थितः ॥२८

इस प्रकार की बातें हो ही रही थी, तभी विवाह की सब सामग्रियों के सहित कुम्भाण्ड ने वहाँ आकर भगवान् श्रीकृष्ण को प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर बहने लगा—हे महाबाहो ! आप मेरे लिये अभय दीजिये ! हे प्रभो ! मैं आपकी शरण में उपस्थित हुआ हूँ ॥२४॥ हे राजन् ! भगवान् ने नारदजी के मुख से कुम्भाण्ड का सब वृत्तान्त पहिले ही सुन लिया था और तभी वे उसे अभय देने का विचार स्थिर कर चुके थे ॥२५॥ इसलिये उन्होंने उससे कहा—हे कुम्भाण्ड ! तुम दंष्टराज के सभी मन्त्रियों में थोड़ा हो, नारदजी के मुख से मैं तुम्हारे विषय में पहिले ही सुन चुका हूँ इसलिये भी तुम पर प्रसन्न हूँ । अब तुम अपने बन्धु-बाधवों सहित शोणितपुर में रह कर यहाँ का अधिपत्य करो ॥ २६ ॥ इस पुत्री का राज्य मैंने तुम्हें पहिले से ही देने का निश्चय कर लिया था । इस प्रकार कुम्भाण्ड को राज्य प्रदान कर भगवान् ने उपा-अनिरुद्ध का विवाह कराया, उस समय अग्नि देव साक्षात् रूप में वहाँ आगये थे ॥२७-२८॥

स विवाहोऽद्धस्य नक्षत्रे च शुभेऽभवत् ।
ततोऽप्सरोगणश्चैव कीनुक कर्तुमुद्यतः ॥२६॥
स्नातस्त्वलकृतस्तप्त सोऽनिरुद्ध स्वभार्यया ।
ततः स्निग्धं शुभैर्वियैर्गन्धर्वैश्च जगुस्तदा ॥३०॥
नृत्यन्त्यप्सरसश्चैव विवाहमुाशोभयन् ।
ततो निर्वर्तयित्वा तु विवाहं शशुसूदनः ॥३१॥

फिर शुभ नक्षत्र में उनका विवाह हुआ । उस समय आमोद प्रमोद के लिये अनेको अप्सराएँ वहाँ आगई ॥२६॥ उपा, अनिरुद्ध दोनों ने स्नान कर थोड़ा वस्त्राभूषण पहिने, तब गन्धर्व और विद्याधर सुमधुर स्वर में गाने-बजाने लगे ॥३०॥ अप्सराएँ नाचने लगी । इस प्रकार अत्यन्त आनन्द पूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण ने उपा-अनिरुद्ध का विवाह सस्कार सम्पन्न करा लिया ॥३१॥

॥ श्रीकृष्ण और अनिरुद्ध का द्वारका-गमन ॥

अनिरुद्धस्य सुप्रज्ञः सर्वदेवगणैर्वृतः ।

आमन्त्र्य वरदं तत्र रुद्रं देवनमस्कृतम् ॥१॥

चकार गमने वृद्धिं कृष्ण परपूरजय ।
 द्वारकाभिमुख कृष्ण ज्ञात्वा शत्रुनिपूदनम् ॥२॥
 कुम्भाण्डो वचनं प्राह प्राञ्जलिमं सुपूदनम् ।
 बाणस्य गावस्त्रिंशन्ति हस्ते तु वरुणस्य वै ॥३॥
 यासाममृतकल्पं वै क्षीरक्षरति माधव ।
 तत् पीत्वाऽतिवलश्चैव नरो भवति दुर्जय ॥४॥
 कुम्भाण्डेनैवमायाते हरिः प्रीतमनास्नदा ।
 गमनाय मतिं चक्रे गन्तव्यमिति निश्चयम् ॥५॥
 जगाम ब्रह्मलोकं स वृत्तस्वभवनालये ॥६॥
 इन्द्रो मरुद्गणयुतो द्वारकाभिमुखो ययौ ।
 यतः कृष्णस्ततः सर्वे गच्छन्ति जयकाक्षिण ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! अनिरुद्ध का विवाह कार्य सम्पन्न होने पर सब देवताओं के सहित श्रीकृष्ण ने भगवान् रुद्रदेव को नमस्कार कर द्वारकापुरी जाने का विचार किया । यह देख कर कुम्भाण्ड ने हाथ जोड़ कर उनसे कहा—हे मधुसूदन ! मुझे आपसे यह निवेदन करना है कि बाणासुर की गौओं पर वरुण ने अधिकार कर रखा है । उनके थनो से अमृत के समान दूध निकलता है, जिसको पान करने वाला पुष्प महाबली और अजेय हो जाता है ॥ १४ ॥ कुम्भाण्ड की बात सुन कर श्रीकृष्ण ने वरुण लोक के लिये प्रस्थान करने का विचार स्थिर किया ॥ ५ ॥ इसके पश्चात् ब्रह्माजी ने श्रीकृष्ण की स्तुति की और अपने लोक को चले गये ॥ ६ ॥ मरुद्गण आदि देवताओं के साथ इन्द्र तथा और भी कृष्णपक्ष के जो पुरुष क्षीणितपुर आये थे, वे सभी द्वारका की ओर चल दिये ॥ ७ ॥

बाहनेन मयूरेण सखिभिः परिवारिता ।
 द्वाग्वाभिमुखी ह्युपादेव्या प्रस्थापिता ययौ ।
 ततो वलश्च वृष्णश्च प्रद्युम्नश्च महानल ॥८॥

आरुढन्तो गरुडमनिरुद्धश्च वीर्यवान् ।
 प्रस्थितश्च स तेजस्वी गरुडः पततां वरः ॥८॥
 उन्मूलयंस्तरगणान्कम्पयश्चापि मेदिनीम् ।
 आकुलाश्च दिशः सर्दा रेणुध्वस्तमिवाम्बरम् ॥९॥
 गरुडे संप्रयातेऽमून्मन्दरश्मिदिवाकरः ।
 ततस्ते दीर्घमध्वानं प्रययुः पुरुषर्षभाः ॥१०॥
 आरुह्य गरुड सर्वे जित्वा वाणं महौजसम् ।
 ततोऽम्बरतलस्थास्ते वारुणी दिशमास्थिताः ॥११॥
 अपश्यन्त महात्मानो गावो दिव्यपय प्रदाः ।
 वेलावनविचारिण्यो नानावर्णाः सहस्रशः ॥१२॥
 अवज्ञाय तदा रूपं कुम्भाण्डवचनाश्रयात् ।
 कृष्णः प्रहरता श्रेष्ठस्तत्त्वतोऽर्थविशारदः ॥१३॥
 निशम्य वाणगावस्तु तासु चक्रे मनस्तदा ।
 आस्त्यतो गरुडं प्राह स तु लोकादिरव्ययः ॥१४॥

उपा को उसकी सब सखियों के सहित मयूर वाहन पर चढ़ा कर द्वारका के लिये विदा किया गया, फिर वनराम, कृष्ण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध गरुड पर आरुढ होकर चल दिये । उस समय गरुड के पंखों के बेग से वृक्ष उखड़ने लगे, पृथिवी कपित होने लगी, दिशाएँ व्याकुल हुईं तथा आकाश में धूल ही धूल छागई ॥८-१०॥ गरुड के चलने पर सूर्य रश्मियाँ निष्प्रभ हो गईं । इस प्रकार बाणासुर विजेता भगवान् गरुड के द्वारा आकाश में पहुँच कर उत्तर की ओर बढ़े ॥११-१२॥ मार्ग में ही उन्हें विभिन्न वर्णों की हजारों गौएँ समुद्र तट पर चरती हुई दिखाई पड़ी ॥१३॥ श्रीकृष्ण ने कुम्भाण्ड से उन गौओं का वृत्तान्त सुन कर ही उन्हें प्राप्त करने का निश्चय कर लिया था । इसलिये उन्हें देखते ही गरुड से श्रीकृष्ण बोले ॥१४-१५॥

वैनतेय प्रयाहि त्वं यत्न बाणस्य गोघनम् ।

यासा पीत्वा किल क्षीरममृतत्वमवाप्नुयात् ॥१६॥

आह मा सत्यभामा च वाणगावो ममानय ।
 यासा पीत्वा किल क्षीरं न जीर्यन्ति महासुरा ॥१७
 विज्वराश्च जरास्त्यक्त्वा भवन्ति किल जन्तव ।
 ता आनयस्व भद्र ते यदि धर्मो न लुप्यते ॥१८
 अथवा कार्यलोपो वै मैव तासु मन कृया ।
 इति मामग्रवीत्सत्या ताश्चैता विदिता मम ॥१९
 दृश्यन्ते गाव एतास्ता दृष्ट्वा मा वरुणालयम् ।
 विद्वान्ति सहसा सर्वा कार्यमग्न विधोयताम् ॥२०
 इत्युक्त्वा चैव गरुड पक्षवातेन सागरम् ।
 सहसा क्षोभयित्वा च विवेश वरुणालयम् ॥२१
 दृष्ट्वा ज्वन गरुड प्रात वै वरुणालयम् ।
 वारुणाश्च गणा सर्वे विभ्रान्ता प्राचत्भस्तदा ॥२२
 ततस्तु वारुण सैन्यमभिज्ञातु सुदुर्जयम् ।
 प्रमुखे वासुदेवस्य नानाप्रहरणोद्यतम् ।
 तद्युद्धमभवद्घोर वारुणं पन्नगारिणा ॥२३

श्रीकृष्ण बोले—हे वैनतय ! वह देखो, जिनके दुग्धपान से ही अमरता मिल सकती है वे वाणासुर की गौएँ यही हैं । सत्यभामा ने कहा था कि वाणासुर की कुछ गौओं के दूध में यह त्रिशेपना है कि उसे पीकर देवगण अजर, अमर और रोग भुक्त्वा ह्रा जाते हैं यदि किसी प्रकार धर्म नष्ट न होता हो तो उन्हें लेते आइय । इसलिए तुम उन गौओं के पास जाओ ॥१६ १६॥ इस पर गरुड ने कहा—हे प्रभो ! मैं उन गौओं को देख लिया है । परन्तु यदि वे गौएँ मुझे देव कर वरुणालय में घुस गई तब क्या बर्त्तव्य होगा ? ॥२०॥ यह कहते हुए गरुड अपने पक्ष की वायु से समुद्र को क्षोभित करते हुए उसमें प्रविष्ट हो गय ॥२१॥ उन्हें वेग पूर्वक आया देख कर वरुण के गण विचलित हो उठे और शस्त्रास्त्र ग्रहण करके भगवान् वासुदेव के सामने आगये । फिर उनका गरुड से घोर संग्राम होने लगा ॥२२ २३॥

तेपामापतता सख्ये वारुणाना सहस्रश ।
 भग्न बलमनाधृष्यं केशवेन महात्मना ॥२५॥
 ततस्ते प्रद्रुता यान्ति तमेव वरुणालयम् ।
 पष्टि रथसहस्राणि पष्टि रथशतानि च ॥२६॥
 वारुणानि च युद्धानि दीप्तशस्त्राणि सयुगे ।
 तद्बल बलिभि शूरैर्बलदेवजनार्दन ॥२७॥
 प्रद्युम्नेनानिरुद्धेन गरुडेन च सर्वश ।
 शरौघैर्विविधैस्तीक्ष्णैर्वन्ध्यमान समन्तत ॥२८॥
 ततो भग्न बल दृष्ट्वा कृष्णेनाकिलष्टकर्मणा ।
 वरुणस्त्वथ सक्रुद्धो निर्ययी यत्र केशव ॥२९॥
 ऋषिभिर्देवगन्धर्वैस्तयेवाप्सरसा गणैः ।
 सस्तूयमानो बहुधा वरुण प्रत्यदृश्यत ॥३०॥
 छत्रेण ध्रियमाणेन पाण्डुरेण वपुष्मता ।
 सलिलस्त्राविणा श्रेष्ठ चापमुद्यम्य धिष्ठित ॥३१॥

उस समय अकेले श्रीकृष्ण ने ही वरुण के हजारों सैनिकों को मार
 भगाया । सभी वरुण के साथ हजार रथी वीर उतने ही रथों पर चढ़ कर वहाँ
 आये । उन सब के पास विभिन्न प्रकार के चम-चमाते हुए शस्त्रास्त्र थे । उस
 सना को रण में सामना करती हुई देख कर बलराम, कृष्ण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध
 और गरुड ने अपने तीक्ष्ण वाणों की वर्षा से मार कर भगा दिये । उनकी ऐसी
 दशा देख कर वरुण को अत्यन्त क्रोध हुआ और वे तुरन्त ही श्रीकृष्ण के सामने
 पहुँचे ॥२५-२८॥ उस समय ऋषि, देवता, गन्धर्व, अप्सरा आदि उनके पीछे
 पीछे स्तुति करते हुए चल रहे थे ॥२९॥ उनके भस्तक पर जल धारमय श्वेत
 छत्र और हाथों में श्रेष्ठ धनुष सुशोभित था ॥३०॥

अपापतिरतिक्रुद्ध पुनर्षीत्रवलान्वित ।
 आह्वयन्निव युद्धाय विस्फारितमहाधनु ॥३१॥

स तु प्राध्मापयच्छंखं वरुणः समधावत ।
 हरिं हर इव क्रद्धो बाणजालैः समावृणोत् ॥३२
 ततः प्रध्माय जलजं पाञ्चजन्यं जनार्दनः ।
 बाणजालैर्दिशः सर्वास्ततश्चक्रे महाबलः ॥३३
 ततः शरीर्घं विमलं वरुणः पीडितो रणे ।
 स्मयन्निब ततः कृष्ण वरुणः प्रत्ययुध्यत ॥३४
 ततोऽस्त्रं वैष्णव घोरमभिमन्याहवे स्थितः ।
 वासुदेवोऽब्रवीद्वाक्यं प्रमुखे तस्य धीमतः ॥३५
 इदमस्त्रं महाघोरं वैष्णव शत्रुसूदनम् ।
 मयोद्यत वधार्थं ते तिष्ठेदानीं स्थिरो भव ॥३६
 ततोऽस्त्रं वरुणो देवो ह्यस्त्रं वैष्णवमुद्यतः ।
 वारुणास्त्रेण स योज्य विननाद महाबलः ॥३७

इस प्रकार अपने पुत्र-पौत्रादि के सहित आये हुए वरुण ने घनुष की
 टकोर कर अपने युद्धोन्मुख होने की सूचना दी और फिर अपने शस्त्र को बजा
 कर श्रीकृष्ण की ओर वेगपूर्वक झपटे तथा रुद्रदेव के समान भीषण बाण-वृष्टि
 करके उन्होंने श्रीकृष्ण को सब ओर से ढक दिया ॥३१-३२॥ तब श्रीकृष्ण ने
 भी अपने पाञ्चजन्य शस्त्र की ध्वनि करके जो विकराल बाण-धर्पा की उससे सभी
 दिशाएँ त्रस्त हो गई ॥३३॥ श्रीकृष्ण के उन बाणों से अत्यन्त व्याकुल होते हुए
 भी वरुण उनसे निरन्तर युद्ध कर रहे थे ॥३४॥ तभी भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने
 वैष्णवास्त्र को अभिमन्त्रित करके वरुण से कहा—हे वरुण ! अब तुम्हें नष्ट करने
 के लिये मुझे इस वैष्णवास्त्र का प्रयोग करना पड़ेगा । इसलिये, अब तुम साव-
 धानी से युद्ध करो ॥ ३५-३६ ॥ यह सुन कर उस वैष्णवास्त्र को नष्ट करने के
 विचार से वरुण ने सिंहनाद करके अपने वारुणास्त्र का सधान किया ॥३७॥

तस्यास्त्रे वितता ह्यापो वरुणस्य विनि सृताः :
 वैष्णवास्तस्य शमने वर्त्तंते समितिजयः ॥३८
 आपस्तु वारुणास्तस्य क्षिप्ता क्षिप्ता ज्वलन्ति वै ।
 दहन्ते वारुणास्तत्र ततोऽस्त्रे ज्वलिते पुनः ॥३९

वैष्णवे तु महावीर्ये दिशो भीता विदुद्रुवुः ।
 तत्र तज्ज्वलितं दृष्ट्वा वरुणः कृष्णमब्रवीत् ॥४०॥
 स्मर स्वप्रकृतिं पूर्वमिव्यवतां व्यक्तलक्षणाम् ।
 तमो जहि महाभाग तमसा मुह्यसे कथम् ॥४१॥
 सत्त्वस्थो नित्यमासीस्त्वं योगीश्वर महामते ।
 पञ्चभूताश्चयान्दोषानहकारं च वर्जय ॥४२॥
 या ते वैष्णवी मुतिस्तस्या ज्येष्ठो ह्यहं तव ।
 ज्येष्ठभावेन मान्यं तु नि मां स्व दग्धुमिच्छसि ॥४३॥
 नाग्निर्विक्रमते ह्यग्नौ त्यज कोप युधां वर ।
 स्वयि न प्रमविध्यामि जगतः प्रभवो ह्यसि ॥४४॥
 पूर्वं हि या त्वया सृष्टा प्रकृतिर्विकृतात्मिका ।
 धर्मिणी धीजभावेन पूर्वं धर्मं समाश्रिता ॥४५॥

उस समय वारुणास्त्र से भीषण जल धाराएँ निकल कर वैष्णवास्त्र को निवारण करने के प्रयत्न में लगी, परन्तु उससे ज्यो-ज्यो जल निकल कर वैष्णवास्त्र पर पड़ता था, त्यो-त्यो वह और भी धक्कता जा रहा था। इस प्रकार वारुणास्त्र की जल धाराओं को क्षीण करके वैष्णवास्त्र भयंकर रूप में प्रज्वलित हो उठा, जिसके कारण वरुण की सेना भस्म होने लगी ॥३८-३९॥ उस समय सभी दिशाएँ भयभीत हो गईं और घोर विपत्त की स्थिति उत्पन्न होगई, यह देख कर वरुण ने कहा—हे महाभाग ! आप इस प्रकार तमसा क्यों कर रहे हैं ? आप अपने पूर्व स्वरूप का स्मरण करके इस तमोगुण का परित्याग करिये ॥४०-४१॥ योगेश्वर ! अब आप पंचभूतों के आश्रित अहंकारादि का त्याग करके सत्त्वगुण को धारण करिये ॥४२॥ आपके दृश्यमान वैष्णव स्वरूप का मैं ज्येष्ठ स्वरूप हूँ, फिर आप मुझे भस्म करने का प्रयत्न क्यों कर रहे हैं ? ॥४३॥ अग्नि अपने पराक्रम को अग्नि पर ही कभी प्रकट नहीं करता, आप इस विश्व के कारण रूप हैं, आप पर मैं तो क्या, कोई भी प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ नहीं है। इसलिये, अब आप अपने क्रोध को छोड़ दीजिये ॥४४॥ पहिले आपने

जिस कार्यभूत माया की रचना की थी, वही माया इस समय इस विश्व की कारणरूप होगई है ॥४५॥

आग्नेयं वैष्णवं सौम्यं प्रकृत्यै वेदमादितः ।
 त्वया सृष्टं जगदिदं स कथं मयि वर्तते ॥४६॥
 अजेयः शाश्वतो देहः स्वयंभूतभावनः ।
 अक्षरं च क्षरं चैवं भावाभावा महाद्युते ॥४७॥
 रक्ष मां रक्षणीयोऽहं त्वयाऽनघ नमोऽस्तु ते ।
 आदिकेर्त्ताऽसि लोकानां त्वयैतद्वहुलीकृतम् ॥४८॥
 विक्रीडसि महादेव बालः क्रीडनकर्त्तिव ।
 न ह्यहं प्रकृतिद्वेषी नाहं प्रकृतिदूषकः ॥४९॥
 प्रकृतिर्या विकारेषु वर्तते पुष्पपत्रम् ।
 तस्या विकारशमने वर्तते त्वं महाद्युते ॥५०॥
 विकारो वा विकाराणां विकाराय न तेऽनघ ।
 तानघर्मविदो मन्दान्मवान्विकुप्ते सदा ॥५१॥
 इदं प्रकृतिजं दोषैस्तमसा मुह्यते यदा ।
 रजसा वापि संस्पृष्टा तदा मोहः प्रवर्तते ॥५२॥
 परावरजः सर्वज्ञ ऐश्वर्यविधिमास्थितः ।
 किं मोहयसि नः सर्वान्प्रजापतिरिव स्वयम् ॥५३॥

आपने ही आग्नेय, वैष्णव और सौम्य प्रकृति-युक्त जगत् को रचा है फिर आप ही अर्पणी मृष्टि के सामने ऐसे भयंकर अस्त्रों का प्रदर्शन करेंगे तो यह जीवित किंग प्रकार रह सकती है ? ॥४६॥ आप अजेय, शाश्वत, स्वयंभू, भूतभावन, अक्षर, क्षर एवं सर्वत्र स्थित हैं ॥४७॥ हे प्रभो ! मैं तो आपके द्वारा रचा किये जाने के योग्य हूँ । हे सौम्य के वर्त्ता जगदीश्वर ! आपको नमस्कार है । आप एक से अनेक होने की सामर्थ्य वाले हैं ॥४८॥ जैसे वातज तिलोनों के तप से नष्ट हैं, वैसे ही आप इस विश्व रूप तिलोनों से भेसते हैं । परन्तु, आपके ग भेस का प्रयोजन नमस्त में नहीं आता ॥४९॥ जब प्रकृति में कोई विकार

उत्पन्न हो जाता है, तब उस विकार को दूर करने के लिये ही आप अवतीर्ण होते हैं ॥५०॥ आप मे क्रोधादि विकारों की प्रवृत्ति केवल दुष्टों और अर्धामिकों के भले प्रकार मर्दन करने के निमित्त ही होती है ॥५१॥ इस विश्व के रजोगुण और तमोगुण से व्याप्त हो जाने पर ही मोह की अवतारणा होती है ॥५२॥ हे सर्वज्ञ ! आप ऐश्वर्य में स्थित होकर प्रजापति के समान हम सब को मोहित क्यों कर रहे हैं ? ॥५३॥

वरुणेनैवमुक्तस्तु कृष्णो लोकपरायण ।
भावज्ञ सर्ववृद्धीरस्ततः प्रीतमना ह्यभूत् ॥५४॥
इत्येवमुक्त कृष्णस्तु प्रहसन्वाक्यमब्रवीत् ।
गावः प्रयच्छ मे वीर शान्त्यर्थं भीमविक्रम ॥५५॥
इत्येवमुक्त कृष्णेन वाक्यं वाक्यविशारदः ।
वरुणो ह्यब्रवीद्भूय शृणु मे मधुसूदन ॥५६॥
वाणेन सार्धं समयो मया देव कृतः पुरा ।
कथं च समयं कृत्वा कुर्याद्विफलमन्यथा ॥५७॥
एवमेव वेद सर्वस्य यथा समयभेदकः ।
चारिन्नं दुष्यते तेन न च सद्भिः प्रशस्यते ॥५८॥
धर्मभार्गेर्नरो नित्यं वर्ज्यते मधुसूदन ।
न च लोकानवाप्नोति पापः समयभेदकः ॥५९॥
प्रसीद धर्मलोपश्च मा भूमे मधुसूदन ।
न मा समयभेदेन योक्तुमर्हसि माधव ॥६०॥
जीवन्नाहं प्रदास्यामि गावो वै वृषभेक्षण ।
हत्वा नयस्व मा गाव एष मे समयः पुरा ॥६१॥
एतच्च मे समाख्यात समयं मधुसूदन ।
सत्यमेव महाबाहो न मिथ्या तु सुरेश्वर ॥६२॥
यद्येवाहमनुग्राह्यो रक्ष मा मधुसूदन ।
अयं वा गोपु निर्वन्धो हत्वा नय महाभु

वरुण के वचन सुन कर लोक परायण भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर कहा—हे भीम विक्रम वरुण ! इस वर्तमान केश की शान्ति के लिये बाणासुर की गोआ को लाकर हमें दे दो ॥ ५४-५५ ॥ इस पर बाणी विशारद वरुण ने उनसे कहा—हे मधुसूदन ! इससे पहिले ही बाणासुर के और मेरे मध्य जो सन्धि हुई थी, उसका उल्लंघन करने में मैं असमर्थ हूँ ॥ ५६ ॥ क्योंकि नियम भग करने वाला पुराण लोक में निन्दित और श्रेष्ठ लोका का अधिकारी नहीं होता ॥ ५८-५९ ॥ इसलिये आप मुझ पर प्रसन्न होकर ऐसा उपाय करिये जिससे मुझे वचन भग का दोष न लगे ॥ ६० ॥ अपने प्राण के रहते हुए उन गौओं को मैं कदापि नहीं दे सकता, यदि आप उन्हें ले जाना चाहते हैं तो पहिले मुझे नष्ट कर दीजिये ॥ ६१ ॥ इस प्रकार जो यथार्थ बात थी वह आपसे कह चुका हूँ ! अब आप चाहें तो मेरी रक्षा करें अथवा मेरा वध करें गौओं को प्राप्त कर लें ॥ ६२-६३ ॥

वरुणेन वमुक्तस्तु यदूना वशवदूना ।
 अभेद्य समय मत्वा न्यस्तवादो गवा प्रति ॥६४
 स प्रहस्य ततो वाक्य व्याजहारार्थकोविद ।
 तस्मा-मुक्तोऽसि यद्येव वाणेन समय कृत ॥६५
 प्रश्रितमंधुरं वीर्यं तत्त्वार्थमधुभाषितं ।
 कथं पापं करिष्यामि वरुण त्वय्यहं प्रभो ।
 गच्छ मुक्तोऽसि वरुण सत्यसघोऽसि नो भवान् ॥६६
 त्वत्प्रियार्थं मया मुक्ता वाणगावो न सशय ।
 ततस्तूर्यनिनादं च भेरीणां च महास्वनं ॥६७
 अर्घमादाय वरुण केशव प्रत्यपूजयत् ।
 केशवोऽर्घं तदा गृह्य वरुणाद्यदुनन्दन ॥६८
 बलं चापूजयद्देव कुशलीव समाहित ।
 वरुणायाभयं दत्त्वा वासुदेवं प्रतापवान् ॥६९
 द्वारकां प्रस्थितः शौरिः शचीपतिसहायवान् ।
 ततः देवा समस्त ससाध्या सिद्धचारणा ॥७०

गन्धर्वाप्तरसश्चैव किन्नराश्चान्तरिक्षगाः ।

अनुगच्छन्ति भूतेशं सर्वभूतादिमव्ययम् ॥७१॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! वरुण की बात सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण ने उनका वचन भग न होने देना ही उचित समझा और अन्त में उन्होंने कहा—हे वरुण ! यदि आपकी बाणासुर से इस प्रकार की सधि थी तो मैं उसे नहीं तोड़ूँगा ॥ ६४-६६॥ आपकी रक्षा के लिये बाणासुर की गोएँ मैंने छोड़ दी, अब आप अपने इच्छित स्थान को जाने में स्वतन्त्र हैं । यह सुन कर वरुणा ने प्रसन्न होकर तुरही और भेरी की ध्वनि के साथ भगवान् की अर्धं भेंट किया और उनका पूजन किया । इस प्रकार वरुणा को अमयदान देकर इन्द्रादि के सहित ह्वाजा जा पहुँचे । उस समय सभी देवता, मरुद्गण, साध्य गंधर्व, अप्सरा, किन्नर तथा आकाश में विचरण करने वाले सब प्राणी उनसे पीछे पीछे चल रहे थे ॥ ६७-७१ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ यक्षगक्षमा ।

विद्याधरगणश्चैव ये चान्ये सिद्धचारण ।

गच्छन्तमनुगच्छन्ति यशमा विजयेन च ॥७२॥

नारदश्च महाभाग प्रस्थितो द्वारका प्रति ।

तुल्यो वाणजय दृष्ट्वा वरुणं च कलिप्रिय ॥७३॥

कैलासशिखरप्ररयं प्रासादं वन्दरै शुभै ।

दूरान्निशम्य मधुहा द्वारका द्वारमालिनीम् ॥७४॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं चक्रं चक्रगदाधर ।

सज्ञा प्रयच्छते देवो द्वारकापुरवासिनाम् ॥७५॥

देवानुयाननिर्घोषं पाञ्चजन्यस्य नि स्वनम् ।

श्रुत्वा द्वारवती सर्वे प्रहर्षं मनुज गता ॥७६॥

पूर्णकुम्भश्च लाजेश्च बहुविन्स्तविस्तरे ।

द्वारोपशोभिता कृत्वा सर्वा द्वारवती पुरीम् ७७

आदित्य वसु, रुद्र, अश्विद्वय, यक्ष, राक्षस सिद्ध, नारद आदि के द्वारा श्रीकृष्ण

की विरुदावलि गाई जा रही थी ॥७२॥ देवपि नारद भी बाणासुर को जीतने और वरुण पर उपकार करने वाली लीलाओं को देखकर प्रसन्न होते हुए उनके साथ-साथ चल रहे थे ॥ ७३ ॥ कैलाश शिखर के समान ऊँची अट्टालिकाओं वाली द्वारकापुरी को दूर से देखकर भगवान ने अपने पाञ्चजन्य शंख की ध्वनि की ॥७४-७५॥ उस ध्वनि को सुन कर भगवान के द्वारका आगमन की सूचना पाकर द्वारकावासी अत्यंत हर्षित हुए ॥ ७६ ॥ सम्पूर्ण नगरी कलश धान और विविध पुष्पमालाओं से सुसज्जित की गई थी, इस प्रकार प्रत्येक द्वार पर अनेकों मागलिक पदार्थ शोभा दे रहे थे ॥ ७७ ॥

सुश्लिष्टरथ्यां सश्रीकां बहुरत्नोपशोभिताम् ।
 विप्राश्चाथ' समादाय यथैव कुलन'गमाः ॥७८
 जयशब्दैश्च विविधैः पूजयन्ति स्म माधवम् ।
 वैनतेये तमासीन' नीलाञ्जनचयोपमम् ॥७९
 बवन्दिरे तदा कृष्णं श्रिया परमया युतम् ।
 तमानुपूर्व्या पूर्णाश्च पूजयन्ति महाबलम् ॥८०
 अनन्त' केशिहन्तारं श्रेष्ठिपूर्वाश्च श्रेणयः ।
 अपिभिर्देवगन्धर्वैश्चारुणश्च समन्ततः ॥८१
 स्तूयते पुण्डरीकाक्षो द्वारकोपवने स्थितः ।
 तदाश्चर्यमपश्यन्त दाशार्हगणसत्तमाः ॥८२
 प्रहर्षमतुलं प्राप्ता दृष्ट्वा कृष्णं महाभुजम् ।
 बाणं जित्वा महादेवमायान्तं पुरुषोत्तमम् ॥८३
 द्वारकावासिनां वाचश्चरन्ति बहुधा तदा ।
 आप्ते कृष्णे महाभागे यादवानां महारथे ॥८४
 गत्वा च दूरमध्वानं सुपर्णो द्रुतमागतः ।
 ग्रन्याः स्मोऽनुगृहीताः स्मो येषां वै जगतः पिता ॥८५

शरणा के सभी मार्ग रत्नमालादि से सजाये गये थे, ब्राह्मण धर्म्य पात्र शस्ति-पाठ करने लगे और बन्दीजनों ने स्तुति-गान का प्रारम्भ किया

॥ ७८-८० ॥ सभी वलों के पुरवागो जगो ने पतिव्रत होकर उत्तम पूजन प्रारम्भ किया । भगवान् श्रीकृष्ण जैसे ही द्वारका के उपवन में आये वैसे ही ऋषि, देवता, गणवं और चारुणादि ने स्तोत्र प्रारम्भ किया, उक्त समय द्वारका वासी अत्यन्त हर्षित और विस्मित हो रहे थे तथा सभी लोग तदपर में बह रहे थे कि भगवान् श्रीकृष्ण बाणामुख को जीत कर आये हैं, जब वे जगदीश्वर स्वयं ही हमारी रक्षा और पालन करते हैं, तो हमारे ममान घन्य एवं अनुपहृत और शून्य हो सकता है ? ॥८१-८५॥

रक्षिता र्वं गोप्ता च दीर्घं वाहमंहाभुज ।
 वैनतेय समारह्य जित्वा बाण सुदुर्जयम् ॥८६॥
 प्राप्तोऽप्य पुण्डरीवाक्षो मनास्वाह्लादयन्निव ।
 एव कथयतामेव द्वारकावासिना तदा ॥८७॥
 वासुदेवगृहं देवा विविशुस्त महारथाः ।
 अवतीर्य सुपर्णात्तु वासुदेवो यत्नस्तदा ॥८८॥
 प्रद्युम्नश्च निरुद्धश्च गृहान्प्रविविशुस्तदा ।
 ततो देवविमानानि स चरन्ति तदा दिवम् ॥८९॥
 अवस्थितानि दृश्यन्ते नानारूपाणि सर्वशः ।
 हसर्पममृगैर्नागैर्गजैस्तारसर्वाहणैः ।
 भास्वन्ति तानि दृश्यन्ते विमानानि सहस्रशः ॥९०॥

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हमारे रक्षक हैं, आज वे बाणामुख को पराजित करके अपने गह्वर वाहन से यहाँ पधार कर हमारे हृदयों को सुख प्रदान करेंगे । द्वारका की जनता में इस प्रकार का वार्तालाप चल रहा था, सभी गह्वर की पंठ से उतर कर महारथी, चत्तराम, कृष्ण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भगवान् वासुदेव के भवन में गये । उस समय देवताओं के सहस्रों दिव्य विमान आकाश में छा रहे थे । वे विमान हंस, ऋषभ, मृग, नाग, अश्व, सारस और मयूर आदि के आकार के तथा अत्यन्त शोभायुक्त थे ॥८६-९०॥

अथ कृष्णोऽब्रवीद्वाक्यं कुमारस्तान्सहस्रशः ।
 प्रच्छुम्नादीन्समन्ताम् ॥ १५१ ॥ श्लक्ष्णं मधुरयागिरा ॥ ६१
 एते रुद्रास्तथादित्या वसवोऽथाश्विनावि ।
 साध्या देवास्तथाऽन्ये च वन्दध्वं च यथाक्रमम् ॥ ६२
 सहस्राक्षं महाभाग दानवानां भयकरम् ।
 वन्दध्वं सहिता शक्र सगणं नागवाहनम् ॥ ६३
 सप्तर्षयो महाभाग भृश्वार्ङ्गसमाश्रिताः ।
 अप्यप्यस्य महात्मानो वन्दध्वं च यथासुखम् ॥ ६४
 एते चक्रधराश्चैव तान्वन्दध्वं च सर्वशः ।
 सागराश्च ह्लादाश्चैव मत्प्रियार्थमिहागताः ॥ ६५
 दिशश्च विदिशश्चैव वन्दध्वं च यथाक्रमम् ।
 वासुकिप्रमुखाश्चैव नागा वै सुमहाबलाः ॥ ६६
 गावश्च मत्प्रियार्थं वै वन्दध्वं च यथाक्रमम् ।
 ज्योतीषा सह नक्षत्रैर्यक्षगणैश्च किन्तरे ॥ ६७
 आगता मत्प्रियार्थं वै वन्दध्वं च यथाक्रमम् ।
 वासुदेवश्च श्रुत्वा कुमारं प्रणता स्थिता ॥ ६८
 यथाक्रमेण सर्वेषां देवानां महात्मनाम् ।
 सर्वान्दिवीकसो दृष्ट्वा पीरा विस्मयमागताः ॥ ६९
 पूजयार्थमथ समागन्प्रगृह्य द्रुतमगताः ।
 अहो सुमहदाश्चर्यं यामुदवस्थ मथयात् ॥ ७० ॥

उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण ने वहाँ उपस्थित महत्सो यादव कुमारों की
 सटप बरबे कहा—हूँ युवको । इस समय रुद्र, आदित्य, यमु, अश्विद्वय, साध्य,
 देवता, इन्द्र, सप्तर्षि, महर्षि, चक्रधर, गमुद्र, सरोवर, दिना, विदिना, वासुकि
 आदि नाग, धेनु, नक्षत्र, यक्ष, राक्षस और किन्तरे आदि हमारी गुरा वृद्धि के
 हेतु यहाँ पधारे हैं । इसलिये, तुम इन गवकी वन्दना करो । यह गुरु गुरु उन
 सभी युवका ने उन गव की एक एक बरबे वन्दना की । उन देवताओं की इस
 प्रकार यहाँ आये दस बर सभी द्वारवासी भी अत्यन्त विस्मित हुए और उन्होंने

पूजन-सामग्री एकत्र की और परस्पर में कहने लगे कि भगवान् श्रीकृष्ण के आश्रय में रह कर हमने यह अत्यन्त विस्मयजनक दृश्य देखा ॥८१-१००॥

प्राप्यते यदिहास्माभिरिति वाचश्चरन्त्युत ।
ततश्चन्दनचूर्णञ्च गन्धपुष्पञ्च सर्वशः ॥१०१॥
किरन्ति पौराः सर्वास्तान्पूजयन्तो दिवौकसः ।
तज्जैः प्रणामैर्धूपैश्च दाह्यध्वनियमैस्त्वया ॥१०२॥
द्वारकावासिनः सर्वे पूजयन्ति दिवौकसः ।
आहुकं वासुदेवं च साम्बं च यदुनन्दनम् ॥१०३॥
सात्यकिं चोत्मुकं चैव विपृथुं च महाबलम् ।
अक्रूरं च महाभागं तथा निपद्यमेव च ॥१०४॥
एतान्गन्धर्वज्य तदा भूर्ध्नि चाध्याय वासवः ।
अथ ज्ञात्वा महाभाग समक्षं गदुमण्डले ॥१०५॥
स्तुवन्तं केशिहन्तारं तत्रोवाचोत्तरं वचः ।
सात्वतः सात्वतामेव सर्वेषां यदुनन्दनम् ॥१०६॥
मोक्षयित्वा रणे चैव यशसा पौरुषेण च ।
महादेवस्य मिषतो गुहस्य च महात्मनः ॥१०७॥
एष बाणं रणे जित्वा द्वारकां पुनरागतः ।
सहस्रबाहोर्बाहूना कृत्वा द्वयमनुत्तमम् ॥१०८॥

इस प्रकार हविष और विस्मित हुए पुर वासियो ने उन देवताओं पर चन्दन, पुष्प एवं गन्ध आदि की वर्षा की। धान अर्पित किया, धूप प्रदान की, किर प्रणाम और स्तुति-गायन आदि किया ॥१०१-१०२॥ इस प्रकार द्वारका वासियों से पूजित इन्द्र ने आहुक, वासुदेव, साम्ब, उत्तमुक, विपृथु, अक्रूर और निपद्य का आलिङ्गन किया और उनके मस्तकों को सूँघ कर सभी यादवों से कहने लगे— हे यादवगण ! तुम्हारे श्रीकृष्ण ने भगवान् रुद्र और स्वामि फातिकेय से युद्ध किया तथा बाणासुर को हरा कर यह यहाँ आये हैं। बाणासुर की हजार भुजाओं में से केवल दो भुजाएँ ही इन्होंने शेष छोड़ी थी ॥१०३-१०८॥

स्वापयित्वा द्विवाहुत्वे प्राप्तोऽयं स्वपुरं हरिः ।
 यदर्थं जन्म कृष्णस्य मानुषेषु महात्मनः ॥१०८॥
 तदप्यवमितं कार्यं नष्टशोका वयं कृताः ।
 पितृता मधु माध्वीकं भवता प्रीतिपूर्वकम् ॥११०॥
 कालो यास्यत्यविरसं विषयेष्वेव त्यज्यताम् ।
 बाहुना सश्रयात्सर्वे वयमस्य महात्मनः ॥१११॥
 प्रणष्टशोका र स्वामः सर्वे एव यथामुत्तमः ।
 एव स्तुत्वा सहस्राक्षं केतव दानवान्तकम् ॥११२॥
 आपृच्छत्य तं महाभागः सर्वदेवगणं धृतः ।
 ततः पुनः परिव्रज्य कृष्णं लोकनमस्कृतम् ।
 पुरन्दरो दिव यात सह देवमरुद्गणैः ॥११३॥
 ऋषयश्च महारथानो जघाशोऽभिर्महोजसम् ।
 यथागतं पुनर्याता यक्षराक्षसकिन्नराः ॥११४॥

जिस कार्य के लिये इ होने मनुष्य देह धारण किया था, वह कार्य प्रायः पूर्ण होगे । हमारे भी मकट नष्ट होगये, अब आप सभी भान द पूर्वक यहाँ नियास करो ॥ १०८-११० ॥ इनके बाहुवत् के आश्रय में सब मुख से रहेंगे । इस प्रकार कहते हुए इन्द्र ने श्रीकृष्ण की अनुमति लेकर सब देवनाओं के सहित अपने लोग को प्रस्थान किया ॥१११-११३॥ जो ऋषिगण वहाँ आये थे वे भी उन्हें आशीर्वाद देकर चले गये तब मधु, राक्षस और किन्नरादि भी उन्हें प्रणाम करके अपने-अपने स्थान को गये ॥ ११४ ॥

भविष्य-पर्व

॥ जनमेजय की संतति ॥

जममेजयस्य के पुत्राः पठन्ते लोमहर्षणे ।
कस्मिन्प्रतिष्ठितो वंशः पाण्डवानां महात्मनाम् ॥१॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं पर श्रोतृहर्षं हि मे ।
त्वत्तः कथयतः सर्व वेद्यं यत् तत्परिस्फुटम् । २
पारीक्षितस्य काश्यायां द्वौ पुत्रौ सम्यभूवतुः ।
चन्द्रापीडश्च नृपतिः सूर्यापीडश्च मोक्षवित् ॥३॥
चन्द्रापीडस्य पुत्राणां शतमुत्तमधन्विनाम् ।
जनमेजय इत्येवं क्षात्र भुवि परिश्रुतम् ॥४॥
तेषां श्रेष्ठस्तु राजाऽऽसीत्पुत्रे वाराणसाह्वये ।
सत्यकर्णो महाबाहुर्यज्वा विपुलदक्षिणः । ५
सत्यकर्णस्य दायादः श्वेतकर्णः प्रतापवान् ।
अपुत्रः स तु धर्मात्मा प्रविवेश तपोवनम् ॥६॥
तस्माद्वनगताद्गर्भं यादवी प्रत्यपद्यत ।
सुचारोदुहिता सुधूर्मालिनी भ्रातृमालिनी ॥७॥

शौनक ने कहा—हे लोमहर्षण पुत्र । आप सभी शास्त्रों में पारंगत एवं सर्वज्ञाता हैं, इसलिये अब जनमेजय की संतति और उनके किस पुत्र के द्वारा पाण्डुवंश प्रतिष्ठित हुआ, सो कहिये । इस कथा को सुनने की मुझे अत्यंत इच्छा ॥१-२॥ सौति ने कहा—हे मुने ! महाराज जनमेजय की काश्या नाम की भार्या से दो पुत्र उत्पन्न हुए, उनके नाम चन्द्रापीड और सूर्यापीड थे । जिनमें से चन्द्रापीड तो राज्यपद पर

चन्द्रपीड के महावीर धनुर्धारी एक सौ पुत्र हुए, उन्हीं से जनमेजय का वंश प्रतिष्ठित हुआ ॥४॥ उन सौ में से सबसे बड़ा जो सत्यकर्ण नामक पुत्र था, हस्तिनापुर का राजा हुआ । वह अत्यंत उदारचेता तथा विपुल दक्षिणा वाले यज्ञों का अनुष्ठाता था ॥५॥ उसका भाई श्वेतकर्ण अत्यंत बली, पराक्रमी तथा धर्मज्ञ किन्तु पुत्र-हीन था, इसलिये अनेक आताओ वाली भार्या मालिनी के सहित वन-वासी हो गया ॥६॥ परंतु वन में निवास करनी हुई मालिनी के गर्भ रह गया ॥ ७ ॥

स तु जन्मनि गर्भस्य श्वेतकर्णं प्रजेश्वरम् ।
 अन्वगच्छद्गतं पूर्वमहाप्रस्थानमच्युतम् ॥८॥
 सा दृष्ट्वा सम्प्रयात स मालिनी पृष्ठतोऽन्वगात् ।
 पयि स। सुपुत्रे सुभ्रूवने राजीवलोचनम् ॥९॥
 कुमारं तं परित्यज्य भर्तारं चान्वगच्छत् ।
 पतिव्रता महामागा द्रौगदीव पुरा पतीन् ॥१०॥
 स तु राजकुमारोऽसी गिरिकुञ्जे करोद ह ।
 छायायं तस्य मेघास्तु प्रादुरासन्समन्ततः ॥११॥
 श्रविष्ठायाश्च पुत्री द्वौ पिप्पलादश्च कौशिकः ।
 दृष्ट्वा कृपाम्बुती गृह्य त प्रक्षालयतां जलैः ।
 निघृष्टी तस्य तौ पार्श्वौ शिलायां रुधिरप्सुती ॥१२॥
 अजयामौ तु पार्श्वौ तावुभावपि समाहिता ।
 तथैव तु समाह्व्यौ अजपार्श्वस्ततोऽभवत् ॥१३॥
 ततोऽजपार्श्व इति तौ चक्राते तस्य नाम ह ।
 स तु वेमनशालायां द्विजाम्यामभिवर्धितः ॥१४॥

गर्भ के लक्षण प्रकट होते ही श्वेतकर्ण ने पूर्व गुरुओं के पय का ध्वसम्बन करते हुए महा प्रस्थान की इच्छा की ॥८॥ जब मालिनी ने यह देगा कि उसके पति महा प्रस्थान कर रहे हैं, तो यह भी उनके पीछे-पीछे चल पड़ी । कुछ दूर चलने पर ही उनके एक पय के समान नेत्र बाना पुत्र उत्पन्न हुआ,

परन्तु मालिनी ने उस पुत्र को वही पड़ा छोड़ कर जाने पति का ही अनुसरण किया ॥९-१०॥ मार्ग में पड़ा हुआ वह बालक उस पर्वत कुत्र में रुकन करने लगा, तभी उसकी छुपा करने के लिये उनके ऊपर स्रग्धर से बादल छा गये ॥११॥ उसके कुछ समय पश्चात् ही महर्षि पिप्पलाद और कौशिक वहाँ आये, उन्होंने उस बालक को देखकर दयावश उठा लिया और उसके देह का भले प्रकार प्रक्षानन किया । परन्तु उसके दोनों पाश्वर्कों में क्रुद्ध रक्त लगा रह गया, इस लिये उन्होंने उन पाश्वर्क भागों को घिपा, जिसके कारण वह अग बकरे के समान काले रंग के हो गये । इसलिये वह बालक 'अजपाश्वर्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ । फिर वे दोनों महर्षि उस बालक को महर्षि वेमक के आश्रम में लेकर उसका पालन पोषण करने लगे ॥१२-१४॥

वेमकस्य तु भार्या समुद्रहत्पुनकारणात् ।

वेमक्या स तु पुनोऽभूद्ग्राहणी सचिवी च तौ ॥१५॥

तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च युगपत्तुल्यजीविनः ।

स एष पौरवो वश पाण्डवानां प्रतिष्ठितः ॥१६॥

श्लोकोऽपि चात्र गीतोऽयं नाहुषेण ययातिना ।

जरासक्रमणे पूर्वं भृशं प्रीतेन धीमता ॥१७॥

आचन्द्रार्कग्रहा भूमिर्भवेदपि न सशयः ।

अपौरवा न तु मही भविष्यति कदाचन ॥१८॥

महर्षि वेमक की भार्या वेमकी ने भी उस बालक का पालन पोषण अपने पुत्र के समान किया । इस प्रकार अजपाश्वर्य वेमक-पत्नी का पुत्र बन गया तथा विप्रवर पिप्पलाद और कौशिक उसके मंत्री हुए ॥१५॥ उनकी पुत्र-पौत्रादि रूप सत्ता समकालीन हुई तथा उनसे ही पाण्डवों का पौरव वंश प्रतिष्ठित हुआ ॥१६॥ पूर्वं कालीन नहुषतनय राजा ययाति ने भी अपनी वृद्धावस्था की प्राप्ति पर इस श्लोक को कहा था—जब सूर्य-चन्द्रादि ग्रहों से आच्छादित यह पृथिवी रहेगी, तब तक पुरुषवश का कभी लोप न होगा ॥१७-१८॥

॥ जनमेजय-व्यास सवाद ॥

उक्तोऽयं हृद्विशस्ते पर्वणि निखिलानि च ।
 यथा पुरोक्तानि तथा व्यासशिष्येण धीमता ॥१॥
 तत्कथ्यमानममिनमितिहाससमन्वितम् ।
 प्रीणात्प्रस्मानमृतवत्सर्वपापविनाशनम् ॥२॥
 सुदुःश्राव्यतया धीर मनो ह्लादयतीव न ।
 जनमेजयस्तु नृपति श्रुत्वा चाख्यानमुत्तमम् ।
 सौते किमकरोत्पश्चात्सर्पसनादनन्तरम् ॥३॥
 जनमेजयस्तु स नृप श्रुत्वा चाख्यानमुत्तमम् ।
 यदारभत्तदाख्यास्ये सर्पसन्नादनन्तरम् ॥४॥
 तस्मिन्क्षणे ममाप्तेऽथ राजा पारीक्षितस्तदा ।
 यष्टु स वाजिमेघेन सम्भारानुवचक्रमे ॥५॥
 ऋत्विक्पुरोहिताचार्यानाहूयेदमुवाच ह ।
 यक्ष्येऽहं वाजिमेघेन हय उत्सृज्यतामपि ॥६॥
 ततोऽस्य विज्ञाय चिकीर्षित तदा कृष्णो महात्मा सहसाऽऽजगाम ।
 पारीक्षित द्रष्टुमदीनसत्त्व द्वैपायन सर्वपरावरजः ॥७॥

शौनक जी ने कहा—पूर्वकाल में व्यास जी के शिष्य श्री वंशम्पायन जी ने हरिवंश की जो कथा बही थी, वह उसी प्रकार आपने भी बही है ॥१॥ इस पापी के नाशक इतिहासमय हरिवंश के श्रवण से हमको अत्यन्त आनन्द हुआ है ॥२॥ इन कथा को सुनकर आनन्दतिरेक के कारण हमारा मन आर्द्र हो उठा है और अब हम यह जानने के लिये उत्सुक हैं कि राजा जनमेजय ने इसे सुनने के बाद क्या काय किया ? ॥३॥ सौते ने कहा—हे मुने ! सर्पयज्ञ के पश्चात् इस थोड़ बृत्तान्त को सुनकर राजा जनमेजय ने जो क्रोध किया, वह बहुत है, सुनिये ॥४॥ सर्पयज्ञ के बाद अस्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करने के लिये राजा जनमेजय ने यज्ञ-सामग्री एकत्र करने का आदेश दिया ॥५॥ फिर उन्होंने ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्य को बुलाकर उनसे कहा—हे भगवन् ! अब

मेरी इच्छा अश्वमेध यज्ञ करने की है, इसलिये अब अश्व का छोड़ा जाना उचित है ॥६॥ यह बात चल ही रही थी, तभी महर्षि कृष्णद्वैपायन राजा जनमेजय द्वारा अश्वमेध करने का विचार जानकर उनसे पास आये ॥७॥

पारीक्षितस्तु नृपतिर्दृष्ट्वा तमृषिमागतम् ।
अर्घ्यपाद्यासन दत्त्वा पूजयामास शास्वत ॥८॥
तौ चोपविष्टावभित सदस्यास्तस्य शौनक ।
कथा बहुविधाश्चित्राश्चक्राते देवसहिता ॥९॥
तत कथान्ते नृपतिर्नोदयामास त मुनिम् ।
पितामह पाण्डवानाभात्मन प्रपितामहम् ॥१०॥
महाभारतमाख्यान बह्वचं श्रुतिविस्तरम् ।
निमेषमात्रमपि मे सुखश्राव्यतया गतम् ॥११॥
विभूतिविस्तरकर सर्वेषा वै यशस्करम् ।
त्वया सुविहित ब्रह्मञ्छङ्खे क्षीरमिवाहितम् ॥१२॥
अमृतेन तु तृप्तिं स्याद्यथा स्वर्गसुखेन च ।
तथा तृप्तिं न गच्छामि श्रुत्वेमा भारती कथाम् ॥१३॥
अनुमान्य तु सर्वज्ञ पृच्छामि भगवन्तहम् ।
हेतु कुरुणा नाशस्य राजसूयो मतो मम ॥१४॥
दुःसहाना यथा ध्वसो राजन्यानामुपप्लवे ।
राजसूय तथा मन्ये युद्धार्थमुपकल्पितम् ॥१५॥

महर्षि को आया देखकर राजा ने उठ कर उन्हें अर्घ्य, पाद्य, आसन विवेदन किया और फिर उनकी यथाविधि पूजा की ॥८॥ फिर सब के यथोचित स्थान पर बैठ जाने पर महर्षि कृष्ण द्वैपायन और उपस्थित अन्य विप्र-धोष्ठों में वेदादि विषयक वार्ता आरम्भ हुई ॥९॥ अनेक प्रकार के वार्तालाप के पश्चात् राजा जनमेजय ने अपने उन प्रपितामह महर्षि व्यास से कहा ॥१०॥ हे भगवान् ! सुनने में विस्तृत और सर्वार्थपूर्ण उस महाभारत नामक इतिहास का पूरे एक व्रत तक श्रवण किया परन्तु वह इतना आनन्ददायक था कि एक व्रत भी एक

निमेष के समान ही बीत गया ॥११॥ दूध से भरे हुए शख के समान इस ऐश्वर्य का विधान करने वाले तथा यज्ञ प्राप्त कराने वाले इस महाभारत नामक श्रेष्ठ इतिहास को आपने रचा है ॥१२॥ जैसे स्वर्गीय सुख के उपभोग और अमृत के पान से किसी की इच्छा पूर्ण नहीं होती, वैसे ही महाभारत की कथाओं को बारबार सुनकर भी अभी तक तृप्ति नहीं हुई है ॥१३॥ आप सर्वज्ञ हैं, इस लिये मैं आपसे कौरव वंश के नाश का कारण जानना चाहता हूँ । अकेले राजसूय यज्ञ में ही बहुतेरे क्षत्रिय नष्ट हो गये इसलिये उनके नाश का कारण मैं राजसूय यज्ञ को ही समझता हूँ ॥१४-१५॥

राजसूयस्तु सोमेन श्रूयते पूर्वमाहुतः ।
 तस्यान्ते सुमहद्युद्धमभवत्तारकामयम् ॥१६॥
 आहुतो वरुणेनाथ तस्यान्ते सुमहाक्रतोः ।
 देवासुरमहायुद्धं सर्वभूतक्षयावहम् ॥१७॥
 हरिश्चन्द्रश्च राजर्षिः क्रतुमेनमुपाहरत् ।
 तत्राप्याडीवकं नाम युद्धं क्षत्रियनाशनम् ॥१८॥
 ततोऽनन्तरमार्गेण पाण्डवेनातिदुस्तरः ।
 महाभारत आरम्भः सम्भृतोऽग्निरिव क्रतुः ॥१९॥
 तदस्य मूलं युद्धस्य लोकक्षयकरस्य तु ।
 राजसूयो महायज्ञः किमर्थं न निवारितः ॥२०॥
 राजसूयो ह्यसंहार्यो यज्ञाङ्गैश्च दुरत्ययैः ।
 मिथ्या प्रणीते यज्ञाङ्गे प्रजानां सक्षयो ध्रुवः ॥२१॥
 भवानपि च सर्वेषां पूर्वेषां नः पितामहः ।
 अतीतानागतज्ञश्च नाथश्चादिकरश्च नः ॥२२॥
 ते कथं भयता नेत्रा बुद्धिमन्तश्च्युता नयात् ।
 अनायास्यपराध्यन्ते कुनेतारश्च मानवा ॥२३॥

मुक्त गया है कि प्राचीन काल से इस यज्ञ का आरंभ चन्द्रदेव ने किया था, तब यज्ञ के अन्त में अत्यन्त घोर सारनामय संधाम की प्राप्ति हुई थी ॥१६॥

फिर वरुणदेव ने जो राजसूय यज्ञ किया था, उसके अन्त में भी सब प्राणियों का सहारक देवासुर युद्ध हुआ था ॥१७॥ तदनन्तर इस महायज्ञ को राजपि हरिश्चन्द्र ने किया था, जिसमे वसिष्ठ ने आड़ी और विश्वामित्र ने बगुले का रूप धारण किया था । उस समय भी क्षत्रियों के सहार का कारण यह राजसूय यज्ञ ही हुआ था ॥१८॥ इसलिये मैं तो यही समझना हूँ कि महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के कारण ही महाभारत युद्ध की प्राप्ति हुई होगी ॥१९॥ आप मेरे पूर्व पुरषों के पितामह हैं, इसलिये हमारे आदि पुरुष तथा सर्वज्ञ भी हैं और राजसूय यज्ञ का भले प्रकार सम्पन्न किया जाना अत्यंत दुष्कर है तथा विघ्न होने पर प्रजा के नष्ट होने का संकट भी सभाध्य है इसका पूर्ण ज्ञान होने पर भी आपने सत्तार को क्षीण करने वाले घोर युद्ध के कारण रूप राजसूय यज्ञ को नया होने दिया ? ॥२०-२२॥ कुनेता के चक्र में पड़कर ही अनाय पुरुष अपराधी हो जाते हैं, इसलिये आपने उनके नेता होकर भी उन्हें नीति-मार्ग से भ्रष्ट क्यो होने दिया ? ॥२३॥

कालेन विपरीतास्ते तव पूर्वपितामहः ।
 न मा भविष्य पृच्छन्ति न चापृष्टो ब्रवीम्यहम् ॥२४॥
 सामर्थ्यं च न पश्यामि भविष्यस्य निवर्तने ।
 परिहर्तुं न शक्या हि कालेन विहिता गतिः ॥२५॥
 त्वया त्विदमहं पृष्टो वक्ष्याम्यागन्तु भावि यत् ।
 अवश्यं बलवान्कालः श्रुत्वाऽपि न करिष्यसि ॥२६॥
 न संरम्भान्न चारम्भान्न वै स्थास्यसि पौरुषे ।
 लेखा हि काललिखिता सर्वथा दुरतिक्रमाः ॥२७॥
 अश्वमेधः क्रतुश्रेष्ठः क्षत्रियाणां परिश्रुतः ।
 ते भावेन ते यज्ञं वासवो धर्षयिष्यति ॥२८॥
 यदि तच्छक्यत राजन्परिहर्तुं कथंचन ।
 दैवं पुरुषकारेण मा यजेथाश्च त क्रतुम् ॥२९॥
 न चापराधः शक्रस्य नोपाध्यायगणस्य ते ।
 न च वा यजमानस्य कालोऽत दुरतिक्रमः ॥३०॥

वेद व्यास जी ने कहा—हे बत्स ! तुम्हारे पूर्व पितामह काल के वशी-
भूत होकर अपना श्रेष्ठ मार्ग छोड़ बैठे थे । उन्होंने भविष्य के विषय में भुझसे
कभी कुछ नहीं पूछा और जब तक भुझसे कोई कुछ बात न पूछे तब तक मैं
कुछ बताता नहीं ॥२४॥ फिर जो होने वाली बात थी, उसे मैं रोक भी कैसे
सकता था ? क्योंकि काल की गति रोकनी नहीं जा सकती ॥२५॥ यदि तुम
भुझसे पूछना चाहो तो मैं भविष्य की बात बता सकता हूँ, परंतु उसे जान कर
भी मेरे अनुसार कार्य नहीं कर सकोगे ॥२६॥ क्योंकि काल कभी भी भयभीत
अथवा उत्साह का वशवर्ती नहीं होता, उसका लेख किसी प्रकार मिटाया नहीं
जा सकता ॥२७॥ क्षत्रियों के लिये अश्वमेध यज्ञ सर्वश्रेष्ठ बताया गया है, परंतु
तुम्हारे अश्वमेध यज्ञ में सुरराज इन्द्र विघ्न उत्पन्न कर देंगे ॥२८॥ यदि किसी
प्रकार अपने पुरुषार्थ से दैव का उल्लंघन भी किया जा सके, तो भी तुम इस यज्ञ
को मत करो ॥२९॥ तुम्हारे उस यज्ञ में इन्द्र, उपाध्याय और यजमान—किसी
का कोई दोष न होने पर भी काल की अबाध गति ही उसका लोप कराने में
प्रमुख होगी ॥३०॥

तस्य सस्थाकृतमिदं कालस्य परमेष्ठिनः ।

यथादृष्ट प्रजासर्गं गमिष्यति युगक्षये ॥३१॥

तथा यज्ञफलानां च विक्रेतारो द्विजातयः ।

यत्प्रणेय निबोधस्व तैलोक्य सचराचरम् ॥३२॥

निवृत्तावश्वमेधस्य किं निमित्तं भविष्यति ।

श्रुत्वा परिहरिष्यामि भगवन् यदि मन्यसे ॥३३॥

निमित्तं भविता तत्र ब्रह्मकोपकृतं प्रभो ।

यतेथा परिहृतु त्वमित्येतद्ब्रह्मस्तु ते ॥३४॥

त्वया वृत्तं क्रतुं चैव वाजिमेध परंतप ।

क्षत्रिया नाहरिष्यन्ति यावद्भूमिर्धरिष्यति ॥३५॥

निवृत्तावश्वमेधस्य ब्रह्मशाण्णग्निहेजसा ।

अहं निमित्तमिति मे भयं तोत्रं तु जायते ॥३६॥

कथं ह्यकीर्त्या युज्येत सुवृत्ती मद्विधो जन ।

लोकानुत्सहते गन्तुं ख सपाश इव द्विज ॥३७॥

यथा ह्यनागतमिदं दृष्टमस्य प्रणाशनम् ।

यद्यस्ति पुनरावृत्तिर्यज्ञस्याश्वासयस्व माम् ॥३८॥

काल के उस से तुम्हारे यज्ञ के नष्ट होने का विधान पहिले से ही विद्याता द्वारा उभो प्रकार निश्चित हो चुका है, जिस प्रकार प्रलय के पश्चात् पुन मृष्टि होना निश्चित है । भविष्य में ब्राह्मण ही यज्ञ फल के वेचने वाले हो जायेंगे, इस प्रकार एतार का सभी कार्य काल के ही वश में है ॥३१-३२॥ यह सुन कर जनमेजय ने कहा—हे भगवन् ! मेरे अश्वमेध यज्ञ में उपस्थित होने वाले विघ्न का यदि आप कारण बताने की कृपा करें तो मैं उसका निवारण करने का कोई यत्न करूँ ॥३३॥ इस पर व्यास जी बोले—हे राजन् ! यज्ञ के असफल होने का एक मात्र कारण ब्राह्मणों का क्रोध ही है, इसलिये तुम उस ब्रह्म क्रोधानल के निवारण का ही उपाय करना इसी से तुम्हारा कल्पाण होगा ॥३४॥ जिन अश्वमेध यज्ञ को तुम करने जा रहे हो, उसे जब तक यह पृथिवी स्थित रहेगी, तब तक कोई भी क्षत्रिय पूर्ण करने में समर्थ न हो सकेगा ॥३५॥ तब जनमेजय ने कहा—जिन ब्रह्मक्रोध की अग्नि के प्रज्वलित होने से यज्ञाग्नि का निवारण हो जाता है उसका कारण मैं ही बनूँगा, यह जानकर मैं अत्यंत भयभीत हो रहा हूँ ॥३६॥ क्योंकि मेरे जैसा पुण्यकर्म पुरुष इस प्रकार के बलक के कारण जाल में बँधे हुए पक्षी के समान परलोक में जाने का साहस किस प्रकार कर सकेगा ? ॥३७॥ इसलिये जिस प्रकार आपने यज्ञ में उपस्थित होने वाले विघ्नो को दिखाया है, उसी प्रकार यज्ञ की पुनरावृत्ति का उपाय भी मुझसे कहिये ॥३८॥

उपात्तायज्ञो देवेषु ब्राह्मणेषूपपत्स्यते ।

तेजसा व्याहृत तेजस्तेजस्यैवावतिष्ठते ॥३९॥

औद्भिर्ज्जो भविता कश्चित्सेनानी कश्यपो द्विज ।

अश्वमेध बलियुगे पुन प्रत्याहरिष्यति ॥४०॥

तद्युगे तत्कुलीनश्च राजसूयमपि क्रतुम् ।
 आहरिष्यति राजेन्द्र श्वेतग्रहमिवान्तक ॥४१॥
 यथा बल मनुष्याणा कर्तृणा दास्यते फलम् ।
 युगान्तद्वारमृषिभि सवृत विचरिष्यति ॥४२॥
 तदाप्रभृति हास्यन्ति नृणा प्राणा पुराकृती ।
 न निर्वर्तिष्यते लोके वृत्तान्तावर्तनेष्विह ॥४३॥
 तदा सूक्ष्मो महोदको दुस्तरो दानमूलवान् ।
 चतुराश्रम्यशियिलो धर्मं प्रविचलिष्यति ॥४४॥
 तदा ह्यल्पेन तपसा सिद्धिं प्राप्स्यन्ति मानवा ।
 धन्या धर्मं चरिष्यन्ति युगान्ते जनमेजय ॥४५॥

व्यास जी ने कहा—हे बत्स ! जैसे तेज से विनष्ट हुआ तेज, तेज में ही लीन हो जाता है, वैसे ही नष्ट हुआ यज्ञ देवताओं और ब्राह्मणों में ज्ञान रूप से स्थित रहता है ॥३९॥ नविष्य मे कलिकाल की प्राप्ति होने पर पृथिवी के गर्भ से उत्पन्न कश्यप गोत्रिय सेनानी ब्राह्मण होगा, वही सत्तार में अश्वमेध यज्ञ की पुनरावृत्ति करेगा ॥४०॥ उसके पश्चात् जैसे प्रलय काल के आने पर उद्धार करने वाला श्वेतग्रह पुन आविर्भूत होता है, वैसे ही उसी ब्राह्मण के वश में जन्म धारण करने वाला कोई महात्मा उस यज्ञ की पुन अवतारणा करेगा ॥४१॥ उस समय पूर्व प्रकृति विलीन होकर इन्द्रियो में विपरीत भाव की उत्पत्ति करेगी, जिससे मनुष्यों का आचरण दूषित हो जायगा ॥४२॥ दान भूषक आचरण कठिन होगा, फिर भी धर्म के अल्प आचरण से ही महान् फल की प्राप्ति हो जाय करेगी । उस समय चारों आश्रमों के नियम शिथिल हो जायेंगे और अल्प तपस्या से ही मनुष्यों को सिद्धि प्राप्त होने लगेगी । इसलिये हे जनमेजय ! उस युगान्त काल में धर्माचरण करने वाले मनुष्य धन्य समझे जायेंगे ॥४४-४५॥

॥ व्यास जी द्वारा कलियुग वर्णन ॥

आसन्न विप्रवृष्ट वा यदि बाल न विदहे ।

तस्माद्द्वैपरसविद्ध युगान्त स्पृहयाम्यहम् ॥१॥

प्राप्ता वयं तु तत्कालमनया धर्मतृष्णया ।
 आदद्यात्परम धर्मं सुयमल्पेन कर्मणा ॥२॥
 प्राप्तमुद्वेगकरणं युगान्तं समुपस्थितम् ।
 प्रनष्टधर्मं धर्मज्ञ निमित्तीवैकनुमहंसि ॥३॥
 पृष्ट एवं भविष्यस्य गतिं तत्त्वेन चिन्तयन् ।
 युगान्ते सर्वभूतानां भगवानब्रवीत्तदा ॥४॥
 अरक्षितारो हर्तारो बलिभागस्य पार्थिवाः ।
 युगान्ते प्रमविष्यन्ति स्वरक्षणपरायणाः ॥५॥
 अक्षत्रियाश्च राजानो विप्राः शूद्रोपजीविनः ।
 शूद्राश्च ब्राह्मणाचारा भविष्यन्ति युगक्षये ॥६॥
 काण्डे स्पृष्टाः श्रोत्रिणाश्च निष्क्रियाणि हवीष्यथ ।
 एकपक्त्यामशिष्यन्ति युगान्ते जनमेजय ॥७॥

राजा जनमेजय ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ मुनि का समय समीप है या नहीं यह तो मैं नहीं जानता किन्तु इस युग में बड़े परिश्रम से ही अधिक पुण्य-फल प्राप्त हो जाता है, इसी से मैंने इस अवसर पर जन्म लिया है ॥१-२॥ इसी कथा सुनकर शौनक ने भी प्रश्न किया कि इस समय लोगो को भयभीत करने वाला श्रीर धर्म की शक्ति को क्षीण करने वाला कलिपुत्र आ चुका है इस लिये हम भी उनका वर्णन अवश्य सुनना चाहते हैं । इस पर सौति ने कहा हे शौनक ! मैं तुमको वह सब प्रसंग बतलाना हूँ जो उस अवसर पर भगवान व्यास ने राजा जनमेजय को सुनाया था ॥३-४॥ उस युग में राजा लोग परम स्वार्थी बनकर प्रजा के हित साधन, तपयज्ञ आदि सत्कर्मों से विमुख हो जायेंगे । क्षत्रियो के अतिरिक्त अन्य वर्गों के राजा सामक हो जायेंगे, ब्राह्मण शूद्रों के काम करने लगेंगे और शूद्र ब्राह्मणों का-सा आचार विचार करने लगेंगे । ब्राह्मण धनुष-बाण का प्रयोग करने वाले हो जायेंगे, यज्ञादि क्रियाहीन हो जायें और श्रेणीभेद क्षीण होकर सब लोग एक साथ भोजन करने लगेंगे ॥५-७॥

शिल्पवन्तोऽनृतपरा नरा मद्यामिषप्रियाः ।

मित्तभार्या भविष्यन्ति युगान्ते जनमेजय ॥८॥

राजवृत्तिस्थिताश्चौरा राजानश्चौरक्षीलिनः ।
 भृत्याश्चानिदिष्टभुजो भविष्यन्ति युगक्षये ॥६
 धनानि श्लाघनीयानि सतां वृत्तमपूजितम् ।
 अकुत्सना च पतिते भविष्यति युगक्षये ॥७
 प्रनष्टचेतना मर्त्या मुक्तकेशा विचूलिनः ।
 रुनपोडयावर्षाश्च प्रजास्यन्ति नराः सदा ॥८
 अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः ।
 प्रमदाः केशशूलाश्च भविष्यन्ति युगक्षये ॥९
 सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति सर्वे वाजसनेयिनः ।
 शूद्रा भोवादिनश्चैव भविष्यन्ति युगक्षये ॥१०
 तपोयज्ञफलानां च विक्रेतारो द्विजातयः ।
 ऋतवश्च भविष्यन्ति विपरीता युगक्षये ॥११
 शुक्लदन्ता जिताक्षाश्च मृण्डाः कापायवाससः ।
 शूद्रा धर्मं चरिष्यन्ति शाक्यबुद्धोपजीविनः ॥१२

शिल्पकार्य के करने वाले असत्य व्यवहार परायण हो जायेंगे, मद्य-मांस का व्यवहार बहुत बढ़ जायगा और लोग मित्र की स्त्री से दुराचार करने में सकोच न करेंगे । उस समय राजा ही चोर (अपहरणकर्ता) बन जायेंगे, चोर राजा हो जायेंगे और नौकर स्वामी का कुछ भी रूपान न करके उमका सर्वस्व खा बैठेंगे । धन ही प्रतिष्ठा का आधार माना जायगा, सज्जनों का सम्मान न होगा और पाप-कर्म करने वालों को कोई निन्दनीय न कहेगा ॥८-९॥ लोग धर्म-तान से शून्य होंगे, विधवाओं और संन्यासियों के सतानें होंगी और मनुष्यों की आयु बहुत कम हो जायगी । सभी लोग अन्न बेचने लग जायेंगे, ब्राह्मण धर्म को बेचेंगे और स्त्रियाँ अपने रूप का व्यवसाय करने लग जायेंगी ॥११-१२॥ सभी श्रेणियों के व्यक्ति ब्रह्मवादी होने का दम्भ करके ब्रह्म भ्रष्ट हो जायेंगे और वैदिक यज्ञ-यागादि का करता छोड़ देंगे । शूद्रों की स्थिति सम्मानजनक हो जायगी । ब्राह्मण अपनी तपस्या तथा यज्ञों के फल को धन के लिये बेचने वाले होंगे और १५ ऋतुएं समय के प्रतिकूल होने लगेंगी । शूद्र लोग पवित्र आचार-विचार ग्रहण

घन्टरे, श्वेतदन्त, सूक्ष्मदर्शी, मुण्डित, बापाय वेपथगी होकर बौद्धधर्म के अनुयायी बनेंगे ॥१३-१५॥

श्वापदप्रचुरत्वं च गवां चैव परिक्षयः ।
स्वादूना विनिवृत्तिश्च विद्यादन्तगते युगे ॥१६॥
अन्त्या मध्ये निवत्स्यन्ति मध्याश्चान्तनिवासिनः ।
यथा निम्न प्रजाः सर्वा गमिष्यन्ति युगक्षये ॥१७॥
तथा द्विहायना दम्यास्तथा पल्लवकर्षकाः ।
चित्रवर्षी च पर्जन्यो यगे क्षीणे भविष्यति ॥१८॥
सर्वे चौरकुले जाताश्चौरयानाः परस्परम् ।
स्वल्पेनाद्या भविष्यन्ति यत्किञ्चित्प्राप्य दुर्गताः ॥१९॥
न ते धर्मं करिष्यन्ति मानवा निर्गते युगे ।
ऊषार्कबहुला भूमिः पन्थानस्तस्तरावृताः ॥२०॥
सर्वे वाणिज्यकार्ष्ण्येव भविष्यन्ति कलौ युगे ।
पितृदत्तानि देयानि विभजन्ते सुतास्तदा ।
हणाय प्रपत्स्यन्ते लोभानृतविरोधिता ॥२१॥

जंगली हिलक जीवों की अधिकता होकर गायों की संख्या घट जायगी और सब वस्तुओं का स्वाद पूर्वापेक्षा कम हो जायगा । म्लेच्छ देशों के निवासी मध्यदेश में आकर रहने लगेंगे और मध्यदेश वालों को म्लेच्छों के प्रदेशों में जाकर निवास करना पड़ेगा और सर्व साधारण नीच मार्ग पर चलने लगेंगे । बल शक्तिहीन होकर हल खींचने में कठिनाई अनुभव करेंगे और वर्षा भी बहुत ही अस्त-व्यस्त रूप से होने लगेगी, ॥१६-१८॥ सभी व्यक्ति एक दूसरे का धन अपहरण करके चौर्यवृत्ति से शीघ्र ही धनवान बन जाना चाहेंगे और इसलिये सबको दुर्दशाग्रस्त होना पड़ेगा । उस समय लोग धर्माचरण छोड़ देंगे, भूमि ऊसर हो जायगी और रास्ते में सब ओर डाकुओं का भय रहेगा । उस समय सब लोग सब प्रकार की वस्तुओं को बेचने वाले ही होंगे और पिता की जायदाद का पुत्र चोटवारा कर लेंगे । धन के लिये लोग असत्य व्यवहार करेंगे तथा दूसरे का धन दबा लेंगे ॥१९-२१॥

सौकुमार्यं तथा रूपे रत्ने चोपक्षय गते ।
 भविष्यन्ति युगान्ते च नार्यं केशैरलकृता ॥२२
 निर्विहारस्य भूतस्य गृहस्थस्य भविष्यति ।
 युगान्ते समनुप्राप्ते नान्या भार्यासमा गति ॥२३
 कुशीलानार्यभूयिष्ठ वृथारूपसमन्वितम् ।
 पुरुषात्प बहुभ्रीक तद्युगान्तस्य लक्षणम् ॥२४
 बहुयाचनको लोको न दास्यति परस्परम् ।
 अविचार्यं ग्रहं प्यन्ति दान वर्णान्तरात्तथा ॥२५
 राजचौराग्निदण्डार्तो जन क्षयमुपेक्ष्यति ।
 सस्यनिष्पत्तिरफला तरुणा वृद्धशीलिन ।
 ईहयाऽमुखिनो लोका भविष्यन्ति युगक्षये ॥२६
 वर्षासु वाता पक्ष्वा नीचा शर्करवपिण ।
 सदिग्ध परलोकश्च भविष्यति युगक्षये ॥२७
 आत्मनश्च दुराचारा ब्रह्मदण्डतत्परा ।
 आत्मानं बहु मन्यन्ते मयुरेवाभ्ययाद्विजान् ॥२८

स्त्रियो मे से सुकुमारता, रूप और रत्नादि का अभाव होकर केवल बालो का ही शृंगार रह जायगा । गृहस्थ जीवन मे से सुन्दर और श्रेष्ठ उपादानो का अभाव हो जायगा और केवल नारी समागम ही एक मात्र उपभोग का मार्ग जान पड़ेगा । समस्त पृथ्वी रूप का झूठा गव करने वाली और चरित्र हीन स्त्रियो से भर जायगी और पुरुषो की अपेक्षा नारियो की सरावा भी अधिक हो जायगी ॥२२-२४॥ माँगने वाले बहुत हो जायेंगे पर कोई किसी को कुछ देगा नहीं । ब्राह्मण बिना विचार किये सब वर्णों का दान ग्रहण करने लगेंगे । अधिनाश प्रजा राजदण्ड चोरदण्ड और अग्निदण्ड से नष्ट होने लगेंगे । सेतो मे घोने के लिये डाला बीज भी नष्ट हो जायगा, युवावस्था म ही बुढ़ापा जैसा जान पड़ने लगेगा और लोग भाँति भाँति की कामनाओं के कारण दुःखित रहने लगेंगे ॥२५-२६॥ वर्षा ऋतु मे भयकर वायु चलने और घूँट उड़ने लगेंगी । लोग परलोक के अस्तित्व मे सदेह करने लगेंगे । वे ब्राह्मणो पर दोषारोपण करेंगे

पर अपने दोषों पर दृष्टिपात न करेंगे । ब्राह्मणों में भी धर्म प्रगट करने के सिवाय और कोई योग्यता न रहेगी ॥२७-२८॥

वैश्याचाराश्च राजन्या धनधान्यो जीविन ।
युगापक्रमणे सर्वे भविष्यन्ति द्विजातय ॥२९॥
अप्रवृत्ता प्रपत्यन्ते समया शय्यास्तथा ।
शृणु सविनयधरा युगे क्षीणे भविष्यति ॥३०॥
भविष्यत्यफनो हर्षं क्रोधश्च सफलो नृणाम् ।
अजाश्चैवोपरोत्स्यन्ते पयसोऽर्धे युगक्षये ॥३१॥
अशास्त्रविदुषा पु सामेवमेव स्वभावतः ।
अप्रमणवदिष्यन्ति नीतिं पण्डितमानिन ॥३२॥
शास्त्रोक्तस्याप्रवक्ताग्रे भविष्यन्ति युगक्षये ।
सर्वे सर्वं हि जानन्ति वृद्धाननुपसेव्य वै ॥३३॥
न वशिष्ठदशविर्नाम युगान्ते समुपस्थिते ।
न क्षत्राणि नियोक्ष्यन्ति त्रिकर्मस्था द्विजातय ।
चौरप्रायाश्च राजानो युगान्ते पयसि स्थिते ॥३४॥
कुण्डावृषा नृवृत्तिका सुरापा ब्रह्मवादिन ।
अश्वमेधेन यक्षयन्ति युगान्ते जनमेजय ॥३५॥

कलियुग में क्षत्रिय स्वधर्म त्याग कर वैश्यों की तरह खरीदने बेचने का व्यवसाय करने लगेंगे और सब लोग द्विज बनने का ही प्रयत्न करने लगेंगे । अना-
वश्यक होने पर भी लोग शपथ लेने लगेंगे पर नीचे दर्ज के लोग ही नहीं ऊँची थोड़ी मात्रा में भी शृणु को लेकर हड़प जायेंगे ॥२९-३०॥ इस युग में
सद्भाव रखने वालों का काम बिगड़ जायगा और क्रोध का आश्रय लेने वालों
को सफलता मिल जायगी । दूध के नियाँ बकरियाँ पाली जाने लगेंगी । लोग
शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किये बिना ही उनका अर्थ करने लगेंगे और अनुभवी वृद्धों
शिक्षा प्राप्त न करके भी अपने को विद्वान समझ लेंगे ॥३१-३३॥ उस समय
सभी मनुष्य अपने को कवि तदा विद्वान मानने लगेंगे, ब्राह्मण क्षत्रियों की वृत्ति

अपना लेंगे और क्षत्रिय लोग चोरी-डाका का कार्य करने लगेगे । यद्यपि ठग, शराबी, बन्धा विक्रय करने वालों को यज्ञ का अनधिकारी माना गया है, पर कलियुग में ऐसे ही व्यक्ति बड़े-बड़े यज्ञों का आयोजन करने लगेगे ॥३४-३५॥

अयाज्यान्याजदिष्यन्ति तथाऽभक्ष्यस्य भक्षिणः ।
 ब्राह्मणा धनतृष्णार्ता युगान्ते समुपस्थिते ॥३६॥
 भोशब्दमभिधास्यन्ति न च कश्चित्पठिष्यति ।
 एकशब्दास्तदा नार्यो गवेधुक्पिनद्वका ॥३७॥
 नक्षत्राणि वियोमीनि वितरीता दिशस्तथा ।
 सन्ध्यारागोऽथ दिग्दाहो भविष्यत्यवरे युगे ॥३८॥
 पितृन्पुत्रा नियोक्ष्यन्ति वध्वः श्वश्रूश्च कर्मसु ।
 वियोनिषु चरिष्यन्ति प्रमदासु नरास्तथा ॥३९॥
 वाक्शरैस्तर्जयिष्यन्ति गुरुञ्छिष्टप्यास्तथैव च ।
 मुखेषु च प्रयोक्ष्यन्ति प्रमत्तारश्च नरास्तदा ॥४०॥
 अवृताग्राणि भोक्ष्यन्ति नराश्चैवाग्निहोत्रिणः ।
 भिक्षा बन्निमदत्त्वा च भोक्ष्यन्ति पुरुषाः स्वयम् ॥४१॥
 पतीन्सुप्तान्दञ्चयित्वा गमिष्यन्ति स्त्रियोऽन्यतः ।
 पुरुषाश्च प्रसुप्तासु भार्यासु च परस्त्रियम् । ४२॥
 नाव्याधितो नाप्यरुजो जन सर्वोऽभ्यसूयः ।
 न कृतिप्रतिकर्ता च काले क्षीणे भविष्यति ॥४३॥

ब्राह्मणगण अभक्ष्य व्यवहार करने वाले तथा आचार-विहीन लोगो से भी धन के लोभ से यज्ञ करायेंगे और उनको सम्मान जनक शब्दों से पुकारेंगे, पर वे वेद-शास्त्रों का अध्ययन नहीं करेंगे । स्त्रियाँ आभूषण विहीन हो जायेंगी ॥३६-३७॥ नक्षत्रों का ग्रह संयोग विच्छिन्न हो जायगा, दिशाओं का भाव बदल जायगा और निरन्तर दिग्दाह होने लगेगा ॥३८॥ पुत्र पिताओं से तथा बहुएँ रास से सेवा कार्य बगने लगेगी । गुरु के प्रति शिष्य गर्जन-तर्जन करने लगेगे । विभिन्न वर्ण के स्त्री पुरुषों में सम्बन्ध होने लगेगा और इसे प्रगल्भीय

माना जाने लगेगा । ३८-४०॥ अग्निहोत्र चाले बलि तथा भिक्षादान के पहले ही भोजन कर लेंगे । स्त्रियो पर-पुरुषो से तथा पुरुष पराई स्त्रियो से दुराचार करने वाले हो जायेंगे ॥४१-४२॥ उस युग में कोई मनुष्य नीरोग और मानसिक पीडा से मुक्त न हूंगा । सब लोग परस्पर द्वेष भाव करने लगेंगे और कोई उपकार के बदले में भी प्रत्युपकार नहीं करेगा ॥४३॥

॥ राजा जनमेजय के यज्ञ में विघ्न ॥

इत्येवमाश्वासयतो राजानं जनमेजयम् ।
 अतीतानागतं वाक्यमृषे. परिषदा श्रुतम् ॥१
 अमृतस्येव सबाह. प्रभा चन्द्रमसो यथा ।
 अतर्पयत तच्छ्रोत्र महर्षेर्वाङ्मयो रसः ॥२
 धर्मकामार्थसयुक्त करुणं वीरहर्षणम् ।
 रमणीय तदाख्यान कृत्स्नं परिषदा श्रुतम् ॥३
 केचिदश्रूणि मुमुक्षु श्रुत्वा द्रष्टुस्तथापरे ।
 इतिहासं तमृषिणा पाणाविव निदर्शितम् ॥४
 सदस्यान्सोऽभ्यनुज्ञाय कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
 पुनर्द्रक्ष्याम इत्युक्त्वा जगाम भगवानृषि ॥५
 अनुजग्मुस्तदा सर्वे प्रयान्तमृषिसत्तमम् ।
 लोके प्रवदता श्रेष्ठ ये विशिष्टास्तपोधनाः ॥६
 याते भगवति व्यासे तदा ब्रह्मर्षिभि सह ।
 श्रुतिवजः पार्थिवाश्चैव प्रतिजग्मुर्यथागतम् ॥७

सूतजी ने कहा—महर्षि व्यासजी ने राजा जनमेजय को इस प्रकार अतीत बाल और अविध्य की बात कह कर साम्त्वना दी, इस विवेचन को सुन कर सभी उपस्थित पुरुष परस्पर में कहने लगे कि जिस प्रकार चन्द्रमा की चाँदनी और अमृतधारा के पीने से तृप्ति होती है, वैसे ही महर्षि व्यासजी के वचनामृत का पान करके हम अत्यन्त तृप्ति को प्राप्त हुए हैं ॥१-२॥ उस धर्म,

अर्थ और काम युक्त, वीरो के हर्ष की वृद्धि करने वाले तथा करुण और रमणीक वृत्तान्त को सुन कर सब उसका अनुमोदन करने लगे ॥३-४॥ फिर वे महामुनि सभा की प्रदक्षिणा कर 'पुनः कभी आपके दर्शन करूँगा' कहते हुए वहाँ से चले गये ॥ ५ ॥ उनके जाते समय जो ऋषि, तपस्वी, विप्रगण तथा ऋत्विज् आदि उन्हें पहुँचाने गये थे, वे कुछ दूर जाकर लौट आये ॥६-७॥

पन्नगाना सुघोराणा कृताना वैरयातनाम् ।
जगाम रोपमुत्सृज्य राजा विपमिवोरगः ॥८॥
होत्स्नाग्निदीप्तशिरस परित्राय च तक्षकम् ।
आस्तीकोऽथाश्रमपदं जगाम स महामुनिः ॥९॥
राजाऽपि हास्तिनपुरं जगाम स्वजनावृतः ।
अन्वशासच्च मुदितस्नदा प्रमुदिता प्रजा ॥१०॥
कस्यचित्त्वथ कालस्य स राजा जनमेजयः ।
दीक्षितो वाजिमेघेन विधियद्भूरिदक्षिणः ॥११॥
सप्तमश्वं तनास्य देवी काश्या वपुष्टमा ।
स विवेशोपगम्याथ विधिदृष्टेन वर्मणा ॥१२॥
तां तु सर्वानवद्यान्नी चरमे वासवमन्तदा ।
सप्तमश्वमायिष्य तथा मिथीवभूव स ॥१३॥
तस्मिन्विवारे जनिते विदित्वा तत्त्वतश्च तत् ।
असप्तोऽयमश्वस्ते ध्वसेत्यध्वमुमश्रवीत् ॥१४॥

जैसे विप को छोड़ कर गर्व क्षोभ-रहित हुआ चला जाता है, वैसे ही राजा जनमेजय वैर और क्षोभ का परित्याग कर वहाँ से चले गये ॥८॥ तभी महर्षि आस्तीक होमाग्नि से प्रदीप्त शिर वाले तक्षक की रक्षा करने के उपरान्त अपने आश्रम को चले गये ॥९॥ अपने अनुयायियों सहित हास्तिनापुर में जाकर राजा जनमेजय ने हर्ष गह्वित राज्य का गवामन किया और प्रजा भी अपने राजा के दर्शन करने बहुत प्रगन्न हुई ॥१०॥ कुछ काल के उपरान्त महाराज जनमेजय शिधि गह्वित अश्वमेध यज्ञ के लिये दीक्षित हुए ॥११॥ फिर जब मत्त

के घोड़े को बलि किया गया तब राजमहिषी काशिराजमुता वपुष्टमा, उस के पास जा बैठी ॥ १२॥ तभी उस सर्वाङ्गसुन्दरी रानी वपुष्टमा को देख कर इन्द्र उस पर मोहित होगये और मूढम रूप धरण कर उन्होंने उस घोड़े के देह में प्रवेश किया । इस प्रकार उसने रानी का सग प्राप्त किया ॥१३॥ तब राजा जनमेजय ने इस प्रकार का विकार देख कर रानी से कहा—यह मृत अश्व ही तेरा काल हो जायगा ॥१४॥

अध्वयुर्जनिस पन्नस्तदिन्द्रस्य विचेष्टितम् ।
 कथयामास राजर्षे शशाप स पुर दरम् ॥१५॥
 यद्यस्ति मे यज्ञफल तपो वा रक्षत प्रजा ।
 फलेनानेन सर्वेण ब्रवीमि श्रूयतामिदम् ॥१६॥
 अद्यप्रभृति देवेन्द्रमजिनेन्द्रिमजितेन्द्रियमस्थिरम् ।
 क्षत्रिया वाजिमेघेन न यक्ष्यतीति शौनक ॥१७॥
 ऋत्विजश्चात्रवीत्क्रुद्ध स राजा जनमेजय ।
 दौर्बल्यं भवतामेतद्यदय धर्षित क्रतु ॥१८॥
 विषये मे न वस्तव्य गच्छध्व सह बान्धव ।
 इत्युक्तास्तत्यजुर्विप्रास्त नृप जातमन्यव ॥१९॥
 अमर्षादिन्वशासच्च पत्नीशालागत स्त्रिय ।
 राजा परमधर्मज्ञस्तामसो जनमेजय ॥२०॥
 असती वपुष्टमामेता निर्यातपत मे गृहात् ।
 यया मे चरणौ मूर्ध्नि पातितौ रेणुगुण्ठितौ ॥२१॥
 शौण्डीर्यं मेऽनया भग्नं यशो मानश्च दूषित ।
 त चैना द्रष्टुमिच्छामि परिकलिष्टामिव स्रजम् ॥२२॥

तभी ज्ञानवान् अध्वयु ने अपनी ज्ञान दृष्टि के प्रभाव से इन्द्र की कुचेष्टा को जान लिया और उसका सब वृत्तान्त राजा से यथावत् कहा ॥ १५ ॥ तब राजा ने कुपित होकर इन्द्र को शाप दिया कि यदि मेरे यज्ञ का, तप का अथवा प्रजा-पालन का कुछ भी धर्म फल बचा हो तो मेरे उसी फल से अश्वमेध यज्ञ

का अनुष्ठता कोई भी क्षत्रिय अब से इन्द्र को नहीं पूजेगा ॥ १६-१७ ॥ फिर उस क्रोधित हुए राजा जनमेजय ने ऋत्विजों को सम्बोधित करके कहा—
 ऋत्विजो ! आपकी ही असावधानी से मेरे यज्ञ में यह विघ्न उत्पन्न हुआ है
 इसलिये अब से आप मेरे राज्य में नहीं रहेंगे । आप सभी सपरिवार मेरे राज्य
 से तुरन्त ही चले जाय । राजा के वचन कर क्रोधित हुए ऋत्विज गण तुरन्त
 ही वहाँ से चले दिये ॥१८-१९॥ फिर राजा जनमेजय अपने अन्त पुर में पहुँचे
 और अत्यन्त क्रोध पूर्वक अपनी पत्नियों से कहने लगे मेरी आज्ञा है कि इस
 असती वपुष्टमा को मेरे गृह से तुरन्त ही निष्कल बाहर करो, क्योंकि इस दुष्टा ने
 अपना धूलधूसरित पाँव मेरे सिर पर रख दिया है ॥२०-२१॥ इसके कुछ ही
 मेरा सम्मान, गौरव और कीर्ति—सभी कुछ समाप्त होगया । उपभोग की हुई
 माला के समान नीरस हुई इस दुष्ट स्त्री का अब मुख भी नहीं देखूँगा ॥२२॥

न स्वादु सोऽश्नाति नरः सुखं स्वपिति वा रहः ।
 अन्वास्ते यः प्रिया भार्या परेण मृदितामिह ॥२३॥
 पुनर्न वोपभुञ्जन्ति श्वावलीढं हविर्यथा ।
 एवमुच्चैः प्रभापन्त क्रुद्ध पारीक्षतं नृपम् ।
 गन्धर्वराजः प्रोवाच विश्वावसुरिद वचः ॥२४॥
 त्रियंशतयज्वानं वासवस्त्या न मृष्यते ।
 अप्सरास्तेन पत्नी ने विहितेयं वपुष्टमा ॥२५॥
 रम्भानामाप्मरा देवी काशिराजमुता मता ।
 संपा योषिद्वय राजनूरत्नभूताऽनुभूयताम् ॥२६॥
 यज्ञे विरमासाद्य विघ्नमिन्द्रेण ते कृतम् ।
 यज्या ह्यसि गुरुष्वेष्ट समृद्ध्या वासवोपमः ॥२७॥
 विभेत्यमिमवाच्छेष्टस्तव व्रतुफर्ननृप ।
 तस्मादावर्तितश्च यः क्रनुरिन्द्रेण ते विमो ॥२८॥
 भार्यया वासवेनेह प्रयुक्ता विघ्नमिच्छता ।
 क्रनोऽखरमासाद्य मशप्नं दृश्य वाजिनम् ॥२९॥

जो पुरुष पराये संसर्ग को प्राप्त हुई स्त्री के साथ जीवन-यापन करे, उसको कभी सुत्वाद् पदार्थों से भी तृप्ति नहीं मिल सकती ॥ २३ ॥ इसलिये बुद्धिमान् पुरुष कुत्ते द्वारा दूषित हुई हवि के समान ही इस प्रकार की दुष्टा स्त्रियों का परित्याग कर देते हैं । जिस समय राजा जनमेजय इस प्रकार का कटु भाषण कर रहे थे, तभी गंधर्वराज विश्वावसु राजा के पास आकर बोले— हे राजन् ! आपके सौ यज्ञों का पूर्ण होना इन्द्र को किसी प्रकार भी सहन नहीं हुआ, इसीलिये उन्होंने अपनी रम्भा नाम की अप्सरा को वपुष्टमा बना कर आपकी भार्या कर दी ॥ २४ ॥ इसीलिये उस रम्भा ने काशिराज की पुत्री स्त्री रूप में जन्म लिया था । अतः आपकी रानी वपुष्टमा दुष्टा नहीं, स्त्रियों में रत्न रूपा है ॥ २५ ॥ यह तो आपके यज्ञ को भ्रष्ट करने की इन्द्र की ही चाल थी, क्योंकि आप ऐश्वर्य और यज्ञ-कर्म—दोनों में इन्द्र से कम नहीं हैं ॥ २६ ॥ आप-को सौ यज्ञों के पूर्ण होने पर जिस फल की प्राप्ति होती, उससे उनका इन्द्रत्व न क्षीन जाय, इसी आशंका से इन्द्र भयभीत रहते थे, इसीलिये अवसर मिलने पर उन्होंने आपके यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण नहीं होने दिया है ॥ २७-२८ ॥

रतिमिन्द्रेण रम्भायां मन्यसे वा वपुष्टमाम् ।
अथ ते गुरवः शप्तास्त्रियज्ञशतयाजिनः ॥ ३०
अ शितस्त्वं च विप्राश्च बलादिन्द्रसमादिह ।
त्वत्तश्च व सुदुर्घर्षास्त्रियज्ञशतयाजिनः ॥ ३१
विभेति हि सदा त्वत्तो ब्राह्मणेभ्योऽपि वासवः ।
एकेन वै तदुभय तीर्णं शक्रेण मायया ॥ ३२
स एष सुमहातेजा विजिगीषुः पुरन्दरः ।
कथमन्यैरनाचोणं नप्तुर्दारानतिक्रमेत् ॥ ३३
यथैव हि परा बुद्धिः परो धर्मः परो दमः ।
यथैव परमैश्वर्यं कीर्तितं हरिवाहने ।
तथैव त्वयि दुर्घर्षे त्रियज्ञशतयाजिनि ॥ ३४
मा वासव मा च गुरुमात्मानं मा वपुष्टमाम्
गच्छ दोषेण कालो हि सर्वथा दूरतिक्रमः ॥ ३५

आपने जिसे वपुष्टमा मान रखा है, वह यथार्थ में रम्भा है । आपके यज्ञ में विघ्न उपस्थित करने के लिये ही इन्द्र ने यह षड्यन्त्र रचा था, जिसे न समझ कर आपने गुरुजनो को अपमानित किया है ॥३०॥ ऐसा करके आप सब ब्राह्मणों सहित इन्द्रत्व के फल से वंचित होगये हैं । इन्द्र को जो भव आपसे था, वही उन ब्राह्मणों से था, इसलिये एक ही छल में उन्होंने दोनों को जीत लिया है ॥३१-३२॥ यदि यह बात न होती तो वे ऐसे जघन्य दुराचरण में क्यों प्रवृत्त होते ? ॥३३॥ हे राजन् ! जिस प्रकार इन्द्र ज्ञान, धर्माचरण, दम, ऐश्वर्य और कीर्ति से युक्त हैं, उसी प्रकार आप में भी वे सब गुण समान रूप से हैं ॥३४॥ इसलिये आप इन्द्र, गुरुजन, वपुष्टमा, अथवा स्वयं को भी दोष मत दीजिये । यह तो काल का प्रभाव था, जिसके अतिक्रमण में कोई भी समर्थ नहीं है ॥३५॥

ऐश्वर्येणाश्वमाविश्य देवेन्द्रेणासि रोषितः ।

आनुकूल्येन देवस्य वर्तितव्यं सुखार्थिना ॥३६॥

दुस्तरं प्रतिकूलं हि प्रतिस्वोत इवाम्भसः ।

स्त्रीरत्नमुपभृङ्क्ष्वेमामपापा विगतज्वरः ॥३७॥

अपापास्त्यज्यमाना वं त्यजेयुरपि योषितः ।

अदुष्टस्तु स्त्रियौ राजन्दिव्यास्तु सविशेषतः ॥३८॥

इन्द्र ने अश्व के देह में प्रवेश करके आप में क्रोध उत्पन्न कर दिया है, यदि आप सुख की कामना करते हो तो इन्द्र के अनुकूल कार्य कीजिये ॥३६॥ जैसे जल का वेग नहीं रुक सकता, वैसे ही इन्द्र से प्रतिकूल होकर जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता । इसलिये आप इस नारी रत्न को निष्कलक समझिये ॥३७॥ निरपराधिनी नारी का त्याग उसके क्रोध का कारण हो सकता है । एक तो नारी जाति के दोष को वैसे ही अधिक नहीं माना जाता, जिस पर वपुष्टमता में तो दिव्यागना होने की विशेषता है ॥३८॥

एवं स विश्वावमुनाऽनुनीतः प्रसादमागम्य वपुष्टमायाः ।

चकार निध्या च्यतिशङ्कतात्मा शान्तिं परा मानवधर्मदृष्टान् ॥३९॥

श्रमममिविनिवर्तमानसं स समभिलपज्जनमेजयो ह्यशः स्वम् ।
 विषयमनुशशास घमंबुद्धिमुदितमना रमयन्वपुष्टमां ताम् ॥४०॥
 नही विरमति विप्रपूजनान्न च वितिवर्तति यज्ञदानशीलात् ।
 न विषयपरिक्षणाच्युतोऽभून्न च परिगर्हति तां वपुष्टमां च ॥४१॥
 विधिविहितमशक्यमन्यथा हि कर्तुं यदपिरचिन्त्यतया पुराऽश्ववीत्सः ।
 इति स नृपतिरात्मब्रान्तदाऽसी तदनु विचिन्त्य बभूव वीतमन्युः ॥४२॥
 इदं महाकाव्यमृपेर्महात्मनः पठन्तूणां पूज्यतमो भवेन्नरः ।
 प्रकृष्टमायुः समवाप्य दुर्लभं लभेच्च सर्वज्ञफलं च केशवम् ॥४३॥
 शतक्रतोः कल्मषविप्रमोक्षणं पठन्निद मुच्यति कल्मषान्तरः ।
 तथैव कामान्विविधान्समश्नुते ह्यवाप्तकामश्च चिराय नन्दति ॥४४॥

इस प्रकार विश्वावसु के वचनो को मान कर राजा जनमेजय ने वपुष्टमा के प्रति शंका रहित होकर अपने चित्त को शान्त कर लिया ॥३६॥ फिर अपनी यश-वृद्धि के लिये दत्त चित्त होकर राज्य-शासन चलाने लगे और वपुष्टमा भी दोपारोपण को भूल कर प्रसन्न चित्त रहने लगी ॥ ४० ॥ उस समय से राजा जनमेजय ने ब्राह्मणों के पूजन में प्रमाद नहीं किया, दान और यज्ञ पहिले के समान ही होने लगे, देश-रक्षा के कार्य में भी वे कभी उदासीन नहीं रहे ॥४१॥ महर्षि व्यासजी का वचन यथायं था कि काल की शक्ति का उल्लंघन नहीं हो सकता—यह स्थिर कर राजा जनमेजय राज्य कार्य एव विहार करने लगे ॥४२॥ महर्षि व्यास प्रणीत इस महाकाव्य और इन्द्र के पाप नष्ट होने सम्बन्धी इस इतिहास के पढ़ने वाले को मान, दीर्घायु, सर्वज्ञता और सुख प्राप्त होता है, उसका कोई भी अमीष्ट अपूर्ण नहीं रहता ॥४३-४४॥

॥ सनातन ब्रह्म का वर्णन ॥

शृणुष्वैकमना राजन्यञ्चेन्द्रियसमाहितः ।
 कथा कथयतो राजन्निर्विकारेण चेतसा ॥१॥
 ब्रह्मसम्बन्धसंबद्धमबद्धं कर्मभिर्नृप ।
 पुरस्ताद्ब्रह्म संपन्नं ब्रह्मणो यददर्क्षिणम् ॥२॥

अव्यक्तं कारणं यत्तन्नित्यं सदसदात्मकम् ।
 निष्कलः पुरुषस्तस्मात्सबभूदात्मयोनिजः ॥३॥
 दिव्यो दिव्येन वपुषा सर्वभूतपतिर्विभुः ।
 अचिन्त्यश्चाव्ययश्चैव युगानां प्रभवोऽव्ययः ॥४॥
 अभूतश्चाप्यजातश्च सर्वत्र समता गतः ।
 अव्यक्तात्परमं यत्तन्नारायणविदो विदुः ॥५॥
 सर्वतः पाणिपादं तं सर्वतोऽक्षशिरोमुखम् ।
 सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥६॥
 असत्तश्च सतश्चैव विज्ञेयं तत्र कारणम् ।
 अव्यक्तो व्यक्तरूपस्थश्चरन्नपि न दृश्यते ॥७॥
 विकारपुरुषोऽव्यक्तो ह्यरूपी रूपमाश्रितः ।
 चरत्यचिन्त्य सर्वेषु गूढोऽग्निरिव दारुणः ॥८॥

वैशम्पायनजी कहने लगे—हे राजन् ! आपने जो पचेन्द्रियों से न जान सकने योग्य परब्रह्म का स्वरूप सुनने की इच्छा की है, मैं उसे कह रहा हूँ, आप पवित्र भाव से सुनिये । उस साख्य-सिद्धान्त के अनुसार सूक्ष्म और स्थूल जगत के कारण परम पुरुष का कभी नाश नहीं होता, वह सदा पूर्ण रहता है । अहंकार तत्त्व तथा ब्रह्मा की उत्पत्ति उसी से होती है ॥१-३॥ वह समस्त जीवों और सभी विषयों का स्वामी, सर्वत्र-व्याप्त, विचार में न आ सकने योग्य और खड्गित न होने वाला है । काल सम्बन्धी परिवर्तन उसी के कारण होता है । वह किसी से उत्पन्न नहीं होता, फिर भी वह सर्वत्र विद्यमान रहता है । इसी में विद्वान् उसे विभु और नारायण कहते हैं ॥४-५॥ उसके सब ओर हाथ, पैर, नेत्र, शिर और मुख हैं और वह इस समस्त विश्व को घेर कर रहता है । विश्व में सत् और असत् जो कुछ है उसका कारण वही है पर वह कभी प्रत्यक्ष दिखाई नहीं पड़ सकता वह सफ़ेदी में गमित अग्नि की तरह विश्व के प्रत्येक पदार्थ में समाया है, पर रूप रहित होने के कारण वह कभी देखा नहीं जा सकता ॥ ६-७-८ ॥

भूतभव्योद्भवो नाथः परमेष्ठोऽप्रजापतिः ।

प्रभुः सर्वस्य लोकस्य नाम चास्येति तत्त्वतः ॥९॥

अपदात् पदो जातस्तस्मान्नारायणोऽभवत् ।

अव्यक्तो व्यक्तिमापन्नो ब्रह्मयोगेन कामतः ॥१०॥

ब्रह्मावे च तं विद्धि स शब्दं लब्धवान्प्रभुः ।

प्रभुः सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्येतरस्य च ॥११॥

अहं त्विति स होवाच प्रजाः स्रक्ष्यामि भारत ।

प्रभवः सर्वभूतानां यस्य तन्तुरिमाः प्रजाः ॥१२॥

स्वभावाज्जायते सर्वं स्वभावाच्च तथाऽभवत् ।

अहंकारः स्वभावाच्च तथा सर्वमिदं जगत् ॥१३॥

सर्वव्यापी निरालम्बो ह्यग्राह्योऽथ जयो ध्रुवः ।

एवं ब्रह्ममयो ज्योतिर्ब्रह्मशब्देन शब्दितः ॥१४॥

अव्यक्तो व्यक्तिमापन्नः पञ्चभिः क्रतुलक्षणैः ।

धारयन्ब्रह्मणो व्यक्तं विविधं चिन्तितं स्वरम् ॥१५॥

काल तथा अवस्था की दृष्टि से वही भूत, भविष्य और वर्तमान काल के रूप में 'परिवर्तित' होता रहता है । वह सब लोको व जीवों का स्वामी, परम आश्रय और रक्षयिता है । उस 'नारायण' के बिना पैर हुये भी अनेको पैर हो जाते हैं और वह ब्रह्म योग द्वारा ही जाना जा सकता है । वह ब्रह्म कहा जाने वाला चराचर जगत् का एकमात्र स्वामी है ॥९-११॥ वही सृष्टि-रचना का निश्चय करके उनमें सलग्न हो जाता है और तब उसी के शरीर से समस्त प्रजा का प्रादुर्भाव होता है ॥१२॥ इस विश्व-रचना के उद्भाव रूप समस्त तत्त्व तथा सम्पूर्ण विश्व उसी से उत्पन्न होता है यह विजयी, अव्यय रहित, सर्वव्यापी अदृश्य रहने वाला और स्वयं-प्रकाशित वाला तत्त्व ही 'ब्रह्म' शब्द से उल्लिखित होता है । यह ब्रह्म यद्यपि अव्यक्त है पर वही शीघ्र सूक्ष्म भूतों की उपाधियाँ ग्रहण करके सृष्टि-रचना का साधन बन जाता है ॥१३-१५॥

अथ भूति समाधाय स्वभावाद्ब्रह्मचोदितः ।

ससर्ज सलिलं ब्रह्मा येन सर्वमिदं ततम् ॥१६॥

वायु पूर्वमथो दृष्ट्वा यो घातुर्घातृसत्तमः ।
 धारणाद्वातशब्दं च लभते लोकसंज्ञितम् ॥१७॥
 तदेतद्वायुसंभूतं वृत्स्नं जगदभूत्पुरा ।
 एतद्देवं रतिक्रान्तं पूर्वमेव सरस्वती ॥१८॥
 पृथक्त्व गमितं तोयं पृथिवीशब्दमिच्छता ।
 घनत्वाच्च द्रवत्वाच्च निखिलेनोपलभ्यते ॥१९॥
 कलत्वात्सीदमानाच्च सलिले सलिलोद्भवः ।
 द्याजहार शुभा वाणी समन्तात्पूरयन्निय ॥२०॥
 ऊर्ध्वोऽहं स्वातुमिच्छामि ससीदाम्युद्धरस्व माम् ।
 गम्भीरे तोयविचरे मूर्तिविधोभित्तान्तरम् ॥२१॥

विषय का आरम्भिक रूप जल धनसाया गया है, तदनुसार ब्रह्मा जल
 की ही सृष्टि करने हैं । जल से पूर्व वायु होनी है । ये ब्रह्मा ही सत्तार को धारण
 करते हैं इसलिये जगत् में 'घाता' बहे जाते हैं ॥१६-१७॥ उस जलमय सत्तार
 में जब ब्रह्मा की इच्छा प्राणियों के निवास योग्य स्थान बनाने की हुई तो जल
 और भूमि पृथक् पृथक् हो गये और द्रव तथा ठोस पदार्थों का भेद जा पड़ने
 लगा ॥ १८-१९ ॥ उस अवसर पर जल में दूबी हुई पृथ्वी ने स्वयं ही ब्रह्मा का
 ध्यान करते हुये कहा—इस अवस्था जल स्थिति में दूबी रहने से मैं आपत बने-
 सित हूँ, आप मुझे बुरा कर बाहर निकालिये ॥२०-२१॥

ततो मूर्तिधरा देवी सर्वभूतप्ररोहिणी ।
 मयायोगेन संभूता मयं च विषयं पिबो ॥२२॥
 श्रुत्वा च गदितं तस्या गिरं तां च मुखापिनाम् ।
 परादृश्यमाख्याय निषपात महापथे ॥२३॥
 उद्धृत्य भोजयन् तोयागृत्वा ममं गुरुदाम् ।
 समाधौ प्राप्यं गत्या प्रतीनो न च हन्यते ॥२४॥
 परादृश्यमयं ज्योतिराकाशमिति न श्रियम् ।
 तत्र ब्रह्मा समुद्भूतः सर्वभूतगणितान्तरम् ॥२५॥

अद्यापि मवमा घात्रा घायते सर्वयोगिना ।
 ज्ञातयोगेन सूक्ष्मेण प्रजाना हितकाम्यया ॥२६॥
 भित्त्वा तु पृथिवीमध्यमुपयाति समुद्भवम् ।
 तपनस्तूष्णमातिष्ठन्नृश्मिभिः स दहन्निव ॥२७॥
 तस्य मण्डलमध्यात्तु नि सृत सोममण्डलम् ।
 स सनातनजो ब्रह्मा सौम्य सोमत्वमम्बगात् ॥२८॥

इस पर भगवान् ने 'वाराह रूप' द्वारा उसे बाहर निकाला। इस महान् कार्य की पूरा करके वे अपने समाधि योग से वही अदृश्य हो गये ॥२२-२४॥ इस प्रकार वे उद्योति स्वरूप नारायण ही उस समय 'आकाश स्वरूप थे, उन्होंने विश्व-स्रष्टा ब्रह्माजी का उद्भव हुआ। अब भी वे अपनी इच्छा से योग-शक्ति द्वारा सब प्राणियों को धारण किये हुये हैं ॥२५-२६॥ उस पृथ्वी रूप-पिण्ड को विदीर्ण करके सूर्य प्रकट हुये शिनका तेज ऐसा था कि उससे विश्व जलता-सा जान पड़ता था। इस लिये उस मण्डल से एक दूसरा मण्डल प्रादुर्भाव हुआ जो अपने सौम्यत्व के कारण सोम-मण्डल कहा गया ॥२७-२८॥

सोममण्डलपर्यन्तात्पवन समजायत ।
 तदक्षरमय उद्योतिस्तेजोभिरभिवर्द्धयन् ॥२९॥
 स तु योगमयज्ञानात्स्वभावाद्ब्रह्मास भवात् ।
 सृजते पुरुष दिव्य ब्रह्मयोनि सनातनम् ॥३०॥
 द्रव यत्सलिल तस्य घन यत्पृथिवी भवत् ।
 छिद्र यच्च तदाकाश उद्योतियञ्चक्षुरेव तत् ॥३१॥
 वायुना स्पन्दते चैन स घाताज्ज्योतिस भव ।
 पुरुषात्पुरुषो भाव पञ्चभूतमयो महान् ॥३२॥
 भूतात्मा वै समे नस्मि तन्मिन्देह सनातन ।
 गुहाया निहित ज्ञान योगयज्ञ सनातन ॥३३॥
 तपनस्यैव तद्रूप योऽग्निर्वसति देहिनाम् ।
 शरीरे नित्यशो युक्ते घातुभि सह स गत ॥३४॥

स्वभावात्क्षयमायाति स्वभावाद्भयमेति च ।

स्वभावाद्धिन्दते शान्ति स्वभावाच्च न विन्दति ॥३५

उस सोम मण्डल से जो पवन रूप तत्त्व निकला वह सर्व प्रकाशक तथा ज्योतिमय था, वही ससार मे 'वेद' के नाम से विख्यात हुआ । भगवान नारायण ने ही अपनी इच्छा से वेदोक्त सनातन पुरुष की सृष्टि की । उस सनातन पुरुष का द्रव भाग जल, स्थूल भाग पृथ्वी, पोला भाग आकाश ज्योति भाग नेत्र और शरीर का स्पन्दन ही बायु था । इस प्रकार उस अव्यक्त ब्रह्म से पंचभौतिक विश्व की उत्पत्ति हुई ॥२६-३२॥ इस प्रकार वह सनातन पुरुष समस्त प्राणियों मे समान रूप से स्थित रहता है और इसका ज्ञान योग दृष्टि प्राप्त होने से ही होता है । शरीर में पचभूतों के साथ जो यह तपन रूप शक्ति रहनी है उसको ही सामान्यजन 'जीव' कहते हैं पर तत्त्वदर्शी उसे परमात्मा का ही अंश आत्मा मानते हैं । यह आत्मा ही पूर्व सत्कारों के कारण गुणअव-गुण या शान्ति-अ-शान्ति का अनुभव किया करती है ॥३३-३५॥

इन्द्रियं व्यतिमूढात्मा मोहितो ब्रह्मणः पदे ।

सम्भवं निधनं चैव कर्मभिः प्रतिपद्यते ॥३६

यावत्तद्ब्रह्मविषयं नोपयातीह तत्त्वतः ।

तावत्संसारमाप्नोति सम्भवाश्च पुनः पुनः ॥३७

इन्द्रियं व्यतिरिक्तो वै यदा भवति योगवित् ।

तदा ब्रह्मत्वमापन्नः प्रलयाग्रे प्रतिष्ठति ॥३८

प्रतिपिदममुं लोकं ब्रह्मवान्स भवत्युत ।

न च रागव्ययं याति न च सज्जति कर्हिचित् ॥३९

आगतिं च गतिं चैव निधनं सम्भवं तथा ।

भूतेभ्यो वेत्ति सर्वज्ञः परा सिद्धिमुपागतः ॥४०

आत्मनो गतयश्चैव तथा विषयगोचरम् ।

पुरस्तात्कर्म निवृत्तेः पदे ब्रह्म प्रतिष्ठितम् ॥४१

चित्तग्रन्थीश्च मनसा रुन्ध्यात्पूर्वाश्च यातनाः ।

भिद्यमानाः प्रलोभेन वायुमिन्नमिवाण्वम् ॥४२

इन्द्रियों के व्यसनो मे फँसे हुये प्राणी ब्रह्मज्ञान की ओर आकर्षित नहीं होते और इससे ससार-चक्र मे ही फसे रहते हैं। पर जो इन्द्रियो को वशोभूत करके ब्रह्मयोग मे अग्रसर होते हैं, वे उम अचिन्त्य आनन्द को भोग कर प्रलय के पश्चात् भी परमानन्द की स्थिति को स्थायी कर लेते हैं ॥३६-३८॥ इसलिये ब्रह्मज्ञानी सासारिक सुखो को क्षणस्थायी समझ कर कभी उनके लिप्त नहीं होते। वरन् वे अन्य लोगो की गति, अग्नि, मृत्यु-जन्म के कर्म फलको देखते हुये अपनी मुक्ति के लिये ही प्रयत्न करते रहते हैं। जो विषय वासनायें सामान्य लोगो के चित्त मे हल-चल मचाती रहती हैं, ब्रह्मज्ञ भी उनको दुःख मूलक जान कर त्याग देते हैं ॥३६-४२॥

पच्यते हृदयं नीलं परम्यो ज्ञानचक्षुषा ।
 ब्रजप्रोक्तमिवात्मा र्वं विमुक्तो देहबन्धनात् ॥४३॥
 सृजेदपि परं लोकं सहरेदपि विद्यया ।
 तेजोमूर्तिरिवाविद्धमिह लोकं च ससृजेत् ॥४४॥
 तिर्यग्योनी गताश्चैव कर्मभिर्नियमोपमैः ।
 तान्यपि प्रणिमुच्ये ब्रह्मयुक्तेन चेतसा ॥४५॥
 अक्षरं चाक्षरं चैव योगकर्माभिविद्यते ।
 न क्षरं विद्यते तल्लयद्ब्रह्म कर्मभिर्ध्रुवम् ॥४६॥

सच्चा ब्रह्मज्ञान उसी की समझना चाहिये जिससे हृदय काम-क्रोध आदि दुर्वासनाओ से मुक्त होकर ज्ञान चक्षु खुल जाते हैं और मन शुद्ध हो जाता है। ऐसा होने से मनुष्य देह बन्धन से छुटकारा पा जाता है। ऐसे ब्रह्मज्ञान सम्पन्न व्यक्ति ब्रह्मा के समान लोक की सृष्टि और सहार करने मे भी समर्थ होते हैं ॥ ४३-४४ ॥ वे स्वयं ही नहीं अन्य पापग्रस्त तथा पशु-पक्षी योनियो में पड़े जीवो का भी उद्धार कर देते हैं। सासारिक भोग और मोक्ष-दोनो ही योग कर्म के परिणाम हैं पर सत्य स्वरूप ब्रह्मयोगी मे कर्मकक्ष का कोई अश शेष नहीं रहता ॥ ४५-४६ ॥

॥ शुभाशुभ कर्मों का फल ॥

पृथिव्यां यत्कृतं छिद्रं तपनेन विवर्द्धता ।
 तस्मिन्न्यस्तोऽथ मैनाकः स्वभावविहितोऽचलः ॥१॥
 पर्वभिः पर्वतत्वं च लभते नाम संज्ञितम् ।
 अचलादचलत्वं च स्वभावान्मेरुरेव सः ॥२॥
 यस्य पृष्ठे सुविस्तीर्णो नगस्य सुमहर्द्धिमान् ।
 तस्मिंस्तु पुरुषो व्यक्तो वगति ज्योतिरुद्भवः ।
 विहितश्च स्वभावेन तेनैव परमात्मना ॥३॥
 यत्तद्ब्रह्मयं तेजो निहितं शिरसोऽन्तरे ।
 तस्य ज्योतिर्मयं रूपं दीप्तं पुरुषविग्रहम् ॥४॥
 वदनादभिनिष्क्रान्तं ज्वलन्तमिव तेजसा ।
 चतुर्भुवं दर्भं युक्तं चतुर्भिश्च भुजोत्तमैः ॥५॥
 वक्त्रं ब्रह्मसमुद्भूतं ब्रह्मा ब्राह्मणपुङ्गवः ।
 तदेव तन्महाभूतं पुनर्भावेत्त्वमागतम् ॥६॥
 उदधृता पृथिवी देवी पुरस्नात्सलिलाशयात् ।
 ब्रह्मत्वं ब्रह्मणः स्थानादलोको सौरुता गतः ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे महाराज ! पृथ्वी के मध्य भाग को विदीर्ण करके जब सूर्य आकाश में स्थित हो जाते हैं, तो इससे जो छिद्र होता है उस जगह सुमेरु और मैनाक पर्वत उपस्थित हो जाते हैं । इनमें 'पर्व' (बामना पूर्ण करने की प्रवृत्ति) होनी है इसलिये उनका नाम 'पर्वत' पड़ा । चलने फिरने की शक्ति न होने से इनको 'अचल' कहा गया ॥ १-२ ॥ उस सुमेरु पर्वत की पीठ पर ज्योतिर्मय परमेश्वर की स्थिति होती है । वेदान्त के अनुसार जिसे ब्रह्मयं तेज कहा गया है, उस ज्योतिर्मय परम पुरुष उसका विग्रह होता है ॥ ३-४ ॥ उस परम पुरुष के मुख में चार नूत युवन तथा प्रदीप्त ज्ञान पड़ने वाला जो तेज निरसता उसी को चतुर्भुवं कहते हैं । ब्रह्म के मुख से उत्पन्न होने के कारण ही उसे ब्रह्मा कहते हैं और इसी से द्विज वा नाम ब्राह्मण कहा गया है ॥ ५-६ ॥

पृथ्वी का जल के भीतर से उद्धार करने वाले भगवान् बाराह चतुर्भुज बहे गये है ॥ ७ ॥

पदसंधौ ब्रह्मलोकं शृङ्गं मेरोस्तदाऽभदत् ।
 उच्छिन्नं योजनशतं सहस्रशतमेव च ॥८
 एवमेव च विस्तारं चतुर्भिर्गुणितं गुणैः ।
 अथवा नैव सख्यातुं शक्यं भूतेन केनचित् ॥९
 चतुर्भिः पार्श्वविस्तारैः शिलामिरभिसंवृतैः ।
 नगस्य यस्य राजेन्द्र विस्तारं शतयोजनैः ॥१०
 कोटिकोटीशतगुणं गुणितं ब्रह्मवादिभिः ।
 योगयुक्तैः सदा सिद्धं नित्यं ब्रह्मपरायणैः ॥११
 महद्भिः सह देवेन्द्रै रुद्रैर्वसुभिरेव च ।
 आदिष्यं विश्वसहितं ररक्ष वसुधाधिपान् ॥१२
 ररक्ष पृथिवी चैव भगवान्विष्णुना ।
 विष्वक्स्वरुणाभ्यां च संघातं गमिता नृप ॥१३
 तेन ब्राह्मेण वपुषा ब्रह्मप्राप्तेन भारत ।
 यत्तद्विष्णुमयं तेजः सर्वं स समता गतम् ॥१४
 यत्तद्ब्रह्मेति वै प्रोक्तं ब्राह्मणं वेदपारगैः ।
 नियमं बहूभिः प्राप्तं सत्यव्रतपरायणैः ॥१५

सुमेरु के शिखर की ऊँचाई सौ हजार योजन और विस्तार इससे चौगुना बतलाया गया है । उसी के ऊपर ब्रह्मलोक की स्थिति बही जाती है । इस पर्वत के विस्तार की नाप-जोख कोई लाखों वर्ष में भी नहीं कर सकता ॥८-९॥ उसके चारों ओर स्तम्भों की तरह महाविशाल शिलायें दिखाई पड़ती हैं । योग-परायण सिद्ध ब्रह्मज्ञानी भी उनका विस्तार करोड़ों योजन बतलाते हैं । वास्तव में उसके विस्तार को कोई जान नहीं सकता यह अनन्त है ॥१०-११॥ उन चास महत्, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य विश्वे देव, वरुण और इन्द्रादि देवों से यह पृथ्वी व्याप्त रहती है और भगवान् विष्णु और ब्रह्मा अपने तेज से पृथ्वी का

पालन करते हैं और कर्म तथा ज्ञान के मोक्षप्रद उपदेशों से यहाँ के राजाओं आदि का मार्ग दर्शन करते हैं ॥१२-१५॥

एवमेते त्रयो लोका ब्राह्मोऽहनि समाहिताः ।

अहनि ब्रह्म चाव्यक्तं व्यक्तं प्राणे प्रतिष्ठितम् ॥१६

ब्रह्मणो नियतं कर्म प्रभावेण प्रचोदितम् ।

प्रवर्त्तमानं भावेन शश्वदच्छलवादिनाम् ॥१७

एतद्धितमिति प्रोक्तं ब्राह्मणं वेदपारगं ।

यदेकं ब्रह्मणः पादं दिष्टत्वं गमितं पदम् ॥१८

बहुत्वाद्विप्रभावानां विश्वशब्दः प्रयुज्यते ।

ब्राह्मणं ब्रह्मभूतात्मा सत्यव्रतपरायणः ॥१९

विश्वरूपं मनोरूपं बुद्धिरूपं च मानयन् ।

एवं द्वन्द्वं स भगवान्प्रथमं मिथुनं सृजत् ॥२०

स एव भगवान्विश्वो देव्या सह सनातनः ।

विधाय विपुलान्भोगान्ब्रह्मा चरति सानुगः ॥२१

जिस ब्रह्म को तीनो लोक वासी अश्वस्त और यज्ञ में प्रतिष्ठित कहते हैं, योगी जन उसे प्रत्यक्ष रूप से अपनी अंतरात्मा में स्थिति देखते हैं । पुण्य कर्मों में अनुराग रखने वाले धार्मिक जन जो कर्म वेद विहित करते हैं, वेदों के ज्ञाता उसे हितकर कहते हैं । पर इस प्रकार के कर्म जनित पुण्य परमात्मा के एक अणु भाग ही होते हैं, क्योंकि वह वास्तव में कर्म से नहीं आत्मज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है । इसी लिये सत्य को मानने वाले ब्रह्मविद् 'विश्व' शब्द से उसका उल्लेख करते हैं ॥ १६-१९ ॥ वही परमात्मा स्थूल रूप, मनोरूप तथा बुद्धिरूप जगत् को रच कर सर्व प्रथम मिथुन (स्त्री-पुरुषों) की रचना करता है । वही विश्वरूप भगवान् आदि देवियों के रूप में विपुल भोग करता सर्वत्र स्थित है ॥ २०-२१ ॥

३ एव भगवान्ब्रह्मानित्यं ब्रह्मविदा वरः ।

नेर्वाणभयगन्तृणामकिञ्चनपथैषिणाम् ॥२२

सोमात्सोमः समुत्पन्नो धारासलिलविग्रहात् ।
 यथाभिपिबतो भूतानामाधिपत्ये महेश्वरः ॥२३॥
 अभिपिब्य च भूतेशं कृत्वा कर्म स्वभावतः ।
 नदति स्म तदा नादं तेन सा ह्युच्यते नदी ॥२४॥
 सा ब्रह्मलोकं सम्भाव्य अभिमूय सहस्रधा ।
 गा गता गगनाद्देवी सप्तधा प्रससार च ॥२५॥
 सहस्रधा च राजेन्द्र बहुधा च पुनः पुनः ।
 इमं लोकममुं चैव भावयन्क्षरसम्भवम् ॥२६॥
 ततो भूतानि रोहन्ति महाभूतफलानि च ।
 ततः सर्वे क्रियारम्भाः प्रवर्तन्ते मनीषिणाम् ॥२७॥

जो ब्रह्मज्ञान परायण ऋषि-मुनि निर्वाण-पदगामी जनो मे अग्रणी और श्याम परायण थे उनके नियन्ता ब्रह्माजी ही होते हैं । परमेश्वर के सलिल रूप में सोमदेव की उत्पत्ति हुई है । उसी सलिल से परमात्मा ने समस्त जीवों के अद्यक्ष पद पर भगवान् महेश्वर को अभिपिबत किया ॥२२-२३॥ तत्परचात् वे बहुत गम्भीर रूप से नाद करने लगे, जिससे उस सलिल धारा का नाम नदी हुआ । परमाला द्वारा प्रकट नदी ब्रह्मलोक होकर पर्वतादि को विदीर्ण करके पृथ्वी पर आई । गगन से आने के कारण ही उसका नाम गगा पडा और वह पृथ्वी पर सात धाराओं में विभक्त होकर बहने लगी ॥२४-२५॥ फिर उन गगा ने सहस्रो तीर्थों के रूप में अपना विस्तार किया जिससे लोक और पर लोक में उनका विस्तार हुआ और मान वृद्धि हुई । गगाजी के जल के तेज से धान्य के बीज अकुरित होने लगे और उनसे तरह-तरह के प्राणियों की वृद्धि होने लगी । इन धान्य तथा मनुष्यादि में ही मनीषियों द्वारा समस्त धार्मिक क्रियाएँ प्रवर्तित की गईं ॥ २६-२७ ॥

चतुर्भिर्वदनैस्तस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ।
 तदाऽक्षरमयी सिद्धिर्दिशत्वं समुपागता ॥२८॥

तस्य ज्ञानमयं पुण्यं चतुष्पादं सनातनम् ।
 पतित्वेनाभवद्देवो ब्रह्मा चात्र पितामह ॥२८॥
 पादा धर्मस्य चत्वारो यैरिदं धार्यते जगत् ।
 ब्रह्मचर्येण व्यक्तेन गृहस्थेन च पावने ॥३०॥
 गुरुभावेन वाक्येन गुह्यगामिनगामिना ।
 इत्येते धर्मपादा स्युः स्वर्गहेतो प्रचोदिताः ॥३१॥
 म्यायाद्वर्मेण गुह्येन सोमो वर्धति मण्डले ।
 ब्रह्मणो ब्रह्मचरणाद्देवा वर्तन्ति शाश्वता ॥३२॥
 गृहस्थानभिवाक्येन तृन्यन्ति पितरस्तथा ।
 श्रृपयोऽपि च धर्मेण नगस्य शिरसि स्थिता ॥३३॥
 नगस्य तस्य सम्पश्य मेरोः शिखरमुत्तमम् ।
 पद्भ्यां सम्पीड्य वृषणावृषिमिस्त्रिचार्यते ॥३४॥
 ग्रीवा निगृह्य पृष्ठं च विनाम्य प्रहसन्निव ।
 नाभिदेशे करौ न्यस्य सव शोऽङ्गानि स क्षिपन् ॥३५॥

ब्रह्माजी के चारो मुखों से जो-जो ज्ञानमय शब्द निकले वे ही चारों वेद हो गये जो मनुष्यों को धर्म साधन और ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग दिखलाते हैं । यही वेद हूरी ज्ञान आगे चल कर यज्ञ के ब्रह्मा, उद्गाता, होता और भवधुं—इन चार भागों से सम्पन्न होकर अनन्त विस्तार को प्राप्त हो गया और स्वयं भगवान् ब्रह्मा ही उस पद के अधिपति हुये ॥२८-२९॥ धर्म के भी ये ही चार चरण हैं जिनसे वह ससार को धारण करता है । ब्रह्मचर्य आदि चारो आश्रम भी धर्म के चार चरण हैं । धर्म के ये चरण ही स्वर्ग और मोक्ष के साधन रूप माने गये हैं ॥३०-३१॥ योग का गुह्य ज्ञान स्वाध्याय और मनन द्वारा होता है, जिससे मानसिक विकास होता है और यहाँ वेदोक्त ब्रह्मचर्य की स्थिति होती है । गृहस्थ आश्रम का पालन करने वाले व्यक्ति जब इस प्रकार ब्रह्म-योग की ओर प्रवृत्त होते हैं तो मेरु शिखर पर रहने वाले श्रृपिगण तथा उनके पितृगण इससे परम सतुष्ट हो जाते हैं ॥३२-३३॥ वे श्रृपि उन्नी उत्तम शिखर पर विराजमान होकर सदा यबलौकिक करते रहते हैं और जपामूत्र में दाँये और बाँये पंर के

गुरु को रख कर मर्दन तथा रौद्र की हड्डो को सीधा रखते हुये नाभि देस पर हथेलियों को रख कर, मुख को सट्टज रूप से प्रसन्न मुद्रा में रखते हुये साधना पर बैठने हैं । यही योगियों का आसन बहलाता है ॥३४-३५॥

मूर्ध्नि ग्रहा समुत्थित्य मनसाऽपि पितामहः ।
 भृशजन्मनसा विष्णुं योगाद्योगेश्वरस्य च ॥ ३६
 व्यतिरिक्तेन्द्रियो विष्णुर्विम्याद्विम्बमिवोद्भूतः ।
 तेजोमूर्तिधरो देवो नमसीन्दुरिवोदितः ॥ ३७
 रराज ब्रह्मयोगेन सहस्राशुरिवापरः ।
 विराजन्मनसो मध्ये प्रभाभिरनुलं प्रभुः ॥ ३८
 नोपलभ्यति मूढानां प्रत्यक्षं ब्रह्म शाश्वतम् ।
 ललाटमध्ये तिष्ठन्तं द्विधाभूतं क्रिया प्रति ॥ ३९
 ज्योतिषचक्षुषि सम्बद्धं विम्बं चात्करसोमयोः ।
 बुद्ध्या पूर्वं तु पश्यन्ति अध्यात्मविषये रताः ॥ ४०
 ब्राह्मणा वेदविद्वास. सत्यव्रतपरायणाः ।
 नेतरे जातु पश्यन्ति अध्यात्मं नावबुध्यते ॥ ४१

इस प्रकार स्थिर आसन पर बैठ कर योग-साधक स्वास को नियंत्रित करते हुये मस्तक के मध्य में विष्णु-भगवान का ध्यान करते हैं । उस समय सब इन्द्रियो के द्वितीय से निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् ऐसा ज्ञानालोक होता है मानो आकाश में चन्द्रमा का उदय ही हो ॥ ३६-३७ ॥ ऐसा ब्रह्मयोग की साधना से अन्तरात्मा में ज्ञान का ऐसा प्रकाश हो जाता है मानो एक नक्षत्र ही प्रकाशित हो उठा हो । यद्यपि यह भूतारमा ब्रह्म ललाट के मध्य में ही स्थिति रहता है, पर अज्ञानी जन उसे नहीं जान पाते ॥ ३८-३९ ॥ चन्द्रमा तथा सूर्य से ज्योति मनुष्य के दोनों नेत्रों में समाई रहती है, पर ध्यान द्वारा मन को एकाग्र कर सकने वाले ही उसका दर्शन कर सकते हैं । वेदोक्त मार्ग से आत्म साधना करने वाले मनीषी ही उसका अनुभाव करने में समर्थ होते हैं अन्य लोगों को इस अध्यात्म तत्त्व का परिचय नहीं हो पाता ॥ ४०-४१ ॥

तस्य ज्ञानमयं पुण्यं चतुष्पादं सनातनम् ।
 पतित्वेनाभवद्देवो ब्रह्मा चात्र पितामहः ॥२८॥
 पादा धर्मस्य चत्वारो यैरिदं धार्यते जगत् ।
 ब्रह्मचर्येण व्यक्तेन गृहस्थेन च पावने ॥२९॥
 गुरुभावेन वाक्येन गुह्यगामिनगामिना ।
 हृत्पेते धर्मपादाः स्युः स्वर्गहेतोः प्रचोदिताः ॥३०॥
 म्यायाद्धर्मेण गुह्येन सोमो वर्धते मण्डले ।
 ब्रह्मणो ब्रह्मचरणाद्धेदा वर्तन्ति शाश्वनाः ॥३१॥
 गृहस्थानभिवाक्येन तृज्यन्ति पितरस्तथा ।
 अपयोऽपि च धर्मेण नगस्य शिरसि स्थिताः ॥३२॥
 नगस्य तस्य सम्पश्य मेरोः शिखरमुत्तमम् ।
 पद्भ्यां सम्पीड्य वृषणावृषिभिस्तं विचार्यते ॥३३॥
 ग्रीवां निगृह्य पृष्ठं च विनाम्य प्रहसन्निव ।
 नाभिदेशे करो न्यस्य सवंशोऽङ्गानि संक्षिपन् ॥३४॥

गुन्क को रख कर गर्दन तथा रोड़ की हड्डी को सीधा रखने हुये नाभि देत पर हथेलियों को रख कर, मुख को सटज रूप से प्रमन्न मुद्रा में रखते हुये साधना पर बैठते हैं । यही योगियों का आगम कहलाता है ॥३४-३५॥

मूर्ध्नि ग्रह्य समुत्तिष्ठन् मनसाऽपि पितामहः ।
 असृजन्मनसा विष्णुं योगाद्योगेश्वरस्य च ॥३६
 व्यतिरिक्तेन्द्रियो विष्णुर्विम्याद्विम्वमिवोद्भूतः ।
 तेजोमूर्तिघरो देवो नगसीन्दुरिवोदितः ॥३७
 रराज ग्रह्ययोगेन सहस्राशुरवापरः ।
 विराजन्मनसो मध्ये प्रभाभिरतुलं प्रभुः ॥३८
 नोऽलम्यति मूढानां प्रत्यक्षं ग्रह्य दाशयतम् ।
 सलाटमध्ये तिष्ठन्तं द्विधाभूतं क्रियां प्रति ॥३९
 ज्योतिरचक्षुःपि सम्यद्धं बिम्बं भास्करसोमयोः ।
 बुद्ध्या पूर्वं तु पश्यन्ति अध्यात्मविषये रताः ॥४०
 ग्राह्याणां वेदविद्वांसः सत्पव्रतपरायणाः ।
 नेतरे जातु पश्यन्ति अध्यात्मं नावबुध्यते ॥४१

शान्ति प्राप्त करता है । वेदज्ञ महात्मा इसी को 'वैष्णव-यज्ञ' कहते हैं ॥ ५३-५६ ॥

चेतसस्तूपलम्भं हि मनोग्राह्यस्य कामतः ।
 कारणं श्रोतुमिच्छामि यथा त्वं मन्यसे मुने ॥५७॥
 न ह्यस्य कारणं किञ्चिद्बाह्यं भवति भारत ।
 अन्तर्गतं कारणं तु शारीरं मानसं नृप ॥५८॥
 येन वेद्यं विदुर्मर्त्या ग्राह्यणाः सशितव्रताः ।
 अवेद्यमपि वेद्यं च शक्यं वेत्तुं न कर्मणा ॥५९॥
 ब्राह्मणेन विनीतेन सदा ब्रह्मनिवेदिना ।
 सदा विदिततत्त्वेन सिद्धिहेतोर्महीपते ॥६०॥
 सदा चैव शुचिभूत्वा नियतो ब्रह्मकर्मणा ।
 उपतिष्ठेत् स गुरु ब्रह्माञ्जलिपुटो द्विचः ॥६१॥
 सायं प्रातश्च तत्त्वज्ञो मोक्षकर्मणि कारयेत् ।
 विनीतो ब्रह्मभावेन समाहितमतिभुनिः ॥६२॥
 सम्प्रपद्येत् मनसा वैष्णव पदमुत्तमम् ।
 ध्यायन्नेव प्रसीदेत् समाहितमतिद्विजः ॥६३॥

राजा जनमेजय ने प्रश्न किया—जिस प्रकार ईंधन के न मिलने पर आग स्वयं बूझ जाती है उसी प्रकार भोगों के उपलब्ध न होने पर उनका शान्त हो जाना स्वाभाविक है । ऐसी दशा में यदि मन एक धार समाधि अवस्था में पहुँच जाता है तो फिर वह विषयों की ओर क्यों आकृष्ट होता है ॥ ५७ ॥ वैशम्पायनजी ने कहा—इस प्रकार मन का पुनरावर्तन आन्तरिक, शारीरिक अथवा मानसिक कारणों से ही होता है । ऐसे कारण मन में उपस्थित होकर चित्त को खलायमान कर देते हैं । इन कारणों को जिस ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है उसका प्राप्त करना भी बठिन ही है । वह शास्त्रों के स्वाध्याय तथा गुणोग्य आचार्यों के उपदेश से ही प्राप्त हो सकता है, ब्रह्म द्वारा उसका ज्ञान करना संभव नहीं ॥५८-५९॥ निर्वाण अभिज्ञानी को शुद्ध-पवित्र होकर नम्रता पूर्वक—आचार्यों की उपासना करनी और दोनों समय धारणा-ध्यान आदि मोक्ष

कर लेता है, और उसको मानव देह गृह्य करने के लिये इस जगत में नहीं आना पड़ता ॥६७-६८॥

॥ सनातन जगत का प्रमाण ॥

उपसर्गं च योगं च ध्यातव्यं चैव यत्पदम् ।
 न भूयः पुनरायाति मानुषं देहविग्रहम् ॥१
 शृणु विस्तरतः सर्वं यथा पृच्छसि मेधया ।
 उपपन्नेन मनसा ब्रह्मादीनामनेकघा ॥२
 पञ्च सिद्धिगुणांस्त्यक्त्वा पश्यतो ब्रह्मणो नृप ।
 योगयुक्तेन मनसा पञ्चेन्द्रियनिवासिनः ॥३
 ब्रह्मणश्चिन्तयानस्य ब्रह्मयज्ञं सनातनम् ।
 बहुरूपमनैश्वर्यात्प्रवर्त्तंति निरोधनम् ॥४
 पञ्चेन्द्रियस्य ग्रामस्य नवद्वारस्य भारत ।
 कामक्रोधस्य लोभस्य सन्निरुद्धस्य मेधया ॥५
 तेजसा मूर्ध्नि चाघाय धूमो दोधूयते महान् ।
 नीललोहितवर्णाभिः पीतैः श्वेतैश्च घातुभिः ॥६
 माञ्जिष्ठरागवर्णाभिः कपोतसदृशैस्तथा ।
 शुद्धवैदूर्यवर्णाभिः पद्मवर्णदलप्रभैः ॥७
 स्फाटिकैर्मणिवर्णाभिर्नमिन्द्रसदृशैस्तथा ।
 इन्द्रगोपकवर्णाभिश्चन्द्रांशुसलिलप्रभैः ॥८
 बहवर्णैः सुधूमौघैरिन्द्रायुधसमप्रभैः ।
 सपतद्भिश्च युगपन्मेघैरिव समागमे ॥९

राजा जनमेजय ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ मैं योग मार्ग और उसमें आने वाले विघ्न, ध्यान करने योग्य सत्य से विषय में विशेष रूप से शुद्धता चाहता हूँ जिसे जानकर फिर मानव-देह में नहीं आना पड़ता ॥१॥ ब्रह्मपावन जी ने कहा—हे राजन् ब्रह्म योग की साधना में जो धनेकों प्रकार के उपसर्ग आते हैं

मैं उनका बरान विस्तार पूर्वक सुनाता हूँ ॥२॥ जो साधक पाँचो इन्द्रियो के विषयो को त्याग कर सनातन ब्रह्म का ध्यान करते हैं उनको स्वयमेव ही दूर-दर्शन, दूर श्रवण आदि योगैश्वर्य प्राप्त हो जाते हैं और ये योग मार्ग की सर्वोच्च सिद्धि मे बाधा स्वरूप सिद्ध होते हैं ॥३-४॥ इस पचेन्द्रिय युक्त गृह मे नौ द्वार हैं जिनको काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अवरुद्ध बिये रहते हैं ॥५॥ जब साधक योग साधन मे सलग्न होता है तो उसमे एक तेज का प्रादुर्भाव होता है जो मस्तक मे होकर निकलने लगता है । उससे एक गहरा धुँवा सा निवलने लगता है । वह धुँवा समय समय पर नीला, लाल पीला श्वेत, मजीठ के रंग का, कबूतर के रंग का, बैदूर्य पद्मराग, शकटिक मणियों के रंग वा अथवा नागेश-गज, इन्द्रगोप कीट, चन्द्रकिरण, इन्द्रधनुष आदि के विविध वर्णों का होता है और आकाशस्थ मेघो के समान छा जाता है ॥६ ॥

निरुध्यन्त इवाग्नाशे पक्षवद्भिरिवाद्रिभि ॥
 ते धूमवर्णा सघाता घना सलिलधारिण ।
 निर्वैमुश्चैव तोयीघान्विविश्रुवंसुघातलम् ॥१०
 मूर्ध्नि चैव महानग्निमनिनी भूयते प्रभु ।
 युक्त परमयोगेन शतशोऽर्चिभिरावृत ॥११
 तस्यार्चर्विस्फुलिङ्गाना सहस्राणि शतानि च ।
 विसुम्भु सर्वगात्रेभ्यो ज्वलन्निव युगाग्नय ॥१२
 याव त्प्री वर्षाधारास्तु तावत्योऽर्च्योऽनलस्य च ।
 समेयुर्वारिधाराभिर्विपुले वसुधातले ॥१३
 वणभ्या युज्यमानस्य वायुर्दोषूयते महान् ।
 दिव्यसिद्धगुणोद्भूत सूक्ष्मप्राणविवर्द्धन ॥१४
 वेगवान्भीमनिर्घोषो बलवान्प्राणगोचर ।
 तैरेव चाग्निसघातैर्घातुभि सह सगत ॥१५

जब वह धुँवा निरुद्ध होकर घनीभूत होता है तो वह वर्षा करने वाले बादलो का रूप ग्रहण कर लेता है और उससे जो जल बरसता है उससे समस्त

वसुधा आद्र हो जाती है ॥१०॥ इसके पश्चात् ऐसा जान पड़ता है मानो मरतक मे अत्यन्त भयकर अग्नि भड़क उठी है और योगी की समस्त देह से असंख्य चिनगारियाँ निकल रही हैं और उस अग्नि ने प्रलयाम्नि का-सा रूप धारण कर लिया है ॥११-१२॥ उस समय यह आश्चर्य होता है कि मेघ से जितनी जल-धारा बरसती है उतनी ही अग्नि अधिक भड़कती है, पर अन्त मे ये दोनों ज्ञान्त हो जाती हैं ॥१३॥ उत्पश्चात् बड़े जोर की वायु चलने का आभास होता है । वह दिव्य गुणो युक्त वायु अन्य तत्त्वों से मिलकर 'सूक्ष्म प्राण' का नाम धारण कर लेता है । उसका वेग बड़ा तीव्र और शब्द अत्यन्त भयकर होता है । उसकी शक्ति समस्त जगत् का भेदन कर सकने वाली जान पड़ती है ॥१४-१५॥

सहस्रशोऽथ शतशो भूतिकृत्वा पृथग्विधाम् ।

अग्निर्वायुर्जल भूमिर्घातवो ब्रह्मचोदिताः ॥१६॥

समवायत्वमापन्ना वीजभूता महीपते ।

संघातं ब्रह्मवेगेन घातवो गमिता नृप ॥१७॥

यद्ब्रह्म चक्षुषोर्मध्ये स सूक्ष्मः पुरषो विराट् ।

तयोरन्यान्बहून्सूक्ष्मान्ससृजे पुरुषोत्तम ॥१८॥

स एव भगवान्विष्णुर्व्यवताव्यक्तः सनातनः ।

आधारः सर्वविद्यानां प्रलये प्रलयान्तर्गद् ॥१९॥

तं मूर्ध्नि घातुमिर्नन्दं विशन्ति ब्रह्मचोदिताः ।

तेऽन्तरा, पुरुषा, सर्वे ज्ञानारः सुष्ठु दुःखयोः ॥२०॥

अथ चेष्टितुमारब्धा भूतयो ब्रह्मसमिताः ।

भित्त्वा च धरणी देवी प्रापद्यन्त दिशो दश ॥२१॥

ब्रह्मण्यन जो ने जनमेदम से फिर ब्रह्म—हे राजन् ! इस प्रकार अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, आकाश आदि तत्त्व एक दूसरे में सम्मिलित होकर सैक हजारों प्रकार के रूप धारण कर लेते हैं, पर वास्तव में इन प्रकार के आभा होने का कारण वह ब्रह्म ही होता है ॥१६-१७॥ उन समय वायव्य के दक्षिणों के मध्य में जो 'ब्रह्म' परिनिहित होता है उसी की शून्य ओर विराट् ॥

जाता है। इससे वह साधक भगवान् विष्णु की तरह ही स्थूल सूक्ष्म और सब विद्याओं का आधार तथा प्रलय कर सकने वाला प्रतीत होने लगता है और भगवान् का अंग ही बन जाता है ॥१८-१९॥ उस समय ससार के सुख दुःख का अनुभव करने वाले सभी जीव भगवान् की शक्ति से उस योगी के भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार सबभूतमय हो जाने से उसको समस्त जगत और दशो दिशाओं का ज्ञान हो जाता है ॥२०-२१॥

इत्येते पार्थिवा सर्वे ऋपयो ब्रह्मनिर्मिता ।
तत्रैव प्रलय याता भूमित्वमुपयान्ति च ॥२२
कर्मक्षयाद्विमुच्यन्ते धातुभिः कर्मबन्धनैः ।
कर्मक्षयाद्विमुक्तत्वादिन्द्रियाणां च बन्धनान् ॥२३
तामेव प्रकृतिं यान्ति अज्ञाताः कर्मणोचरं ।
क्षराद्धूमक्षय चैव अग्निगर्भास्तमोमया ॥२४
येन तत्तुरिवाच्छन्नो भावाभावः प्रवर्तते ।
धूमादध्वास्तु सभूता अध्वात्तोय मुनिर्मलम् ॥२५
जगती जलास्तु सभूता जग येव च यत्फलम् ।
फलाद्रसस्तु सजज्ञे रसात्प्राणस्तु देहिनाम् ॥२६
रसश्च तन्मयो जज्ञे यत्तद्ब्रह्म सनातनम् ।
प्रधानं ब्रह्म चोद्दिदष्ट बहुभिः कारणान्तरैः ।
ब्रह्मणैस्तपसि श्रान्तैः सत्यव्रतपरायणैः ॥२७

ससार के अथ ऋषि भी उन्हीं योगियों में विलीन हो जाते हैं और पार्थिव सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। जो योगी कर्म बन्ध से मुक्त होकर इन्द्रियों के बन्धनों को भी काट फेंकते हैं, वे ही उस परम पद तक पहुँचने में समर्थ होते हैं। पर जो, यज्ञ, अग्नि होनादि में लगे रहते हैं वे वहाँ नहीं पहुँच सकते। यज्ञादि सत्कर्मों से पुण्य की प्राप्ति होती है और उसका फल भोगने के लिये इस ससार में ही आना पड़ता है। कम के द्वारा ही इस जगत का क्रम अग्रसर होता रहता है ॥२१-२२॥ सृष्टि रचना में सबसे पहले धुँये से मेघ मेघ से जल जल से पृथ्वी,

पृथ्वी से फल और फल से रस की उत्पत्ति होती है । उस रस से प्राणियों में 'प्राण' की प्रतिष्ठा होती है । इस प्रकार रस को ही सनातन ब्रह्म का रूप मानना चाहिये । तपस्या में निरत तथा सत्य परायण विद्वानों ने इस प्रकार विचार करके ब्रह्म का यही रूप प्रतिपादित किया है ॥२५-२७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तमापन्नं स्वेन भावेन भारत ।
 अन्त स्थं सर्वभूतेषु चरन्त विद्यया सह ॥२८
 कर्म कर्तेति राजेन्द्र विषयस्थमनेकधा ।
 नोपलभ्येत चक्षुर्भ्यां तपसा दग्धकिल्बिषै ॥२९
 उपलभ्येत चक्षुर्भ्यां ज्ञानिभिर्ग्रह्यावादिभिः ।
 नि.सूतस्तु भ्रुवोर्मध्यान्मेघमृक्ते इवाशुमान् ॥३०
 चरद्भिः पक्षिवल्लोके निद्वन्द्वं निष्परिग्रहैः ।
 योगधर्मेण कौरव्य ध्रुवमासाद्यते फलम् ॥३१
 प्रादुर्भावं क्षयं चैव भूतस्य निघन तथा ।
 विधत्ते मातशो ब्रह्मा सक्षये च भवेत्तदा ॥३२
 कर्मणायोगज्ञो भूतेभ्यो नात्र सशयः ।
 अविनाशाय लोकस्य घर्मस्थाप्यायनेन च ॥३३
 युग द्वादशसाहस्रं सहस्रयुगसहितम् ।
 एतद्ब्रह्मयुगं नाम युगानां प्रथमं युगम् ॥३४
 सहस्रयुगयोरन्ते सहारः प्रलयान्तवृत् ।
 सूक्ष्मं भवति लोकानां निर्विकारमचेतनम् ॥३५
 तथा प्रलयमापन्नं जगत्सर्वं सनातनम् ।
 ग्रह्य संपद्यते सूक्ष्मं निमित्त कारणैर्गुणैः ॥३६

यद्यपि वह ब्रह्म अव्यक्त है, यद्यपि में अपनी माया और विद्या से वह समस्त जीवों में समाविष्ट होकर विषरण करता है । पर सांसारिक यन्त्रों में पड़ा माया ग्रस्त जीव उग विविध वेप धारण करने वाले ब्रह्म को पहिचान नहीं सक्ता ॥२८-२९॥ पर योग मापन तथा ब्रह्म का ध्यान करने से जिनकी अन्त-

रात्मा पवित्र तथा निर्मल हो गई है वे ही अपनी ज्ञान-दृष्टि से उस ब्रह्म को देख सकने में समर्थ होते हैं । वह ब्रह्म बादलों से बाहर प्रकाशित सूर्य की तरह उन साधकों के भ्रूमध्य में स्थित होता है ॥३०॥ पर यह फल उन्हीं को मिलता है जो योगमार्ग को ग्रहण करके सर्वस्व त्यागी होकर पक्षियों के समान संसार में विचरण करते रहते हैं ॥३१॥ हे राजन् ! इस प्रकार ब्रह्मा जी सैकड़ों हजारों बार इस जगत की रचना और प्रलय करके जीवों को उत्पन्न और समाप्त कर चुके हैं । उनकी इच्छा से ही यह जगत का कर्म चक्र चलता रहता है ॥३२-३३॥ ब्रह्मा जी का युग सहस्र युग युक्त बारह हजार वर्षों का होता है । इसी को ब्रह्म-युग या महायुग कहते हैं । इसका अन्त होने पर प्रलयकाल उपस्थित होकर सबका संहार कर देता है । तब सब पदार्थ सूक्ष्म रूप में हो जाते हैं और यह त्रिगुणमय ससार सूक्ष्म होकर एक रूप हो जाता है और उसी परब्रह्म में विलीन हो जाता है ॥३४-३६॥

॥ कर्मफल वर्णन ॥

प्राग्बशं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण महामुने ।
 आद्ययोग्युगयोर्ब्रह्मब्रह्मप्राप्तस्य सर्वशः ॥१॥
 शृणु विस्तरशः सर्वं यन्मा पृच्छसि मेधया ।
 उपपन्नेव मनसा देवप्रत्ययसाधिना ॥२॥
 ऋद्धिं प्राप्तस्तु भगवान्योगात्मा ब्रह्मसंभवः ।
 भूतानां बहुलत्वं च चकारेहेश्वरः प्रभुः ३
 स्थितो ब्रह्मासने ब्रह्मा विक्षिप्तः सहसा प्रभुः ।
 अचलेनैव भावेन स्थाणुभूतेन भारत ॥४॥
 रयतश्च मोक्षविषये स च ज्ञानमये पदे ।
 यस्मात्पदसहस्राणि प्रभवन्ति भवन्ति च ॥५॥
 ब्रह्मयज्ञं तु यजते योगद्वेदात्मकं सदा ।
 ब्रह्मणो विपुलं ज्ञानमैश्वर्यं च प्रवर्तते ॥६॥
 राजा जनमेजय ने कहा — हे मुनिश्रेष्ठ ! अब आप मेरे ऊपर कृपा कर

अन्य युगो मे ब्रह्म की प्राप्ति का वृत्तान्त मुनाऽये ॥१॥ वैशम्पायन जी कहने लगे—हे राजन् ! जो कुछ आपने पूछा है उसका सम्पूर्ण वृत्तान्त चित्त लगाकर सुनिये—जब परब्रह्म ऋद्धियो सहित योगासक्त भाव से ब्रह्म रूप मे अवतीर्ण होते हैं तो स्यागु की तरह अचल रूप से ब्रह्मासन पर विराजमान रहते हैं ॥२-४॥ जब वे रजोगुण की ओर आकृष्ट होते हैं तब जीवसृष्टि की अधिकता होने लगती है । वे भगवान जिस प्रकार मोक्षपद के विषय मे अनुरक्त होते हैं वैसे ही ज्ञान पद के विषय मे भी होते हैं । इसलिये मोक्षमार्ग की तरह ज्ञानमार्ग मे हजारों तरह के पदों का आविर्भाव हुआ है । जो मायक वेदामक ब्रह्मयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं उनको विपुल ज्ञान और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है ॥६॥

ततः प्रथममैश्वर्यं युञ्जानेन प्रवर्तितम् ।
 ब्रह्मणा ब्रह्म भूतेन भूताना हितमिच्छता ॥७॥
 सदा त्वाकाशमैश्वर्यं युञ्जानस्य प्रवर्तते ।
 ब्रह्मणो ब्रह्मभूतस्य निर्विकारेण कर्मणा ॥८॥
 तदाऽन्तरिक्षं संप्राप्तं निर्मलं ब्रह्म चाव्ययम् ।
 सहारः सर्वभूतानां नराणां ब्रह्मवादिनाम् ।
 ध्रुवमैश्वर्ययागानां प्रतिपद्यन्ति देहिनः ॥९॥
 आकाशमैश्वर्यं भूतेन संयुगे ब्रह्मवादिना ।
 प्रवर्त्तमानमैश्वर्यं वायुभूतं करोति च ।
 विचारैर्बहुभिः प्राप्तं सपतद्विमहाबलैः ॥१०॥
 एतं विचारैः सवृत्तीनिर्दृष्टं च समन्ततः ।
 ध्रुवमैश्वर्यमापन्नः सिद्धो भवति ब्राह्मणः ॥११॥
 शरीरादभिनिष्क्रम्य आकाशेन प्रधावति ।
 निरालम्बो निरालम्बान्नालम्ब्य मनसा ततः १२
 ऐश्वर्यं भूतो भूतात्मा चरन्दिव न दृश्यते ।
 चक्षुर्भिर्यद्विभोर्बैः पुरंदग्गमेरपि ॥१३॥
 ओसारं ये त्वघीयन्ते मनसा ब्रह्मसत्तामाः ।
 विमुक्ताः सर्वकर्मभ्यस्ते तं पश्यन्ति साधवः १४

सच्चे ब्राह्मण का कर्तव्य है कि उस ऐश्वर्य को स्वार्थ में व्यय न करके अन्य प्राणियों के उपकार में ही लगावे । विकार रहित साधना करने से साधक में सर्वे प्रथम आकाश रूप ऐश्वर्य का उदय होता है जो विशुद्ध ब्रह्म का स्वरूप है । ब्रह्म यज्ञ की साधना से जब परब्रह्म में आकाश रूपी ऐश्वर्य का ज्ञान होता है तो योगी उन्हें वायु रूप कहने लगते हैं । इसी प्रकार अग्नितत्त्व आदि का भी उदय होता है जिससे ध्रुव ऐश्वर्य रूप परब्रह्म का ज्ञान ही जाता है और उसकी गणना सिद्ध पुरुषों में होने लगती है ॥७-११॥ इस प्रकार विकारों का निरोध होने पर वह योगी शरीर से पृथक होकर अदृश्य भाव से आकाश में विचरणा कर सकता है ॥१२॥ सामान्य मनुष्य उठे कभी नहीं देख सकते चाहे उनके इन्द्र की तरह हजारों आँखें क्यों न हो जायें ॥१३॥ उसका दर्शन करने में वे ही श्रेष्ठ साधक समर्थ हो सकते हैं जो सब कर्म बन्धनों से मुक्त अक्षर रूप परब्रह्म को जान जाते हैं ॥१४॥

एतद्धि परमं ब्रह्म ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ।
 अन्तश्चरन्ति भूतानां विद्धि चेतनया सह ॥१५॥
 एष शब्दो महानादः पुराणो ब्रह्मसंभवः ।
 वायुभूतोऽक्षरं प्राप्तो वदन्त्येवं द्विजातयः ॥१६॥
 अरूपी रूपसंपन्नो धातुभिः सह संगतः ।
 अन्तश्चरति भूतेषु कामकारकरो वशी ॥१७॥
 एतत्पूर्वमनुष्माय मनसाऽऽपूग्यन्निव ।
 वेदात्मकं तदा यज्ञं चिन्तयन्तो मनीषिणः ॥१८॥
 ब्राह्मणाः शुचयो दान्ता यशो य्ज्जस्तदन्वयाः ।
 ब्रह्मलोकं काङ्क्षमाणा वैष्णव पदमुत्तमम् ॥१९॥
 पदहेतोः क्रियाः सर्वाः कुर्वन्ति विगतज्वराः ।
 न ह्येते प्रसवादाने भवमिच्छन्ति भावत ॥२०॥
 क्षिप्रमाल्योपहारैश्च प्रतिभावेश्च वै द्विजाः ।
 यजन्ति परमात्मानं विष्णुं सत्त्वपराक्रमम् ॥२१॥

विद्वान् साधकों 'के लिये यह ॐकार, जो चैतन्य तत्त्व के साथ सम्स्त जोवों में व्याप्त रहता है, परब्रह्म के तुल्य ही है ॥१५॥ वे कहते हैं कि इस महा शब्द 'ॐ' और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। यह अविनाशी सर्व वर्ण प्रकाशक और अदृश्य होता है ॥१६॥ यह रूप रहित होने पर भी पंचभूतों के साथ मिल कर रूप युक्त हो जाता है और सब समस्त प्राणियों के भीतर व्याप्त होकर रहता है ॥१७॥ जो पवित्र और शुद्ध स्वभाव के साधक ब्रह्म में सम्मिल हो जाते हैं और ब्रह्म में ही जिनकी स्थिति होती है वे ही इस ॐकारमय ब्रह्म का ध्यान करने में समर्थ होते हैं और विद्युद्ध आत्मा वाले महानुभाव ही इस प्रकार का साधन करके उत्कृष्ट वैष्णव-पद का प्राप्त कर सकते हैं ॥१८-१९॥ वे समस्त प्रकार के आलस्य आदि को त्याग कर पूर्ण सज्जनता के साथ इस पद को प्राप्त करने के लिये समस्त प्रयत्न करते हैं ॥२०॥ वे तीन बार उपहार दी गई पुष्प-माला की तरह अपनी प्रतिभा तथा शुद्ध भावना से सतीषुण सद्गुरु विष्णु भगवान् की आराधना करते हैं ॥२१॥

यजनं विक्रमं चैव ब्रह्मपूर्वाः प्रचक्रिरे ।
 ब्रह्मापि वैष्णवं तेजो वेदोक्तैर्वचनेन ॥२२॥
 ब्राह्मणैर्ब्रह्मद्विद्भिश्च ब्रह्मर्जैर्ब्रह्मवादिभिः ।
 शुचिभिः कर्मनिर्मुक्तैः सत्यव्रतपरायणैः ॥२३॥
 धातुभिर्मोक्षकाले च महात्मा संप्रदृश्यते ।
 तदेव परमं ब्रह्म वैष्णवं परमाद्भुतम् ॥२४॥
 रसात्मकं तदैश्वर्यं विकाराग्ते प्रदृश्यते ।
 घोररूपा विकारास्ते व्यथयन्ति महात्मनः ॥२५॥
 संछाद्यातीय तोयेन क्षुध्यमाणो विचेतनः ।
 ऊर्मिभिश्छाद्यते चैव शीतोष्णामिविवागतः ॥२६॥
 महान्पयगतश्चैव दहने न च गज्जते ।
 मग्नश्चैव महानद्याः ससिलेनैव मोदति ॥२७॥
 मोदमानश्च गलिते य शीतास्वात्यसे यमात् ।
 आगनाच्छादनाच्चैव मुच्यमानो विचेतनः ॥२८॥

हे राजन् जिन श्रेष्ठ साधकों की सच्ची श्रद्धा वेद के वचनों पर रहती है, वे ही ब्रह्मयोग और विष्णु भगवान की आराधना इन दोनों कार्यों को एक साथ कर सकते हैं। वे वैदिक मत्तज्ञान के द्वारा यह भली प्रकार जान जाते हैं कि ब्रह्मा और विष्णु में कोई अन्तर नहीं ॥२२-२३॥ वे निर्मल अन्तःकरण वाले साधक मोक्षावस्था में जिस एक सत्य का दर्शन करते हैं वही ब्रह्मा, विष्णु रस, ऐश्वर्य आदि सब कुछ है ॥२४॥ पर इस प्रकार सत्य ज्ञान और सर्वोच्च लक्ष्य पर पहुँचने के पूर्व अनेक प्रकार के घोर विकार-विघ्न साधक को व्यपित करते हैं। २५॥ उसे कभी ऐसा जान पड़ता है कि जल राशि ने उसे डक लिया है और कभी अत्यन्त उष्ण और शीतल नहरें ऊपर आनी मालूम पड़ती है ॥२६॥ कभी ऐसा अनुभव होता है वह एक महाशुंभ में निमग्न हो रहा है और भस्म हुआ जा रहा है, कभी किसी बहुत बड़ी नदी में डूबता-सा मालूम पड़ता है ॥२७॥ कभी आभास होता है कि वह जल में पड़ा है और अत्यन्त शीत को सहन कर रहा है और उसके रहने और भोजन आदि का भी कहीं ठिकाना नहीं है ॥२८॥

श्वभ्रे प्रपद्यमानश्च तोयेन परिपिच्यते ।

शुक्लवर्णेन बहूना स्रोतसा मूर्ध्नि सर्वशः ॥२९॥

ऊर्ध्वं ज्योतिरवेक्षंश्च शुक्लः पीतश्च बाध्यते ।

वारिपूर्णः सुगम्भीरं विद्युद्भरिव भासितः ॥३०॥

एतं विकारैः संवृत्तं निरुद्धं श्वं सर्वशः ।

ध्रुवमश्वर्यमासाद्य सिद्धो भवति ग्राह्यण ॥३१॥

रसात्मकं तदश्वर्यं जिह्वाग्रादभिनिःसृतम् ।

सहस्रधारं विततं मेघत्वं समुपागतम् ॥३२॥

रसांश्च विविधान्योगात्संसिद्धं सृजते प्रभुः ।

घातव्यं सर्वभूतानां योगप्राप्तेन हेतुना ॥३३॥

तेजसो रूपमश्वर्यं विकारैः सह वर्द्धते ।

आत्मनो विघ्नजननं स्वस्थो ग्राह्यणकारणे ॥३४॥

कभी ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी नहर में डूब गया है और

उसके मस्तक पर चारो ओर से शुभ्र जल धारा गिर रही है ॥२९॥ कभी मस्तक के ऊपर श्वेत और पीत वर्ण का विज्रम्बी का प्रकाश-सा चमकता दिखाई पड़ता है ॥३०॥ इस प्रकार अनेको विकार योग साधन के अवसर पर अनुभव होने लगते हैं, पर जो साधक इनकी ओर कुछ ध्यान न देकर अपने मार्ग पर अग्रसर होना जाता है उसे ब्रह्मज्ञान होकर सिद्धि प्राप्त होती है ॥३१॥ उसकी जिह्वा से जो रस निःसृत होता है वह मेघरूप होकर सहस्रो धाराओं से पृथ्वी की जल से आप्तायुज्य कर देता है ॥३२॥ वह अपनी योगसाधना द्वारा विविध प्रकार के रसों की सृष्टि करते हैं जो सब प्राणियों के लिये हितकारी होते हैं ॥३३॥ इस प्रकार ब्रह्मयोग के अभ्यास से साधक का चित्त स्वभावतः शांत और सुस्थिर हो जाता है, पर अकस्मात् उसमें तेज और रूप के विचार उठ खड़े होते हैं ॥३४॥

उग्ररूपं विरूपं च हन्यते दण्डपाणिभिः ।
घोररूपं सुगम्भीरं पिङ्गाक्षं न रविग्रहे ॥३५॥
नेत्र समुद्धरन्भीम जिह्वाग्र चास्य विन्दति ।
नदति युगपन्नाद जृम्भमाणा पुन पुन ॥३६॥
पुनरेव तदा भूत्वा बहुरूपास्तदाऽभवत् ।
नृत्यमाना प्रगायन्ति त्रयन्तो त्रिशेपतः ॥३७॥
स्त्रीभूताश्च तत सर्वे युञ्जानाश्चावलम्ब्यरे ।
यण्डेषु बहुरूपत्वाद्विघ्नं च सर्वं प्रलोभयन् ॥३८॥
मधुरं रमिधानं च व्याहरन्ति न भीतवत् ।
पतन्ति युगपत्सर्वे पादयोर्मूर्धभियुक्ता ॥३९॥
प्रसाद काशमाणाश्च योगस्यान्तरविघ्नतः ।
बहुप्रकारं नययन्नृत्यन्ति च तरन्ति च ॥४०॥
एतं विचारं सतृप्तिर्निवृद्धं च सर्वं श ।
ध्रुवमश्वर्यामासाद्य निद्रो भवति ग्राहण ॥४१॥
तदक्षिप श्वाग्नेया आदित्यस्येव रश्मयः ।
तेजोरूपामश्वर्यां जनितास्तेजविन्दवः ॥४२॥

इन विकारों के उठने पर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि क्रोधो, बुरी आकृति के पीले नेत्र वाले पुरुष रोप पूर्वक दण्ड प्रहार करने को उद्यत हैं ॥३५॥ मालूम पड़ता है कि वे आँखें निकाल लेंगे और जीभ को काट डालेंगे । वे मुँह फंसा कर बहुत जोर से चीत्कार करते हुये भय उत्पन्न करते हैं ॥३६॥ कुछ ही क्षण पश्चात् वे अपना भाव बदल कर नाच गान द्वारा साधक को प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगते हैं । फिर वे सुन्दर स्त्री का रूप धारण कर साधक के कंधे पर हाथ रख कर उसे मोहित कर ले लगे हैं और हँस हँस कर बातें करते हैं ॥३६-३८॥ फिर मानो दया की भील माँगते हुये वे अपना मस्तक साधक के पैरी पर रख देते हैं और तरह-तरह नाच-गान का अभिनय करते हुये उसको लुभाने की चेष्टा करते हैं ॥३९-४०॥ हे राजन् ! इस प्रकार के अनेक प्रकार के उत्नात योग का साधन करने वाले के मामले आते रहते हैं, पर जो धैर्यशाली पुरुष उनसे विचलित नहीं होते वे अन्त में अवश्य सिद्धि को प्राप्त करते हैं । उनका ऐश्वर्य आरम्भ में अग्नि निष्ठा और सूर्य के सदृश तीव्र होता है, तत्पश्चात् वह सौम्य रूप में हो जाता है ॥४१-४२॥

ज्योतीषि चैव संवृत्ता आकाशभुपसंगताः ।
चरन्ति लोके सततं सूर्यचन्द्रमसोर्गतिम् ॥४३॥
चन्द्रसूर्यतिमकं दिव्यं ज्योतिष्मद्वनमुत्तमम् ।
एतद्विभ्राजते लोके कोके कालचक्रं ध्रुवं वरम् ॥४४॥
अर्धमासाश्च मासाश्च श्रुतुसंवत्सराण्यथ ।
क्षणा लवा मृहूर्ताश्च कलाः काष्ठास्तथैव च ॥४५॥
अहोरात्रप्रमाणं च निमिषोन्मेषणं तथा ।
ताराणां गतयश्चैव ग्रहाणां च विशेषतः ॥४६॥
अथ पार्थिवमश्वयं विकारग्रहसंभवम् ।
योगयुक्तास्त्वभिग्रस्ता यान्येव ह्यचलासनात् ॥४७॥
अलोमाच्छिद्यते सद्यो वेपमानोऽनुकीर्यते ।
सीदते वमुग्रामध्ये भिद्यमानः पुनः पुनः ॥४८॥

भूताना बहुरूपैश्च अन्यैश्च तलवासिभिः ।

विषये यज्यते क्षिप्रं स क्षेपात्समवद्व्यते ॥४६॥

वे योगी-गण लघिमा ऋद्धि के प्रभाव से ज्योति के रूप में इच्छानुसार आकाश में बिचरते रहते हैं । वे योगी ज्योति स्वरूप धारण करके सूर्य चन्द्र से सलग्न होकर ध्रुव नक्षत्र को केन्द्र मान कर घूमते घूमते क्षण, लय मुहूर्त, कला, काण्डा, दिवा, रात्रि निमेष उन्मेष, अर्द्धमास, मास, ऋतु, सवतसर, नक्षत्र और विशेषतः ग्रहों की गति प्राप्त कर लेते हैं ॥४२-४६॥ जो योगी इन हीन सासारिक प्रलोभनों में लुभा कर पनोन्मुख हो जाते हैं तो वे अपने उच्च पद से गिर जाते हैं । यदि वे लोभ पर विजयी हो जाते हैं तो उन विकारों का उन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता । जो लोग पतित हो जाते हैं आरम्भ में तो उनको अपनी हीनता पर बड़ी सज्जा आती है, पर फिर वे शीघ्र तरह तरह विजय रूपी रसों की ओर झुक जाते हैं ॥४७-४०॥

तत पाथिवमश्वयं सेवमानश्च सर्वत ।

मूर्तिमद्भिभुश्च बहुधा घातुभिः स च हन्यते ॥४०॥

शक्तितीमरनिस्त्रिंशर्गदाभिश्चाप्य नेकधा ।

असिभिः पात्यते चैव क्षुरधारैः सहस्रशः ॥४१॥

भिद्यते चैव बाणाग्रैः सुतीक्ष्णैर्मर्मभेदिभिः ।

एभिर्विकारैर्निर्वृत्तैर्निरुद्धैश्चैव सर्वशः ॥४२॥

ध्रुवमश्वयमापन्न सिद्धो भवति ब्राह्मण ।

तत पाथिवमश्वयं निमुञ्चतस्य विकारतः ॥४३॥

प्रादुर्भवति सजाते समाधी प्रलय गते ।

दिव्य गन्ध समाध्याय दिव्यार्थास्ताञ्छुणोति च ॥४४॥

दिव्यरूपैश्च पुरुषैश्छिद्यते न च भिद्यते ।

गच्छन्सुकृतिना चान्तः प्रघ्नानात्मा क्षरन्निव ॥४५॥

ऐसी परिस्थिति आने पर उस विषयासक्त योगी को ससारी णन शक्ति,

१ तोमर, गदा, तलवार, बाण रूपी स्वार्थ युक्त वचनाओं से नष्ट-भ्रष्ट कर डालते हैं । उनके ये प्रहार बड़े मर्मभेदी होते हैं ॥४६-४२॥ पर जो साधक धैर्य अवलम्बन करके समस्त विघ्नों को पार कर लेते हैं, तो वे अन्तः-विकास के शिखर पर

पहुँच कर मोक्ष पद के अधिकारी हो जाते हैं। जब तक वह योगी शरीर धारण न्दिये रहता है जीवन भुक्त महात्माओं के ससर्ग में रहकर दिव्य पदार्थों का आनन्द प्राप्त करता रहता है ॥५३-५४॥ शरीर त्यागने पर वह सर्वोच्च अविनाशी पदवी को प्राप्त कर लेता है और कोई भी शक्ति उसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकती ॥५५॥

॥ मधु और विष्णु भगवान का युद्ध ॥

ते तु गोब्राह्मणा नागाश्चन्द्रादित्यपुरस्कृता ।
 ब्राह्मणान्पूजयन्देवान्वसुभिर्ग्रहसम्मर्च ॥१॥
 नारदप्रमुखाश्चैव गन्धर्वा ऋषयो नृप ।
 कुर्वन्ति सतत यज्ञे क्रमप्राप्त पितामहम् ॥२॥
 यच्चोभिमर्धुराभायं पञ्चेन्द्रियनियामिभि ।
 सर्वभूतप्रियकरं सर्वभूतहितं पिभि ॥३॥
 स्तूयमानश्च यज्ञान्ते पञ्चेन्द्रियसमाहितं ।
 प्रोवाच भगवान्ब्रह्मा दिष्ट्या दिष्ट्येति भारत ॥४॥
 सत कश्यपमाभाष्य प्रोवाच भगवान्प्रभु ।
 भयानपि सुतं सादृशं यश्नते वसुधातले ॥५॥
 धनुभि परमप्राप्तं सपूर्णं वरदक्षिणं ।
 यथा सुराश्च ते सर्वे यथा प्रतिगुणं प्रभो ॥६॥
 वयं यद्यामहे पूर्वं पूर्वं यद्यामहे वयम् ।
 एवमन्योन्यसं रम्भाद्विद्यन्ते बलदर्पिता ॥७॥
 दंतेयाश्चाप्यदंतेया परस्परजययिणि ।
 युद्धायैव प्रणिष्ठन्ति प्रगृह्य विपुली भुजो ॥८॥

यैराध्यायतजी ने कहा—हे राजन् ! देवों में पारंगत, वरिष्ठ शरीर वाले तथा दान-वीर्यमान आदि यज्ञों के अनुष्ठान नारद आदि देवर्षि और वसुधैव कुटुम्बकम् इति इत्यादि दक्षिणा के द्वारा आत्मादि वरों के लक्ष्म में मोक्ष विनाश भी.

ब्रह्माजी का पूजन करके प्रिय वाणी में उनका स्तव करने लगे ॥१-३॥ उनके यज्ञ को देख कर और सब प्राणियों का कल्याण करने वाले उस स्तोत्र को सुन कर श्रीब्रह्माजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा—सौभाग्य से ही तुम इस प्रकार के यज्ञ में प्रवृत्त हुए हो । इसके पश्चात् उन्होंने महर्षि कश्यप से कहा—हे कश्यप ! तुम भी अपने पुत्रों के सहित पृथिवी पर जाकर यज्ञ करोगे । तुम्हारे देवता और दैत्य प्रभृति सभी पुत्र सात्विक, राजसिक और तामसिक—तीनों प्रकार के यज्ञों का दक्षिणा सहित अनुष्ठान करेंगे ॥४-६॥ इसके पश्चात् पिता-मह ब्रह्माजी की बात सुन कर देवताओं ने कहा 'हम यज्ञ करेंगे' और दैत्यों ने कहा कि पहिले हम यज्ञ करेंगे । इस प्रकार स्पर्धा करते हुए उन देव-दानवों में बाहु-युद्ध होने लगा ॥७-८॥

निवार्यमाणा ऋषिभिस्तपसा दग्धकिल्बिषः ।

अन्यैश्च विविधैर्विप्रैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ॥८॥

निवार्यमाणा युध्यन्ते वृषभा इव गोकुले ।

प्रयुद्धारम्भसंक्रान्ताः सर्वे प्राणजयैषिणः ॥९॥

पश्यतां सर्वभूतानां मृत्योर्विषयमागताः ।

ततः शब्देन महता परं कृत्वा महाबलाः ॥१०॥

रुन्धन्ति बाहुभिः क्रुद्धाः सपक्षा इव पक्षिणः ।

चचाल वसुधा चैव पादक्रान्ता च रोचिभिः ॥११॥

नीर्यथा पुरुषाक्रान्ता निपीदति महाजले ।

पर्वताश्च विशीर्यन्ते नद्माना गजा इव ॥१२॥

चुक्षुभुश्च महानद्यस्ताडिता मातरिश्वना ।

ततः समभवच्छुद्धं मघोर्विष्णोश्च भारत ॥१३॥

युगान्तकरणं घोरं सर्वप्राणिभयंकरम् ।

प्रममाथ वलं विष्णुः समग्रं वलपीरुपम् ॥१४॥

बह्लैरिव वलं दीप्तं शमयत्यम्बुना यथा ।

तथा प्रशमितं तेन भगवत्यपकारिणा ॥१५॥

उस समय पुण्य शरीर और वेद-वेदान्त के ज्ञाता विप्रा ने उहे निवारण करने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु दोनों ही उनकी बात को न मान कर युद्ध में प्रवृत्त होगये । तब देव दानव घोर सिंहनाद करते हुए एक दूसरे का मार्ग रोकने लगे । जैसे जल में नौका भार से डगमग करती है, वैसे ही देव दानवों के भार से पृथिवी हिलने लगी । गजनशील बैलों के समान गर्जना करते हुए पर्वत विदीर्ण होकर इधर उधर गिरने लगे ॥६-१३॥ प्रचण्ड वायु के घपेड़ों से नदियाँ उमड़ पड़ीं । फिर भगवान् विष्णु और मधु दानव में युग का अन्त करने वाला घोर युद्ध होने लगा । जैसे अग्नि की उग्र ज्वालाओं को जल वृष्टि से भेष दान्त कर देता है, वैसे भगवान् विष्णु ने अपना थपवार करने वाले मधु दानव के सम्पूर्ण बल-पराक्रम का हरण कर लिया ॥१४-१६॥

॥ भगवान् विष्णु द्वारा मधु का वध ॥

वलवान्स तु दंतेयौ मधुर्भूमिपराक्रम ।
 वदन्ध पाशं निशितं महेन्द्र पर्वतान्तरे ॥१॥
 त्वं प्रह्लादवचनाल्लक्षणज्ञश्च भारत ।
 ऐश्वर्यमन्द्रमाकाङ्क्षन्भविष्य बुद्धिस क्षयात् ॥२॥
 वदध्वेन्द्र सहसा मध्ये पाशैर्मम विवर्जितं ।
 आयसैर्वह्निभिश्चित्रैर्वलवद्भिर्विदारणं ॥३॥
 विष्णुमेवाग्रणीं रुद्रमाह्वयद्युद्धकाविदः ।
 मृधे गणाना सर्वेषां कालस्य वशमागत ॥४॥
 द्वैधीभूता काश्यपेया मधोर्वशमुपागता ।
 युद्धार्थमभ्यधावन्त प्रगृह्य विपुला गदा ॥५॥
 गन्धर्वा किन्नराश्चैव वाद्ये गीते च कोविदाः ।
 प्रनृत्यन्ति प्रगायन्ति प्रहसन्ति च सर्वशः ॥६॥
 तन्त्रीभिः सुप्रयुक्ताभिर्मधुराभिः स्वभावतः ।
 मनो मध्याविधन्वन्ति युध्यमास्य रागिणः ॥७॥

मधोर्वलायं मधुनो नियोगात्पद्मयोनिनः ।

एतान्विकाराङ्कुर्वन्ति गन्धर्वाः सत्यवादिनः ॥८॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! उस अत्यन्त पराक्रमी मधु ने ब्रह्माद के वचनो के अनुसार इन्द्रत्व को प्राप्त करने की कामना से मर्म भेदी पाशास्त्र में बाँध कर पर्वतो की शिलाओं के मध्य बन्दी बना लिया ॥ १-३ ॥ इसके पश्चात् उसने काल के वशीभूत होकर भगवान् विष्णु को युद्ध की चुनौती दी ! तभी कश्यप के पुत्र दो दलों में बँट कर देव-पक्ष और दैत्य-पक्ष में हो गये । फिर दैत्यपक्ष के लोग भयकर गदाओं को ग्रहण कर-करके युद्ध के लिये आगये ॥ ४-५ ॥ उधर देव पक्ष के गन्धर्व और किन्नर हर्षित होकर गायन, वादन और नृत्य में लगे ॥६॥ उसमें बीणा की मधुर शंकार के कुशलता पूर्वक उठने से दैत्यराज मधु तथा युद्धोन्मत्त दानव मुग्ध हो गये ॥ ७ ॥ इस प्रकार पद्मयोनि ब्रह्माजी की प्रेरणा से गन्धर्वों ने दानवों के हृदयों में विकार उत्पन्न कर दिया ॥८॥

तत्र शक्तो हि गान्धर्वो तस्मिञ्छब्दे मधुर्मनः ।

दानवाश्चासुराश्चैव प्रत्यक्षं यान्ति प्राणदन् ॥९॥

मधोश्च मन जाक्षिप्य पश्यन्योगेन चक्षुषा ।

मन्दरं प्रयते विष्णुर्गूढोऽग्निरिव दारुपु ॥१०॥

ऋषयो दीप्तमनसं किञ्चिद्व्यथितमानसाः ।

पितामह पुरस्कृत्य क्षणेनान्तरधीयत ॥११॥

विष्णुं सोऽभ्यहनत्क्रुद्धो मधुर्मधुनिभेक्षणः ।

भुजेन शङ्खदेशान्ते न चकम्पे पदात्पदम् ॥१२॥

विष्णुश्चाभ्यहनद्दृष्ट्यं कराग्रेण स्तनान्तरे ।

स पपात मही तूर्णं जानुभ्या रुधिरं वमन् ॥१३॥

न चैनं पतितं हन्ति विष्णुर्बुद्धविशारदः ।

बाहुयुद्धे हि समयं मत्वाऽचिन्त्यपराक्रमः ॥१४॥

इन्द्रध्वज इवोत्तिष्ठञ्जानुभ्यां स महीतलात् ।
मधू रोपपरीतात्मा निर्द्दहन्निह चक्षुषा ॥१५॥

घोर गर्जन करता हुआ दैत्यराज मधु भी गन्धर्वों के उस संगीत-कौशल के प्रति आकर्षित हो उठा तथा अन्यान्य सभी दैत्य उसमें तन्मय होने लगे ॥६॥ तब विकार युक्त मन धाले मधु के सामने से हट कर भगवान् विष्णु भी काष्ठ में प्रविष्ट अग्नि के समान मदर पर्वत में प्रविष्ट होगये ॥१०॥ तब उज्ज्वल तेज वाले ऋषिगण ब्रह्माजी के साथ ही अदृश्य होगये ॥११॥ फिर क्रोधित हुए मधु ने भगवान् विष्णु की कनपटी में कर प्रहार किया, परन्तु उन पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ और उन्होंने उसके बल-स्थल पर मुष्टिका का भीषण प्रहार किया जिससे वह मुख से रुधिर डालता हुआ पृथिवी पर गिर गया ॥१२-१३॥ फिर संभल कर उठा और रोष पूर्ण लाल नेत्रों से इस प्रहार देखने लगा, जैसे उन्हें अभी भस्म कर देना चाहता है ॥१४-१५॥

पहपाभिस्ततो वाग्भिग्न्योन्यमभिगर्जतुः ।
समीयतुर्बाहुयुद्धे परस्परवर्षपिणौ ॥१६॥
उभौ तौ बाहुवलिनावुभौ युद्धविशारदौ ।
उभौ च तपसा शान्तावुभौ सत्यपराक्रमौ ॥१७॥
दृढप्रहारिणौ वीरान्योन्यं विचकर्पतुः ।
र्षलेन्द्राविव युद्धघन्तो पक्षः पापाणसन्निभः ॥१८॥
विकर्पन्तौ वमन्तौ च अन्योन्यं वसुधातले ।
गजाविव विपाणाग्रैर्नलाग्रैश्च विचेरतु ॥१९॥
ततो व्रणमुखैश्च वसुधाव रुधिरं बहु ।
ग्रीष्मान्ते घातुसंसृष्टं शलेभ्य इव काञ्चनम् ॥२०॥
संसिक्तौ रुधिरौर्घश्च स्रवद्भिः समरञ्जितौ ।
अयोधतः पदाग्रैश्च तौ व्यदारयता महीम् ॥२१॥
अभिहत्य तु तौ वीरौ परस्परमनेकधा ।
पतन्नाविव युव्येता पशाम्या मांसमृद्धितौ ॥२२॥

फिर दोनों में अत्यन्त कठोर वचनों का आदान-प्रदान हुआ और तब दोनों ही ताल ठोक कर मल्लयुद्ध करने लगे ॥१६॥ बाहुबल, रण चातुर्य, तन और सत्य पराक्रम में दोनों ही समान थे । प्रहार करने में दोनों में कोई भी नहीं चूकता था । कभी एक-दूसरे को खींचते और कभी धक्का देते हुए पर्वत-राजों के समान लड़ रहे थे ॥१७-१८॥ जैसे दो मदमत्त हाथी परस्पर लड़ते हैं, वैसे ही वे दोनों रणमत्त रणभूमि में पतरे बदल-बदल कर विचरण करते थे ॥१९॥ दोनों ही महाबली ब्राह्मण होगये थे, इससे उनके देह से रक्त की धाराएँ बह रही थीं, जैसे वर्षाकाल में कोई झरना प्रवाहित हो रहा हो ॥२०॥ दोनों के शरीर रुधिर से लथपथ हो रहे थे और दोनों ही अपने पाँवों के प्रहार से पृथिवी को पीड़ित कर रहे थे ॥२१॥ वे दोनों भीषण पक्षियों के समान परस्पर अपने देहांत को बचाते हुए महा भयकर युद्ध कर रहे थे ॥२२॥

शुश्रूषुश्चान्तरिक्षेऽथ सर्वभूतानि पुष्करे ।
 सिद्धानां वदनोन्मुक्ता. परया वर्णं सम्पदा ॥२३॥
 स्तुतयो विष्णुसमुक्ता. सत्या. सत्यपराक्रमे ।
 शरीरं धातुसंयुक्तं समुक्त चेतनेन च ॥२४॥
 तद्ब्रह्म इन्द्रियं युक्तं तेजोभूतं सनातनम् ।
 ध्रुवं तिष्ठन्ति भूतास्ते सूक्ष्मे प्रलयता गते ॥२५॥
 पुनश्चोद्भवते सूक्ष्मं बहुरूपमनेकधा ।
 प्रबोध्य भाव भूतानां त्रिषु लोकेषु कामदः ॥२६॥
 सुरूपो बहुरूपास्तैल्लोकान्स चरते वशी ।
 मानसी तनुमास्थाय बहभिः कारणान्तरैः ॥२७॥
 योगात्मा धारयन्नुर्वी नागात्मानं दिवन्धरः ।
 ब्रह्मभूतं परं चैव सूक्ष्मेणात्मानमीश्वरः ॥२८॥

तभी आकाश में स्थित सिद्धगण भगवान् विष्णु की स्तुति करने हे प्रभो ! इस पंचमीतिव देह में आत्म हृद से जो विराजमान हैं, वही आप चिन्मय ब्रह्म और देह तथा इन्द्रियाँ वाले प्राणी के रूप में प्रसिद्ध होते हैं ॥२३-

२५॥ यही पंचभौतिक उपादान प्रलय के उपस्थित होने पर सूक्ष्म रूप ग्रहण कर आप भगवान् मे ही विलीन होता है तथा वह सूक्ष्म उपादान विभिन्न जीवों को उत्पन्न करके स्वयं निर्लिप्त भाव से सर्वत्र घूमते हैं ॥ २५-२७ ॥ वही आप योगात्मा दुष्टों का दमन और साधुओं का पालन करने के लिये पृथिवी पर अवतीर्ण होते हैं । यह आप ही भूतों के धारण करने वाली पृथिवी, शेष सृजक अनन्त, स्वर्ग केपालक इन्द्र तथा पंचमहाभूत हैं ॥ २८॥

५

स्तूपमानैश्च विबुधैः सिद्धं मुनिवरं स्तया ।
 सस्मार विपुलं देहं हरिर्हयशिरो महान् ॥२८॥
 कृत्वा वेदमय रूपं सर्वदेवमयं वपुः ।
 शिरोमध्ये महादेवो ब्रह्मा नु हृदये स्थितः ॥३०॥
 आदित्यरश्मयो बालाश्चक्षुषी शशिभास्करौ ।
 जङ्घे, तु वसवः साध्याः सर्वसंघिषु देवता ॥३१॥
 जिह्वा वैश्वानरौ देवः सत्या देवी सरस्वती ।
 मरुती वरुणश्चैव जानुदेशे व्यवस्थिताः ॥३२॥
 एवं कृत्वा तथा रूपं सुराणामद्भुतं महत् ।
 असुरं पीडयामास क्रोधाद्रक्तान्तलोचनः ॥३३॥
 मधोर्मदोम्बुपूर्णा च पृथिवी समदृश्यत ।
 प्रमदेव घना चैव शुक्लाशुक्निवासिनी ॥३४॥
 मेदिनीत्येव शब्दश्च लब्धः पृथ्व्या नरोत्तम ।
 नामासुरसहस्रेण धरण्या सप्रतिष्ठितम् ॥३५॥

हे राजन् ! इस प्रकार सिद्धगण, देवगण, और महर्षि, गण द्वारा स्तुत होने पर भगवान् ने अपने हयग्रीव रूप का स्मरण किया, जिससे उनका वेद तथा सर्वदेव मय स्वरूप प्रकट होगया । उस समय भगवान् रुद्र उनके मस्तक में तथा ब्रह्माजी वक्ष स्थल में प्रनिष्ठित हो गये ॥ २८-३० ॥ सूर्य की किरणों उनकी रोमावलि हुई तथा सूर्य-चन्द्रमा दोनों नेत्र होगये, यमुगण जौध पर और अग्न्यान्त्य देवगण उनकी अग्न-सन्धियों पर आ विराजे ॥३१॥ अग्नि देवता उनकी जिह्वा

और वेद मन्त्र उनकी वाणी हुई। मरद्गण और धरुण उनके जानु प्रदेश पर बैठे ॥३२॥ हे राजन् ! देवताओं के हितार्थ ममवान् विष्णु ने अपना ऐसा विन-
राल वेश बना कर तथा क्रोध से लाल नेत्र कर दैत्य श्रेष्ठ मधु का मर्दन किया
॥३३॥ इस प्रकार मधु के मृत होकर पतित होने से उसके रुधिरादि से भरी हुई
पृथिवी श्रेष्ठ वस्त्र धारण करने वाली रत्नी जैसी प्रनीत होने लगी उसी समय
से असुरगण इस पृथिवी को मेदिनी कहने लग गये ॥३४-३५॥

॥ समुद्र मंथन वर्णन ॥

ब्रह्मन्विले धतमाने निर्मयदि महाग्रहे ।
अविनाशे च भूतानां कथमासन्प्रजास्तदा ॥१॥
अभ्यपिञ्चत्पृथुं वैन्यं पुरा राज्ये प्रजापतिः ।
राज्याय श्रुपिभिः सार्द्धं प्रजाधर्मंपरायणः ॥२॥
एष नः परमो राजा सानुरागादजायत ।
संतायां संप्रवृत्तायामन्योन्यमनुजल्पिरे ॥३॥
एष नो वृत्तिदाता च विप्राणा च प्रवर्तिता ।
निर्माता सर्वभूतानां सत्यप्राप्तेन कर्मणा ॥४॥
एतस्मिन्नन्तरं देशा गन्धमादनसानुषु ।
बहुभिर्नियमैः श्रान्ता निपण्णा गिरिसानुषु ॥५॥
अथ गन्धं समामास ममन्ताद्देवदानवाः ।
माधये समयं प्राप्ते तेन गन्धेन दपिताः ॥६॥

जनमेजय ने कहा—हे ब्रह्मन् ! मर्यादा-रहित महाग्रहों के विपत रहो
हुए प्राणियों को मोक्ष कैसे मिल सकतो है ? ॥१॥ वैजम्पायनजी ने कहा—
राजन् ! प्रजा धर्म के पासने याने प्रजापति ने श्रुपियों के परामर्श से वेणु पुत्र
पृथु को राज्य पद पर अनिविक्त किया था ॥२॥ उक्त समय त्रेता युग का प्रारंभ
था । प्रजापति उन राजा के शासन में गुप्त पूर्वक रहो हुए परस्पर कहो से कि
यह प्रजा में अनुरक्त महाराज सर्व श्रेष्ठ हैं, यह हमारी जीविका और रक्षा का

प्रबन्ध करते हैं, इन्हीं के लिये हमारी भी शिल्प कार्य में प्रवृत्ति हुई है ॥३-४॥
तभी वनंत काल की प्राप्ति पर तपस्थारन देखण विभिन्न व्रतो से दुर्वल ६ कर
गधम दन पर्वत पर रहने लगे । उस समय पवन के सयोग से पुष्पो से मन्द मुगध
निरल कर फैल रही थी ॥५-६॥

पुष्पमात्रस्य यद्वीर्यं भास्तेन विसर्पितम् ।
मनोग्राहिं सुखं सर्वं पार्थिवं गन्धमुत्तमम् ॥७॥
ते दैत्यास्तेन गन्धेन किञ्चिद्विस्मयमागताः ।
प्रसन्नमनसो भूत्वा परं सौख्यमुपागताः ॥८॥
ऊचुश्च सहिताः सर्वे तेन गन्धेन दर्पिताः ।
पुष्पमात्रस्य यद्वीर्यं किं तस्य फलतो भवेत् ॥९॥
अनुमानेन विज्ञेया विविधाः कर्मबुद्धयः ।
शुभाश्चैवाशुभाश्चैव बुद्धिप्राणेन देहिनाम् ॥१०॥
तस्माद्वयं पयोमध्ये औपध्यो निर्मयामहे ।
मन्दरेण विशालेन बलिना कामरूपिणा ॥११॥
समुद्रमभिसंरम्भमान्मथ्नीमः सोमजं जलम् ।
पीत्वा च सहिताः सर्वे प्रस्थिताः कामरूपिणः ॥१२॥
विष्णु रेवाग्रणीस्तेषां भविष्यति महाबलः ।
दिवं च वसुधा चैव भोक्ष्यामः सह शत्रुभिः ॥१३॥
समूलपत्रशाखाश्च सपुष्पाः फलशालिनः ।
सर्वं ग्रहांश्च गृह्णीमः स्र्वां च वसुधातले ॥१४॥

उस मुगन्ध से देवता और दैत्य सभी उन्मत्त हो गये, क्योंकि वह पार्थिव
मुगन्ध अत्यन्त आनन्द दायिनी और मन को हरने वाली होगई । वायु के शोंकों
से पुष्प सब ओर फैल गये । उससे आश्चर्य चकित और हर्षित हुए दैत्य
सोचने लगे कि जिस वृक्ष का ऐसा मुगन्धिन पुष्प है तो फल भी अत्यन्त मा
होगा ॥८-९॥ जैसे देह पारिवो के शुभाशुभ कर्मों का अनुमान से ज्ञान होता
इन्हीं ही अनुमान इन्हीं-इस समुद्र में विभिन्न प्रजा की औपग्रहादि जाल ।

॥१७१८॥ घट घट की जानने वाले ब्रह्माजी उनकी कामना जान कर विश्व का कल्याण करने के लिये अकाश से ही बोले—हे दानवगण ! इस पर्वत का उखाड़ना तुम्हारे लिये सम्व नही है इसलिये तुम आदित्य, वसु, रुद्र, मरुद्गण, देवता, यक्ष, गंधर्व और किन्नरादि से मिल कर पुन इनका उद्योग करो तो तुम्हारे लिये हिमालय ने समान सार युक्त यह पर्वत बहुत छोटा हो जायगा ॥ २० २२ ॥

सुरासुरगणा सर्वे समुत्पाद्य महागिरिम् ।
 हस्तारूढा प्रपश्यन्ति वीरुधो हिमवद्रसम् ॥२३॥
 एतच्छ्रुत्वा च वचन सर्वेषामन्तिके तदा ।
 दैतेया बाहुवर्चिनो मनोभिर्वाग्भिरेव च ॥२४॥
 आक्रीडभूता बहुधा बभूवुर्लवणाम्भस ।
 यत्र पुष्करविन्यस्त सहितैर्देवदानवै ॥२५॥
 सुरासुरगणा सर्वे सहिता लवणामस ।
 मन्दर पुष्कर कृत्वा नेन वासुकिमेव च ॥२६॥
 समा सहस्र मयित जलमौषधिभि सह ।
 क्षीरभूत समायोगादमृत समपद्यत ॥२७॥
 तज्जहुरसुरा पूर्वमाक्रान्ता लोभमयुना ।
 धन्वन्तरिस्तथा मद्य श्चीर्देवी कीस्तुभो मणि ॥२८॥
 शशाङ्को विमलश्चापि समुत्तस्थु समन्तत ।
 उच्चैश्च वा हयो रम्य पीयूष तदनन्तरम् ॥२९॥
 पश्चाद्देवास्तदादातुमुद्यता राहुमव्रुवन् ।
 न तु वेचित्पिबन्ति स्म दैत्या नैव च दानवा ॥३०॥
 चिच्छेदाथ हरि सख्ये राहोश्चक्रेण क तदा ।
 अनिर्मुक्त पितृगणैर्भुनिभिश्च सनातनै ॥३१॥
 तदिद्रहस्तादमृत जहार पृथिवी स्वयम् ।
 जगामागता देवी ब्रह्मावाक्प्रचोदिता ॥३२॥

ब्रह्माजी का वचन सुन कर वे दैत्यगण देवताओं के पास गये और उन्हें साथ लेकर पर्वत को उखाड़ने लगे । इससे पर्वत उखड़ गया, जिसे मयानी बना कर एक हजार वर्ष तक समुद्र को मथने लगे । इससे अमृत की उत्पत्ति हुई । देवताओं के हाथ में स्थित उस अमृत को दैत्यो ने अधिक लोभ के कारण छीन लिया । यह अमृत समुद्र मथन में धँसकर, लक्ष्मी वारुणी, वीस्तुभ मणि, चन्द्रमा और उच्चैःश्रवा अश्व के पश्चात् निकला था ॥ २१-२६ ॥ फिर जब देवता अमृत पीने को तत्पर हुए तो राहु की ओर सकेत करते हुए उन्होंने कहा — हमारे मध्य में कोई दैत्य तो नहीं है ? ॥ २७ ॥ यह सदेत मिलते ही भगवान् विष्णु ने अपने चक्र से राहु का मस्तक काट डाला । तब ब्रह्मावाक्य से प्रेरित हुई पृथिवी ने इंद्र के हाथ से ऋषियों के उस सनातन पेय रूप अमृत का हरण कर लिया ॥ ३१-३२ ॥ ,

॥ भगवान् वामन का बलि को छालना ॥

निहते दैत्यस घात त्रिणोश्चातिपराक्रमे ।
 दैतेया दानवेयाश्च किमिच्छन्ति पराक्रमात् ॥१॥
 दानवा राज्यमिच्छन्ति पराक्रम्य महाबला ।
 तप इच्छन्ति सहिता देवा सत्यपराक्रमा ॥२॥
 कथं कालस्य महतो ह्यैरण्यकशिपुस्तदा ।
 यजते ब्रह्मण क्षेत्रे प्राप्नोष्वयं स कामद ॥३॥
 यजेद्बहुमुवर्णेन राजसूयेन पायिव ।
 ऋतुना दानं श्रेष्ठो वसुधाया महाबला ॥४॥
 गङ्गायमुनयोर्मध्ये यदभूद्विपुल तप ।
 समेयुस्तत्र सहिता यजमाने महासुरे । ५
 ब्राह्मणा वेदविद्वांसो महाव्रतपरायणा ।
 यतयश्चापरे सिद्धा योगधर्मेण भारत ॥६॥
 मुनयो वालखिल्याश्च धनं धर्मेण शोषिता ।
 बहवो हि द्विजा मुरया नित्या धर्मपरायणा ॥७॥

ऋषयश्च महाभागा विप्रैः पूज्याः सहस्रशः ।

विपुलै रत्र विभवे ह्ययमार्णस्ततस्ततः ॥८॥

जनमेजय ने कहा—हे ब्रह्मन् ! भगवान् विष्णु से परास्त हुए दैत्य-दानवों ने अपने बल से क्या करने का विचार किया, सो कहिये ॥१॥ वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! उस समय दैत्य-दानवों ने अपने पराक्रम से राज्य-भार समाला और देवता तप करने लगे ॥२॥ इस पर राजा जनमेजय ने पुनः प्रश्न किया—हे विप्र श्रेष्ठ ! अत्यन्त बनी, पराक्रमी एवं दानशील राजा बलि ने अपना यज्ञ दीर्घ काल तक किस प्रकार किया ? ॥३॥ इस पर वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! उस अत्यन्त दानशील राजा बलि ने बहुत-सा स्वर्ण देकर ऐसे राजसूय यज्ञ का प्रारम्भ किया था, जैसा गंगा-प्रमुखा के बीच में रहने वाला कोई भी राजा नहीं कर पाया । उसके यज्ञ में वेदज्ञाता ब्राह्मण, यती, सिद्ध, बाललिह्यादि ऋषि तथा अन्यान्य प्रमुख ब्राह्मण और ऋषि सम्मिलित हुए थे । उन यज्ञ का प्रारम्भ विपुल धन के व्यय पूर्वक किया जा रहा था ॥४-८॥

शुक्रस्तु सह पुत्रेण दैत्य याजयते प्रभुः ।

हैरण्यकशिपुं मध्ये गणानां प्रभवः प्रभुः ॥९॥

हैरण्यकशिपुश्च व व्याजहार सरस्वतीम् ।

कामाद्वरं ददातीति तद्वै संप्रतिपद्यताम् ॥१०॥

विष्णुर्वामनरूपेण भिक्षां तां प्रतिगृह्णाति ।

हैरण्यकशिपोर्हस्ताद्वै पदे पदमेव च ॥११॥

ततः क्रमितुमारेभे विष्णुः सत्यपराक्रमः ।

सीत्लोकान्मुनिभिः क्रान्तं दिव्यं वपुरधारयन् ॥१२॥

हृतराज्याश्च ते दैत्याः पातालविवरं ययुः ।

सप्तन्यगणसंवद्धाः सप्रासाः सासितोमराः ॥१३॥

सयन्सलगुडाश्चैव सपताकारध्वजाः ।

सचर्मवर्मकोशाश्च सायुधाः सपरञ्चधाः ॥१४॥

तथेन्द्रविष्णुसहिताः सद्यस्तेऽभ्युत्थिता गणाः ।
अभ्यपिञ्चनप्रमुदिता लोकानामत्रिपे सुराः ॥१५

उस यज्ञ को अग्नि के समान तेजस्वी महर्षि शुक्राचार्य ने अपने पुत्रों के साथ धारुण प्रारम्भ कराया । उसी समय वामन रूप धारण करके भगवान् विष्णु ने स्वयं वहाँ जाकर भिक्षा माँगी । यह देख कर बलि ने कहा—आप जो चाहें वही माँग लीजिये, मैं आपकी याचना अवश्य पूरी करूँगा ॥६-१०॥ यह सुन कर वामन रूप भगवान् विष्णु ने उससे तीन पग पृथिवी की याचना की ॥११॥ बलि के स्वीकार करने पर भगवान् ने तुरन्त ही दिव्य रूप धारण कर लिया और अपने तीन पगों का विस्तार कर उनसे तीनों लोकों को नाप लिया ॥१२॥ इस प्रकार दैत्यों का सम्पूर्ण राज्य छिन गया और प्रास, असि, तोमर, यत्र, लघुद, रण, चर्प, कर्प, कोप तण्ड, परशुद-इत्यादि शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सम्पूर्ण सेना के सहित सभी दैत्य पाताल लोक में चले गये ॥ १३-१४ ॥ तब विष्णु आदि देवताओं ने प्रसन्न होकर तीनों लोकों का शासन इन्द्र को सौंप दिया ॥ १५ ॥

तान्स्वधामृतेनाशु पितृत्वे समतर्पयत् ।
ब्रह्मा तदमृतं दिव्यं महेन्द्राय प्रयच्छति ।
अक्षयश्चाव्ययश्चैव स वृत्तस्तेन कर्मणा ॥१६
ततः शङ्खमुपाध्मासीद्विपता लोमहर्षणम् ।
पितामहकरोद्भूतं जनितृप्रथमे पदे । १७
तं श्रुत्वा शङ्खशब्दं तु त्रयो लोकाः समाहिताः ।
निवृत्तिं परमा प्राप्ता इन्द्रं नाथमवाप्य च ॥१८
सर्वैः प्रहरणंश्चैव सयुक्ता बह्विर्भवः ।
मन्दराग्रेषु विहितंज्वलद्भिरिव पावकैः ॥१९

इन्द्र ने स्वधामृत से उसी समय सब देवताओं को तृप्त किया तब ब्रह्मा-जी ने उस अमृत को इन्द्र के लिये पुन दे दिया । उस अमृत को पीकर इन्द्र

अमर होगये ॥१६॥ तभी ब्रह्माजी के द्वारा बजते हुए शस्त्र की घोर ध्वनि तीनों लोकों में गूँज उठी, जिससे इन्द्र के प्रलोभयाधिपति होने की बात सब को विदित होगई । तब सब को अत्यंत हृष हुआ और सभी लाग अग्नि से अत्यन्त तेजोमय आग्नेयास्त्र प्राप्त करके आनन्द मनाने लगे ॥१७ १६॥

॥ वाराह भगवान द्वारा पृथ्वी का उद्धार ॥

जगदण्डमिदं पूर्वं मासीत्सर्वं हिरण्यम् ।
 प्रजापतेर्मूर्तिमयमित्येव वंदिकी श्रुति ॥१॥
 ततो वर्षसहस्रान्ते विभेदोऽर्धमुख विभु ।
 लोकस जननार्थाय विभेदाधोमुख पुन ॥२॥
 भूयोऽष्टधा विभेदाण्ड प्रभुर्व लोकयोनिकृत् ।
 चकार जगत्श्चात्र विभाग सर्वभागवित् ॥३॥
 यच्छिद्रमूर्ध्वमाकाश परा सुकृतिना गति ।
 विहित विश्वयोगेन यदधस्तद्रसातलम् ॥४॥
 यदण्डमकरोत्पूर्वं देवलोकसिन्धुक्षया ।
 समन्तादष्टधा यानि छिद्राणि कृन्वास्तु स ॥५॥
 विदिशस्ता दिश सर्वा मनसंवाकरोद्द्विधा ।
 नानारागविरागाणि यान्यण्डशकलानि वै ॥६॥
 बहुवर्णधराश्चिन्ता बभूवुस्ते वलाहका ।
 यदण्डमध्ये स्कन्न तद्द्रवमासीत्समाहितम् ॥७॥

वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! वेदों की श्रुतियों से यह जाना जाता है कि प्राचीन काल में यह ससार एक सर्वात्म्य अण्ड के रूप में था ॥ १ ॥ एक सहस्र वर्षों के पश्चात् भगवान् ने उस अण्ड का मुख ऊपर की ओर करके उसने दो भाग किये और कुछ समय के पश्चात् सृष्टि की इच्छा से उस अण्ड का मुख नीचे की ओर करके उसके बाठ भाग कर डाले । इस प्रकार इस विश्व के अनेक खण्ड होगये ॥२ ॥ उस अण्ड का ऊपर की ओर आकाश हुआ जो श्रेष्ठ पुरुषों के कर्म का साधन बन गया और उसने नीचे का भाग रसातल बन गया ॥ ४ ॥

वीर ! हे नारायण ! आप युग-युग में मुझ पर बड़े हुए भार को जन-कल्याणार्थ उतारते रहे हैं ॥२२॥

तवैव तेजसाक्रान्तां रसातलतलं गताम् ।
 स्नायस्व मां सुरश्रेष्ठ त्वामेव शरणं गताम् ॥२३॥
 दानवैः पीड्यमानाहं राक्षसंश्च दुरात्मभिः ।
 त्वामेव शरणं नित्यमुपयामि सनातनम् ॥२४॥
 तावन्मेऽस्ति भयं भूयो यावन्न त्वां ककुप्तिनम् ।
 शरणं यामि मनसा शतशोऽप्युपलक्षये ॥२५॥
 मा भर्धंरणि कल्याणि शान्तिं व्रज समाहिता ।
 एष त्वामुचितं स्थानमानयामि मनीषितम् ॥२६॥
 ततो महात्मा मनसा दिव्यं रूपमचिन्तयत् ।
 किं नु रूपमहं कृत्वा उद्धरामि वसुन्धराम् ॥२७॥
 जले निमग्ना धरणी येनाहं वै समुद्धरे ।
 इत्येवं चिन्तयित्वा तु देवो नारायणः प्रभुः ॥२८॥
 जलक्रीडारुचिस्तस्माद्द्वाराहं रूपमस्मरत् ।
 हरिरुद्धरणे युवतस्तदाऽमूदस्य भूमिभूत् ॥२९॥

हे प्रभो ! दैत्यो-दानवों के द्वारा पीड़ित हुई मैं अब आपकी ही शरण की प्राप्ति हुई हूँ, क्योंकि अब मैं दानवादि के बोल और आपके तेज से दीए होकर रसातल में धँसकर रही हूँ, इसलिये मेरी रक्षा करिये । हे नाथ ! मैं अब तक आपकी शरण में नहीं आती तभी तक मुझे भय रहता है, आपकी शरण मिलते ही मैं शंका रहित हो जाती हूँ ॥२३-२५॥ भगवान् बोले—हे देवि ! तुम किसी प्रकार का भय मत करो । मैं तुम्हें अभी तुम्हारे इच्छित और पूर्व स्थान पर स्थित किये देता हूँ ॥ २६ ॥ यक्षम्पायनत्री ने कहा—हे राजन् ! पृथिवी को आश्वासन देकर भगवान् सोचने लगे कि इसका उद्धार करने के लिये मुझे कौन-सा रूप धारण करना चाहिये ? फिर उन्होंने जलक्रीडा की इच्छा करके पद्मवाराह रूप से पृथिवी का उद्धार करना स्थिर किया ॥२७-२९॥

अधृष्यं सर्वभूतानां वाङ्मयं ब्रह्मासंमितम् ।
 दशयोजनदिस्तारमुच्छ्रितं शतयोजनम् ॥३०॥
 नीलमेघप्रतीकाशं मेघस्तनितनिःस्वनम् ।
 महागिरेः संहननं श्वेतदीप्तोग्रदंष्ट्रिणम् ॥३१॥
 विद्युदग्निप्रतीकाशमादित्यसमतेजसम् ।
 पीनवृत्तायतस्कन्धं हृष्टशार्दूलगामिनम् ॥३२॥
 पीनोन्ततकटीदेशं वृषलक्षणपूजितम् ।
 रूपमास्थाय विपुलं वाराहममितं हरिः ॥३३॥
 पृथिव्युद्धरणार्थाय प्रविवेश रसातलाम् ।
 वेदपादो घूपदंष्ट्रः क्रतुदन्तश्चितीमुखः ॥३४॥
 अग्निजिह्वो दधरोमा ब्रह्माशीर्षो महातपाः ।
 अहोरात्रेक्षणधरो देवागश्चूतिभूषणः ॥३५॥

फिर उन्होने जो वाराह रूप धारण किया, उसका विस्तार दस योजन और ऊँचाई सौ योजन थी उस मूर्ति के समीप जाने का किसी में साहस नहीं था । उनका गर्जन नीलवर्ण के मेघ जैसा था, उनके श्वेत दाँत अत्यन्त उग्र थे जिनके द्वारा पर्वत भी सुगमता से विदीर्ण हो सकते थे ॥३०-३१॥ उनके नेत्र विद्युत्, अग्नि और आदित्य के समान प्रकाशमान थे । उनका स्कन्ध प्रदेश मोटा और गोल था तथा क्रोवित सिंह के समान भीषण पराक्रम था ॥३२॥ उनकी कटि मोटी और ऊँची थी । उनमें अत्यन्त विकसित बल के सभी लक्षण विद्यमान थे । इस प्रकार वाराह रूप धारी भगवान् विष्णु पृथिवी का पुनर्द्धार करने की इच्छा से रसातल में धुस गये । उनके चरण चारों वेद थे, उनकी दष्ट्राएँ यज्ञपूष थे, यज्ञ उनकी मुजाएँ, चित्ति मुख, अग्नि जिह्वा, दधरोमा, प्रणव मस्तक, दिन-रात्रि दोनों नयन, वेदाङ्ग कुण्डल, थे ॥३३-३५॥

आज्यनासाः स्रुवस्तुण्डः सामघोषस्वरौ महान् ।
 सत्यधर्ममयः श्रीमान्क्रमविक्रमसत्कृतः ॥३६॥
 क्रियासत्रमहाघोणः पशुजानुर्मखाकृतिः ।
 उद्गातान्तो महालिङ्गो बीजोपधिमहाफलः ॥३७॥

देवताओं की उत्पत्ति के लिये जो अण्ड बनाया गया, उसके सब ओर बाठ छेद बनाये गये। वही छेद दिशा और विदिता हुए। विभाग करते समय जो छोटे टुकड़े बचे, वे सब मेघ होगये ॥५८॥

जातरूपं तदभवत्तत्सर्वं पृथिवीतले ।
 तस्य यलेदार्षाद्यौघेन प्राच्छाद्यत समन्ततः ॥८॥
 पृथिवी निखिला राजन्युगान्ते सागरंरिव ॥९॥
 यच्चाण्डमकरोत्पूवं देवलोकचिकीर्षया ।
 तत्र तत्सलिलं स्कन्नं सोऽभवत्काञ्चनो गिरिः ॥१०॥
 तेनाम्भसा प्लुताः सर्वा दिशश्चोपदिशस्तथा ।
 अन्तरिक्षं च नाकं च यच्चान्यर्किचिदन्तरम् ॥११॥
 यक्ष-यक्ष जलं स्वन्नं तत्र तत्र स्थितो गिरिः ।
 शैलः समस्तगं हना विषमा मेदिनी भवत् ॥१२॥
 तैः सपर्वतजालौघं बहूयोजनविस्तृतं ।
 पीडिता गुरुभिर्देवी पृथिवी व्यथिताऽभवत् ॥१३॥
 महीतले भूरि जलं विव्यं नारायणात्मकम् ।
 हिरण्यं समुदिष्टं तेजो विमलरूपितम् ॥१४॥
 अशयता वं धारयितुमधः सा प्रविवेश ह ।
 पीड्यमाना भगवतस्तेजसा तेन सा क्षितिः ॥१५॥

उक्त अण्ड के तरल अंश से पृथिवी सब ओर से आच्छादित होगई। देवताओं की उत्पत्ति के लिये हिरण्यमय अण्ड के विभाजित होने समय निक्षतने वाले जल से वायुगिरि की अवतारणा हुई ॥८-१०॥ बचे हुए जल से दिशा, विदिता, अन्तरिक्ष और स्वर्गादि स्थान सिंचित हुए ॥११॥ जहाँ-जहाँ बहू जल गिरा, वही-वही पर्वत होगये। इन प्रकार पर्वत और बनों के उत्पन्न होने में पृथिवी जैसी-नीसी तथा असमान होगई ॥१२॥ इन अनेक योजन लम्बे चौड़े और बहुत भार वाले पर्वतों के कारण पृथिवी बोझिन होगई, उस पर भी

नारायणात्मक दिव्य जल के बोझ से तो और भी पीड़ित हो उठी। इस प्रकार भार वहन करने में असमर्थ हुई पृथिवी नीचे की ओर धँसकने लगी ॥१३-१५॥

पृथिवी विनती दृष्ट्वा तामघो मधुसूदन ।

उद्धाराय मनश्चक्रे लोकानां हितकाम्यया ॥१६

मत्तेज एव बलवत्समासाद्य तपस्विनी ।

रसातलं विशेददेवी पङ्कजे गौरिव दुर्यंता ॥१७

त्रिविक्रमायामितविक्रमायहानू सिंहाय चतुर्भुजाय ।

श्रीशार्ङ्गचक्रासिगदाधराय नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय ॥१८

त्वयाऽऽत्मना धार्यते वै त्वया सह्यते जगत् ।

त्वं धारयसि भूतानि भुवनं त्वं विभर्षि च ॥१९

यत्त्वया धर्यते किञ्चित्तेजसा च बलेन च ।

सतस्तव प्रसादेन मया पश्चात्तु धार्यते ॥२०

त्वया धृतं धारयामि नाधृतं धारयाम्यहम् ।

न हि तद्विद्यते रूपं यत्त्वया न तु धार्यते ॥२१

त्वमेव पुरुषो वीर नारायण युगे युगे ।

मम भारवतरणं जगतो हितकाम्यया ॥२२

जब भगवान् ने पृथिवी को रसातल में धँसकते हुए देखा तो अपने तेज-बल से उसका उद्धार करने का विचार किया ॥१६॥ भगवान् सोचने लगे कि यह तपस्विनी घरा भरे तेज को न सह कर कीच में फँसी गी के समान रसातल में घुसी जा रही है ॥१७॥ तभी पृथिवी ने कहा हे त्रिविक्रम ! हे महा नृसिंह ! हे चतुर्भुज ! हे शार्ङ्गधर ! हे खड्ग, गदा और चक्रधारी पुरुषोत्तम ! आपकी नमस्कार है ॥१८॥ आप ही जगत् और जीवों का पालन तथा रक्षण करते हैं एवं आप ही अपने तेज और बल के कारण सब के धारण में समर्थ हैं । इसीलिये आपके प्रभाव से मैं भी सब कुछ धारण करने वाली हुई हूँ ॥ २० ॥ आपकी धारण शक्ति से ही मुझे उस शक्ति की प्राप्ति हुई है, क्योंकि ससार का ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो आपके द्वारा धारण न किया जाता हो ॥ २१ ॥ हे

वाय्वन्तरात्मा मन्त्रस्फिक्विक्रमः सोमशोणितः ।
 वेदीस्कन्धो हविगन्धो हव्यकव्योतिवेगवान् ॥३८
 प्राग्वंशकायो द्युतिमान्नानादीक्षाभिरचितः ।
 दक्षिणाहृदयो योगी महासत्त्वमयो महान् ॥३९
 उपाकर्मोष्ठरुचकः प्रवर्ग्यावर्तभूषणः ।
 नानाछन्दोगतिपर्यो गुह्योपनिषदासनः ॥४०
 छायापत्नीसहायो वै मणिशृङ्ग इवोच्छ्रितः ।
 भूत्वा यज्ञवराहोऽसौ युगपत्प्राविशद्गुरुः ॥४१

धृत नासिका, खुवा तुण्ड, साम-वज्रनि स्वर, क्रियामय दानादि उनका घ्राण, पशु जानु, यज्ञ आकृति, उदगाता आर्त, होम उपस्थ, महाफल धीर्य, पवन अन्तरात्मा, सप्त स्फिक् विक्रम, सोम रुधिर, वेदी स्कंध, हवि गध, हव्य-कव्य वेग, प्राग्वंश देह, द्युति दीक्षा दक्षिणा वक्षःस्थल, उपकरण ओष्ठ के अलंकार, होमाग्नि नाभि का अलंकार, छन्द मार्ग, गुह्य उपनिषद आसन और छाया पत्नी थी । उनका शरीर मणिमय शिखर के समान ऊँचा था । सत्य धर्म युक्त, अत्यन्त यली-पराक्रमी, श्री सम्पन्न एवं योगी बराह रूपी भगवान् पाताल में घुस गये ॥३६-४१॥

अदिमः संछादितामुर्वीं स तामाच्यं त्रजापतिः ।
 रसातलतले मग्नां पातालान्तरसंश्रयाम् ॥४२
 प्रभुलोकहितार्थाय दंष्ट्राग्रेणोज्जहार गाम् ।
 ततः स्वस्थानमानीय पृथिवी पृथिवीधरः ॥४३
 मुमोच पूर्वं सहसा धारयित्वा धराधरः ।
 ततो जगाम निर्वाणं मेदिनी तस्य धारणात् ॥४४
 पकार च नमस्कारं तस्मै देवाय शंभवे ।
 एवं यज्ञवराहेण भूत्वा भूतहितार्थिना ॥४५
 उदता पृथिवी देवी लोकानां हितकाम्यया ।
 अघोदृत्य क्षितिं देवो जगतः स्थापनेच्छया ॥४६

पृथिवीप्रविभागाय मत्तश्चवत्रेऽम्बुजेक्षणः ।

रसातलगतामेवं विचिन्त्य स सुरोत्तमः ॥४७॥

ततो विभुः प्रवरवराहरूपधृग्वृषारूपिः प्रसभमयैकदंष्ट्रया ।

समुद्धरद्धरणमतुल्यविक्रमो महायशाः सकलहितार्थमच्युतः ॥४८॥

वहाँ जाकर रसातल में घुसी और जल में डूबी हुई पृथिवी को उन्होंने अपने दाँतो के अगले भाग पर रख लिया ॥४२॥ फिर उन्होंने उस पृथिवी को जल से बाहर लाकर स्थापित किया । इस प्रकार पृथिवी को धारण करने से वे 'धराधर' नाम से विख्यात हुए । उनके द्वारा धारण की गई पृथिवी भी अब मुक्त होकर भय-रहित होगई ॥४३-४४॥ यज्ञ वराह रूप में अवतीर्ण हुए भगवान् से रक्षित होकर उस पृथिवी ने उन्हें नमस्कार किया ॥४५॥ हे राजन् ! इस प्रकार भगवान् विष्णु ने यज्ञवराह रूप से लोक बल्याणार्थ पृथिवी का उद्धार किया ॥ ४६-४८ ॥

॥ हिरण्याक्ष और इन्द्र का संग्राम ॥

कदाचित्तु सपक्षास्ते पर्वता धरणीधराः ।

प्रस्थिताः धरणी त्यक्त्वा नूनं तस्यैव मायया ॥१॥

तदाऽसुराणां निलयं हिरण्याक्षेण पालिताम् ।

दिशः प्रतीचीभागस्य हृदेऽमज्जन्यथा गजाः ॥२॥

सत्तासुरेभ्यः शंसन्त आधिपत्यं सुराश्रये ।

तच्छ्रुत्वाऽथासुराः सर्वे चक्रुर्द्योगमुत्तमम् ॥३॥

क्रूरा च बुद्धिमतुला पृथिवीहरणे रताः ।

आयुधानि च सर्वाणि जगृहुर्भीमविक्रमाः ॥४॥

चक्राशनीस्तथा खड्गान्भुशुण्डीश्च घनूँ पि च ।

प्रासान्पाशाश्च शक्तीश्च मुसलानि गदास्तथा ॥५॥

केचित्कवचिनः सज्जा मत्तनागांस्तथा परे ।
 केचिदश्वरयान्युक्ता अपरेऽश्वान्महासुराः ॥६॥
 केचिदुष्टांस्तथा खङ्गान्महिषात्तान्भानपि ।
 स्वबाहुबलमास्थाय केचिच्चापि पदातयः ॥७॥
 परिवार्य हिरण्याक्षं तलवद्धाः कलापिनः ।
 इतश्चेतश्च निश्चेरुर्हृष्टाः सर्वे युयुत्सवः ॥८॥

वैशम्पायन जी ने कहा—हे राजन् ! एक बार की बात है कि असुरों के पक्ष वाले पर्वतों ने पृथिवी छोड़ कर हिरण्याक्ष द्वारा पालन की जाने वाली पश्चिम दिशा को प्रस्थान किया और वहाँ जाकर वे सरोवर के जल में हाथी के समान घुस गये ॥१-२॥ उस समय दैत्य श्रेष्ठ हिरण्याक्ष दैत्यनगरी का पालन था । उन पक्ष वाले पर्वतों ने वहाँ जाकर देवताओं द्वारा सीनों सोपों के आधिपत्य-प्राप्ति की बात असुरों को बताई, जिसे सुनकर वे असुरगण युद्ध करने का विचार करने लगे ॥३॥ तब वे चक्र, अशनि, खड्ग, भुगुंडी, घनुष, प्रास, पाश, शक्ति, मूसल और गदा आदि अत्यंत सुतीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित हुए । वे सब क्रूर युद्ध वाले दानव सम्पूर्ण पृथिवी पर अधिकार की अभिलाषा करते थे ॥४-५॥ कुछ दैत्य कवचादि धारण करके हाथियों, अश्वों, रथों, ऊंटों, बैलों, भैंसों और कुत्तों पर बैठ गये तथा कुछ अपने भुज-बल के भरोसे पर पैदल ही युद्ध करने को तत्पर हुए ॥६-७॥ इस प्रकार सुसज्जित हुए सभी दैत्य अपने स्वामी हिरण्याक्ष की सब ओर से घेर कर युद्ध की इच्छा से घूमने लगे ॥८॥

ततो देवगणाः पश्चात्पुण्ड्रपुरोगमाः ।
 दैत्यानां विदितोद्योगाश्चक्रुद्योगमुत्तमम् ॥९॥
 महता चतुरङ्गेण बलेन गुप्तमाहिताः ।
 यदगोपांगुलित्रापास्तृणवन्तः समार्गणा ॥१०॥
 उग्राण्यधरा देवाः स्वेधनीकेष्ववस्थिताः ।
 ऐरावतगतं शक्रमन्यमच्छन्त पृथ्वी ॥११॥

ततस्तूर्यं निनादेन भेरीणां च महास्वनैः ।
 अम्यद्रवद्विरण्याक्षो देवराज पुरन्दरम् ॥१२
 तीक्ष्णैः परशुनिस्त्रिंशैर्गंदातोमरशक्तिभिः ।
 भुसलैः पट्टिशैश्चैव च्छादयामास वासवम् ॥१३
 ततोऽस्त्रबलवेगेन सोचिष्मत्य सुदारुणाः ।
 घोररूपा महावेगा निपेतुर्वाणमृष्टय ॥१४

जब इन्द्रादि देवताओं को दैत्यों के युद्ध के लिये सजने का समाचार मिला तब वे भी युद्ध-सामग्री एकत्र करने में तत्पर हुए ॥१॥ वे सभी अगुलित्राण, तूणीर, बाण आदि अत्यंत तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों को धारण कर अपने-अपने दल में मिल गये और तब देवराज इन्द्र को हाथी पर चढ़ा कर उनके पीछे-पीछे सभी चल दिये ॥१०-११॥ उस समय भेरी, तुरही आदि विविध प्रकार के बाजे बज उठे । इन्द्र को युद्ध क्षेत्र में देखकर हिरण्याक्ष वेग पूर्वक उनकी ओर अग्रसर हुआ ॥१२॥ उनके सामने जाकर उस दैत्य-श्रेष्ठ ने परशु, निस्त्रिंश, यदा, सोमर, शक्ति, भूपल और भिन्दिपाल जैसे शस्त्रों को बरसा कर इन्द्र को आच्छादित कर दिया ॥१३॥ फिर अत्यंत वेग पूर्वक तेजोमय बाणों की घोर वर्षा होने लगी ॥१४॥

समुद्यतायुः दृष्ट्वा सर्वे देवगणास्तदा ।
 ते हिरण्याक्षमसुर दैत्यानामग्रत स्थितम् ॥१५
 युगान्तसमये भीम स्थितं मृत्पुमिवाग्रत ।
 प्रविब्यधु सुरा सर्वे तदा शक्रपुरोगमा ॥१६
 दृष्ट्वाऽऽयान्त हिरण्याक्ष महाद्रिमिव जङ्गमम् ।
 देवा स विग्नमनस प्रगृहीतशरासना ॥१७
 सहस्राक्ष पुरस्कृत्य तस्थु सग्राममूर्धनि ।
 सा च दैत्यचमू रेजे हिरण्यकवचोज्ज्वला ॥१८
 प्रवृद्धनक्षत्रगणा शारदी लौरिचामला ।
 तेऽन्योन्यमपि सम्पेतु पातयन्त परस्परम् ॥१९

वभञ्जुर्बाहुभिर्वान्द्वन्द्वमन्ये युयुत्सवः ।

गदानिपातैर्भग्नाङ्गा वाणैश्च व्यथितोरसः ॥२०॥

विनिपेनुः पृथक्केचित्ताथान्येऽपि विजघ्निरे ।

वभञ्जिरे रथान्केचिकेचित्संमृदिता रथैः ॥२१॥

उस समय उद्यतायुध हिरण्याक्ष को सामने देखकर सभी देवगण उसे सब ओर से मारने को दौड़े ॥१५-१६॥ इस पर भी वह दैत्य श्रेष्ठ आगे ही बढ़ता गया । तब उस विशाल देह वाले हिरण्याक्ष को पीछे न हटता देख कर देवताओ ने मुट्ट छोड़ दिया और वे भाग-भाग कर इन्द्र के पीछे खड़े होने लगे । इधर सोने के कवचो को धारण करने वाले दैत्य नक्षत्रो से युक्त शरत्वालीन आकाश के समान सुशोभित हुए । फिर दैत्य और देवताओ मे भीषण टक्कर होने लगी ॥१७-१९॥ तब किसी का हाथ, किसी का पाँव, किसी का मस्तक और किसी का पूरा शरीर ही छिन्न-भिन्न हो गया । कुछ दैत्य पराशायी हुए, कुछ चक्कर खाते लगे, कुछ देवताओ के रथो को तोड़ने लगे तथा कुछ उन रथो के नीचे आ गये ॥२०-२१॥

सम्बाधमन्ये सम्प्राप्ता न शोकुश्चलितुं रथाः ।

दानवेन्द्रवलं ततुं देवाना च महद्बलम् ॥२२॥

अन्योन्यवणवर्षेण युद्धदुर्दिनमावभौ ।

हिरण्याक्षस्तु बलवान्क्रुद्धः स दितिनन्दन ॥२३॥

व्यवर्द्धत महातेजाः समुद्र इव पर्वणि ।

तस्य क्रुद्धस्य सहसा मुखान्निरश्चरन्विपः ॥२४॥

शस्त्रजालं बहुविधैर्धनुभिः परिधैरपि ।

सर्वमाकाशमावव्रे पर्वतरुत्थितरिव ॥२५॥

बहुभिः शस्त्रानिस्त्रिशैः छिन्नभिन्नशिरोरसः ।

न शोकुश्चलितुं देवा हिरण्याक्षादिता युधि ॥२६॥

सर्वे वित्रासिता देवा हिरण्याक्षेण संयुगे ।

न शोकुर्यत्नवन्तोऽपि यत्नं कर्तुं विचेतसः ॥२७॥

तेन शक्र सहस्राक्ष. स्तम्भितोऽग्नेः घीमता ।

ऐरावतगतः स टये नाशकच्चलितु भयात् ॥२८॥

सर्वाश्च देवानखिलान्स पराजित्य दानवः ।

स्तम्भयित्वा च देवेशमात्मस्थं मन्यते जगत् ॥२९॥

सतोयमेघप्रतिमोग्रनि स्वर्न प्रभिन्नमातङ्ग विलास विग्रहम् ।

धनुर्विधुन्वन्तमुदारवचंसं तदाऽमुरेन्द्र ददृशुः गुराः स्थिताः ॥३०॥

फिर घमासान युद्ध होने के कारण रथों के लिये चलने योग्य स्थान ही न रहा । इस प्रकार दानव रूपी महाभयों के उमड़ने और देवताओं के विद्युत के समान अस्त्रों के चमकन तथा दोनों पक्ष द्वारा होने वाली बाण वर्षा से युक्त युद्धरूपी दुर्गिन आ गया । तब पच दिन पर शुद्ध हुए समुद्र के समान, दैत्यवर हिरण्याक्ष कुपित होकर मूल से आग उगलने लगा ॥२२-२४॥ फिर उसके विभिन्न प्रकार के अस्त्रों से नभःपण्डल ढक कर ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे वह उन्नत पर्वतों से आच्छादित हो गया हो ॥२५॥ हिरण्याक्ष द्वारा अस्त्र प्रहार होने से देवताओं के शिर बट गये और हृदय विदीर्ण हो गये । इस प्रकार घायल हुए देवताओं में चलने फिरने की भी शक्ति न रही ॥२६॥ इससे उनमें इतना भीषण भय छा गया कि किञ्चिदपि विमूढ़ के समान खड़े रहने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय उन्हें नहीं सूझ पड़ा ॥२७॥ ऐरावत पर आरुढ़ इन्द्र भी दैत्य-राज के अस्त्र से स्तम्भित होकर अविचल जैसे खड़े हो गये ॥२८॥ इस प्रकार मदमत्त हाथी के समान हिरण्याक्ष ने सब देवताओं को जीत कर सब लोकों को अपना समझ लिया ॥२९॥ उस समय देवताओं ने जलयुक्त मेघ के समान भीषण गर्जनशील तथा मत्त गजराज के समान क्रीडायुक्त हिरण्याक्ष को धनुष की टकोर करते हुए देखा ॥३०॥

॥ वाराह भगवान'द्वारा हिरण्याक्ष-वध ॥

निष्प्रयत्ने सुरपती घवितेषु सुरेषु च ।

हिरण्याक्षवधे बुद्धिं चक्रे चक्रगदाधर ॥१॥

वाराहः पर्वतो नाम यः पूर्वं समुदाहृतः ।
 स एष भूत्वा भगवानाजगामासुरान्तवृत् ॥२॥
 ततश्चन्द्रप्रतीकाशमगृह्णाच्छङ्खमुत्तमम् ।
 सहस्रारं च तच्चक्रं चक्रपर्वतसन्निभम् ॥३॥
 महादेवो महाबुद्धिर्महायोगी महेश्वरः ।
 पठ्यते योऽमरैः सर्वैर्गुह्यैर्नामभिरव्ययः ॥४॥
 सदसच्चात्मनि श्रेष्ठः सद्भिर्यः सेव्यते सदा ।
 इज्यते यः पुराणैश्च त्रिलोके लोकभावनः ॥५॥
 यो वैकुण्ठः सुरेन्द्राणामनन्तो भोगिनामपि ।
 विष्णुर्यो योगविदुषां यो यज्ञकर्मणाम् ॥६॥

वैशम्पायन जी ने कहा—हे राजन् ! इन्द्रादि देवताओं के पराजित होने पर चक्र गदा धारण करने वाले वाराह भगवान् ने हिरण्याक्ष को मारने का निश्चय किया ॥१॥ इससे पूर्व इसी रूप से उन्होंने पृथिवी का उद्धार किया था, वे ही असुरों का संहार करने वाले भगवान् विष्णु अब युद्ध क्षेत्र में जा पहुँचे ॥२॥ जहाँ उन्होंने शरद् काल के स्वच्छ चन्द्रमा के समान अपने सहस्रधार वाले चक्र को ग्रहण किया ॥३॥ जो महादेव, महाबुद्धि, महायोगी एवं महेश्वर कहे जाते हैं, जो सब जीवां में निवास करते हैं, जिन जगत् के पूज्य की सन्तजन सदा सेवा करते हैं, जो योगियों के लिये, विष्णु भोगियों के लिये अनन्त और माशिकों के लिये यज्ञ है ॥४-६॥

ततः संवतनयनो हिरण्याक्षो महासुरः ।
 कोऽयमित्यब्रवीद्रोषान्तरायणमुदक्षत ॥७॥
 वाराहरूपिणं देवं संस्थितं पुरुषोत्तमम् ।
 शङ्खचक्रोद्यतकरं देवानामात्तिनाशनम् ॥८॥
 रराज शङ्खचक्राभ्यां ताभ्यामसुरसूदनः ।
 सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये यथा नोलपयोधरः ॥९॥
 ततोऽसुरगणाः सर्वे हिरण्याक्षपुरोगमाः ।
 उद्यतायुधनिस्त्रिंशो दृष्ट्वा देवमुद्रावन् ॥१०॥

पीड्यमानोऽतिबलिभिर्देव्यै सर्वायुधोद्यतः ।
 न चचाल हरिर्यद्वेऽनभ्यमान इवाचल ॥११
 तत प्रज्वलिता शक्ति वाराहोरसि दानव ।
 हिरण्याक्षो महातेजा पातयामास वोयवान् ॥१२
 तस्या शक्त्या प्रभावेण ब्रह्मा विस्मयमागतः ।
 समीपमागता दृष्ट्वा महाशक्ति महाबल ॥१३
 हु कारेणैव निर्भत्स्य पातयामास भूतले ।
 तस्या प्रतिहताया तु ब्रह्मा साध्विति चाग्रवीत् ॥१४

तब वह घोर दैत्य हिरण्याक्ष अपने नेत्रों की क्रोध से रक्त वर्ण करके 'यह कौन है ?' सोचता हुआ वाराह भगवान् को टकटकी लगा कर देखने लगा ॥७॥ इस प्रकार उन शस्त्र चक्रधारी देव दुःख-नाशक पुण्योत्तम वाराह भगवान् को उसने अपने सामने अवस्थित देखा ॥८॥ उनके एक हाथ में शस्त्र और दूसरे में चक्र था । उस समय वे सूर्य और चन्द्रमा के मध्य स्थित मील भेष के समान प्रतीत हो रहे थे ॥९॥ इसके पश्चात् हिरण्याक्ष आदि सभी दैत्यगण विविध प्रकार के श्रेष्ठ दस्त्रास्त्रों को लेकर वेग पूर्वक उनकी ओर दौड़े ॥१०॥ समीप में पहुँचकर वे दैत्यगण वाराह भगवान् पर घोर प्रहार करने लगे । परन्तु भगवान् उन प्रहारों से किंचित् भी विचलित न होकर पर्वत के समान दृढ़ रूप से खड़े रहे ॥११॥ तब उस तेजस्वी दैत्यराज ने उनके वक्ष स्थल पर महातेजोमय शक्ति से आघात किया ॥१२॥ उस शक्ति के महान् प्रभाव के निष्फल होने से ब्रह्माजी को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि वाराह भगवान् ने उस शक्ति को एक हु कार मात्र से पृथिवी पर गिरा दिया । उस समय ब्रह्माजी 'साधु-साधु' कह उठे ॥१३ १४॥

य प्रभु सर्वभूतानां वराहस्तेन ताडितः ।
 ततो भगवता चक्रमाविध्यादित्यसन्निभम् ॥१५
 पातित दानवेन्द्रस्य शिरस्युत्तमकर्मणा ।
 तत स्थितस्यैव शिरस्स्य भूमौ पतात ह ।
 हिरण्मय वज्रहत मेरुश्च ज्जमिवोत्तमम् ॥१६

हिरण्याक्षे हृते दैत्ये शेषा ये तस्य दानवाः ।

सर्वे तस्य भयवन्ता जम्बूराशु दिशो दश , ॥१७॥

स सर्वलोकाप्रतिचक्रचक्रो महाहवेष्वप्रतिमोग्रचक्रः ।

वभो वराहो युधि चक्रपाणिः कालो युगान्तेष्विव दण्डपाणिः ॥१८॥

उन्होंने कहा—जो सभी देवताओं के ईश्वर हैं, उनके लिये यह तुच्छ शक्ति क्या महत्व रखती है ? ॥१५॥ हे राजन् ! फिर भगवान् वाराह ने अपने सूर्य के समान प्रकाशमान सुदर्शन चक्र को हिरण्याक्ष पर छोड़ा, जिससे वह दैत्य स्तम्भित हो गया और तभी छिन्न-भिन्न हुए मेरुशृङ्ग के समान उसका सिर कट कर पृथिवी पर गिर गया ॥१६॥ उसकी मृत्यु होते ही बचे हुए सभी दैत्य भय से अत्यन्त व्याकुल होकर सब दिशाओं में भाग निकले ॥१७॥ इधर वाराह भगवान् युग का अन्त करने वाले दण्डधारी यम के समान चक्र धारण किये रणभूमि में अविचल भाव से खड़े रहे ॥१८॥

॥ नृसिंहावतार की कथा ॥

वाराह एष कथितो नारसिंहमतः शृणु ।

यत्र भूत्वा मृगेन्द्रेण हिरण्यकशिपुर्हतः ॥१॥

पुरा कृतयुगे राजन्हिरण्यकशिपुः प्रभुः ।

दैत्यानामादिपुरुषश्चकार भुमहत्तपः ॥२॥

दश वर्षसहस्राणि शतानि दश पञ्च च ।

जलवासी समभवत्स्थानमौनव्रतस्थितः ॥३॥

ततः शमदमाभ्या च ब्रह्मचर्येण चैव हि ।

ब्रह्मा प्रीतोऽभवत्तस्य तपसा नियमेन च ॥४॥

ततः स्वयंभूर्भगवान्स्वयमागत्य तत्र ह ।

विमानेनार्कवर्णेन हंसयुक्तेन भास्वता ॥५॥

आदित्यं वसुभिः साध्यैर्मरुद्भिर्देवतैः सह ।

रुद्रं विश्वसहायश्च यक्षराक्षसकिन्नरैः ॥६॥

दिग्भिश्चाय विदिग्भिश्च नदीभि सागरैस्तथा ।

नक्षत्रैश्च मूर्तैश्च खचरैश्च महाग्रहै ॥७॥

देवैर्ब्रह्मर्षिभि सार्द्धं सिद्धै सप्तर्षिभिस्तथा ।

राजर्षिभि पुण्यकृद्भिर्गन्धर्वैरप्सरोगणै ॥८॥

वैशम्पायन जी ने कहा—हे राजन् ! इस प्रकार वाराह भगवान् का वृत्तान्त हुआ, अथ तुम्हे नृसिंहावतार की कथा सुनाता हूँ, जिसके द्वारा उन्होंने हिरण्यकशिपु को मारा था ॥१॥ पूर्वकाल की बात है कि दैत्यो के आदि पुरुष हिरण्यकशिपु ने सत्ययुग में घोर तप का आरम्भ किया ॥२॥ उसने प्रथम मीन पूर्वक जल में निवास करते हुए साढ़े ग्यारह हजार वर्ष तक तपस्या की थी ॥३॥ उसके शमदन आदि गुण ब्रह्मचर्य-पालन और तप तथा नियमो को देखकर लोक पितामह ब्रह्माजी उस पर अत्यंत प्रसन्न हुए ॥४॥ इस प्रकार प्रसन्न हुए ब्रह्माजी अपने सूर्य के समान तेजस्वी हस्ताकार विमान पर चढ़ कर उसके पास गये ॥५॥ उस समय उनके साथ आदित्य, वसु, साध्य, मरुत्, रुद्र यक्ष, राक्षस, किन्नर, गन्धर्व, अप्सरा, नद, नदी, समुद्र, नक्षत्र, मूर्त, देवर्षि, ब्रह्मर्षि, सप्तर्षि और सिद्ध आदि भी वहाँ पहुँचे ॥६॥

चराचरगुरु श्रीमान्वृतो देवगणै सह ।

ब्रह्मा ब्रह्मविदा श्रेष्ठो दैत्य वचनमब्रवीत् ॥६॥

प्रीतोऽस्मि तव भक्तस्य तपसाऽनेन सुव्रत ।

वरं वरय मद्र ते यथेष्ट काममाप्नुहि ॥१०॥

ततो हिरण्यकशिपु प्रीतात्मा दानवोत्तम ।

कृताञ्जलिपुट श्रीमान्वचन चेदमब्रवीत् ॥११॥

न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसा ।

न मानुषा पिशाचाश्च निहन्मुर्मा कथंचन ॥१२॥

अपयो नैव मा क्रुद्धा सर्वलोकपितामह ।

दापेयस्तपसा युक्ता वर एष वृत्तो मया ॥१३॥

न शस्त्रेण न चास्त्रेण गिरिणा पादपेन च ।

न शुक्लेण न चाद्र्रेण स्यान्न धान्येन मे वध ॥१४॥

तब देवताओं से घिरे हुए चराचर गुरु और देवज्ञानियों में पूज्य ब्रह्माजी ने हिरण्यकशिपु से कहा—हे सुव्रत ! तुम मेरे अत्यंत भक्त और प्रीति-भाजन हो, तुम्हारे कठोर तप से मैं अत्यंत संतुष्ट हूँ । तुम्हारा मंगल हो, तुम्हें जो चाहिये, वही मुझसे माँग लो ॥६-१०॥ यह सुन कर हिरण्यकशिपु ने हाथ जोड़ कर उनसे कहा—हे सर्वलोक पितामह ! मुझे यह वर दीजिये कि देवता, दैत्य, गणर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, मनुष्य और पिशाचादि में से कोई भी मेरे वध में समर्थ न हो सके ॥११-१२॥ तपस्वी ऋषिगण मुझे शाप न दे पावें और कोई भी शस्त्र, अस्त्र, पर्वण, वृक्ष, सूखे या गीले पदार्थ मेरी मृत्यु के कारण न बनें ॥१३-१४॥

न स्वर्गोऽप्यथ पाताले नाकाशे नावनिस्थले ।
 न चाभ्यन्तररात्र्यहोर्न चाप्यन्येन मे वधः ॥१५॥
 पाणिप्रहारेण केन सभृत्यबलवाहनम् ।
 यो मा नाशयितुं शक्तः स मे मृत्युर्भविष्यति ॥१६॥
 भवेयमहमेवार्कः सोमो वायुर्हस्ताशनः ।
 सलिलं चान्तरिक्षं च नक्षत्राणि दिशो वरुण ।
 अहं क्रोधश्च कामश्च वरुणो वासवो यमः ॥१७॥
 धनदश्च धनाध्यक्षो यक्षकिपुरुषाधिपः ।
 मूर्तिमन्ति च दिव्यानि ममास्त्राणि महाहवे ।
 उपतिष्ठन्तु देवेश सर्वलोकपितामह ॥१८॥
 एते दिव्या वरास्तात मया दत्तास्तवाद्भुताः ।
 सर्वान्कामानल्पभावात्प्राप्स्यसि त्वं न संशयः ॥१९॥
 एवमुक्त्वा स भगवाञ्जगामाकाशमेव च ।
 वैराज्यं ब्रह्मासदनं ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥२०॥
 ततो देवाश्च नागाश्च गन्धर्वा मुनिभिः सह ।
 बरुपदानं श्रुन्वाऽपि पितामहमुपस्थिताः ॥२१॥

स्वर्ग, आकाश, पृथिवी आदि किसी भी स्थान अथवा दिक्-रात्रि आदि किसी भी समय मैं न मर सकूँ । मेरी यही कामना है ॥१२॥ यदि मृत्यु हो तो

उसी के हाथ से जो एक ही थप्पड़ के प्रहार से मेरी सेना के सहित मुझे मार सके ॥१६॥ सूर्य, चन्द्र वायु अग्नि, जल, आकाश, नक्षत्र, दसो दिशायें, काम, क्रोध, वरुण और कुबेर मैं स्वयं ही हो जाऊँ । सभी दिव्य शस्त्रास्त्र साकार रूप मे सदा मेरी सेवा मे तत्पर रहे ॥१७ १८॥ इस पर ब्रह्माजी ने कहा—हे वत्स । तुम्हारे माँगे हुए सभी अद्भुत वस्तुओं को मैं तुम्हें प्रदान करता हूँ । तुम्हारी सब इच्छाएँ निःसंदेह पूर्ण होगी । हे राजन् । यह कह कर ब्रह्माजी आकाश मार्ग से अपने स्थान को चले गये । तदनन्तर देवता ऋषि गंधर्वादि न जब इस वरदान के विषय मे सुना तो वे सब एकत्रित होकर ब्रह्माजी के पास गये ॥१६ २१॥

वरेणानेन भगवन्वर्धयति स नोऽसुर ।

तत्प्रसीदस्व भगवन्वधोऽप्यस्य विचिन्त्यताम् ॥२२

भगवान्सर्वभूतानामादिकर्ता स्वयं प्रभु ।

स्रष्टा च हव्यकव्यानामव्यक्तप्रकृतिध्रुव ॥२३

सर्वलोकहितवाक्यश्रुत्वा देवप्रजापति ।

आश्वासयामास सुरान्मशीतवचनान्बुधि ॥२४

अवश्यं त्रिदशास्तेन प्राप्तव्यं तपसफलम् ।

तपसोऽन्ते स भगवान्वधविष्णुकरिष्यति ॥२५

एतच्छ्रुत्वा सुरासर्वे वाक्यपङ्कजजन्मन ।

स्वानि स्थानानि दिव्यानि प्रतिजग्मुर्मुदान्विता ॥२६

लब्धमाप्ते वरे तस्मिन्सर्वा सोऽवाधत प्रज ।

हिरण्यकशिपुर्दृत्यो वरदानेन दर्पित ॥२७

आश्रमेपु मुनीन्सर्वान्ब्रह्माणान्सशितव्रतान् ।

सत्यधर्मरतान्दान्तान्धर्पयामास वीर्यवान् ॥२८

वहाँ पहुँच कर देवगण बोले—हे भगवान् । आपके वरदान से गवित हुआ हिरण्यकशिपु हमारा सहार कर देगा, इसलिये अब आप हम पर प्रसन्न होकर उसकी मृत्यु का भी कोई उपाय निश्चित कीजिये ॥२२॥ यह सुन कर लोककर्ता भगवान् ब्रह्माजी ने उन देवताओं को शीतल जल जैसी अपनी शान्त

वाणी मे आश्वासन दिया ॥२३-२४॥ हे देवताओ ! तप का फल तो मिलेगा ही, परंतु जब उसका पुण्य क्षीण हो जायगा तब स्वयं भगवान् विष्णु उसे मारेगे ॥२५॥ पद्मयोनि श्री ब्रह्माजी के आश्वासन को सुनकर हर्षित हुए देवता अपने-अपने स्थान को लौट गये ॥२६॥ वैशम्पायन जी ने कहा—हे राजन् ! दैत्यराज हिरण्यकशिपु अत्यन्त अहंकारी होकर विश्वभर के सब जीवों पर अत्याचार में प्रवृत्त हुआ ॥२७॥ आश्रमों में निवास करने वाले, सत्य-धर्म का आचार करने वाले, शांत एवं सती विप्रगण उससे अत्यन्त क्षुब्ध हुए ॥२८॥

देवास्त्रिभुवनस्यांश्च पराजित्य महासुरः ।
 त्रैलोक्यं वशमानीय स्वर्गं वसति दानव ॥२९॥
 यदा वरमदोन्मत्तश्चोदितः कालधर्मणा ।
 यज्ञियानकरोद्द्वैत्यान्दैवतानप्ययज्ञियान् ॥३०॥
 तदादित्याश्च साध्याश्च विश्वे च वसवस्तथा ।
 रुद्रा देवगणा यक्षा देवद्विजमहर्षयः ॥३१॥
 शरण्यं शरणं विष्णुमुपतस्थुर्महाबलम् ।
 देवं देवमय यज्ञं ब्रह्मा देवं सनातनम् ॥३२॥
 भूतं भव्यं भविष्यं च प्रजालोभनमस्कृतम् ।
 नारायण महाभाग देव त्वा शरणं गताः ॥३३॥
 त्वं हि नः परमो धाता त्वं हि नः परमो गुरुः ।
 त्वं हि नः परमो देवो ब्रह्मादीनां सुरोत्तम ॥३४॥
 त्वं पद्यामलपद्माक्ष शलुपक्षभयावह ।
 क्षयाय दितिवंशस्याक्षयाय भव नः प्रभो ॥३५॥

इस प्रकार उस दैत्य ने तीनों लोकों को परास्त कर अपने आधीन कर लिया और स्वर्ग में रहकर सम्पूर्ण विश्व पर शासन करने लगा ॥२९॥ फिर उसने देवताओं से यज्ञ-भाग का अधिकार छीन कर दैत्यों को उसका अधिकारी बनाया ॥३०॥ तब आदित्य, साध्य, विश्वेदेवा, वसु, रुद्र, देवता, यक्ष, ग्राह्य और महर्षि आदि एकात्रित होकर उन एक मात्र शरण योग्य, देवमय, यज्ञ तथा

वेदमय, त्रिकाल स्वरूप, सर्वलोक पूज्य भगवान् विष्णु की शरण में गये और उनसे निवेदन करने लगे—हे प्रभो ! हे देव ! हे नारायण ! हम आपकी शरण में उपस्थित हुए हैं ॥३१-३३॥ हे देवोत्तम ! आप ही हम सब के धाता, परम-गुरु तथा परम देयता हैं ॥३४॥ हे पद्माक्ष ! हे महाप्रभो ! इस शत्रु के मारने के लिये कोई उपाय करके हमें बचाइये ॥३५॥

ज्ञायस्व जहि दैत्येन्द्र हिरण्यभोकशिपु प्र ।
 भय त्यजध्वममरा अभय चो ददाम्यहम् ॥३६॥
 तथैव क्षिविद देवा प्रतिपत्स्यथ मा चिरम् ।
 एष त सगण दैत्य वरदानेन दपितम् ॥३७॥
 अवध्यममरेन्द्राणा दानवेन्द्र निहन्म्यहम् ।
 एवमुक्त्वा स भगवान्विसृज्य त्रिदिवौकस ॥३८॥
 च ध स कल्पयित्वा तु हिरण्यकशिपो प्रभु ॥३९॥
 सोऽचिरेणैव कालेन हिभवत्पाश्र्वभागत ।
 किं नु रूप समास्थाय निहन्म्येन महासुरम् ॥४०॥
 यत्सिद्धिकरमाशु स्याद्विधाय विबुधद्विष ।
 अनुत्पन्न ततश्चक्रे सोऽत्यन्त रूपमास्थित ॥४१॥
 नारसिंहमनाघृण्य दैन्यदानवरक्षसाम् ।
 सहाय तु महाबाहुर्जग्राहोकारमेव च ॥४२॥
 अथोद्धारसहायोऽसौ भगवान्विष्णुरव्यय ।
 हिरण्यकशिपो स्थान जगाम प्रभुरीश्वर ॥४३॥

हे नाथ ! किसी भी प्रकार इसे नष्ट कीजिये । तब भगवान् ने कहा—
 हे देवगण ! तुम भयभीत मत होओ ॥३४॥ आपको स्वर्ग का आधिपत्य पुनः प्राप्त होगा । मैं शीघ्र ही उसे उसकी सेना के सहित मार डालूँगा । वंशम्पादनजी ने कहा—हे राजन् ! यह कहकर भगवान् ने देवताओं को विदा किया और स्वयं हिमालय पर्वत के निकट जाकर विचार करने लगे कि हिरण्यकशिपु को मारने के लिये मुझे कौन-सा रूप धारण करना चाहिये ॥३५-४०॥ देवताओं का घेरी

वह दैत्य किस रूप के द्वारा मारा जा सकता है ? इस पर विचार करके उन्होंने नृसिंह रूप धारण करना स्थिर किया । क्योंकि वह रूप अत्यंत भयभीत करने और साहस छोड़ाने वाला था । तब इस रूप को ओंकार के सहित धारण करके वे हिरण्यकशिपु के पास पहुँचे ॥४१-४३॥

तेजसा भास्कराकारः कान्त्या चन्द्र इवापरः ।
 नरस्य कृत्वाद्धं तनुं सिंहस्याद्धं तनुं विभुः ॥४४॥
 नारसिंहेन वपुषा पाणि संस्पृश्य पाणिना ।
 ततोऽपश्यत् विस्तीर्णा दिव्यां रम्यां मनोरमाम् ॥४५॥
 सर्वकामयुतां शुभ्रां हिरण्यकशिपोः सभाम् ।
 विस्तीर्णा योजनशतं शतमध्यद्धं मुञ्चिताम् ॥४६॥
 विहायसी कामगमां पञ्चयोजनमुञ्चिताम् ।
 जराशोकयलमत्यक्तां निष्प्रकम्पां शिवां शुभाम् ॥४७॥

उनके उस नृसिंह रूप का सूर्य के समान तेज था, उनकी सौम्यता चन्द्रमा के समान थी, उनका आपा देह मनुष्य जैसा और आपा सिंह के समान था ॥४४॥ ये भगवान् नृसिंह हिरण्यकशिपु की अत्यंत विस्तार वाली सभा में आकर उसकी सोमा देने लगे ॥४५॥ आराधना में बनी हुई वह सभा सौ योजन विस्तार वाली तथा डेढ़ सौ योजन लम्बी और पाँच योजन ऊँची थी । उस सभा को इन्द्रानुसार पाहे जहाँ लाया ले जाया जा सकता था । उसमें किंगी वस्तु का अभाव नहीं था । यहाँ जाते ही अमरत्व, अमरत्व की प्राप्ति और मोक्षदि ऐ मुक्ति होती थी ॥४६-४७॥

॥ प्रह्लाद को नृसिंह का दर्शन ॥

तनो दृष्ट्वा महाबाहुं बालपक्रमिवागतम् ।
 नारमिह्वपुच्छन्नं भस्मच्छन्नमिवाननम् ॥१॥
 विवृञ्चितमटं तस्य नारमिह्वं भारत ।
 स्फोटयन् बभौ तप्त गट्यशक्तितन्निभम् ॥२॥

अहो रूपमिदं चित्तं शङ्खकुन्देन्दुसन्निभम् ।
 अब्रुवन्दानवाः सर्वे हिरण्यकशिपुश्च सः ॥३॥
 एवं हि ब्रुवतां तेषां निर्दग्धानां महात्मनाम् ।
 नारसिंहेन चक्षुर्भ्यां चोदिताः कालघर्मणा ॥४॥
 हिरण्यकशिपोः पुत्रः प्रह्लादो नाम वीर्यवान् ।
 दिव्येन चक्षुषा सिंहमपश्यद्देवमागतम् ॥५॥
 तं दृष्ट्वा रुक्मशैलभूमपूर्वा तनुमास्थितम् ।
 विस्मृता दानवाः सर्वे हिरण्यकशिपुश्च सः ॥६॥
 महाराज महाबाहो दैत्यानामादिसंभव ।
 न श्रुतं नैव दृष्टं च नारसिंहमिदं वपुः ॥७॥
 अव्यक्तप्रभवं दिव्यं किमिदं रूपमद्भुतम् ।
 दैत्यान्तकरणं घोरं स सतीव मनांसि नः ॥८॥

वैशम्पायन जी ने कहा—हे राजन् ! भस्म में दबी हुई अग्नि के समान और सहस्र पूर्ण चन्द्र के समान नृसिंह भगवान् को वहाँ आये हुए देख कर दानव-गण परस्पर में बोले—अरे, शङ्ख, कुन्द और चन्द्रमा के समान भाभा युक्त ऐसा अद्भुत रूप इससे पहिले कभी नहीं देखा ॥१-३॥ इस प्रकार कहते हुए सभी दैत्य उन नृसिंह भगवान् को टकटकी लगाकर देखने लगे थे ॥४॥ हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद ने भी उस दिव्य स्वरूप के भले प्रकार दर्शन किये ॥५॥ इस प्रकार उस अद्भुत स्वरूप को देखकर सभी दैत्य अत्यन्त विस्मित हुए ॥६॥ तभी प्रह्लाद ने अपने पिता हिरण्यकशिपु से कहा—हे महाराज ! आप तो दैत्यो के भादि पुरुष हैं, मैंने तो ऐसा अद्भुत नृसिंह रूप कभी भी देखा-सुना नहीं ॥७॥ यह रूप अत्यन्त विस्मयोत्पादक है, इस रूप को देखकर मुझे प्रतीत होता है कि इसी के द्वारा हम दैत्यो का सहार होने वाला है ॥८॥

अस्य देवाः शरीरस्थाः सागराः सरितस्तथा ।
 हिमवान्पारियात्रश्च ये चान्ये कुलपर्वताः ॥९॥
 चन्द्रमाः सह नक्षत्रादित्याश्चाश्विनौ तथा ।
 घनटो घण्टाश्चैव यमः शक्रः क्षत्रीपतिः ॥१०॥

मरुतो देवगन्धर्वा मुनयश्च तपोधनाः ।

नागा यक्षाः पिशाचाश्च राक्षसा भीमयिकमाः ॥११

ब्रह्मदेवः पशुपतिर्लाटस्था विभान्ति वै ।

स्थावराणि च भूतानि जङ्गमानि तथैव च ॥१२

भवाश्च सहितोऽस्माभिः सर्वे दैत्यगणवृतः ।

विमानशतसंकीर्णा तथाऽभ्यन्तरजा सभा ॥१३

सर्वे त्रिभुवने राजल्लोकधर्मश्च शाश्वतः ।

दृश्यते नारसिंहेऽस्मिन्यथेन्दौ विमलं जगत् ॥१४

प्रजापतिश्चात्र मनुर्महात्मा ग्रहाश्च योगाश्च मही नभश्च ।

उत्पातकालश्च धृतिः स्मृतिश्च रजश्च सत्त्वं च तमो दमश्च ॥१५

सनत्कुमारश्च महानुभावो विश्वे च देवाप्सरसश्च सर्वाः ।

क्रोधश्च कामश्च तथैव हर्षो दर्पश्च मोहः पितरश्च सर्वे ॥१६

इस नृसिंह के देह में मुझे सभी देवता, समुद्र, नदी, पर्वत, पारिमात्र, कुलाचल, चन्द्रमा, नक्षत्र, आदित्य, अग्नि, वरुण, कुबेर, यम, इन्द्र, मरुत, गंधर्व, ऋषि, तपस्वी, नाग, यक्ष, पिशाच और राक्षसादि सभी स्थित दिखाई दे रहे हैं ॥११-११॥ जैसे चन्द्रमा की किरणों से सब संसार प्रकाशित होने लगता है, वैसे ही इनके ललाट में मुझे स्थावर-जगम विश्व, आप, मैं, हमारे विमान, यह सभा, सभी लोकधर्म और तीनों लोक ही विद्यमान प्रतीत हो रहे हैं ॥१२-१५॥ प्रजापति, मनु, घरातल, नभ, ग्रह, उत्पातकाल, धृति, स्मृति, गुण, दम, सनत्कुमार, विश्वेदेव वसु, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, गर्व तथा सभी पितरगण इनके देह में विद्यमान दिखाई दे रहे हैं ॥१५-१६॥

॥ कर्मफल वर्णन ॥

प्रह्लादस्य च तच्छ्रुत्वा हिरण्यकशिपुर्वचः ।

उवाच दानवान्सर्वान्सनगणाश्च गणाधिपः ॥१

मृगेन्द्रो गृह्यतां शीघ्रमपूर्वा तनुमास्थितः ।

यदि वा संशयः कश्चिद्दृष्ट्यता वनगोचरः ॥२

तच्छ्रुत्वा दानवा सर्वे मृगेन्द्र भीमविक्रमम् ।
 परिक्षिपन्तो मुदितास्त्वासयामासुरोजसा ॥३॥
 सिंहनाद नदित्वा नु पुन सिंहो महाबल ।
 बभञ्ज ता सभा रम्या व्यादितास्य इवान्तक ॥४॥
 सभाया भज्यमानाया हिरण्यकशिपु स्वयम् ।
 चिक्षेपास्त्राणि मिहस्य रोषव्याकुललोचन ॥५॥

वैशम्पायन जी ने कहा—हे राजन् ! प्रह्लाद के बचनों को सुनकर दैत्य-
 राज हिरण्यकशिपु ने अपने अनुचरों से कहा—हे दैत्यो ! इस अद्भुत रूप वाले
 नृसिंह को तुरत पकड़ लो और यदि कोई शका हो तो इसका बध कर डालो
 ॥१-२॥ आदेश मिलते ही दैत्यगण अत्यन्त प्रसन्न होकर नृसिंह भगवान् को ताल
 ठोक कर भयभीत करने लगे ॥३॥ यह देखकर उन महाबली नृसिंह भगवान् ने
 मुख खोल हुए यमराज के समान घोर गजेंता कर उस सभा में भगदड़ मचा दी
 ॥४॥ सभा के भग होने ही दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने उन पर शस्त्र वर्षा आरम्भ
 की, क्रोध से उसके नेत्र अत्यन्त व्याकुल दिखाई दे रहे थे ॥५॥

अस्त्रैः प्रज्वलितैः सिंहमावृणोदसुराधिप ।
 विवस्वान्धर्मसमये हिमवन्तमिवाग्निम् ॥६॥
 स ह्यमपानिलोद्धूतो दैत्याना संन्यसागर ।
 क्षणेनाप्लावयत्सिंहं मैनाकमिव सागर ॥७॥
 प्रासं पार्श्वस्तथा शूलैर्गन्धाभिर्मुसलैस्तथा ।
 वज्रैरश्विकल्पैश्च शिलाभिश्च महाद्रुमैः ॥८॥
 मुद्गरैः कूटपार्श्वैश्च शूलोलूखलपर्वतैः ।
 शतघ्नीभिश्च दीप्ताभिर्दण्डैरपि सुदारुणैः ॥९॥
 परिवार्य समन्तात्तु निघ्नन्नस्त्रैर्हंरि तदा ।
 स्वरूपमप्यस्य न क्षुण्णमूर्जितस्य महात्मन ॥१०॥
 ते दानवा पाशगृहीतहस्ता महेन्द्रवज्राशनितुल्यवेगा ।
 समन्ततोऽभ्युद्यतबाहुशस्त्रा स्थितास्त्रिशीर्षा इव पन्नगेन्द्रा ॥११॥

सुवर्णमालाकुलभूषिताङ्गा नानाङ्गवाभोगपिनद्धगताः ।

मुक्तावलीदामविभूषिताङ्गा हंसा इवाभान्ति विशालपक्षाः ॥१२॥

जैसे श्रीधर्म-ऋतु मे आदित्य अपनी रश्मियो के द्वारा हिमालय की आच्छादित कर देते हैं, वैसे ही हिरण्यकशिपु ने अपने चमचमाते हुए शस्त्रों से नृसिंह भगवान् की आच्छादित कर दिया ॥६॥ जैसे समुद्र ने मंदाक पर्वत को अपने जल में निमग्न कर रखा है, वैसे ही दैत्य सेना ने उन्हे अपने क्रोध मे डुबो लिया ॥७॥ फिर प्रास, पाश, खड्ग, गदा, भूसल, बज्र, अशनि, शिला, वृक्ष, मुद्गर, कूटपाश, ऊलल, शूल, शतघ्नी और दण्ड आदि ले-लेकर दैत्यो ने नृसिंह भगवान् पर प्रहार किया, परंतु वे उससे किंचित् भी चलायमान् नहीं हुए ॥८-१०॥ दानवगण पाशास्त्र ग्रहण कर उनके चारो ओर खडे हुए ऐसे लगते थे, जैसे तीन शिर वाले नाग खडे हो ॥११॥ उन दानवो के कठ मे स्वर्ण की माला तथा सभी अंगो मे आभूषण सुशोभित थे, हाथो मे केयूर और ऊपरी भाग मे मुक्तामाला धारण की हुई थी, इस प्रकार वे सब दैत्य पक्ष फैलाये हुए हम जैसे लग रहे थे ॥१२॥

तैः प्रक्षिपद्भिर्ज्वलितानलोपर्ममहास्त्रपूगैः स समावृतो बभौ ।

गिरिर्यया सततवर्षिभिर्घनैः कृतान्धकारोऽद्भुतकन्दरद्रुमः ॥१३॥

तैर्हैन्यमानोऽपि महास्त्रजालैः सर्वैस्तदा दैत्यगणैः समेतैः ।

नाकम्पताजो भगवान्प्रतापवान्स्थितः प्रकृत्या हिमवानिवाचलः ॥१४॥

संतापितास्ते नरसिंहरूपिणा दितेः सुताः पावकदीप्ततेजसा ।

भयाद्विचेलुः पवनोद्धता यया महोर्मयः सागरवारिसंभवाः ॥१५॥

शतैर्घनुभिः सुमहातिवेगा युगान्तकालप्रतिमाञ्छरीधान् ।

एकायनस्या मुमुचुर्नृसिंहे महासुराः क्रोधविदीपिताङ्गाः ॥१६॥

उभी समय अग्नि के समान प्रकाशमान् शस्त्रास्त्र सब ओर से बरसने लगे । सैनिको के शस्त्रो से आच्छादित हुए नृसिंह भगवान् वृक्ष और श्रेणो से आयत्त पर्वत-गुफाओ के समान अथकार से ढँक गये ॥१२॥ उन महाबली दैत्यो

ने भीषण बाण-वर्षा की तो भी नृसिंह भगवान् पर्वत के समान अचल भाव से खड़े रहे ॥१४॥ फिर सहसा अग्नि के समान तेजस्वी वे दैत्य ही उनके रूप से डर कर समुद्र में उठी हुई तरंगों के समान क्षुब्ध हो उठे ॥१५॥ तब वे क्रोध से लाल हुए दैत्य प्रलय के समान अपने भीषण बाणों में नृसिंह भगवान् पर प्रहार करने लगे ॥१६॥

॥ नृसिंह द्वारा हिरण्यकशिपु वध ॥

तत्रादित्याश्च साध्याश्च वसवो भरतस्तथा ।
 रुद्रा देवा महात्मानो विश्वेदेवा महाबलाः ॥१॥
 आगम्य ते मुगेन्द्रस्य सकाशं सूर्यं वर्चसः ।
 ऊचुः संत्रस्तमनसो देवा लोकक्षयादिताः ॥२॥
 जहि देव दितेः पुत्र दानवं लोकनाशनम् ।
 दुर्वृत्तमसदाकारं सह सर्वमहासुरैः ॥३॥
 त्वं ह्यपामन्तकृन्नान्यो दैत्यानां दैत्यताशन ।
 तन्नाशय हितार्थाय लोकानां स्वस्ति वै कुरु ॥४॥
 त्वं गुरुः सर्वलोकानां त्वमिन्द्रस्त्वं पितामहः ।
 श्रुते त्वदन्यच्छरणं न भूतं न भविष्यति ॥५॥
 तच्छ्रुत्वा वचनं देवो देवानामादिसंभवः ।
 ननाद सुमहानादमतिगम्भीरनिःस्वनम् ॥६॥
 पाटितान्यसुरेन्द्राणां मृगेन्द्रेण महात्मना ।
 सिंहनादेन महता हृदयानि मनासि च ॥७॥

वंशम्पापनजी ने कहा—हे राजन् ! उस समय लोक नाश के भय में रस्त हुए आदित्य, साध्य, वसु, भरद्गण, रुद्र, विश्वेदेवा आदि सब देवता मिल कर उन अरुणत तेजस्वी नृसिंह भगवान् के समीप गये और कहने लगे—हे देव ! गीह-नाश के मूल कारण रूप हिरण्यकशिपु को उसके सब अनुचरों सहित नष्ट कीजिये ॥१-३॥ हे दैत्यनाशन ! आपने अतिरिक्त अन्य कोई भी इन दैत्यों का

सहार नहीं कर सकता, इसलिये अब आप लोक-रक्षा के लिये इनका शीघ्र ही वध करिये ॥ ४ ॥ भूतल के सभी देह धारियों के मुरु, इन्द्र और पितामह आप ही हैं, इनका कोई अन्य सहायक न तो रहा है और न कभी होगा ॥ ५ ॥ उनकी स्तुति सुन कर नृसिंह भगवान् ने दैत्यो के सामने घोर सिंहनाद किया ॥ ६ ॥ उनके सिंहनाद को सुन कर देवताओं को बड़ी प्रसन्नता हुई और दैत्यों के वक्षः स्थल फट गये ॥ ७ ॥

गणः क्रोधवशो नाम कालकेयस्तथाऽपरः ।

वेगश्च वैगलेयश्च संहिकेयश्च वीर्यवान् ॥८॥

संह्लादीयो महानादो महावेगस्तथाऽपरः ।

कपिलश्च महीपुत्रो व्याघ्राक्षः क्षितिकम्पनः ॥९॥

खेचराश्च निशापुत्राः पातालतलचारिणः ।

गणस्तथाऽपरोरौद्रो मेघनादोऽङ्कुशायुधः ॥१०॥

ऊर्ध्वगो भीमवेगश्च भीमकर्माऽर्कलोचनः ।

वज्री शूली करालश्च हिरण्यकशिपुस्ततः ॥११॥

जीमूतघनसंकाशो जीमूत इव वेगवान् ।

जीमूतघनसंनादो जीमूतसदृशद्युतिः ॥१२॥

देवारिदितिजो दृप्तो नृसिंहः समुपाद्रवत् ।

समुत्पत्य ततस्तीक्ष्णमृगेन्द्रेण महानखैः ॥१३॥

तत्क्षोद्धारसहायेन विदार्य निहतो युधि ॥१४॥

मही च लोकश्च शशी नभश्च ग्रहाश्च सूर्यश्च दिशश्च सर्वाः ।

नद्यश्च शलाश्च महार्णवाश्च गताः प्रकाशं दितिपुत्रनाशात् ॥१५॥

ततः प्रमुदिता देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।

तुष्टविविधैः स्तोत्रैरादिदेवं सनातनम् ॥१६॥

इसके पश्चात् कालकेश, वेग, वैगलय, संहिकेय, संह्लादीय, महानादी, महावेग, कपिल, व्याघ्राक्ष, क्षितिकम्पन, खेचर, अङ्कुशायुध, ऊर्ध्वगो, भीमवेग, गर्जन युक्त तथा वज्र और शूल के समान दीप्तिवाला हिरण्यकशिपु तुरन्त ॥

नृसिंह भगवान् की ओर झपटा । यह देख कर भगवान् ने ऊँची छलांग भर कर ओंकार के प्रभाव से दैत्यराज पर भीषण नखाघात किया, जिससे उसका हृदय विदीर्ण होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ ॥८-१४॥ इस प्रकार उस दानवराज का वध होने पर पृथिवी, सब प्राणी, आकाश, आकाश के जीव, सूर्य, चन्द्र, दमो दिशाएँ, नदी, पर्वत और समुद्रादि को अत्यन्त आनन्द हुआ ॥१५॥ तब सब देवता, ऋषि, तपस्वी आदि ने मिल कर उन आदि देव नृसिंह भगवान् की स्तुति की ॥१६॥

यत्स्वया विहितं देव नारसिंहमिदं वपुः ।
 एतदेवार्चयिष्यन्ति परावरविदो जनाः ।
 मृगेन्द्रत्व च लोकेषु सर्वसत्त्वेषु वा विभो ॥१८॥
 गायन्ति त्वा च भुनयो मृगेन्द्र इति नित्यशः ।
 त्वत्प्रसादात्स्वकं स्थानं प्रतिपन्नाः स्म वै विभो ॥१८॥
 एवमुक्तो देवसंघं नृसिंहो महामनाः ।
 ब्रह्मा च परमप्रीतो विष्णोः स्तोत्रमुदीरयत् ॥१९॥
 भवानक्षरमव्यक्तमचिन्त्यं गुह्यमुत्तमम् ।
 कूटस्थमकृतं कर्तुं सनातनमनामयम् ॥२०॥
 सात्त्वयोगे च या बुद्धिस्तत्त्वाद्यं परिनिष्ठिता ।
 भगवान्वेदं विद्यात्मा पुरुषः शाश्वतो ध्रुवः ॥२१॥

देवताओं ने कहा—हे देव ! आपके हम नृसिंह रूप या सत्त्व-ज्ञानी जन सदा पूजन किया करेंगे । सभी भुनियो, सोको और प्राणियों में आपका यह मृगेन्द्र स्वरूप प्रतिष्ठ हो जायगा और वे सदैव आपका गुणगान करेंगे । हे प्रभो ! आपकी परम दया से ही हमे अपने-अपने अधिकार की पुनः प्राप्ति हुई है ॥१७-१८॥ जब देवगण हम प्रवार स्तुति करके मौन हुए तब ब्रह्माजी ने महारत्ना नृसिंह भगवान् की इस प्रवार स्तुति की—हे देव ! आप अक्षर, अल्पका, अचिन्त्य, गुह्य, मूढन, सनातन एवं अनयय हैं ॥१९-२०॥ नाश्व जोन में निज

तत्त्व का निरूपण हुआ है, वह तत्त्व आप ही हैं, आप इस विश्व के आत्मा, शाश्वत, सूक्ष्म तथा स्थूल पुरुष है ॥२१॥

परं शरीरं परमं च धाम परं च योगं परमां च वाणीम् ।
 परं रहस्यं परमां गतिं च त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥२२॥
 परं परस्यापि परं च यत्परं परं परस्यपि परं च देवम् ।
 परं परस्यापि परं प्रभुं च त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥२३॥
 परं परस्यापि परं प्रधानं परं परस्यापि परं च तत्त्वम् ।
 परं परस्यापि परं च घाता त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥२४॥
 परं परस्यापि परं रहस्यं परं परं यत् ।
 परं परस्यापि परं तपो यत्त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥२५॥
 परं परस्यापि परं च गुह्यं च परं च धाम ।
 परं च योग परमं प्रभुत्वं त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥२६॥
 एवमुक्त्वा स भगवान्सर्वलोकपितामहः ।
 स्तुत्वा नारायणं देवं ब्रह्मलोकं गतः प्रभुः ॥२७॥
 ततो नदत्सु तूर्येषु नृत्यन्तीष्वप्सरःसु च ।
 क्षीरोदस्योत्तरं कूलं जगाम प्रभुरीश्वरः ॥२८॥
 नारसिंही तनुं त्यक्त्वा स्थापयित्वा च तद्वपुः ।
 पौराणं रूपमास्थाय ययौ स गरुडध्वजः ॥२९॥
 अष्टचक्रेण यामेन भूतियुक्तेन शोभिना ।
 अव्ययतः प्रकृतिर्देवः संस्थानमगमत्प्रभुः ॥३०॥
 एवं महात्मना तेन नृसिंहवपुषा तदा ।
 देवेन निहतः पूर्वं हिरण्यकशिपुश्च सः ॥३१॥

आप परम शरीर, परमधाम, परमयोग एवं परम वाणी हैं आप ही परम रहस्य, परमगति एवं पुराण पुरुष हैं ॥२२॥ आप ही परात्पर, परम पद तथा उससे भी उत्कृष्ट एवं पर तत्त्व और उससे भी श्रेष्ठ हैं, आप से बड़ कर अन्य कोई नहीं है । आप ही पुरातन पुरुष कहे जाते हैं ॥२३॥ आप परम से

भी परम तथा परमतप हैं, ज्ञानी जन आपको ही घाता एव पुराण पुरुष कहते हैं ॥२४॥ आप ही परात्पर, परम रहस्य तथा परम से भी परे हैं, इसीलिये बुद्धिमानों ने आपको पुराण पुरुष कहा है ॥२५-२६॥ वैशम्पायनजी बोले—हे राजन् ! लोक पितामह ब्रह्माजी भगवान् नृसिंह देव की इस प्रकार स्तुति करके अपने लोक को गये । उस समय तुरही वज्र उठी और अष्टराष्ट्र नृत्य करने लगी, तभी भगवान् नारायण उस नृसिंह रूप को छोड़ कर अपने पूर्व स्वरूप की धारण कर सम्पूर्ण ऐश्वर्यों सहित गरुड पर चढ़ कर क्षीर सागर के उत्तरीय तट स्थित अपने धाम को गये ॥ २७-३० ॥ हे राजन् ! इस प्रकार नृसिंह रूप में भगवान् विष्णु ने ही देवताओं के शत्रु हिरण्यकशिपु को नष्ट किया था ॥३१॥

॥ श्रीकृष्ण का कैलास जाने का विचार ॥

केशवेन पुरा विप्र कुर्वता तप उत्तमम् ॥१
अर्चितो देववेन शंकरश्चेति नः श्रुतम् ॥२
देवी तत्र जगन्नाथो दृष्टवन्तो पुरातनौ ॥३
अर्चयाचक्रिरे देवा इन्द्राद्याः शंकरं हरिम् ॥४
तौ हि देवौ महादेवावेकीभूतो द्विधा कृतौ ।
एकात्मनो जगद्योनी सृष्टिसंहारकारकौ ॥५
परस्परसमावेशाज्जगतः पालने स्थितौ ।
तयोस्तत्र यथावृत्तं कैलासे पर्वतोत्तमे ॥६
श्रुण्वः किमचेष्टन्त दृष्ट्वा तौ पुत्रपोत्तमौ ।
एतत्सर्वमेशपेण वक्तुमर्हसि सत्तम ॥७
यथा गतो हरिर्विष्णुः कृष्णो जिष्णुः पुरातनः ।
तथा च शंकरः साक्षात्कृतवान्नागभूषणः ।
एतदमर्षं विप्रवर्यं ब्रूहि तत्त्वेन यत्नतः ॥८

उपरोक्त यथा गुनने के पश्चात् राजा जनमेजय ने कहा—हे भगवन् ! गुना जाता है कि पूर्वकास में भगवान् विष्णु ने धोर तपस्या द्वारा देवदेव भगवान् शंकर की उपासना की थी ॥ १-३ ॥ उसी पर्वत पर भगवान् श्रीहरि और

महादेवजी का इन्द्रादि देवताओं ने भी पूजन किया था ॥४॥ वे दोनों देव एकात्म रूप होकर भी पृथक्पृथक् कल्पित हुए हैं । परन्तु वे ही ससार की सृष्टि के मूल कारण और सहार करने वाले हैं ॥५॥ वे परस्पर मिल कर ही जगत् का पालन करते हैं । इसलिये कैलाश पर्वत पर उन दोनों के मिलने पर जो कुछ हुआ हो वह सम्पूर्ण वृत्तान्त जानने की मेरी इच्छा है, उसे आप कहने की कृपा करिये ॥ ६ ७ ॥ पुरातन पुरुष भगवान् विष्णु जिस कारण कैलाश पर्वत पर गये और भगवान् शंकर से जिस प्रकार साक्षात्कार हुआ उसी वृत्तान्त को आप मुझ से कहिये ॥ ८ ॥

शृणुष्वावहितो राजन्यथा कृष्णो गतो नगम् ।
 यथा च दृष्टो देवेश शंकरो वृषवाहन ॥६
 यथा चचार स तपो यथा ते मुनयो गता ।
 एव तयोर्यथा वृत्त तथा शृणु नरोत्तम ॥७
 द्वैपायनोऽथ भगवान्यथा प्रोवाच मा तथा ।
 नमस्कृत्य प्रवक्ष्यामि केशव खगवाहनम् ॥८
 यथाशक्ति यथाप्रज्ञ शृणु यत्नेन सुव्रत ।
 न चाशुश्रपवे वाच्यं नृश सायातपस्विने ॥९
 नानधीताय वक्तव्यं पुण्यं पुण्यवता सदा ।
 स्वर्ग्यं यशस्य धन्यं च बुद्धिशुद्धिकरं सदा ॥१०
 ध्येयं पुण्यश्रमना नित्यमिदं वेदार्थनिश्चितम् ।
 अनेकारण्यसंयुक्तं सेवन्ते नित्यमीदृशम् ॥११
 मुनयो वेदनिरता नारदाद्यास्तपोधना ।
 आत्यद्भुतं महापुण्यं वृत्तं कैलासपर्वते ॥१२

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् । भगवान् श्रीकृष्ण के कैलाश पर्वत पर जाकर देवदेव शिवजी से साक्षात्कार करने विषयक वृत्तान्त मैंने भगवान् व्यासजी के मुख से सुना था । जैसे अनेक मुनियों ने वहाँ जाकर शिवजी का दर्शन और घोर तप किया था, वह भी तुम से कहना है ॥६-१०॥ अब मैं महद-

वाहन भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार करके, जिस कथा को कहता हूँ उसे सुनो । परन्तु यह कथा अनिच्छुक, कुपट क्रूर और तप-रहित मनुष्यों से कभी न कहे ॥१११॥ यदि यह कथा पुष्पवान् पुरुषों के समक्ष कही जाय तो अत्यन्त शुभ, शुद्ध बुद्धि वाली और स्वर्ग प्रदान करने वाली हो जाती है ॥११२॥ वेदार्थ का निश्चय करने वाली यह कथा पुण्यात्माओं के लिये अवश्य श्रवणीय है । इसीलिये नारदादि वेद पराशर देवर्षि और तपस्वी गण भी इस अत्यन्त पवित्र और विस्मय जनक कैलास वृत्ताञ्ज को सुनते और मनन करते हैं ॥११४॥

शिवयोर्देवयोस्तत्र हररेश्चैव भवस्य ह ।
 हृत्तैष्वसुरसङ्घेषु नरकादिषु भूमिषु ॥१६
 हृत्तैष्वथ नृपेष्वेव किञ्चिच्छिष्टेषु शत्रुषु ।
 शासति स्म सदा विष्णु पृथिवी पुरुषोत्तम ॥१७
 द्वारवत्या जगन्नाथो वसन्वृष्णिभिरीश्वर ।
 रुक्मिण्या स गतो देवो वस स्तत्र पुरे हरि ॥१८
 कदाचिच्च तथा सार्द्धं शेते राशो जगत्पति ।
 विहरश्च यथायोग प्रोत प्रीतियुजा तथा ॥१९
 अथोवाच तदा देवी रुक्मिणी रुक्मभूषणा ।
 पुत्रमिच्छामि देवेश त्वत्तो माघव नन्दनम् ॥२०
 बलिन रूपसम्पन्न त्वयैव सदृश प्रभो ।
 वृष्णीनामपि नेतार वीर्यवन्त तपोनिधिम् ॥२१
 सर्वशास्त्रार्थकुशल राजविद्यापुरस्कृतम् ।
 एवमादिगुणैर्युक्त दातुमर्हसि सत्तम ॥२२
 त्वयि सर्वस्य दातृत्व नित्यमेव प्रतिष्ठितम् ।
 त्वं हि सर्वस्य वर्ता च दाता भोक्ताजगत्पति ॥२३

नरकादि दैत्यो और अयान्य शत्रु राजाओं के नष्ट होने पर वृष्णियों से घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त आनन्द पूर्वक द्वारका में निवास करते हुए पृथिवी का पालन कर रहे थे ॥१६॥ सभी एक रात्रि में भगवान् श्रीकृष्ण

से सम्भाषण करती हुई रुक्मिणीजी ने उनसे कहा—हे देव ! यदि आपकी कृपा हो तो मैं आपके समान बलवान्, रूपवान्, सर्व शास्त्रों और नीतियों का ज्ञाता एक सुन्दर पुत्र चाहती हूँ । आप चाहें तो ऐसा होना कोई असंभव बात नहीं है, क्योंकि आप सम्पूर्ण विद्वत् के वर्त्ता, दाता, भोक्ता और ससार के स्वामी हैं, इसलिये आप सभी कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ हैं ॥१८-२३॥

विशेषतस्तु भृत्यानां शुश्रूषानियतात्मनाम् ।

वक्तव्यं किम देवेश यदि भक्ताऽस्मि केशव ॥२४

अनुग्रहो यदि स्यान्मे देवदेव जगत्पते ।

दातुमर्हसि पुंसं त्वं वीर्यवन्तं जनार्दन ॥२५

इत्युक्तो देवदेवेशः प्रियया प्रीयमाणया ।

तया महिष्या रुक्मिण्या रुक्मिणस्तयंदूढहः ॥२६

प्रोवाच वचनं काले रुक्मिणी यादवेश्वरः ।

दातास्मि तादृशं पुत्रं यं त्वमिच्छसि भामिनि ॥२७

नित्यं भक्तासि मे देवि नात्र कार्या विचारणा ।

अवश्यं तव दास्यामि पुंसं शत्रुनिबर्हणम् ॥२८

पुत्रेण लोकाञ्जयति सतां कामदुघा हि ये ।

नरकं पुदिति ह्यातं दुःखं च नरकं विदुः ॥२९

पुदस्त्राणात्ततः पुत्रमिहेच्छन्ति परस च ।

अनन्ताः पुत्रिणो लोका पुरुषस्य प्रिये क्षमाः । ३०

गुधूपा करने वाले भक्तों पर कृपा करना आपके लिये कुछ आश्चर्यजनक नहीं है । इसलिये आप भुक्त भी एक तुच्छ भवित्तन समझ कर यदि मुझ पर कृपा करें तो मैं एक अत्यन्त श्रेष्ठ पुत्र भी प्राप्ति कर सकूँगी ॥२४-२५॥ वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! अपनी प्राण-वस्तुमा रुक्मिणीजी की यात्रा गुन कर भगवान् की बड़ा हर्ष हुआ और ये उनसे कहने लगे—हे प्रिये ! तुम जैसा पुत्र चाहती हो, वैसा ही पुत्र मैं तुम्हें प्रदान करूँगा ॥२६-२७॥ हे देवि ! तुम मेरी अनन्य भवित्तन एवं पुत्रंजया अनुरक्ता हो, इसमें किसी प्रकार का

विचार ही क्या करना है, मैं तुम्हें अवश्य ही शत्रुओं का नाश करने वाला पुत्र प्रदान करूँगा ॥ २८ ॥ पुत्र से सभी लोक जीते जा सकते हैं । पुन्नाम नरक से बचने के लिये ही इहलोक और परलोक में पुत्र की कामना की जाती है, क्योंकि पुत्रवान् व्यक्ति के लिये असंख्य लोक सुलभ हैं ॥ २९-३० ॥

पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम् ।
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते ॥ ३१ ॥
पुत्रवन्तं विभेतीन्द्रः किन्तु तेनाजितं भवेत् ।
नापुत्रो विन्दते लोकान्कुपुत्राद्विन्द्यता वरा ॥ ३२ ॥
कुपुत्रो नरको यस्मात्सुपुत्रात्स्वर्ग एव हि ।
तस्माद्विनीतं सत्पुत्रं श्रुत्वन्तं दत्तापरम् ॥ ३३ ॥
विद्ययः विनयो यस्माद्विद्यायुक्तं सुधार्मिकम् ।
इच्छेत्पुत्र पुत्रकामः पुरुषो यत्नवान्बुधः ॥ ३४ ॥
तस्माद्वास्यामि ते पुत्रं विद्यावन्तं सुधार्मिकम् ।
एष गच्छामि पुत्रार्थं कैलासं पर्वतोत्तमम् ॥ ३५ ॥
तन्नोपास्य महादेवं शंकरं नीललोहिनम् ।
ततो लब्धास्मि पुत्रं ते भवाद्भूतहिते रतात् ॥ ३६ ॥

पति ही पुत्र रूप में पत्नी के गर्भ से नवीन देह धारण पूर्वक उत्पन्न होता है । पुत्रवानों के लिये कोई भी लोक अप्राप्य नहीं है, उनसे इन्द्र भी भयभीत रहते हैं । परन्तु पुत्रहीन को किसी भी लोक में ठिकाना नहीं रहता और यदि कुपुत्र का जन्म हो तो वह उससे भी अधिक दुःखदायी होता है ॥ ३१-३२ ॥ सुपुत्र साक्षात् नरक और सुपुत्र स्वर्ग है । विद्या से विनय की उपलब्धि होती है, इसलिये दयालु, विनीत, धार्मिक और विद्वान् पुत्र की ही कामना करनी चाहिये ॥ ३३-३४ ॥ इसलिये मैं तुम्हें एक विद्वान्, धार्मिक और ज्ञानी पुत्र दूँगा, इसके लिये मैं आज ही कैलास पर्वत के लिये प्रस्थान कर रहा हूँ ॥ ३५ ॥ यहाँ जाकर भगवान् नीलकण्ठ की आराधना करने उनसे इस प्रकार का श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त करूँगा ॥ ३६ ॥

॥ श्रीकृष्ण का बदरिकाश्रम पहुँचना ॥

तत स चिन्तयामास गण्ड पक्षिपुङ्गवम् ।
 आगच्छ त्वरित ताक्ष्यं इति विष्णुर्जगत्पति ॥१॥
 तत स भगवास्तापस्यो वेदराशिरिति स्मृत ।
 बलवान्विक्रमी योगी शास्त्रनेता कुस्त्वह ॥२॥
 यज्ञमूर्ति पुराणात्मा साममूर्द्धा च पावन ।
 ऋग्वेदपक्षवान्पक्षी पिङ्गलो जटिलाकृति ॥३॥
 ताम्रतुण्ड सोमहर शक्रजेता महाशिरा ।
 पन्नगारि पद्मनेत्र साक्षाद्विष्णुरिवापर ॥४॥
 बाहुन देवदेवस्य दानवीगभकृन्तन ।
 राक्षसासुरसङ्घाना जेता पक्षबलेन य ॥५॥
 प्रादुरासीन्महावीर्यं केशवस्याग्रतस्तदा ।
 जानुभ्यामपतद्भूमौ नमो विष्णो जगत्पते ॥६॥
 नमस्ते देवदेवेश हरे स्वामिन्निति ब्रुवन् ।
 पस्पशं पाणिना कृष्ण स्वागत ताक्ष्यपुङ्गवम् ॥७॥
 इत्युवाच तदा ताक्ष्यं यास्ये कलासपर्वतम् ।
 शूलिन द्रष्टुमिच्छामि शंकर शाश्वत शिवम् ॥८॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! फिर भगवान् श्रीहरि ने गण्ड का स्मरण करते हुए मन ही मन कहा—हे ताक्ष्य ! शीघ्र ही यहाँ आओ । उनके स्मरण करते ही वेदराशि रूप, अत्यन्त बल-विक्रम से सम्पन्न, योगी, शास्त्रज्ञ गण्ड यज्ञ रूप मे भगवान् के सामने आ उपस्थित हुए । उनका मस्तक सामवेद, और पक्ष ऋग्वेद था । वे पिङ्गल वर्ण और जटिल आकार वाले थे । साल घोव, और कमल जैसे नेत्र थे । वे सोम रस पीने वाले, नागों और अमुरों के विजेता, दानव-नारियों के गर्भ नष्ट करने वाले गण्ड भगवान् के सामने जाते ही मस्तक छुवा कर प्रणाम करते हुए बोले—हे देवेश आपको नमस्कार है । गण्ड की देव

कर भगवान् ने उनके देह को स्पर्श करते हुए कहा—हे खग ध्येष्ठ ! भगवान्
[कर के दर्शनार्थ कंलास पर्वत पर चलने की मेरी इच्छा है ॥१-८॥

बाढमित्यन्नवीत्ताक्ष्यं आरुह्यैनं जनार्दनः ।
तिष्ठध्वमिति होवाच यादवान्पाश्वर्वातिनः ॥८॥
ततो ययौ जगन्नाथो दिशं प्रागुत्तरा हरिः ।
रवेण महता ताक्ष्यं स्तुलोक्य समकम्पयत् ॥९॥
सागर क्षोमयामास पङ्कजा पक्षी व्रजस्तदा ।
पक्षेण पर्वतान्स्वान्देवं जनार्दनम् ॥१०॥
ततो देवाः सगन्धर्वा आकाशेऽधिष्ठितास्तदा ।
तुष्टुबु पुण्डरीकाक्षं वाग्निरिष्टाभिरीश्वरम् ॥११॥
जय देव जगन्नाथ जयविष्णो जगत्पते ।
जयाजेय नमो देव भूतभावन भायन ॥१२॥
नम परमसिंहाय दंत्यदानवनाशन ।
जयाजेय हरे देव योगिध्येय परागते ॥१३॥
नारायण नमो देव कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
आदिकर्तः पुराणात्मन्ब्रह्मयोनेः सनातनः ॥१४॥
नमस्ते सकलेशाय निर्गुणाय गुणात्मने ।
भक्तिप्रियाय भक्ताय नमो दानवनाशन ॥१५॥

‘जो आज्ञा’ कह कर गरुड ने सहमति प्रकट की और तब भगवान् यादवों
को सावधानी पूर्वक रहने को कह कर गरुड की पीठ पर चढ़े और उत्तर दिशा
की ओर चल दिये । उस समय गरुड ने पक्षों को विशेष से तीनों लोक कापने
लगे ॥८-१०॥ उनसे पदाघात से समुद्र शुम्भ होयसे और पक्ष की वायु से पर्वत
हिल गये ॥ ११ ॥ उस समय भगवान् ने दर्शनार्थ सभी देवता और गन्धर्वगण
आकाश में अवस्थित हुए और मधुर वचनों से उनकी स्तुति करने लगे—हे देव !
हे जगन्नाथ ! हे विष्णो ! हे जगत्पते ! आपकी जय हो ! हे अजेय हे भूतभावन
• आपकी सदा जय हो, हे प्रभो आपको नमस्कार है ॥१२-१३॥ हे दंत्यो ने सदा-

रक ! हे परम सिंह आपको नमस्कार है, हे अजेय ! हे देव ! हे योगीध्वेय !
हे हरे ! आपकी जय हो ॥१४॥ हे नारायण ! हे कृष्ण ! हे हरे ! आप आदि-
कर्त्ता, पुराणात्मा, ब्रह्मयोनि एव सनातन पुरुष हैं आपके लिये हमारा बारबार
नमस्कार है ॥१५॥ हे सर्वेश्वर ! हे निर्गुण ! हे गुणात्मन् ! हे भक्तिप्रिय ! हे
भक्त ! हे दानव-संहारक आपको नमस्कार है ॥१६॥

अचिन्त्यमूर्तये तुभ्यं नमस्ते सकलेश्वर ।
इत्यादिभिस्तदा देवं वाग्मिरीशानमभ्ययम् ॥१७॥
तुष्टुवुर्देवगन्धर्वा ऋषयः सिद्धचारणाः ।
श्रृण्वन्नेवं जगन्नाथः स्तुतिवाक्यानि तानि च ॥१८॥
ययौ साद्वं सुरगणैर्भुनिमिर्वदपारगैः ।
यत्नं पूर्वं स्वयं विष्णुस्तपस्तेपे सुदारुणम् ॥१९॥
लोकवृद्धिकरः श्रीमाल्लोकानां हितकाम्यया ।
वर्षायुतं तपस्तप्त विष्णुना प्रभविष्णुना ॥२०॥
यत्नं विष्णुर्जगन्नाथस्तपस्तप्त्वा सुदारुणम् ।
द्विधाऽकरोत्स्वमात्मानं नरनारायणाप्यया ॥२१॥

हे अचिन्त्य रूप ! हे सर्वेश्वर ! आपसी धारदार नमस्कार है । इस
प्रकार से देवता, गन्धर्व चारण, ऋषि, सिद्ध आदि ने उनकी स्तुति की । तब
भगवान् श्रीकृष्ण उन देवताओं और ऋषियों के सहित बंतास पर्वत पर पहुँचे,
जहाँ सभी भगवान् विष्णु ने अत्यन्त घोर तपस्या की थी ॥१७-१९॥ उन तीनों
की वृद्धि करने वाले भगवान् विष्णु ने जगत् के बल्याण की कामना से वहाँ दस
हजार वर्ष तक तप किया था ॥२०॥ फिर यही उन्होंने अपने देह के दो भाग
कर लिये और नर नारायण रूप में प्रकट होकर ये ॥२१॥

गङ्गा यत्नं सरिच्छ्रेष्ठा मध्ये धारयति पावनी ।
यत्नं शमः स्वयं हत्वा वृत्रं वेदार्थतत्त्वगम् ॥२२॥
ब्रह्महत्याविनाशार्थं तपो वर्षायुतं चरत् ।
यत्नं सिद्धाश्च सिद्धाः स्तुधर्षिता देवं जनार्दनम् ॥२३॥

यत्र हत्वा रणे रामो रावणं लोकरावणम् ।
 एतच्छासनमिच्छंश्च तपो धोरमतप्यत ॥२४
 देवाश्च मुनयश्चैव सिद्धिं यान्ति शुचित्रताः ।
 यत्र नित्यं जगन्नाथः साक्षाद्भवति केशवः ॥२५
 सिद्धक्षेत्रमिदं प्राहुर्ऋषयो वीरमत्सराः ।
 विशालां बदरीं विष्णुस्ता द्रष्टुं सकलेश्वरः ॥२६
 सायाह्ने चामरणं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
 प्रविवेश महापुण्यमृषिजुष्टं तपोवनम् ॥२७

संज्ञाओं में श्रेष्ठ गंगाजी जहाँ प्रजल बेग से बहती है । जहाँ देवराज
 इंद्र ने वृत्रासुर को मार कर शत्रु-हत्या दूर करने के लिये दस हजार वर्ष तक
 तपस्या की थी । जहाँ भगवान् श्रीहरि का ध्यान करने वाले सिद्धों ने सिद्धि को
 प्राप्त किया था । जहाँ लोक को भय प्रदान करने वाले रावण को मार कर
 भगवान् श्रीराम ने घोर तप किया था । जहाँ अनेक देवताओं और महर्षियों ने
 पवित्र यत्र पूर्वक तप करके सिद्धि को प्राप्त किया था तथा जहाँ स्वयं भगवान्
 केशव का नित्य निवास है ॥२२-२५॥ जिसे वीतरागी मुनियों ने सिद्ध क्षेत्र कहा
 है, उसी ऋषियों से युक्त बदरी नामक तपोवन के दर्शनार्थ अनेकों ऋषियों और
 देवताओं के सहित भगवान् श्रीकृष्ण सायं समय पहुँच गये ॥२६-२७॥

अग्निहोत्राकुले काले पक्षिव्याहारसंकुले ।
 नोढस्येषु विहङ्गेषु दुह्यमानासु गोषु च ॥२८
 ऋषिष्वप्यथ तिष्ठत्सु मुनिवीरेषु सर्वतः ।
 समाधिस्येषु सिद्धेषु चिन्तयत्सु जनार्दनम् ॥२९
 अधिश्रितेषु हविषु ज्वालयमानेषु चाग्निषु ।
 हूयमानेषु तत्रैव पाववेषु समन्ततः ॥३०
 अतियो पूज्यमाने च संध्याविष्टे जगन्मये ।
 स तस्यामय वेताया देवैः सह जनार्दनः ॥३१

विवेश वदरी विष्णुमुनिजुष्टां तपोमयीम् ।
 आश्रमस्याथ मध्यं तु प्रविश्य हरिरीश्वरः ॥३२॥
 गरुडादवरुह्याथ दीपिकादीपिते तदा ।
 प्रदेशे पुण्डरीकाक्षः स्थितस्तावत्सहामरैः ॥३३॥

उस समय वहाँ यज्ञ हो रहा था, पक्षिगण अपने-अपने स्थानों में जाकर मधुर शब्द कर रहे थे और गौओं का दूहन हो रहा था ॥२८॥ कुष्ठों के आसनों पर प्रतिष्ठित हुए मुनिजन भगवान् का ध्यान कर रहे थे ॥२९॥ प्रदीप्त अग्नि में आहुतियाँ दी जा रही थी । अतिथियों का सब स्थानों पर सत्कार हो रहा था । धीरे-धीरे सम्पूर्ण विश्व पर अघकार छा गया । उस समय भगवान् श्री-कृष्ण देवता आदि के सहित उम पवित्र वदरी वन के मध्य में अवस्थित हुए ॥३०-३२॥ तभी दीपक जल उठे, पृथिवी जगमगा उठी, गरुड से उतर कर भगवान् कृष्ण भी देवताओं के तुल्य विश्राम करने लगे ॥३३॥

॥ ऋषियों द्वारा भगवान् की स्तुति ॥
 ततो मुनिगणा दृष्ट्वा देवदेवमुपस्थितम् ।
 समाप्य चाग्निहोत्राणि संपूज्यातिथिसत्तमान् ॥१॥
 मुनयो दीर्घतपसः समाधौ कृतनिश्चयाः ।
 जटिनो मुण्डिनः केचिच्छिराघमनिसंतताः ॥२॥
 निर्मञ्ज्जा नीरसाः केचिद्वेताला इव केचन ।
 अश्रमकुट्टाशनपराः पणभक्षास्तथाऽप्यपेर ॥३॥
 ते च गत्वा हरिकृष्णं विष्णुमीशं जनादेनम् ।
 भक्तिमन्म्रास्नदा देवं प्रणेमुर्भक्तवत्सलम् ॥४॥
 नमोऽस्तु कृष्ण कृष्णेति देवदेवेति केशयम् ।
 प्रणवात्मजगन्नाथ नताः स्म शिरसा हरे ॥५॥
 कृष्ण विष्णो हृषीकेश केशवेति च सर्वदा ।
 प्रणामप्रवणा विप्राः प्राहुरित्यं जगत्पतिम् ॥६॥
 इदमर्घ्यं मिदं पाद्यमिदं विष्टरमेव च ।
 गृतार्थाः सर्वदा देय प्रसन्नो नो जगत्पतिः ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राबन् ! तपस्वी मुनियों ने अपना अग्निहोत्र और आतिथ्य-सत्कार वाला नित्य कर्म समाप्त किया और भगवान् श्रीकृष्ण के पास चल दिये ॥१॥ वे मुनिगण वहाँ दीर्घकाल से तपस्या करते थे और समाधि की प्राप्ति के लिये उनका हृद् निश्चय था । उनमें कुछ सिर मुँढाये हुए और कुछ जटा रखे हुए थे, किसी के देह पर शिराएँ उभड़ी हुई थीं, कुछ सूखे और निर्वंस देह वाले, कुछ संज्ञा-रहित और कुछ उत्तमस थे । कुछ मुनि भिक्षा से उदर पालन करते और कुछ पत्थर से कुटे हुए अनाज का भक्षण करते थे ॥ २-३ ॥ उन मुनिगणों ने भगवान् श्रीकृष्ण के पास जाकर उन्हें प्रणाम किया और उनको स्तुति करने लगे—हे कृष्ण ! हे देवदेव ! हे प्रणवात्मन् ! हे हरे ! हे जगदीश्वर ! आपको नमस्कार है ॥४-५॥ हे कृष्ण ! हे विष्णो ! हे हृषीकेश ! हे केशव ! इस प्रकार कह कर उन बहुत-से ब्राह्मणों ने उन जगत्पति को प्रणाम किया ॥ ६ ॥ तदनन्तर उन मुनियों ने पुनः कहा—हे भगवन् ! यह अर्घ्य, पाद्य और आसन ग्रहण करिये, अब आपकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेने पर हम हर प्रकार से धन्य हो गये हैं ॥७॥

किं कुर्मः किं नु नः कृत्यं कश्चिद्दोषः प्रभो हरे ।

इति प्राञ्जलयः सर्वे प्राहृद्वैवस्य पश्यतः ॥८

कृष्णोऽपि तत्तथायोगमुन्नयुज्य सहामरैः ।

कृतं सर्वं मुनिवरा यद्वतां तप उत्तमम् ॥९

इति ब्रुवन्पुराणात्मा प्रीतस्तेन गरुभता ।

आसनं लम्भयामास रात्री देवो जनार्दनः ॥१०

कुशलं पृष्ठवान्भूयो मुनीनां भावितात्मनाम् ।

अग्निहोत्रेषु तपसि यथा भृत्येषु सर्वतः ॥११

एवमादि जगन्नाथः पृष्ठवानीश्वरस्तदा ॥

सर्वत्र कुशलं तेऽत्र ब्रूयुः कृष्णस्य सर्वतः ॥१२

आतिथ्यं चक्रिरे ते तु नीवारैः फलमूलकैः ।

देवानामथ सर्वेषां विष्णोः कृष्णस्य यत्नतः ।

आतिथ्यमुपयुञ्जानस्ततः प्रीतोऽभवद्धरिः ॥१३

हे प्रभो ! हे हरे ! हम में कोई दोष तो नहीं है ? हे नाथ ! अब हमारा क्या कर्त्तव्य है ? यह आप हमें बताइये । ऐसा कह कर सभी मुनिगण भगवान् के समक्ष हाथ जोड़ कर खड़े हो गये ॥८॥ तब भगवान् ने उनसे आदर पूर्वक कहा—हे मुनियो ! आप सब ने अपने-अपने अनुरूप ही कार्य किया है, आपकी तप-वृद्धि हो ॥९॥ यह कह कर भगवान् धीवृष्ण ने गरुड से उन्हें आसन प्रदान कराया ॥१०॥ जब वे मुनि सुप्तपूर्वक आसन पर स्थित होगये तब भगवान् ने उन सब से कुशल प्रश्न किया ॥११॥ इस पर मुनिषों ने अपना-अपना कुशल वृत्तान्त कह कर फल, पुष्प, नीवार आदि के प्रदान द्वारा भगवान् धीवृष्ण का सत्कार किया । इस प्रकार उनके आतिथ्य सत्कार को प्राप्त करके वे अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ १२-१३ ॥

॥ भयभीत मृगों और दो पिशाचों का आना ॥

ततः स भगवान्विष्णुर्दुर्विज्ञेयगतिः प्रभुः ।
 तत्र पूर्वं तपस्तप्तमात्मना यादवेश्वरः ॥१॥
 गङ्गायाश्चोत्तरे तीरे देशं द्रष्टुमुपागतः ।
 स्वयमेव हरिः साक्षात्प्रविवेश तपोवनम् ॥२॥
 प्रविश्य सुचिरं देशं ददर्श च मनोरमम् ।
 निपताद ततस्तस्मिन्नाश्रमे पुण्यदट्टनः ॥३॥
 समाधौ योजयामास गनः पञ्चनिभेक्षणः ।
 तिमिष्येप जगन्नाथो ध्यात्वा देवेश्वरः स्थितः ॥४॥
 स्थिते देवगुरौ तत्र समाधौ दीपवद्वरो ।
 तप्त शब्दो महाघोरः प्रादुरासीत्समन्ततः ॥५॥
 छाद ग्राह्य मोदेत यात यात मृगानिमान् ।
 प्रेपयेद् पुनः मर्यान्प्रमादाच्छान्तं घनवनः ॥६॥
 एष विष्णुर्त्यं शृण्वो हरिर्गोत्र इतोऽप्युगः ।
 नोऽस्तु विष्णो देवेन इयामिन्माघव केनह ॥७॥

इत्यादिशब्द सुमहानाविहासीत्तदा निशि ।
ततश्च सुमहानाद सिंहाना भृगुविद्विषाम् ॥८
घावता च शुना राजन्मृगाननु विनर्दताम् ।
मृगाणा भीतियुक्तानामृक्षाणा द्वीपिना ॥९

वंशम्पावनजी ने कहा—हे राजन् । भगवान् की इच्छा को कौन जान सकता है ? वे सर्व प्रथम गंगाजी के उत्तरीय किनारे जाकर उस तपस्वली का निरीक्षण करने लगे ॥ १-२ ॥ वहाँ जाकर वे बहुत देर तक स्नान खोजते रहे और अन्त में एक श्रेष्ठ स्थान पर आश्रम देख कर उसी में बैठ कर ध्यानावस्थित हो गये । परन्तु, वे किस का ध्यान कर रहे थे, इसे कोई न जान सका ॥ ३-४ ॥ उनके समाधिस्थ होने के पश्चात् जब दीपक जल उठे, तब वहाँ एक भीषण बोलाहल होने लगा ॥ ५ ॥ उसमें सुनाई पड़ रहा था—इसे खाओ, खाकर मौज करो, उन मृगों को घेरो, भगवान् की प्रसन्नता के लिये उन्हें हृदय भेजो ॥ ६ ॥ अरे यही भगवान् विष्णु, ईश्वर एक अच्युत हैं । हे विष्णो ! हे माघव ! हे केशव ! हे देवदेव ! इत्यादि की भयानक प्रकार होने लगी और साथ ही भय-भीत मृगों, भालुओं सिंहों और कुत्तों के भूँकने का घोर शब्द व्याप्त हो उठा ॥ ७-९ ॥

ततो मृगा समाघावन्यन तिष्ठति वेशव ।
ताश्चैवानुचरो राजन्सगण समपद्यत ॥१०
अथ व दीपिका राजञ्छनशोऽथ सङ्ग्रह ।
ततस्तमोऽपि व्यनशद्विवेक समपद्यत ॥११
ततोऽनु भूतसङ्घाश्च समदृश्यन्त तत्र ह ।
पिशाचाश्च महाघोरा नदन्तो बहुविस्वनम् ॥१२
भक्षयन्तोऽपि पिशित पिवन्तो रुधिर बहु ।
प्रादुरासन्महाघोरा पिशाचा विकृतानना ॥१३
हन्यमाना हता राजन्पतन्त पतिता मृगा ।
इतश्चेतश्च घावन्तो बाणविद्धा मृगा द्विपा ॥१४

ततो मृगसहस्राणि समुदीर्णानि भारत ।

यत्रासौ तिष्ठते देवस्तत्र याता निरन्तरम् ॥१५॥

अन्तरीकृत्य देवेश स्थितानीत्यनुशुश्रुम ।

पिशाच्यो विकृताकाराः कराला रोमहर्षणाः ॥१६॥

उसी समय सब ओर से भयभीत होकर भागते हुए मृग भगवान् के पास आने लगे, उनके पीछे-पीछे बहेलिये भी वहाँ आये ॥१०॥ हे राजन् ! उस समय वहाँ हजारों मशालें जल उठी और दिन के समान प्रकाश फैल गया ॥११॥ उस-के कुछ समय पश्चात् ही भयकर आकार के अनेक भूत-पिशाच विविध प्रकार की विकृत बोली बोलते हुए वहाँ आये ॥१२॥ उनमें से कुछ पिशाच मांस रक्त का भक्षण कर रहे थे । बहेलियों के द्वारा मारे जाते हुए मृगों में से जो बच रहे थे, वे भगवान् की शरण में आये । उसी समय वहाँ बहुत-सी भयकर आकार की पिशाचिनी भी आगई ॥१३-१६॥

पुत्रवत्यः समापेतुर्यस तिष्ठति केशवः ।

श्वगणस्तत्र राजेन्द्र चरत्येवं ततस्ततः ॥१७॥

ततः स भगवान्विष्णुः सर्वमालोक्य वेष्टितः ।

विस्मयं परमं गत्वा पश्यन्नास्ते स्म केशवः १८

कस्यैव विस्तृतो नादः कस्य वाय जनोऽनतत् ।

को नु मां स्तौति भक्त्या वै भविष्ये प्रीतिमानहम् ॥१९॥

कस्य मुक्तिः समायाता प्रीते भयि सुदुर्लभा ।

इति संचिन्त्य भगवानास्ते प्राकृतवद्वरिः ॥२०॥

हे राजन् ! कुत्तों के दल के दल इधर-उधर घूम रहे थे । उस दृश्य की । कर भगवान् अत्यन्त आश्चर्य चकित हुए और सोचने लगे कि यह कौन सा कौन सा शोर मचा रहा है ? यह विशाल प्राणी-समूह इस समय वहाँ कैसे आया ? न मेरी कृपा के बिना प्रार्थना कर रहा था ? कौन पुण्यात्मा इस समय मोक्ष प्रतीक्षा कर रहा है ? सामान्य मनुष्य के समान ही भगवान् श्रीकृष्ण इन बातों को सोचने लगे ॥१७-२०॥

तेषामनु महाघोरी पिशाची विवृताननौ ।
 प्राशू पिङ्गनरोमाणौ दीर्घजिह्वौ महाहनू ॥२१॥
 लम्बकेशौ विरूपाक्षौ हा हा हा हेति वादिनौ ।
 खादन्तो मासपिटकं पिवन्तौ रुधिरं बहु ॥२२॥
 वदन्तौ कृष्णं कृष्णेति माघवेति च स ततम् ।
 कदा नु द्रक्ष्यते विष्णुः स इदानीं क्व तिष्ठति ॥२३॥
 स्वामिनं कुत्र वसतिः कुतो द्रष्टुं यतामहे ।
 अत्र वा कुत्र देवेशः कुतो नु स्यास्यते हरि ॥२४॥

वंशम्गायनजी ने कहा—है राजन् ! उसने वाद ही दो भयंकर ऊँचे आ-
 वार वाले पिगल धर्तु, लम्बी जिह्वा और विस्तृत चिबुक वाले पिशाच वहाँ उपस्थित
 हुए ॥२१॥ उनके वंश बड़े लम्बे और नेत्र अत्यन्त भीषण थे, धोलने में हा-हा
 करते हुए वे दोनों मास भक्षण और रुधिर पान कर रहे थे ॥२२॥ वे दोनों हे
 कृष्ण ! हे माघ ! पुकारते हुए परस्पर कहने लगे कि इस समय विष्णु वहाँ
 हैं ? वे मुझे कब दर्शन देंगे ? उन्हें वहाँ देखा जा सकता है ? वे देवेश इस समय
 वहाँ होंगे ? ॥२३-२४॥

॥ घण्टाकर्ण को समाधि-भाग ॥

ततः स भगवान्त्रिष्णुः पिशाची मासभक्षको ।
 ददर्शाय महाघोरी दीपिकाधारिणो हरिः ॥१॥
 विलोक्याञ्चक्रतुस्तौ पिशाचौ देवकीसतम् ।
 स्थितं मुखासने विष्णुं दृष्ट्वा लोकेश्वरेश्वरम् ॥२॥
 तौ च गत्वा समुद्देशं पिशाचौ केशवस्य ह ।
 ततस्तावूचतुर्विष्णुमन्तरीकृत्य केशवम् ॥३॥
 को भवान्नस्य वा मर्त्यं कुतश्चागम्यते त्वया ।
 निमयं मिह संप्राप्तो यने घोरे मृगावुले ॥४॥

निमं नुष्ये द्वीपिवृते पिशाचगणसेविते ।

श्वापदः सेव्यमाने च विपिने व्याघ्रसंकुले ॥५॥

सुकुमारोऽनवद्याङ्गः साक्षाद्विष्णुरिवापरः ।

पद्मपत्रेक्षणः श्यामपद्माभः श्रीपतिः स्वयम् ॥६॥

अस्मत्प्रोतिकरः साक्षात्प्राप्तो विष्णुरिवापरः ।

देवो वा यदि वा यक्षो गन्धर्वः किन्नरोऽपि वा ॥७॥

इन्द्रो वा धनदो वापि यमोऽथ वरुणोऽपि वा ।

एकाकी विपिने घोरे ध्यानापितमना इव ॥८॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! फिर भगवान् श्रीकृष्ण ने उन दोनों मांस भक्षक राक्षसों की ओर देखा और तभी उन दोनों ने सुखपूर्वक आसन लगाये हुए उन तीनों लोकों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण को वहाँ देखा ॥१-२॥ तब वे भगवान् के पास जाकर भी उन्हें न पहचान सके और बोले—तुम कौन हो ? किसके पुत्र और वहाँ से आये हो ? इस मृगों से परिपूर्ण भयंकर विपिन में तुम्हारा आगमन किस लिये हुआ है ? ॥३-४॥ इस वन में सिंह, दयापद, व्याघ्र और पिशाचों का साम्राज्य है, मनुष्य के कहीं दर्शन भी नहीं हैं, इसलिये तुम्हें यहाँ देख कर हमे अत्यन्त विस्मय हो रहा है ॥५॥ साथ ही तुम अत्यन्त सुन्दर रत्न वाले हो, तुम्हारा श्याम वर्ण और कमल जैसे विशाल नेत्र हमें बड़ा आनन्द दे रहे हैं । तुम्हें देख कर ऐसा लगता है, जैसे साक्षत् भगवान् विष्णु ही विराजमान हैं । क्या तुम देवता, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, इन्द्र, कुबेर, यम, वरुण में से कोई हो ? और तुम यहाँ समाधि में क्यों स्थित होना चाहते हो ? ॥६-८॥

अहं मर्त्यं ययातस्त्वं ज्ञातुमिच्छामि मानद ।

एयं पृष्टः पिशाचाभ्यामाह विष्णुरुत्क्रमः ॥९॥

क्षतिप्रोत्समीति मामाहुर्मनुष्याः प्रकृतिस्थिताः ।

यदुयंशे समुत्पन्नः क्षात्रं वृत्तमनुष्ठिनः ॥१०॥

लोकानामय पाताऽस्मि शास्ता दुष्टस्य सर्वदा ।

फलदासं गन्तुकामोऽस्मि द्रष्टुं देवमुमापतिम् ॥११॥

इत्येव' मम वृत्तान्त. कथ्यतां की युवामिति ।
युवामिह समायातो किमर्थं ब्राह्मणाश्रमम् ॥१२
एषा हि महती पुण्या नानामिप्रनिषेविता ।
वदरीयं समाप्याता न क्षुद्रैराश्रिता क्षवचित् ॥१३

हम तुम्हारा वृत्तान्त जानना चाहते हैं, इसलिये उने पूर्ण रूप से हमसे कहो । यह सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण ने उनसे कहा—मैं क्षत्रिय हूँ, यदुवश मे उत्पन्न हुआ हूँ, इसलिये क्षात्र धर्म उपायण रहता हूँ ॥६-१०॥ मैं तुष्टो का सहारक और साधुजनो का रक्षक हूँ, तथा इस समय भगवान् शंकर के दर्शनार्थ कैलास पर्वत पर जाने का इच्छुक हूँ ॥ ११ ॥ मेरा यही वृत्तान्त है, जो तुमसे कह चुका । अब तुम अपने विषय में बताओ कि कौन हो और ब्राह्मणों के इस आश्रम में किस लिये आये हो ? ॥१२॥ इस पवित्र स्थान का नाम बदरीवन है यहाँ ब्राह्मणगण निरन्तर निवास करते हैं, क्षुद्र पुरुषों का यहाँ आना वर्जित है ॥१३॥

श्रूयतामभिधाप्यामि समहितमना भव ।
नमस्कृत्य जगन्नाथं हरिं वृष्णं जगत्पतिम् ॥१४
आदिदेवमजं विष्णुं चरेण्यमनघं शुचिम् ।
वक्ष्यामि सकलं यद्वत्तया शृणु यदीच्छसि ॥१५
घण्टाकर्णोऽस्मि नाम्नाऽहं पिशाचो घोर.शनः ।
मासादो विरुतो घोरः साक्षान्मृत्युरिवावरः ॥१६
धनदस्यानुगन्ताऽहं साक्षाद्रुद्रसखस्य च ।
ममायमनुजः साक्षादन्तकस्यान्तको ह्यहम् ॥१७
मृगयेयं सुमहती विष्णो. मूजार्थमित्युत ।
ममेयं वत्तंते सेना श्वगणोऽपि ममैव तु ॥१८
आगतोऽहं महाशैनात्कैलासाद्भूनसेवितात् ।
अहं पिशाचवेपेण संविष्टः पावकमंरुत् ॥१९
सततं दूषयन्विष्णुं घण्टामावध्य कर्णयो. ।
नम न प्रविशेन्नाम विष्णोरिति विचिन्तयन् ॥२०

पिशाच ने कहा—अब मैं उन अनादि देव, निष्पाप, परम पावन, एवं नमस्कार योग्य भगवान् विष्णु को नमस्कार करके अपने विषय में कहता हूँ, यदि आप चाहें तो सुनिये ॥ १४-१५ ॥ मे घण्टाकारं नामक एक मासाहारी पिशाच हूँ और मेरी आकृति को तो तुम मृत्यु के समान देख ही रहे हो ॥ १६ ॥ मैं भगवान् शंकर के प्रिय सखा कुंजर का अनुचर हूँ और यह यमराज के समान दूसरा पिशाच मेरा भाई है ॥ १७ ॥ यह विशाल कुत्ते का समूह मेरा ही है, इस समय भगवान् विष्णु के पूजनार्थ ही मैं मृगया में तत्पर हुआ हूँ ॥ १८ ॥ इस समय मैं कैलास पर्वत से यहाँ आ रहा हूँ । घोर पाप करने के कारण ही मुझे इस पिशाच धोनि की प्राप्ति हुई है ॥ १९ ॥ मैं भगवान् विष्णु का इतना पट्टर द्वेषी था कि उनका नाम न सुन सकूँ इसके लिये कानों से घटे बांध कर विचरण करता था ॥ २० ॥

अहं कलासनिलयमासाद्य वृषभध्वजम् ।
 आराध्य तं महादेवमस्तुवं सततं शिवम् ॥ २१
 ततो प्रसन्नो मामाह वृणीष्वेति वरं हरः ।
 ततो मुक्तिर्मां या तत्र प्रार्थिता देवसन्निधौ ॥ २२
 मुक्तिं प्रार्थयमानं मां पुनराह क्षिलोचनः ।
 मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः ॥ २३
 तस्माद्गत्वा च बदरी तस्माराध्य जनार्दनम् ।
 मुक्तिं प्राप्नुहि गोविन्दान्नरनारायणाश्रमे ॥ २४
 इत्युपतो देवदेवेन शूलिना शातवानहम् ।
 तमेव परमं मत्वा गोविन्दं गरुडध्वजम् ॥ २५
 तस्मात्प्रार्थयमानः सन्मुक्तिदेशममुं गतः ।
 अन्यच्च शृणु मे कार्यं यदि कीतूहलं तव ॥ २६
 पुरी द्वारावती नाम पश्चिमस्योदधेस्तटे ।
 यदुनृष्णिसमाकीर्णा सागरोर्मिसमाकुलाम् ॥ २७
 अध्यास्ते स हरिविष्णुस्तां पुरी पुर्योत्तमः ।
 द्रष्टुं लोहितार्थाय यमन्तं द्वारनापुरे ॥ २८

निर्गतः साम्प्रतं मर्त्यं वयमेतः सहानुगै ।

विष्णु सर्वेश्वरः साक्षाद्द्रष्टव्योऽस्माभिरद्य वै ॥२६॥

फिर मैं कैलास पर्वत पर जाकर भगवान् रुद्र को आराधना करने लगा, जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने मुझ से कहा— हे वत्स ! अपना इच्छा घर मांगो । यह सुन कर मैंने उनसे मोक्ष माँगी । तब भगवान् शवर मुझसे बोले—सब को भगवान् विष्णु ही मोक्ष प्रदान करते हैं ॥२१-२३॥ इसलिये तुम घदरी वन में जाकर उनकी उपासना करो तो तुम्हें उसी नर नारायण आश्रम में मोक्ष की प्राप्ति होगी ॥ २४ ॥ भगवान् शकर के उक्त वचनों से मैं जान गया कि विष्णु ही सर्वोपरि देव है ॥२५॥ इसलिये मोक्ष की कामना से ही मैं इस वन में उपस्थित हुआ हूँ । इसके अतिरिक्त एक और भी उद्देश्य है, यदि चाहो तो उसे भी सुन लो ॥ २६ ॥ पश्चिमी समुद्र के किनारे द्वारका नाम की पुरी में यादव-गण निवास करते हैं और उस पुरी में ही भगवान् श्रीकृष्ण भी लोक-कल्याण के लिये रहते हैं । यदि मुझे यहाँ उनके दर्शन न हुए तो अपने अनुचरों सहित द्वारका के लिये प्रस्थान करूँगा, क्योंकि उनके दर्शन आज मैं अवश्य ही करना चाहता हूँ ॥२७-२६॥

॥ घण्टाकर्ण को भगवान का साक्षात्कार ॥

ततः स भगवान्विष्णुः पिशाचं दृष्ट्वास्तदा ।

चिन्तयन्तं स्वमात्मानं शुद्धबुद्धिसमन्वितम् ॥१॥

आत्मन्यवस्थितं साक्षात्पठन्तं प्रणवं सकृत् ।

प्रार्थयन्तं स्वमात्मानमेकान्ते नियतं हरिः ॥२॥

अचिन्तयज्जगन्नाथः कारणं पुण्यसंचये ।

ध्वात्वा तु सुचिरं विष्णु कारणं पुण्यकर्मणः ॥३॥

घनदस्योपदेशेन गठन्सुबहुशः क्षिती ।

वासुदेवेति कृष्णेति भाषवेति च मां सदा ॥४॥

जनादन हरे विष्णो भूतभावन भावन ।

नराकार जगन्नाथ नारायणपरायण ॥५॥

इति मां नामभिनित्यं पठत्येव दिवानिशम् ।

स्वपञ्चाग्रस्तथा तिष्ठन्भुञ्जन्गच्छंस्तथा वदन् ॥६॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! उसके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा कि वह पिशाच उन्हीं के दृगन में तन्मय होगया है ॥१॥ इसके साथ ही उसके मुख से ओंकार का जाप भी ध्वनित होरहा था ॥२॥ यह देख कर भगवान् सोचने लगे कि इसके संचित पुण्यो का उदय ही इसे इस मार्ग में प्रवृत्त करने का मुख्य कारण हो सकता है ॥ ३ ॥ यह कुवेर के उपदेश से बारम्बार जप पूर्वक हे वासुदेव ! हे कृष्ण ! हे माधव ! हे जनार्दन ! हे हरे ! हे विष्णो ! हे भूत-भावन ! हे नराकार प्रभो ! हे जगन्नाथ ! हे नारायण आदि नामों का निरन्तर उच्चारण किये जा रहा है ॥४-६॥

भक्षयन्मांसपिटकं पिबञ्छोणितमेव वा ।

बाधमानं च सुचिरं हत्वा चापि मृगान्बहून् ॥७॥

हनने भोजने चैव जाग्रत्स्वप्न तथैव च ।

सर्वेष्वपि च कार्येषु कर्त्ताहमिति मन्यते ॥८॥

एतस्य कर्मणः पाक ए घोरस्य कर्मणः ।

निश्चित्यैवं जगन्नाथः प्रीतस्तस्य वभूव ह ॥९॥

अदर्शयत्स्वमात्मानमनन्यस्य जगत्पतिः ।

शुद्धेऽन्तःकरणे तस्य पिशाचस्यापि भूमिप ॥१०॥

स च घोरः पिशाचोऽपि ददर्शात्मनि केशवम् ।

पीतकीशेयवसनं पद्माक्षं श्यामलं हरिम् ॥११॥

सह्निनं चक्रिणं विष्णुं सखिणं गदिनं विभुम् ।

किरीटिनं कौस्तुभिनं श्रीवत्साच्छादितोरसम् ॥१२॥

नीलमेघनिभं कान्तं गरुडस्थं प्रभञ्जनम् ।

चतुर्भुजं शुभगिरं निश्चलं सर्वगं शिवम् ॥१३॥

अनादिनिधनं नित्यं मायाविनममायिनम् ।

सत्यपुवतं सदा स द्दं बुद्धिगम्यं सदाऽमलम् ॥१४॥

मनस्येव जगन्नाथं दृष्ट्वा विष्णुमनेकधा ।

अनुन्मील्यैव नयने कृतार्थोऽस्मीत्यमन्यत ॥६५॥

यह मात्स भक्षण, रक्त-पान और असंख्य पशुओं को नष्ट करता हुआ भी सोते, बैठते, जागते सब समय और सभी कार्यों में मुझे कर्त्ता मानता है ॥७-८॥ इसलिये, यह इसके श्रेष्ठ कर्मों का फल ही हो सकता है । ऐसा स्थिर कर भगवान् उसके आस करण में साक्षात् हुए ॥९-१०॥ तब वह भयकर विराच अपने हृदयस्य पीतान्धरधारी, पद्म नेत्र, वयाम देह, उख-चक्र-गदा संतुलन, माला, किरीट, कोस्तुभ और श्रीरत्न से विभूषित हृदय, नील मेघ जैसी कान्ति, चार भुजा, श्रेष्ठ वाणी, स्थिर बुद्धि, आदि और अन्त से रहित, मायातीत, सत्यमय, शुद्ध, बुद्ध, निर्मल भगवान् विष्णु के अनेक रूपों का अपने हृदय में दर्शन कर अपने भाग्य को धन्य मानने लगा ॥११-१५॥

अथ दृष्टो हरिविष्णुः साक्षात्सर्ववशः शुभः ।

प्रसन्नो हि हरिर्मह्यं तेनाहं दृष्टवान्हरिम् ॥१६॥

सिद्धं मे जन्मनः कृत्यं किमतः कृत्यमस्ति मे ।

ग्रन्थयो मम निमिन्ना वष्यान्येदेन्द्रियाणि मे ॥१७॥

प्रायेण जितमित्येव मनो मन्ये स्मृते हरौ ।

ईषणा च निरस्ता मे प्रसन्नोऽहं तथाऽभवम् ॥१८॥

एतेभ्योऽपि पिशाचेभ्यो निर्मुक्तः साप्रतं तथा ।

योऽसौ ममानुजः साक्षात्स च भक्तस्तथा हरौ ॥१९॥

कालेन चैव निर्मुक्तो विष्णोः सामुज्यमाप्नुयात् ।

इत्येवं विन्तयित्वा स आन्त्रपाशं विभिद्य च ॥२०॥

क्रमेण प्राणानुभुज्य विलोक्य च दिशस्तथा ।

शरीरं मुगमं कृत्वा प्राविशत्स सुखेन ह ॥२१॥

उसने सोचा कि भगवान् ने मुझे दर्शन दिया है तो अवश्य ही वे मुझ पर अत्यन्त प्रसन्न प्रतीत होते हैं । मेरे हृदय की गाँठें खुल गईं और इन्द्रियाँ वशीभूत हुईं । आज मेरा जीवन सफ़ल होगया । मेरा मन मेरे आधीन होने

से अब मैं नितान्त प्रसन्न हूँ ॥१६-१८॥ अब मैं पिशाच शरीर से मुक्त होगया । मेरा यह छोटा भाई भी प्रभु-भवन है, इसलिये यह भी कुछ समय में मुक्त हो जायगा । ऐसा विचार करते हुए घण्टाकरुण ने आन्त्र पाश को काट कर ओर प्राण वायु को रोक कर एक बार सब ओर देखा और फिर आनन्द समुद्र में डुबकियाँ लगाने लगा ॥१६-२१॥

॥ श्रीकृष्ण की कैलास पर तपस्या ॥

ततः स भगवान्विष्णुर्भुनिभ्यस्तत्त्वमादितः ।
 कथयामास यद्वृत्तं पिशाचस्य महात्मनः ॥१
 तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे विस्मयं परमं गताः ।
 अहोऽस्य कर्मणः पाकस्तव संदशनदिति ॥२
 अर्चितो मुनिभिः सर्वैः प्रीतः प्रीतिमतां प्रियः ।
 ततः प्रभाते विमले सूर्ये चाभ्युदिते सति ॥३
 आरुह्य गरुडं विष्णुर्यपी कैलासमुत्तमम् ।
 भवद्विस्तत्र गन्तव्यमित्युक्त्वा मुनिसत्तमान् ॥४
 यत्र विश्वेश्वराः सिद्धास्तपस्यन्ति यतव्रताः ।
 यत्र यं श्रवणः साक्षादुपास्ते शंकरं सदा ॥५
 यत्र तन्मानसं नाम सरो हंतालयं महत् ।
 यस्य नृन्नी रित्तिर्देवमुपास्ते शंकरं शिवम् ॥६
 गाणपत्यमवाप्याथ हरपाश्वं चरः सदा ।
 यस्य सिंहा चराहाश्च द्विपदोपिमृगः सह ॥७
 श्रोतन्ति वन्यरतयः परस्परहिते रताः ।
 यत्र नद्यः समुत्पन्ना गङ्गादयाः सागरंगमाः ॥८

धर्मशास्त्रज्ञों ने कहा—हे राजन् ! फिर उग पिशाच का मग्नपूर्ण वृत्तान्त भगवान् श्रीकृष्ण ने मुनियों से कहा ॥१॥ जिसने गुन कर अत्यन्त विस्मित होये हुए मुनियों ने कहा—उक्त पिशाच का इस प्रकार मग्न होना आपकी दर्शनों का

ही फल है ॥२॥ फिर उन मुनियों द्वारा पूजित हुए भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए और रात्रि के व्यतीत होने पर सूर्य के समान सुशोभित होते हुए गरुड पर चढ़ कर मुनियों से बोले—हे मुनिगण ! मैं अब कैलास पर्वत पर जा रहा हूँ ॥३-४॥ इतना कह कर भगवान् श्रीकृष्ण ने कैलास की ओर प्रस्थान किया । हे राजन् ! जहाँ सिद्ध गए तपस्या करते और कुबेर भी रुद्र भगवान् की उपासना में लगे रहते हैं ॥५॥ जहाँ हंसों से परिपूर्ण मानसरोवर स्थित है तथा जहाँ भृगी और रिटि द्वारपाल के रूप में भगवान् शंकर की नित्य उपासना करते रहते हैं । जहाँ सिंह व्याघ्र, बराहादि अहिंसक बन कर घूमते हैं और जहाँ से निकल कर गया आदि सरिताएँ समुद्र में जा मिली हैं ॥६॥

यन् विश्वेश्वर शम्भुरञ्छिनद्ब्रह्मण शिर ।
यन्नोत्पन्ना महावेसा भूताना दण्डता ययु ॥८॥
उभया यन् सहित शं करो नीललोहित ।
श्रुपिभि प्रार्थित पूर्वं ददौ यत्न गिरि सुताम् ॥९॥
शं कराय जगद्भान् शिवाय जगतीपते ।
यन् लेभे हरिश्चक्रमुपास्य बहुभिर्दिनै ॥१०॥
पुष्करै शतपत्रैश्च नेत्रेण च जगत्पतिम् ।
गुहा यन् समाश्रित्य कीडन्ते सिद्धविन्नरा ॥११॥
प्रियाभि सह मोदन्ते पिबन्ते मधु चोत्तमम् ।
यमुद्धृत्य भुजं सर्वे पौलस्त्यो विरराम ॥१२॥
तमारुह्य महार्णव देवकीनन्दनो हरि ।
मानसस्योत्तर तीरं जगाम यदुनन्दन ॥१३॥
तपश्चतुर्विल हरिविष्णु सर्वेश्वर शिव ।
जटी चोरी जगन्नाथो भानुप वपुरास्वित ॥१४॥
तपसे धृतचित्तास्तु शुचौ भूमावुपाविशत् ।
अवरुह्य ततो यानाद्गरुडाद्वेदसमितात् ॥१५॥

विश्वेश्वर रुद्र के अङ्गण का प्राँवली सज्जक दिव्य जहाँ हर दिया था

और जहाँ नेत्रों ने उत्पन्न होकर जीवों के दण्ड-विधान में सहायता दी है ॥९॥
 जहाँ भगवान् शंकर और भगवती पार्वतीजी का मिलन होता रहता है तथा जहाँ
 मुनियों से प्रार्थित पर्वतराज ने अपनी कन्या उमा शिवजी को प्रदान की थी
 ॥१०॥ जिस स्थान पर भगवान् विष्णु ने दीर्घकाल तक भगवान् रुद्र की आरा-
 धना की थी और उनसे चक्र प्राप्त किया था । जहाँ सिद्ध और किन्नर सोम-पान
 करते हुए नित्य विहार करते रहते हैं और जिसे रावण ने अपनी विशाल भुजा-
 ओ से उठाना चाहा था, परन्तु वह अपने प्रयत्न में निष्फल रहा था । उसी
 कैलास पर्वत पर जाकर भगवान् श्रीकृष्ण मान सरोवर के उत्तर-तट पर पहुँचे
 ॥ ११-१४ ॥ वहाँ उन्होंने तप करने के लिये जटी चीरी मनुष्य रूप बनाया
 और फिर गहड़ से उतर कर एक शुद्ध स्थान पर विराजमान हुए ॥१५-१६॥

द्वादशाब्दं तपश्चतुर् मनो दध्ने ततो हरिः ।
 फाल्गुनेन तु मासेन समारेभे जगत्पतिः ॥१७
 शाकमक्षः कृतजपो वेदाध्ययनतत्परः ।
 किमुद्दिश्य जगन्नाथस्तपश्चरति मानवः । १८
 तं न विद्मो यथाकामं दुज्जयेश्वरचिन्तना ।
 तपस्यति तदा विष्णो पर्वते भूतसेविते ॥१९
 गरडः कश्यपसुत इन्धनानि ममाचिनोत् ।
 होमायं वासुदेवस्य चरतस्तप उत्तमम् ॥२०
 चक्रराजोऽथ पुष्पाणि संचिनोति तदा हरेः ।
 दिशु सर्वासु सर्वत्र ररक्ष जलदस्तदा ॥२१
 यंग आहृत्य यत्नेन कुशान्मुबहुशस्तदा ।
 गदा कीमोदकी चंय परिचर्वा चकार ह ॥२२
 धनुःप्रवरमत्युग्रं द्वांगं दानवभीषणम् ।
 स्मितं हि पुरतस्तस्य यथेष्टं भृत्यवत्स्वयम् ॥२३
 जहोति भगवान्विष्णु रेधोमिवं हृभिः सदा ।
 आज्यादिभिस्तदा हव्यं रग्निं मंपूज्य मायवः ॥२४

फिर उन्होंने बारह वर्ष तक तपस्या करने का विचार किया और फाल्गुन मास में वेदाध्ययन पूर्वक केवल शाक भोजन करते हुए तप का आरम्भ किया । परन्तु उन जगदीश्वर का तप करने में क्या उद्देश्य था, इसे वही जानें ॥ १७-१६ ॥ उस समय होम के लिये ईंधन यष्ट एकत्र करते थे, चक्र पुष्प संचित करते थे । शंख उनकी सब ओर से रक्षा करता था, खंग कुश लाता था, गदा उनकी सेवा करती थी और शार्ङ्ग धनुष भूय के समान सदा उनके समक्ष स्थित रह कर परिचर्या में लगा रहता था ॥१६-२३॥ इस प्रकार ईंधन से अग्नि को प्रज्ज्वलित करके भगवान् श्रीकृष्ण आग्न्यादि की आहुतियाँ देने लगे ॥२४॥

सप्तार्चिपः समाप्तिं च समस्तव्यस्ततः कृती ।
 एकस्मिन्नेकदा मासे भुञ्जानो नियतात्मवाद् ॥२५॥
 द्वितीये त्वथ पर्याये भुञ्जन्नेकेन केशवः ।
 एकस्मिन्वत्सर भुञ्जास्तथैवैकेन केनचित् ॥२६॥
 समाप्य तत्तपः सर्वमेवमेव जगत्पतिः ।
 द्वादशाब्दे तथा पूर्णे ऊनमासे जगत्पतिः ॥२७॥
 जुह्वन्तग्निं समास्थाय पठन्मन्त्रं जनार्दनः ।
 आरण्यकं पठन्विष्णुः साक्षात्सर्वेश्वरो हरिः ।
 आस्ते ध्यानपरस्तस्य पठन्प्रणवमुत्तमम् ॥२८॥

यथाविधि होमों के सम्पन्न होने पर उद्यापन करके लगे । वे प्रथम एक मास में एक दिन और फिर एक वर्ष में एक दिन भोजन करते रहे ॥२५-२६॥ इस प्रकार बारह वर्ष पूर्ण होने में जब एक मास शेष रह गया, तब उन्होंने पूर्णाहुति दी, और फिर अग्नि का ध्यान करके आरण्यक आदि मंत्रों के जप पूर्वक ओंकार उच्चारण करते हुए भगवान् शंकर के ध्यान में तल्लीन होगये ॥ २७-२८ ॥

॥ श्रीकृष्ण को शिवजी का दर्शन देना ॥

ततो यमस्तु भगवानारुह्य महिषं वरम् ।
 क्रिकरैश्च स्वयं साक्षादययौ नगमुत्तमम् ॥२
 श्वेतच्छत्रसमायुक्तः श्वेतव्यजनवीजितः ॥३
 ययौ कैलासशिखरं द्रष्टुं केशवमञ्जसा ।
 अन्ये चापि तथा देवा आदित्या वसेवस्तथा ॥४
 रुद्राश्चैव तथा राजन्द्रष्टुं केशवमाययुः ।
 सिद्धाश्च मुनयश्चैव गन्धर्वा यक्षकिन्नराः ॥५
 सर्वाश्चाप्सरसो राजन्त्यगीतविशारदाः ।
 ततो देवगणाः सर्वे कैलासं समपद्यत ॥६

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! जब भगवान् श्रीकृष्ण तपस्या कर रहे थे, तब उनके दर्शनार्थ देवराज इन्द्र कैलास पर्वत पर आये ॥१॥ यमराज भी अपने भैया पर चढ़ कर अनुचरों के सहित उनके दर्शन की अभिलाषा से वहाँ पहुँचे ॥२॥ जलराज वरुण अपने वाहन हंस पर बैठ कर अपने क्रिकरों के साथ वहाँ आये और अन्य सभी देवता, आदिश्य, वसु, रुद्र आदि तथा सिद्ध, मुनि, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, अप्सरादि सभी भगवान् के दर्शन के लिये वहाँ आकर एकत्र हुए ॥३-६॥

पर्वतो नारदश्चैव तथाऽन्ये मुनिसत्तमाः ।
 विस्मयस्थितलोलाक्षाः सर्वदेवगणास्तथा ॥७
 आश्चर्यं यत्तु पश्यध्वं न भूतं न भविष्यति ।
 योगिध्येमः स्वयं कृष्णो यत्तप्यति गुरुः स्वयम् ॥८
 को न्वत्र समयो भयादिति ते मेनिरे गणाः ।

ततः समाप्ते सकले जगत्पतेर्ब्रह्मे समूले सकलेश्वरः शिवः ।
 द्रष्टुं हरिलोकहितं पिणं प्रभुं ययौ भवान्या सह भूतसंघः ॥९
 साद्यं क्रुधेरेण सगुह्यकेन सरया प्रियेण प्रमुरीश्वरः शिवः ।
 स्वयं जटो भूतपिशाचसंवृतः दूरी चण्डी शशि चण्डशेखरः ॥१०
 करेण विभ्रत्सह दम्भकुण्डिकां करेण साक्षादपरेण दीपिकाम् ।
 अन्येन विभ्रन्महती सट्टिण्डमांशूलं च विभ्रन्नपरेण बाहुना ॥११

गुणान्स रुद्राक्षकृतान्समुद्बुह्वजटाभिरापिगलताम्रमूर्तिः ।

विराजमानः प्रभुरिन्दुशेखरो वृषेण युक्तः स सितेन शंकरः ॥१२

सभी पर्वत, अन्य सभी मुनिजन और अन्यान्य देवताओं ने आश्चर्य व्यक्त नेत्रों से कहा—अहो, कैसा विस्मय है कि जिनका योगीजन प्रयत्न-पूर्वक ध्यान करते हैं, वही जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही तपस्या करते हैं। ऐसी घटना तो कभी देखी, सुनी नहीं ॥ ७-८ ॥ उनके द्वारा तपस्या करने में अवश्य ही कोई कारण होगा। इस प्रकार का वातावरण चल ही रहा था, तभी भगवान् श्रीकृष्ण की तपश्चर्या पूर्ण होने पर भगवती पार्वती के सहित भगवान् शंकर साक्षात् रूप में उनके पास आये ॥६॥ उस समय भगवान् शंकर जटा धारण किये हुए थे, उनके साथ कुवेर और बहुत-से यक्षगण थे, उनके मस्तक पर चन्द्रमा और हाथों में वाण तथा खड्ग सुशोभित थे ॥१०॥ उनके हाथों में कुश की पिंड़ी, कमण्डलु, दीपक, धोना, डमरू और त्रिशूल भी थे ॥११॥ कठ में रुद्राक्ष धारण किये हुए थे, जटाओं के कारण उनकी देह बालि ताम्र और पिगल वर्ण की थी, उस समय वे वृषभ पर आरुढ़ थे ॥१२॥

एवं बहुविधैर्भूतः पिशाचैरुरगैः सह ।

आगत्य भगवान् रुद्रः शकरो वृषवाहनः ॥१३

ददर्श विष्णुं देवेशं तपन्तं तप उत्तमम् ।

जुह्वानमग्निं विधिवद्द्रव्यं मर्ध्यं जंगत्पतिम् ॥१४

गदडाहृतकाष्ठं तु जटिलं चौरयासनम् ।

चक्रे णानीतकुसुमं खंगानीतकुशं तथा ॥१५

गदाकृतसमाचारं देवदेवं जनार्दनम् ।

इन्द्राद्यर्द्धसंघं च वृतं भूनिगणैः सह ॥१६

अचिन्त्यं सर्वभूतानां ध्यायन्तं किमपि प्रभुम् ।

अवस्था वृषान्ठर्वो भगवान्भूतनावनः ॥१७

ततः प्रीतः प्रसन्नात्मा सलाटाक्ष उमापतिः ।

ततो भूतपिशाचाश्च राक्षसा गुह्यकास्तथा ॥१८

मुनयो विप्रयाश्च जयशब्दं प्रचक्रिरे ।

जय देव जगन्नाथ जय रुद्र जनार्दन ॥१६

जय विष्णो हृषीकेश नारायणपरायण ।

जय रुद्र पुराणात्मञ्जय देव हरेश्वर ॥२०

आदिदेव जगन्नाथ जय शंकर भावन ।

जय कौस्तुभदीप्ताखङ्ग जय भस्मविराजित ॥२१

जय चक्रगदापाणे जय शूलिखिलोचन ।

जय मौक्तिकदीप्ताखङ्ग जय नागविभूषण ॥२२

वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! असंख्य भूतादि के साथ गये हुए भगवान् दांकर ने भगवान् श्रीकृष्ण को तपश्चर्या में निमग्न देखा । उस समय वे प्रज्वलित अग्नि में आहुतियाँ प्रदान कर रहे थे ॥१३-१४॥ गरुड बाण्ड ला-रहे हैं, चक्र पुण्य और खग कुश एकत्र कर रहे हैं, गदा उनकी सुधूपा में लगी है । उन जटा एव वल्कल धारी श्रीकृष्ण को इन्द्रादि देवताओं और मुनियों ने सब ओर से घेर रखा है ॥ १५-१६ ॥ प्राणियों के चिन्तन में न आने वाले ये महाप्रभु उस समय ध्यान में रत थे, तभी भूत भावन भगवान् दांकर अपने धूपभ से उतर कर उस भव्य यातावरण को देखा । उसी समय सभी भूत, पिशाच, राक्षस, गुह्यक और मुनि आदि ने सब ओर से जय-जयकार किया—हे जगन्नाथ देव ! आपकी जय हो, हे रुद्र ! हे जनार्दन ! आपकी जय हो ॥ १७-१८ ॥ हे विष्णो ! हे हृषीकेश ! हे नारायण-परायण आपकी जय हो, हे रुद्र ! हे पुण्यात्मन् ! हे देव ! हे हरेश्वर ! आपकी सदा जय हो ॥२०॥ हे आदिदेव ! कौस्तुभ दीप्ताङ्ग ! भस्म विराजित ! हे दांकर ! हे जगन्नाथ ! आपकी जय हो ॥२१॥ हे चक्रगदापाणे ! हे शूलिन् ! हे त्रिलोचन ! हे मौक्तिक दीप्ताङ्ग ! हे नाग विभूषण ! आपकी जय हो ॥२२॥

इति ते मुनय सर्वे प्रणामं चक्रिरे हरिम् ।

ता उदयाय भगवान्दृष्ट्वा देवमवगम्यतम् ॥२३

वृषध्वज विरूपाक्ष शङ्कर नीललोहितम् ।
 ततो हृष्टमना विष्णुस्तुष्टाव हरमीश्वरम् ॥२४
 नमस्ते शिनिकण्ठाय नीलग्रीवाय वेद्यसे ।
 नमस्ते शोचिषे अस्तु नमस्ते उपवासिने ॥२५
 नमस्ते मीढुषे चास्तु नमस्ते गदिने हर ।
 नमस्ते विश्वतनवे वृषाय वृषरूपिणे ॥२६
 अमूर्तयि च देवाय नमस्तेऽस्तु पिनाकिने ।
 नम कुब्जाय कूप्याय शिवाय शिवरूपिणे ॥२७
 नमस्तुण्डाय तुष्टाय नमस्तुटितुटाय च ।
 नम शिवाय शान्ताय गिरिशाय च ते नम ॥२८
 नमो हराय हिम्राय नमो हरिहराय च ।
 नमोऽघोराय घोराय घोरघोरप्रियाय च ॥२९
 नमोऽघण्टाय घण्टाय नमो घटिघटाय च ।
 नम शिवाय शान्ताय गिरिशाय च ते नम ॥३०

यह कह कर उन मुनिगण आदि ने रुद्रदेव को प्रणाम किया, फिर उन्हें
 अपने सामने स्थित देव कर भगवान् वृष्ण हाथ जोड़ कर उनकी स्तुति करने
 लगे ॥ २१-२४ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—हे शिनिकण्ठ ! आपको नमस्कार
 है । हे नीलग्रीव ! हे वेद्य ! हे शोचि ! हे उपवासिन ! आपको भरा नमस्कार
 है ॥ २५ ॥ हे मीढुष ! हे गदावर ! हे विद्वन्नर ! हे वृष ! हे वृषरूपिन् !
 आपको नमस्कार है ॥ २६ ॥ हे अमूर्त ! पिनाकिन् ! कुब्ज ! कूप्य ! शिव !
 शिवरूपिन् ! आपको नमस्कार है ॥ २७ ॥ हे तुण्ड ! तुष्ट ! मुटितुट ! शिव !
 शान्त ! गिरीश ! आपको नमस्कार है ॥ २८ ॥ हे हर ! हिम ! हरिहर !
 अघोर ! घोर ! घोरघोर प्रिय ! घण्ट ! अघण्ट ! घटिघट ! शिव ! शान्त !
 गिरीश ! आपको बारबार नमस्कार है ॥ २९-३० ॥

नमः सर्वात्मने तुभ्यं नमस्ते भूतिदायक ।
 नमस्ते वामदेवाय महादेवाय ते नमः ॥३१॥
 का नु वाक्स्तुतिरूपा ते को नु स्तोतुं प्रशक्नुयात् ।
 कस्य वा स्फुरते जिह्वा स्तुतिमतां वर ॥३२॥
 क्षमस्व भगवान्देव भक्तोऽहं त्राहि मां हर ।
 सर्वात्मन्सर्वभूतेश त्राहि मां सततं हर ॥३३॥
 रक्ष देव जगन्नाथ लोकान्सर्वात्मना हर ।
 त्राहि भक्तान्सदा देव भक्तप्रिय सदा हर ॥३४॥

हे सर्वात्मन् ! आपको नमस्कार है, हे भूतिदायक ! हे वामदेव ! हे महादेव ! आपको नमस्कार है ॥३१॥ हे प्रभो ! ऐसा कोई वाक्य समझ में नहीं आता, जिसके द्वारा आपका स्तव करूँ । फिर ऐसा है भी कौन जिसकी जिह्वा आपकी भले प्रकार स्तुति करने में समर्थ हो ? ॥३२॥ हे भगवन् ! हे देव ! हे हर ! आप अपने मुझ भक्त की रक्षा करिये, हे सर्वात्मन् ! हे सर्वभूतेश ! आप सदैव ही मेरी रक्षा करने वाले रहें ॥३३॥ हे देव ! हे जगन्नाथ ! आप सदा ही सब लोकों के रक्षक रहें । हे देव ! हे महादेव ! आप भक्तों पर प्रीति करने वाले हैं, इसलिये अपने भक्तों की सदा रक्षा करें ॥३४॥

॥ शिव द्वारा कृष्ण-स्तुति ॥

ततो वृषध्वजो देवः शूली साक्षादुमापतिः ।
 करं करेण संस्पृश्य विष्णोश्चक्रधरस्य ह ॥१॥
 प्रोवाच भगवान् रुद्रः केशवं गरुडध्वजम् ।
 शृण्वतां सर्वदेवानां मुनीनां भावितात्मनाम् ॥२॥
 किमिदं देवदेवेश चक्रगणे जनार्दन ।
 तपश्चर्या किमर्थं ते प्रार्थना तव का विमो ॥३॥
 स्वयं विष्णुर्भवान्नित्यस्तपस्त्वं तपसां हरे ।
 पुत्रार्थं यदि ते देव तपश्चर्या जनार्दन ॥४॥

पुत्रो दत्तो मया देव पूर्वमेव जगत्पते ।
 शृणु तस्मापि भगवान्कारणं कारणात्मक ॥५॥
 तपश्चतुं प्रवृत्तोऽहं कुशित्कारणाद्धर ।
 वर्षायुतं महाघोर पुरा कृतयुगे तदा ॥६॥
 भगानी तस्य मे देव परिचिन्तुं तदाऽभवत् ।
 पित्रा नियुक्ता देवेश उर्मपा वरवर्णिनी ॥७॥
 भीत इन्द्रस्तदा देव मारं मां प्रपयत्तदा ।
 मधुना सह स मुक्तो मारो मामागतस्तदा ॥८॥

वैशम्पायनजी बोले—हे राजन् ! फिर झूलपाणि वृषभवाहन भगवान्
 शकर ने सुनने के लिये उत्कंठित हुए देवताओं और मुनियों के सामने ही चक्र-
 पाणि गरुडवाहन भगवान् श्रीकृष्ण रूप विष्णु के कर स्पर्श पूर्वक कहा ॥१-२॥
 हे देवदेवेश ! हे चक्रपाणों ! हे जनार्दन ! आपके ऐसी घोर तपश्चर्या में प्रवृत्त
 होने का क्या कारण है ? हे विभो ! आप क्या च हते हैं ? ॥३॥ आप तो स्वयं
 ही विष्णु हैं इसलिये स्वयं ही सब तपो में परम तप हैं । हे जनार्दन ! यदि
 आपका यह कार्य पुत्र की अमिताया से हो तो वह तो मैंने आपको पहिले ही दे
 दिया है ! अब आपकी इस तपस्या को जो कारण मैं मंजंशता हूँ उसे भी सुनिये
 ॥४-५॥ सत्ययुग की बात है कि मैंने दश हजार वर्षों में पूर्ण होने वाली कठोर
 तपस्या की ॥ ६ ॥ उस समय वरवर्णिनी उभा अपने पिता हिमराज की आज्ञा
 से मेरी परिचर्या में नियुक्त हुई ॥७॥ तभी मेरे कठिन तप को देख कर इन्द्र
 को भय उत्पन्न हुआ और विष्णु उपस्थित करने के उद्देश्य से उन्होंने वामदेव
 को मेरे पास भेजा, जो हि अपने यत्न-बाल आदि साधनों के साथ वहाँ आ
 गया । ॥ ८ ॥

लक्ष्यं मामकरोत्तत्र वाणस्य प्रेषितम्पुत्रः
 एषा मा सेवते तत्र दानात्पुष्पादिना हरे
 ततः क्रुद्धोऽहममव हृष्टा मारं तथाविध
 क्रुद्धस्तो मम देवेश नेत्रदग्निः परास्त ह

सोऽयमग्निस्तदा मारं भस्मसात्कृतवान्हरे ।
 अचिन्तयं तदा विष्णो शक्रस्यैतच्चिकीर्षितम् ॥११
 ततः प्रभृति देवेश दया तं प्रति पर्वते ।
 ब्रह्मणा च नियुक्तोऽस्मि प्रीतस्तत्र जनार्दन ॥१२
 नियुक्तः पुत्ररूपेण स ते देव जगत्पते ।
 ज्येष्ठस्तव सुतो देव प्रद्युम्नेत्यभिविश्रुतः ॥१३
 स्मरं तं विद्धि देवेश नास कार्या विचारणा ।
 इत्युक्त्वा पुनराहेदं याथात्म्यं दर्शयन्निव ॥१४

मेरे पास आकर उमने मुझ पर अपना बाण चलाया, उस समय पुष्पादि
 संचय पूर्वक उमा मेरी सेवा करती थी ॥१६॥ फिर भी कामदेव को विघ्न रूप
 में उपस्थित देख मेरे नेत्रों से क्रोध के कारण अग्नि की लपटें निकलने लगी
 ॥१०॥ हे हरे ! उस क्रोधाग्नि में पड़ कर कामदेव तुरन्त ही भस्म होगया, फिर
 मुझे जात हुआ कि वह कुन्नाल इन्द्र की ही थी ॥११॥ फिर ब्रह्माजी के प्रयत्न
 से प्रसन्न होकर मैं कामदेव के प्रति दयाद्रु हो उठा ॥१२॥ हे जगत्पते ! तभी
 मैंने उस कामदेव को 'प्रद्युम्न' रूप से आपका-ज्येष्ठ पुत्र निश्चित किया ॥१३॥
 वही कामदेव आपका ज्येष्ठ पुत्र प्रद्युम्न है, इसमें कोई सन्देह न करिये ॥१४॥

मुनीनां श्रोतुकामानां याथात्म्यं तत्र सत्तमः ।
 अञ्जलि संपुटं कृत्वा विष्णुमुद्दिश्यैशंकरः ॥१५
 उभया साद्वंशीशानो याथात्म्यं वक्तुर्महत ।
 हरे क्वंति तत्रैवमञ्जलि कुक्षत्तम ॥१६
 मुनयो देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह किन्नरः ।
 अञ्जलि चक्रिरे विष्णो देवदेवेश्वरे हरो ॥१७
 यत्तत्कारणमाहुस्तत्सांज्याः प्रकृतिसंज्ञकम् ।
 ततो महान्समुत्पन्नः प्रकृतिर्यस्य कारणम् ॥१८
 सिधा भूतं जगद्योनिं प्रधानं कारणात्मकम् ।
 मस्य रजस्तमो विष्णो जगदण्डं जनार्दन ॥१९

तस्य कारणमाहुस्त्वां सांख्यप्रकृतिसंज्ञकम् ।
तद्रूपेण भवान्विष्णो परिणम्याधितिष्ठति ॥२०॥
तस्मात्तु महतो घोरादहंकारो महानभूत् ।
स त्वमादौ जगन्नाथ परिणामस्तथा हि सः ॥२१॥

हे राजन् ! भगवान् शंकर ने उपरोक्त वाक्य पूर्ण करके मुनियों पर विष्णुत्व प्रकट करने केलिये श्रीकृष्ण के लिये हाथ जोड़े । उनके ऐसा करते ही सब मुनि, देवता, गन्धर्व, सिद्ध, किन्नर आदि ने भी उनके लिये हाथ जोड़े ॥ १५-१७ ॥ तभी भगवान् शंकर ने उनसे कहा—हे जनादेन ! आप ही सांख्य योगियों द्वारा वर्णित प्रकृति सन्नक त्रिगुणात्मक कारण हैं ॥१८॥ आपके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है । जिस प्रकृति के आप कारण है, उसी से महत्त्व उत्पन्न हुआ है । उस महत्त्व के रूप में भी आप ही परिवर्तित होते तथा आप ही सर्वत्र व्याप्त रहते हैं ॥ १९-२० ॥ उस महत्त्व से ही अहंकार तत्त्व की उत्पत्ति हुई । हे जगदीश्वर ! यह सब आपके परिणाम और आप इन सब के मूल कारण हैं ॥२१॥

अहंकारात्प्रभो देव कारणानि महान्ति च ।
तन्मात्राणि तथा पञ्च भूतानि प्रभवन्त्युत ॥२२॥
तानि त्वामाह्वरीशानं भूतानीह जगत्पते ।
पृथिवी वायुः काशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥२३॥
चक्षुर्घ्राणि तथा स्पर्शो रसन श्रोत्रमेव च ।
मनः पृष्ठं तथा देव प्रेरकं तत्त तत्त ह ॥२४॥
कर्मेन्द्रियाणि चान्यानि वागादीनि जनाह्वन ।
त्वमेव तानि सर्वाणि करोषि नियतात्मवान् ॥२५॥
स्वेषु जगन्नाथ विपयेषु तथा हरे ।
निवेशयसि देवेश योग्यामिन्द्रियपद्धतिम् ॥२६॥
यदा त्वं रजसा युक्तस्तदा भूतानि सृष्टवान् ।
यदा च सत्त्वयुक्तोऽसि तदा पाता जयत्रयम् ॥२७॥

यदा त्व तमसाकृष्टस्तदा संहरसे जगत् ।

सिभिरेव गुणैर्युक्तः सृष्टिरक्षाविनाशने ॥२८॥

उसी अहंकार तत्त्व से पृथिवी, पवन, आकाश, जल और अग्नि इन पंच महाभूतों की उत्पत्ति हुई । हे प्रभो ! वे पंच महाभूत आप ही हैं । उन पंच महाभूतों को प्रेरण करने वाली छ इन्द्रियाँ नेत्र, नासिका, स्पर्श, रसना, श्रोत्र और मन हैं ॥२२-२४॥ इनके अतिरिक्त कर्मेन्द्रिय और वाणी आदि अन्यान्य इन्द्रियाँ भी आपके द्वारा ही उत्पन्न हुई हैं ॥२५॥ हे जगन्नाथ ! इन इन्द्रियों को आपने ही अपने अपने बाधों में निपुण बनाया है ॥२६॥ आप रजोगुण से युक्त होकर सब प्राणियों की रचना और सत्त्वगुण से युक्त होकर तीनों लोकों का पालन करते हैं ॥२७॥ तमोगुण से युक्त होकर आप ही विश्व का सहार करते हैं । इस प्रकार आप पृथक्-पृथक् तीनों गुणों से मिल कर सृष्टि, पालन और विनाश करते रहते हैं ॥२८॥

यत्तं से सिद्धिधा भूतिमादाय नियतात्मवान् ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु नियोजयसि माधव ॥२९॥

प्राणिनामुपभोगार्थमन्त स्थित्वा जगद्गुरो ।

तस्मात्सर्वं भूनेषु यत्तं सव्यभोगवान् । ३०

ब्रह्मा त्वं सृष्टिपाले तु स्थितो विष्णुरसि प्रभो ।

संहारे रुद्रनामासि सिद्धिमा त्वमसि प्रभो ॥३१॥

आदिस्त्वं सर्वमूताना मध्यमन्तस्तथा भवान् ।

त्वत्तं समभवद्विश्वं त्वयि सर्वं प्रतीयते ॥३२॥

अहं त्वं सर्वं गो देव त्वमेवाहं जनार्दन ।

आयमोऽनारं नास्ति शब्दः पर्यैर्जगत्पते ॥३३॥

नामानि तत्र गोविन्द यानि लोके महान्ति च ।

तान्येव मम नामानि नात्र वार्या विचारणा ॥३४॥

त्वदुपागा जगन्नाथ गैवान्तु मम गोपने ।

यश्च त्वां द्रष्टुं देवेन स मो द्रष्टुं न गंजयः ॥३५॥

हे माधव ! आप एक ही काल में तीनों रूपा के धारण में समर्थ हैं । आप ही जीवों के प्राण धारणाय अन्न उत्पन्न कर इन्द्रियों को उनके निश्चित कार्यों में नियुक्त करते हैं तथा आप ही सब भूतो में भोगवान् रूप से स्थित रह कर सब भोगों को भोगते हैं ॥२६३॥ हे प्रभो ! आप ही त्रिगुणात्मक हैं तथा सृष्टि काल में ब्रह्मा, स्थिति काल में विष्णु और प्रलय काल में रुद्र हो जाते हैं ॥२१॥ आप ही सब जीवों के आदि, मध्य और अन्त हैं । यह जगत् आप से ही उत्पन्न हुआ है और अन्त में आप में ही मिल जायगा ॥२२॥ आप और मैं दोनों ही सर्वगत हैं, आप में और मुझ में शब्द से या अर्थ से भी भेद नहीं है ॥२३॥ हे गोविन्द ! इस लोक में आपको जिन-जिन नामों से पुकारा जाता है, उन-उन नामों से मैं भी प्रसिद्ध हूँ, यह निस्सन्देह सत्य है ॥२४॥ हे जगन्नाथ ! आपकी आराधना से ही मेरी आराधना सम्पन्न हो जाती है और आपके प्रति वैर-भाव का होना मुझसे ही शून्य होना है ॥२५॥

त्वद्विस्तारो यतो देव अहं भूतपतिस्ततः ।
न तदस्ति विना देव यत्ते विरहितं हरे ॥३६॥
यदासीद्वर्तते यच्च यच्च भावि जगत्पते ।
सर्वं त्वमेव देवेश विना किञ्चित्त्वया न हि ॥३७॥
स्तुवन्ति देवा सततं भवन्तस्वर्गुणं प्रभो ।
श्रुत्वा त्वं यजुरेवासि सामासि सततं प्रभो ॥३८॥
किमुच्यते मया देव सर्वं त्वं भूतभावन ।
नमः सर्वात्मना देव विष्णो माधव केशव ॥३९॥
नमस्वरोमि सर्वात्मन्ममस्तेस्तु सदा हरे ।
नमः पुष्करनाभाय वन्दे त्वामहमीश्वर ॥४०॥

आपकी महिमा जिससे विस्तीर्ण होती है, उसी से मेरी भी महिमा बढ़ जाती है और मैं भूतनाथ हो जाता हूँ । आपके बिना किसी भी कार्य की सिद्धि सम्भव नहीं है ॥ ३६ ॥ भूत, भविष्यत्, वर्तमान में जो कुछ भी है, वह आपके बिना कुछ भी नहीं है ॥३७॥ अपने गुणों के द्वारा देवता भी आपका यश गाते

हैं । हे प्रभो ! आप ही ऋक्, यजुः और साम स्वरूप हैं ॥ ३८ ॥ हे देव ! हे विष्णो ! हे माधव ! हे केशव ! अब मैं अधिक क्या कहूँ ? हे भूत भावन ! मैं जो कुछ भी कह कर पुकारूँ वह सभी कुछ आप हैं ॥ ३९ ॥ इसलिये हे सर्वात्मन् ! मेरा आपको नमस्कार है । हे पुष्करनाभ ! हे ईश्वर ! मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ ४० ॥

॥ श्रीकृष्ण का बदरिकाश्रम लौटना ॥

ततः स भगवान् रुद्रः सर्वान्विस्मापयन्निव ।
 स्तुत्या प्रचक्रमे स्तोतुं विष्णुं विश्वेश्वरं हरिम् ।
 अर्ध्याभिस्तु तदा वाग्मिर्मुनीनां शृण्वतां तथा ॥१॥
 नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमते ।
 यस्य भासा जगत्सर्वं भासते नित्यमच्युत ॥२॥
 नमो भगवते देव नित्यं सूर्यात्मने नमः ।
 यः शीतयति शीतांशुर्लोकांस्सर्वानिमान्विभुः ॥३॥
 नमस्ते विष्णवे देव नित्यं सोमात्मने नमः ।
 यः प्रजाः प्रीणयत्येको विश्वात्मा भूतभावनः ॥४॥
 नमः सर्वात्मने देव नमो धाम्वात्मने हरे ।
 यो दधार करेणासौ कुशचीरादि यत्सदा ॥५॥
 दधार वेदान्सर्वाश्च तुभ्यं ब्रह्मात्मने नमः ।
 सर्वान्सिंहरते यस्तु सहारे विश्वदृक् सदा ॥६॥
 क्रोधात्माऽसि विरूपोऽसि तुभ्यं रुद्रात्मने नमः ।
 सृष्टौ स्रष्टा समस्तानां प्राणिनां प्राणदायिने ॥७॥
 अजाय विष्णवे तुभ्यं सष्ट्रे विश्वसृजे नमः ।
 आदौ प्रकृतिमूलाय भूतानां प्रभवाय च ॥८॥

बंशम्पायनजी ने कहा—हे रामन् ! तदनन्तर भगवान् संज्ञा

के सामने ही वेदार्थमयी वाणी में उन जगदीश्वर विष्णु की गुण

जिसे सुनते हुए मुनियों को अत्यंत विस्मय हुआ ॥१॥ भगवान् महेश्वर ने कहा—हे वासुदेव ! जिन सूर्य की किरणों से यह जगत् प्रकाशमान है, आप उन्ही सूर्य के स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है । जो अपनी शीतल किरणों से सुख-शान्ति प्रदान करते हैं आप उन चन्द्र स्वरूप को नमस्कार है । जो विश्वात्मा सब को जीवन प्रदान करते हैं, आप वह वायु रूप हैं, इसलिये हे वाय्वात्मन् ! आपको नमस्कार है । जो ब्रह्माजी अपने शरीर में कुशादि धारण करते हैं तथा जो वेदों के भी धारक हैं, आप वही ब्रह्मात्मा को नमस्कार है । जो क्रोधात्मा रुद्र देव प्रलयकाल में विश्व का लय करते हैं, आप उन रुद्रात्मा को नमस्कार है । जो अजन्मा विष्णु सृष्टि को रच कर प्राणियों को प्राण देते हैं, उन आप सृष्टिकर्ता को नमस्कार है । आपने ही सर्व प्रथम प्रकृति के अवलम्ब से सृष्टि उत्पन्न की है, इसलिये आप सर्व प्रधान को नमस्कार है ॥६-८॥

नमस्ते देवदेवेश प्रधानाय नमो नमः ।

पृथिव्या गन्धरूपेण संस्थितः प्राणिना हरे ॥६

दृढाय दृढरूपाय तुभ्यं गन्धात्मने नमः ।

अपां रसाय सर्वत्र प्राणिना सुग्रहेनवे ॥१०

नमस्ते विश्वरूपाय रसाय च नमो नमः ।

तेजसा भास्करो यस्तु घृणो जन्तुहितः सदा ॥११

तस्मै देव जगन्नाथ नमो भास्कररूपिणे ।

वायोः स्पर्शगुणो यत्र शीतोष्णसुखदुःखदः ॥१२

नमस्ते वायुरूपाय नमः स्पर्शात्मने हरे ।

आकाशोऽवस्थितः शब्दः सर्वत्रोन्ननिवेशनः ॥१३

नमस्ते भगवन्विष्णो तुभ्यं शकात्मने नमः ।

यो दधार जगत्सर्वं मायामानुषदेहवान् ॥१४

नमस्तुभ्यं जगन्नाथ मायिनेऽमायदायिने ।

नमः शब्दाय श्रोत्राय निर्गुणाय गुणात्मने ॥१५

आप ही पृथिवी पर गंध रूप से विद्यमान हैं, अतः ! हे गन्धात्मन् आपको नमस्कार है । आप सब प्राणियों के सुख के लिये रस रूप होते हैं, इसलिये हे रसात्मन् ! आपको प्रणाम है । आप सदा प्राणियों का हित करते हुए अपने तेज से सब कुछ प्रकाशित करने रहते हैं, इसलिये हे भास्कर रूप ! आपको नमस्कार है ॥६-११॥ वायु में शीत, उष्ण, सुख-दुःख आदि का अनुमान कराने वाला जो स्पर्श गुण है, आप ही उससे सम्पन्न हैं, इसलिये हे स्पर्शात्मन् ! आपको नमस्कार है । आकाश का गुण शब्द पृथिवी के सब प्राणियों के श्रोत्र पर रहता है, और आप ही वह शब्द रूप हैं, इसलिये आप शब्दात्मा को नमस्कार है । जिन माया मय देव ने माया मानव रूप से, इस विश्व को धारण किया हुआ है, वे आप ही हैं, अतः हे मायाविन् ! आपको नमस्कार है । हे जगन्नाथ ! हे आदिबीज ! हे निर्गुण ! हे गुणात्मन् ! आपको नमस्कार है ॥१२-१५॥

अचिन्त्याय सुचिन्त्याय तस्मै चिन्त्यात्मने नमः ।

हराय हरिरूपाय ब्रह्मणे ब्रह्मात्मने ॥१६॥

नमो ब्रह्मविदे तुभ्यं ब्रह्मब्रह्मात्मने नमः ।

नमः सहस्रशिरसे सहस्रकिरणाय च ॥१७॥

नमः सहस्रवक्त्राय सहस्रनयनाय च ।

विश्वाय विश्वरूपाय विश्वकर्त्रे नमो नमः ॥१८॥

विश्ववक्त्र नमो नित्यं भूतावास नमो नमः ।

इन्द्रियायेन्द्ररूपाय विषयाय सदा हरे ॥१९॥

नमोऽश्वशिरसे तुभ्यं वेदाभरणरूपिणे ।

अग्नयेऽग्निपते तुभ्यं ज्योतिषां पतये उमः ॥२०॥

सूर्याय सूर्यपुत्राय तेजसां पतये नमः ।

नमः सोमाय सोम्याय नमः शीतात्मने हरे ॥२१॥

हे विष्णो ! आप अचिन्त्य, सुचिन्त्य, चिन्त्यात्मा, शिव, हरि, ब्रह्मा, ब्रह्मपदाता, ब्रह्मज्ञानी, सहस्रशिर, सहस्रकिरण, ब्रह्म और ब्रह्मात्मा हैं, आपको

नमस्कार है ॥१६-१७॥ हे सहस्रमुख ! हे सहस्रनेत्र ! हे विश्व ! हे विश्व-
रूप ! हे विश्वकर्तार ! आपको नमस्कार है ॥१८॥ आप विश्ववक्त्र, भूतवास,
इन्द्रिय एव विषय रूप हैं । हे हरे ! आपको नमस्कार है ॥१९॥ आप अवशिर,
वेदाभरण, अग्नि, अग्नि-पति, ज्योतिष-पति, सूर्य, सूर्यतनय, तेजो के स्वामी,
सोम तथा सौम्य हैं । हे शीतात्मन् ! हे हरे ! आपको नमस्कार है ॥२०-२१॥

नमो यज्ञाय इज्याय हविषे हव्यसंस्कृते ।

नमः सुवाय पात्ताय यज्ञाङ्गाय पराय च ॥२२

नमः प्रणवदेहाय क्षरायाप्यक्षराय च ।

वेदाय वेदरूपाय शस्त्रिणे शस्त्ररूपिणे ॥२३

गदिने खड्गिने तुभ्यं शस्त्रिणे चक्रिणे नमः ।

शूलिने चर्मिणे नित्यं वरदाय नमो नमः ॥२४

बुधप्रियाय बुद्धाय प्रबुद्धाय सुखाय च ।

हरये विष्णवे तुभ्यं नतः सर्वात्मने गुरो ॥२५

नमस्ते सर्वलोकेश सर्वकर्त्ते नमो नमः ।

नमः स्वभावशुद्धाय नमस्ते यज्ञसूकर ॥२६

नमो विष्णो नमो विष्णो नमो विष्णो नमो हरे ।

नमस्ते वासुदेवाय वासुदेवाय धीमते ॥२७

नमः कृष्णाय कृष्णाय सर्वावास नमो नमः ।

नमो भूयो नमस्तेऽस्तु पाहि लोकाञ्जनार्दन ॥२८

आप ही यज्ञ, इज्य, हवि, हव्य संस्कृत, सुव, यज्ञाङ्ग, पर, प्रणव-शरीर,
क्षर, अक्षर, वेद, वेदमूर्ति और शस्त्र स्वरूप हैं ॥२२-२३॥ आप ही गदा-खग,
शंख-चक्र के धारण करने वाले, शूल-चर्म से युक्त तथा वर-प्रदायक हैं । आपको
नमस्कार है ॥२४॥ आप ही ज्ञानप्रिय, बुद्ध, प्रबुद्ध, सुख, हरि, विष्णु, गुरु
और सर्वात्मा हैं, आपको नमस्कार है ॥२५॥ हे सर्वलोकेश्वर ! आप सर्वकर्त्ता,
शुद्धस्वभाव हैं आपको नमस्कार है ॥२६॥ हे विष्णो ! हे विष्णो ! हे हरे ! हे
धीमात ! श्री वासुदेव ! आपको नमस्कार है ॥२७॥ हे कृष्ण ! हे सर्ववास

श्रीकृष्ण ! आपको नमस्कार है । हे जनार्दन ! आप सब प्रकार से सब भूतों की रक्षा कीजिये, आपको बारंबार नमस्कार है ॥२८॥

इति स्तुत्वा जगन्नाथमुवाच मुनिसत्तमान् ।
 इमं स्तोत्रमधीयाना नित्यं व्रजत केशवम् ॥२९॥
 शरण्यं सर्वभूतानां तत्र श्रेयो विधास्यति ।
 ये चेमं धारयिष्यन्ति स्तवं पापविमोचनम् ॥३०॥
 तेषां प्रीतः प्रसन्नात्मा पठतां शृण्वतां हरिः ।
 श्रेयो दास्यति धर्मात्मा नात्र कार्या विचारणा ॥३१॥
 अवश्यं मनसा ध्यात केशवं भक्तवत्सलम् ।
 श्रेयः प्राप्तुं यदीच्छन्ति भवन्तः शंसितव्रताः ॥३२॥
 इत्युक्त्वा भगवान् द्रुस्तत्रैवान्तरधीयत ।
 सगणः शंकरः साक्षादुभया भूतभावनः ॥३३॥
 नेमुस्तं मुनयः सर्वे परां निवृत्तिमाययुः ।
 तमेव परमं तत्त्वं मत्वा नारायणं हरिम् ।
 विस्मयं परमं गत्वा मेनिरे स्वकृतार्थताम् ॥३४॥
 लोकपालस्तदा विष्णुं नमस्कृत्य हरिं तदा ।
 जग्मुः स्वान्यथ वेश्मानि गणैः सर्वैर्नृपोत्तम ॥३५॥
 आरुह्य भगवान्विष्णुर्गुरुडं पक्षिपुंगवम् ।
 शङ्खी चक्री गंदो जङ्गी शाङ्गी तूणी तनुश्वान् ॥३६॥
 यथागतं जगन्नाथो ययौ बदरिकामनु ।
 सायाह्ने पुण्डरीकाक्षो नित्यं मुनिनिषेविताम् ॥३७॥
 तत्र गत्वा यथायोगं विनम्य हरिरीश्वरः ।
 अर्चितो मुनिभिः सर्वैर्निपसाद सुखासने ॥३८॥

• भूतभावन भगवान् शंकर जगदीश्वर विष्णु की इस प्रकार स्तुति करके मुनिजनों से बोले—हे मुनिगण ! आप इस स्तोत्र का नित्य प्रति पाठ करते हुए, भगवान् विष्णु की शरण की प्राप्ति हो ॥२९॥ इससे करुणापूरित की रक्षा

करने वाले भगवान् आप सब की रक्षा में तत्पर होंगे और जो इस पाप विमोचन स्तोत्र हृदय में धारण करेंगे या पढ़ेंगे-मुन्यों उनका निस्संदेह सब प्रकार से मंगल होगा ॥३०-३१॥ हे मुनिगण ! यदि आप अपनी कल्याण-कामना करते हैं तो भगवान् विष्णु को प्रसन्न करो ॥३२॥ यह कह कर अपने गणों तथा पावंतीजी के सहित भगवान् शंकर उसी समय अंतर्धान होगये ॥३३॥ फिर उन मुनियों ने भगवान् कृष्ण को ही परमवत्त्व मानकर उन्हें प्रणाम किया तथा हरि-हर को इस सीता को देखकर वे अत्यंत विस्मित हुए ॥३४॥ हे राजन् ! इसके पश्चात् लोकरपाल भी भगवान् को प्रणाम कर अपने अनुचरों के सहित स्वधाम को गये ॥३५॥ तब शङ्ख, चक्र, गदा, धनुष, तरकस और कवच धारी भगवान् कृष्ण गरुड पर आरोहण होकर मुनिजनों द्वारा सेवित शदरी वन में आगये और गरुड से उतर कर वहाँ सुख से विराजमान हुए, उस समय सब ओर से एकत्रित हुए मुनिगण उनका पूजन करने लगे ॥३८॥

॥ पौण्ड्रक के दर्पपूर्ण वचन ॥

एतस्मिन्नेव काले तु पौण्ड्री नृपवरोत्तमः ।
 बलवान्सत्त्वसंपन्नो योद्धा विपुलविक्रमः ॥१॥
 वृष्णिशत्रुस्तदा राजा कृष्णद्वेपी वलात्तदा ।
 नृपान्सर्वान्समाहूय प्रोवाच नृपसंसदि ॥२॥
 जिता च पृथिवी सर्वा जिताश्च नृपसत्तमाः ।
 वृष्णयस्ते वलोन्मत्ता कृष्णामाश्रित्य गविताः ॥३॥
 दास्यन्ति मे करं सर्वे न हि ते वृष्णसंश्रयात् ।
 स तु वृष्णश्चक्रप्रत्नान्मामवज्ञाय तिष्ठति ॥४॥
 अहं चक्रीति गर्वोऽभूत्तस्य गोपस्य सर्वदा ।
 शङ्खी चक्री गदी शार्ङ्गी शरी तूणी सहायवान् ॥५॥
 एवमादिर्महागर्वस्तस्य सप्रति वत्तते ।
 लोके च मम यन्नाम वासुदेवेति विद्युत्तम् ॥६॥
 अगृह्णन्मम तन्नाम गोपी गन्तव्यमिति ॥

तस्य चक्रस्य यच्चक्रं ममापि निशितं महत् ॥७
 गवं हन्तुं सदा तस्य नाम्ना चापि सुदर्शनम् ।
 सहस्रारं महाघोरं तस्य चक्रस्य नाशनम् ॥८

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! इन्ही दिनों राजाओ मे अत्यंत बलशाली, धीरशाली पौण्ड्रक यादवो सहित भगवान् श्रीकृष्ण का वीरी बन गया और एक दिन उसने अनेक राजाओं को अपनी सभा में बुला कर उनसे कहा— हे राजागण ! मैंने इस सम्पूर्ण पृथिवी पर विजय प्राप्त करली है और प्रायः सब राजा मेरे आधीन हो चुके हैं । केवल यादव ही ऐसे हैं जो कृष्ण की सहायता के कारण गवित हो रहे हैं ॥१-३॥ उनके अतिरिक्त अन्य सभी राजा मुझे कर देते हुए, मेरा सम्मान करते हैं, परन्तु कृष्ण ही अपने चक्र के अभिमान में मदमत्त होकर मेरा तिरस्कार करता है ॥४॥ वह समझता है कि मैं शत्रु, चक्र, गदा और झाङ्गू घारी हूँ, मेरे समान बाण-तूणीर घारी और संगठनकर्त्ता अन्य कोई नहीं है ॥५॥ इस प्रकार वह इतना मवान्य होगया है कि उस गोपपुत्र ने मेरे नाम वासुदेव को ही स्वयं रख लिया है । परन्तु उसे यह विदित नहीं है कि मेरा हजार धार का चक्र उसके चक्र से अधिक तीक्ष्ण है । मैं अपने इसी चक्र से उस छद्मवेशी वासुदेव के चक्र का अहंकार नष्ट कर डालूँगा ॥६-८॥

अनेकमहत् चक्रं गोपजस्य नृपोत्तमाः ।
 ममाप्येतदनुदिव्यं शाङ्गं नाम महारवम् ॥९
 गदा कौमोदकी नाम ममेयं बृहती दृढा ।
 कालायससहस्रस्य भारेण मुकृता मया ॥१०
 छंगो नन्दकनामाऽसौ ममायं विपुलो दृढः ।
 अन्तकस्यान्तको घोरस्तस्य छंगस्य नाशकः ॥११
 तत्तायं च गदी छंगी शङ्खी चक्री तनुत्रवान् ।
 युधि जेता च कृष्णस्य नात्र कार्या विचारणा ॥१२
 मां संव्रूत नृपाश्चैव गदिनं चक्रिणं तथा ।
 शंपिन् शोणिण वीरं ब्रूत नित्यं नृपोत्तमाः ॥१३

वासुदेवेति मां ब्रूत न तु गोपं यद्वृत्तमम् ।
 एकोऽहं वासुदेवो हि हत्वा तं गोपदारकम् ॥१४
 सद्युर्मम बलादन्ता नरकस्य महात्मनः ।
 मां तथा यदि न ब्रूत दण्ड्या भारशतैः शतम् ॥१५
 सुवर्णस्य च निष्कस्य ग्रहीष्ये बहुशस्तदा ।
 तथा ब्रूवति राजेन्द्रे मनसा दुःसह यथा ॥१६
 केवल्लज्जासमायुवता आसंस्ते बलवत्ताराः ।
 रसज्ञा बलवीर्यस्य राजानस्ते सदा नृप ॥१७
 अपरे तु नृपा राजन्नेवमेवेति चुक्रुशुः ।
 अन्ये बलमदोत्सिक्ता जेष्यामः केशव रणे ॥१८

हे राजाजी ! मेरे पास भी शाङ्ग नामक घोर टकीर वाला यह भीषण धनुष तथा कौमोदकी नाम वाली अत्यन्त सुदृढ तथा हजार भार की लौहमयी गदा विद्यमान है । १-१०॥ मैं भी नन्दक नाम का अत्यन्त तीक्ष्ण खंग सदैव अपने पास रखता हूँ । मेरा यह खंग काल का भी काल और कृष्ण के खंग को काट देने में पूर्ण रूपेण समर्थ है ॥११॥ इस प्रकार मैं भी शल, चक्र, गदा, शङ्ख और शाङ्ग धनुष का धारण करने वाला हूँ, इसलिये उस कृष्ण का युद्ध में अवश्य ही वध कर डालूँगा ॥१२॥ हे राजागण ! अब से आप सभी मुझे शल-चक्र-गदा धारी भगवान् वासुदेव कहाँ करें, परंतु इस बात को भी न भूलें कि मैं यदुवशी वाला नहीं हूँ । इस जगत में अकेला वासुदेव मैं ही हूँ और उस गोप बालक को मैं ही मारूँगा ॥१४॥ मेरे प्रिय मित्र नरकासुर का उसी ने वध किया था । यदि आप मेरी आज्ञा के अनुसार मुझे वासुदेव न कहेंगे तो मैं स्वर्ण, मुद्रा और अन्नादि वस्तुओं का आपको दण्ड दूँगा । हे राजन् ! पीण्डक की इस असंगत बात को सुनकर भगवान् कृष्ण के पराक्रम को जानने वाले राजा लज्जा से झुक गये ॥१५-१७॥ तथा अन्य राजाओं ने 'ऐसा ही होगा' कहा और कुछ मदीन्मत्त राजा तो युद्ध में कृष्ण को मारेंगे—कहते हुए कोलाहल करने लगे ॥१८॥

॥ पौण्ड्रक नारद संवाद ॥

ततः कैलासशिखरान्निगंतो मुनिसत्तमः ।
 नारदः सर्वलोकज्ञः पौण्ड्रस्य नगरं प्रति ॥१॥
 अवतीर्य नभोभागात्प्रत्यागम्य नरोत्तमम् ।
 द्वारस्थेन च समाज्ञप्तः प्रविवेश गृहोत्तमम् ॥२॥
 अर्धादिसमुदाचारं नृपाल्लब्ध्वा महामुनिः ।
 निपसादासने शुभ्रे ह्यास्तृते शुभवाससा ॥३॥
 कुशलं पृष्ठवान्भूयो नृपः स मुनिसत्तमम् ।
 उवाच नारदं भूयः पौण्ड्रको बलगवितः ॥४॥
 भवान्सर्वज्ञ कुशलः सर्वकार्येषु पण्डितः ।
 प्रथितो देवसिद्धेषु गन्धर्वेषु महारत्मसु ॥५॥
 सर्वत्रगो निराबाधो गत्वा सर्वत्र सर्वदा ।
 अगम्यं तव विप्रेन्द्र ब्रह्माण्डे न हि किञ्चन ॥६॥
 नारदेदं वद त्वं हि यत्नं यत्नं गतो भवान् ।
 तत्र तत्र तपः सिद्धी लोके प्रथितवीर्यवान् ।
 पौण्ड्र एव च विख्यातो वासुदेवेति शब्दितः ॥७॥
 शंखी चक्री गदी शार्ङ्गी खंभी तूणी तनुसवान् ।
 विजेता राजसिंहानां दाता सर्वस्य सर्वदा ॥८॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! उसी अवसर पर देवर्षि नारदजी ने कैलास पर्वत से चल कर राजा पौण्ड्र के नगर की ओर प्रस्थान किया और वहाँ आकर द्वारपाल के द्वारा राजसभा में पहुँच गये ॥१-२॥ राजा ने उन्हें देन वर पुरस्कृत ही अर्घ्य-पाद्य आदि प्रदान किया और तब वे देवर्षि राजा द्वारा प्रदत्त एक उज्ज्वल आसन पर बैठ गये ॥३॥ तदनन्तर पौण्ड्रक ने मुनिप्रेष्ठ नारदजी से कुशल प्रश्न के पश्चात् इस प्रश्नार कहा—हे भगवन् ! आप सभी नायों के शासक हैं तथा सब देवता, सिद्ध, गन्धर्व और महारथा आदि में आप प्रतिष्ठित हैं ॥४-५॥ आपकी सर्वत्र अबाध गति है, ब्रह्माण्ड में कहीं भी जाने में आप नहीं

रुक सकते ॥३॥ इसलिये, आप यह बताने की कृपा करिये कि आपका जहाँ-जहाँ जाना हुआ है, वहाँ-वहाँ मैं तपसिद्ध और लोक प्रतिष्ठित वासुदेव के रूप में प्रसिद्ध हूँ अथवा नहीं ? ॥७॥ मैं शस्त्र, चक्र, पदा, शार्ङ्गधनु, तुणीर और कवच धारण करने, भूतल के सब राजाओं को हराने और प्रचुर दान देने वाला हूँ ॥८॥

भोक्ता राज्यस्य सर्वस्य शास्ता राजा बलाद्वली ।
अजेयः शत्रुसैन्यानां रक्षिता स्वजनस्य ह ॥९॥
योऽद्य गोपकनामाऽसौ वासुदेवेति शब्दितः ।
तस्य वीर्यबले न स्तो नाम्नोऽस्य मम धारणे ॥१०॥
स हि गोपो वृथा बाल्यादारयत्येव नाम मे ।
इद निश्चिनु विप्रेन्द्र एक एव भवाम्यहम् ॥११॥
वासुदेवो जगत्प्रस्मिन्निर्जित्य बलिनं यदुम् ।
वृष्णीन्सर्वान्बलात्क्षिप्त्वा निहनिष्ये च ता पुरीम् ॥१२॥
द्वारका विष्णुनिलया योद्धा चाहं महामते ।
एते च बलिनः सर्वे नृपा मम समागताः ॥१३॥
अश्वाश्च वेगिनः सन्ति रथा वामुजवा भम ।
नानामन्त्रा सहस्रं च गजा नियुतमेव च ॥१४॥
एतेनाहं बलेनाजो हनिष्ये केशव रणे ।
तस्मादेव सदा विप्र वद ब्रह्मपुरे मम ॥१५॥
इन्द्रस्यापि सदा विप्र वद नारद साम्प्रतम् ।
प्रार्थनं पा मम विभो नमस्ये त्वां तपोधन ॥१६॥

मैं सभी राज्यों का भोक्ता, शासक और महाबली राजा हूँ । अपने जनो का रक्षक तथा शत्रुओं के लिये अजेय हूँ ॥९॥ वह बल-वीर्य-हीन ग्वाला वृष्ण मेरे नाम की मिथ्या रूप से धारण करता हुआ अपने को वासुदेव कहता है ॥१०॥ उसने अपने छिद्रोरेपन से ही मेरा यह नाम ग्रहण कर लिया है, परन्तु मर्पायं रूप में तो मेरे अतिरिक्त अन्य कोई भी वामुदेव हम लोक में नहीं

है ॥११॥ इसलिये मैं अपने महान् पराक्रम से सब यादवों को परास्त और
 द्वारावा को ध्वस्त कर डालूँगा ॥१२॥ हे महामते ! यह सम्पूर्ण गजागण यहाँ
 इसी कार्य में एकत्र हुए हैं ॥१३॥ फिर मेरे पास भी अत्यन्त वेगवान् असह्य
 अश्व, वायु के समान प्रचंड गति वाले रथ, एक सहस्र ऊँट और दस सहस्र
 मत्त गजराज सदा तैयार रहते हैं ॥१४॥ अपनी इस विशाल सेना के बल से
 उस छद्मवेशी वामुदेव को मैं शीघ्र ही युद्ध में पछाड़ दूँगा । इसलिये हे ब्रह्मन् !
 आप मेरे इस विचार मेरे नगरवासियों और स्वर्ग में रहने वालों को शीघ्र ही
 अवगत कराने की कृपा करें । अच्छा अब आपको मेरा नमस्कार है ॥१५-१६॥

सर्वत्रगः सदा चास्मि यावद्ब्रह्माण्डसंस्थितिः ।
 आचार्यः सर्वकार्येषु गमने केनचिन्नृप ॥१७॥
 किन्तु वक्तुं तथा राजन्नुत्सहे नृपसत्तम ॥
 मही शासति देवेशे चक्रपाणी जनार्दने ॥१८॥
 विष्णो सर्वत्रगे देवे दुष्टान्हुत्वा सबान्धवान् ।
 वामुदेवेति को नाम तिष्ठत्यस्मिन्हराविति ॥१९॥
 को नाम वक्तुमेवदं कृष्णे शासति गोमती ।
 अज्ञानाद्वक्तुमेव च समर्था प्राकृता जनाः ॥२०॥
 हरिः सर्वसर्गो विष्णुर्दर्व ते व्यपनेष्यति ।
 अचिन्त्यविभयो विष्णुः शांगंधन्वा गदाधरः ॥२१॥
 आदिदेवः पुराणात्मा दर्प ते व्यपनेष्यति ।
 हास्यमेतन्महाराज यच्च वै तस्य संस्थितम् ॥२२॥
 शांगं खगं तथा राजन्महाधोरं न दाप्यते ।
 अतीव हासकालोऽयं तव सम्प्रति वर्त्तते ॥२३॥

नारदजी ने कहा—हे राजन् ! मैं इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में घूमन कर
 ॥१७॥ मैं योर नहीं भी किसी कार्य के लिये जाने में मुझे बाधा नहीं होती
 ॥१७॥ मछलि कहना नहीं चाहता, फिर भी कहता हूँ, कि जब स्वयं चक्रपाणि
 जनार्दन इस पृथिवी का पालन कर रहे हैं, तब अन्य कौन पुरुष वामुदेव नाम को

धारण कर उनके समान हो सकता है ? ॥१८ १९॥ उन भगवान् के शासन में ऐसा करने का साहस केवल प्रमाद अथवा अज्ञा के कारण ही किया जा सकता है ॥२०॥ वे भगवान् महान् पराक्रमी शार्ङ्गधनु और गदाधारी, आदि देव पुराणात्मा हैं । तुम्हारे इस अहंकार को वे ही नष्ट करेंगे । तुम्हारे पास भी शार्ङ्गधनु और खग आदि हैं, परन्तु उनके द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के आयुषी का सामना नहीं किया जा सकेगा । मैं तो समझता हूँ कि तुम अपना परिहास कराना चाहते हो ॥२१ २३॥

॥ पौण्ड्रक का द्वारका पर आक्रमण ॥

तत क्रुद्धो महाराज पौड्रो मदबलान्वित ।
नारद विप्रवर्यं त प्रोवाच नृपससदि ॥१॥
किमिदं प्राह विप्रर्षे राजाऽहं च द्विजं सह ।
गच्छ त्वं काममथ वा मुने शापप्रदं सदा ॥२॥
भीतस्त्वत्तो महाबुद्धं गच्छ त्वं काममथ हि ।
इत्युक्तो नृपवर्येण तूष्णीमेव स नारद ॥३॥
जगामाकाशगमनो यस्तं तिष्ठति केशव ।
स गत्वा विष्णुसकाशं विष्णोः सर्वं शशस ह ॥४॥
तच्छ्रुत्वा भगवान्विष्णुर्गन्धेष्टं वदतामिति ।
दपं तस्यापनेष्यामि श्वोभूते द्विजसत्तम ॥५॥
इत्युक्त्वा विररामैव तस्मिन्वदरिवाश्रमे ।
ततः पौण्ड्रो महाबाहुर्वैलंबं हुमिरीश्वर ॥६॥
अश्वैरनेकसाहस्रं गर्जं बहुभिरन्वित ।
शस्त्रकोटिसमायुक्तं स राजा सत्यसगर ॥७॥
अनेकशतसाहस्रं पत्तिभिश्च समन्वितः ।
एवमव्यग्रमृतिभी राजभिश्च समन्ता ॥८॥

यज्ञायायन जी ने कहा—हैं राजन् । देवपि नारदजी के वचनों से क्रुद्ध

हुए बल के मद में मत्त पौण्ड्र ने कहा—हे ब्रह्मर्षि ! आप क्या कहते हैं ? आप विप्र हैं और मैं राजा हूँ । परन्तु आप शाप न दे दें, इसी से कुछ भय है । अच्छा, अब आप यहाँ से चले जाने की कृपा करें । पौण्ड्र की बात सुन कर नारदजी तुरन्त ही आकाश मार्ग से बदरीवन के लिये चल दिये और वहाँ पहुँच कर उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण को पौण्ड्र के अभिप्राय से पूर्ण प्रकारेण अवगत किया ॥१-४॥ जिसे सुन कर श्रीकृष्ण ने कहा—हे देवर्षि ! मैं उसके अहंकार को कल नष्ट करूँगा ॥५॥ यह कह कर भगवान् भीम होगये । उपर युद्ध की प्रतिज्ञा किये हुए राजा पौण्ड्र ने स्वसह्य गजराज, अश्व, रथ एवं हजारों पदाती सेना के सहित अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों से अपने को सुसज्जित किया । उसके साथ एकलव्य आदि बहुत-से राजा भी तैयार होकर निकले ॥६-८॥

अष्टौ रथसहस्राणि नागानामयुतं तथा ।
 अर्युदं पत्तिसङ्खानां तद्वल समपद्यत ॥६॥
 एतेन च धलेनाजौ प्रस्फुरन्त्पसत्तमः ।
 विरराज महाराज उदयस्थो महारविः ॥१०॥
 स ययौ मध्यरात्रेण नगरी द्वारकामनु ।
 पत्न्यो दीपकाहस्ता रात्रौ तमसि दारुणे ॥११॥
 ययुर्विविधशस्त्रीघा संपतन्तो महाबलाः ।
 द्वारका वीर्यसम्पन्ना महाघोरां नृपोत्तमाः ॥१२॥
 रथं महान्तमारुह्य शस्त्रोपैरव समावृतम् ।
 पट्टिदासिसमाकीर्णं गदापरिघसकुलम् ॥१३॥
 शक्तिमतोमरसंकीर्णं ध्वजमालासमाचितम् ।
 किङ्किणीजालमयुक्तं शरसिप्रामसंयुतम् ॥१४॥
 महाघोरं महागोदं युगान्तजलदोषमम् ।
 धनुर्गदासमाकीर्णं महाबाहोपमं महत् ॥१५॥

उस प्रयाण में आठ हजार रथ, दस हजार गज और अर्युद संख्या में सत्तौ सत्र गये ॥६॥ रात्रा पौण्ड्र इन सब सेनाओं में फिर कर उदय वास के

भास्कर के समान सुओभित हुआ ॥१०॥ फिर आधीरात के समय वह द्वारका पर चढ़ चला । उस समय सर्वत्र रात्रि का घोर अघवार छाया हुआ था, इसलिये सेना मशाल लेकर चल रही थी ॥११॥ वह सेना अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सजी हुई अत्यंत भयकर प्रतीत होरही थी । वह सेना देग से द्वारका की ओर अग्रसर हुई ॥१२॥ थोड़ा रथों पर रथी चढ़े हुए थे और उनके साथ पट्टिश, तलवार, गदा, परिष, शक्ति, तोमर आदि शस्त्रास्त्र उन रथों पर रखे थे, ध्वजा-पताकायें सब ओर उड़ रही थी और उनमें लटकी हुई घंटियों से शब्द निकल रहा था ॥१३-१४॥ उस अमल्य सेना को देख कर प्रतीत होता था कि आकाश में प्रलय कालीन बादल छा गये हों । सैनिकों के शस्त्रास्त्र उस समय एक विशाल बाजे जैसे दिखाई दे रहे थे ॥१५॥

अभ्यर्कसहसाकारं ययौ द्वारवतीमनु ।

गृहीतशीपिको राजा वीर्यवान्वलवान्प ॥१६

हन्तुमैच्छज्जगन्नाथ वृष्णीश्चैव समन्ततः ।

आकर्षन्वलमुरुषांस्तानुराजः सर्वान्महाद्युतिः ॥१७

पुरद्वारं समासाद्य बलं सस्थाप्य यत्नतः ।

इदं प्रोवाच राजा तु नृपान्सर्वानिवस्थितान् ॥१८

ताड्यतामत्र भेरी तु नाम विश्राव्य मामकम् ।

मुध्यतां मुध्यतामत्र देयं वा प्रतिदीयताम् ॥१९

आगतः पीण्ड्रको राजा युद्धार्थी वीरवत्तरः ।

हन्तुकामः समग्रान्वः कृष्णबाहुवलाश्रयान् ॥२०

हे राजन् ! उस समय सब ओर आग घषकती हुई और सूर्योदय होता हुआ प्रतीत हुआ । महाबली राजा पीण्ड्र भी भगवान् श्रीकृष्ण और समस्त यदुवंशियों का संहार करने की अभिनाया से हाथ में प्रज्ज्वलित मशाल लेकर द्वारका की ओर आगे-आगे बढ़ रहा था । उसी पीछे-पीछे अनुयायी राजाओं की विशाल सेनाएँ चल रही थीं ॥१६-१७॥ द्वारका पुरी के द्वार पर जाकर पीण्ड्र ने शिखरों की स्थापना की और फिर वहाँ उपस्थित सब राजाओं से

कहा—हे राजाओ ! अब आप मेरे नाम से भेरी बजवा कर यह घोषणा करा दीजिये कि महाबली महाराज पौण्ड्र कृष्ण के बल-भरोसे पर रहने वाले द्वारका निवासियों के विध्वंसार्थ यहाँ आये हैं ॥१८-१९-२०॥

इति ते प्रेषिताः सर्वे समीयुः सूचकान्बहून् ।

दोषिकाश्च प्रदीप्यन्ते बह्वयः शतसहस्रस्रशः ॥२१

इतश्चेतश्च राजानो युध्यन्ते युद्धलालसाः ।

पुरी ते पुरतस्तत्र क्षत्रियाः शस्त्रिणस्तथा ॥२२

सिंहनादं प्रकुर्वन्तः शस्त्रधारासमाकुलाः ।

कुतोऽयं वृष्णिप्रवरः कुतो राजा जगत्पतिः ॥२३

कुतोऽयं सात्यकिर्वीरः कुनो हार्दिक्य एव च ।

कुतो न बलभद्रश्च सर्वयादवसत्तामः ।

इत्येवं कथयन्तो वै राजानः सर्व एव ते ॥२४

आदाय शस्त्राणि बहूनि सर्वतः शरांश्च चापानि सर्वे ।

युद्धाय सन्नाहनियद्धशो ययुर्हरेः पुरी द्वारवती नृपोत्तमाः ॥२५

इसलिये अब तुम लोग राज्य का परित्याग करो अपना युद्ध के लिये सामने आओ । यह सुनते ही उन राजाओं ने सूचना प्रसारित कराने के लिये हजारों मशालें जलवाईं ॥२१॥ तथा वे सब शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर पुरी के द्वार पर सिंहनाद करते हुए पुकार उठे—इस समय वे जगत्पति राजा, धीर सात्यकि, हार्दिक्य और यादवों में श्रेष्ठ बलरामजी कहाँ हैं ? वे यहाँ आकर हमसे युद्ध करें ! यह कह कर वे युद्धावाधी राजागण बोलाहल करते हुए द्वारकापुरी के द्वार पर घूमने लगे ॥२२-२५॥

॥ यादवों द्वारा पौण्ड्रक की सेना का संहार ॥

सतश्च यादवाः सर्वे दृष्ट्वा सैनिकसंचयम् ।

रात्री च व्यसनं प्राप्तं महाशस्त्रसमाकुलम् ॥१

महावातसमुद्भूतं कल्पान्ते समगोपमम् ।
 सन्नद्धा समपद्यन्त शस्त्रिणो युद्धलालसा ॥२
 गृहीतदीपिका सर्वे यादवा शस्त्रयोधिनः ।
 सात्यकिर्बलभद्रश्च हार्दिक्यो निशठस्तथा ॥३
 उद्धवोऽथ महाबुद्धिरुग्रसेनो महाबल ।
 अन्ये च यादवा सर्वे कवचप्रग्रहे रताः ॥४
 समस्तयुद्धकुशला रात्रौ सन्नाहयोधिनः ।
 शस्त्रिणश्छद्मिणश्चैव सर्वे शस्त्रसमाकुलाः ॥५
 युद्धाय समपद्यन्त बहवो बाहुशालिनः ।
 रथिनो गदिनश्चैव सादिनः सायुधास्तथा ॥६
 नित्ययुक्ता महात्मानो धन्विनः पुरुषोत्तमा ।
 नियंयुनं गरात्तूर्णं दीपिकाभिः समन्ततः ॥७
 कुतः पौण्ड्रक इत्येवं वदन्त सर्वसात्वताः ।
 दीपिकादीपिता देशा निस्तमा समद्यत ॥८

बैशाखायनजी ने कहा—हे राजन् ! उस आधी रात के समय उस प्रलय कालीन मेघ के समान उमड़ते हुए सैन्य समूह को देख कर यादवों को बड़ा असमजस हुआ । सब ओर दीपक जलने आरम्भ हुए और शस्त्राम्त्रों में पारंगत यादव घोर कुछ क्षणों में ही युद्ध के लिये सुसज्जित हो गये । सात्यकि, बलराम, हार्दिक्य, निशठ, उद्धव तथा अन्यान्य महाबली और रणकुशल यादव गण बात की बात में तैयार होगये । वे सब प्रकार के युद्धों में निपुण यादव विभिन्न प्रकार के आयुधों को लेकर रथ, पैदल, घनुर्धर आदि के सहित मशाल लिये हुए नगर से बाहर आकर 'पौण्ड्र कहाँ है' ऐसा कहते हुए सब ओर फिरने लगे । उस समय रात्रि का सम्पूर्ण अंधकार मशालों के प्रकाश से नष्ट होगया ॥१-८॥

ततो वित्तिमिरो देशः समन्तात्यपद्यत ।

युद्धं समभवद्धोरं वृष्णिभिः शत्रुभिः सह ॥९

ततो महान्समभवत्सन्नादो रोमहर्षणम् ॥

हया हयैः समायुक्ता गजाश्च गजयुधपैः ॥१०

रथा रथैः समायुक्ता सादिभिः सादिनस्तथा ।
 खड्गिनः खड्गिभिः साद्धं गदिभिर्गदिनस्तथा ॥११॥
 परस्परव्यतीकरो रण आसीत्सुदारुणः ।
 महाप्रलयसंक्षोभः शब्दस्तेषां महात्मनाम् ॥१२॥
 धावन्तः प्रहरन्त्येतान्हन्त्येतान्सर्वतो नृपान् ।
 अयमेव महाबाहुः खड्गी पतति वीरवान् ॥१३॥
 अयमेव शरीरघोरो वर्ततेऽतिसुदारुणः ।
 गदी चायं महावीर्यं सर्वानो बाधते नृप ॥१४॥
 अयं रथी शरीचापी गदी तूणी तनुश्रवान् ।
 यादृशं सर्वतो याति कुन्तपाणिरयं बली ॥१५॥
 अयमत्र महाशूली संश्रितः सर्वतो दिशम् ।
 गजोऽयं सविपाणाग्रो वर्तते सर्वतः प्रति ॥१६॥

इसके पदचात् पीण्ड के सैनिकों और यादवों में भयंकर युद्ध छिड़ गया ।
 उस समय वीरों ने भीषण सिंहनाद किया जिससे समस्त दिशाएँ गूँजने लगी ।
 धोड़े, हाथी, रथ, गधे आदि सब अपने-अपने समान जोड़ वाले से भिड़ रहे थे ।
 राजा बाण खड्ग वाले से धनुषधर धनुषधर से युद्ध करते हुए वीर परस्पर में
 प्रतीकार करते हुए उरसाहूँ-पूँ-समाम में जुटे हुए थे । उनके उस समय के
 घोर शब्द से ऐसा प्रतीत होता था कि प्रलय काल का घोर निनाद हो रहा है
 ॥६॥ १२॥ उस समय सुनाई पड़ रहा था कि देखो, वे अत्यन्त वेगपूर्वक क्षपट्टा
 मारते हुए हम पर प्रहार करते हैं । कोई कहता था कि वह देखो उन राजाओं
 को वह मोढ़ा किस बुरी तरह मारे डाल रहा है । अरे, वह राजाधारी वीर तो
 इधर ही बढ़ा चला आ रहा है । उधर देतो, उसकी गदा कितनी भीषण और
 विनाश है, उसने डाय वह हम यहाँ तक पीछित कर रखा है । देखो वह रथी,
 वह बाण धारी वीर वह धनुषधारी किस वेग से धूम रहा है । वह गदा धारण
 किये, वह तरबस ओर बरष से गुमजित, वह पट्टिन घट्टन किये तथा वह
 भाला नियम हुए इधर उधर बिचर रहा है । वह देखो, महानुस लेकर वह वीर

सब ओर ताक रहा है, वह विशाल दातो वाला गजराज सब ओर झपट कर प्रहार करता हुआ घूमता है ॥१३ ॥१६॥

अतिसर्वज्ञ शूरो वेगवान्वातसन्निभ ।
 शराञ्छरं समाहन्ति दण्डान्दण्डजं गतते ॥१७
 कुन्तान्कुन्तं समाजघ्नुर्गदाभिश्च गदास्तथा ।
 परिधान्परिधं सार्द्धं शूलञ्छूलं समन्तत ॥१८
 एव तेषां महाराज कुर्वता रणमुत्तमम् ।
 संग्रामं सुमहानासीच्छब्दश्चापि महानभूत् ॥१९
 भूतानि सुबहून्याजौ शब्दवन्ति महान्ति च ।
 प्रादुरासन्सहस्राणि शङ्खानां भीमनि स्वन ॥२०
 राक्षो प्रादुरभूच्छब्द संग्रामे रोमहर्षण ।
 वर्तमाने महायुद्धे वृष्णीनां चैव तं सह ॥२१
 केचिद्गस्ता समापेतु पृथिव्या पृथिवीक्षित ।
 केचित्पतितश्लिष्टाश्च विप्रकीर्णशिरोधरा ॥२२
 पेतुर्व्यां महावीर्या राजान शस्त्रपाणय ।
 केचित्तां भिन्नवर्माणं समापेतु सहस्रधा ॥२३
 परस्परं समाश्रित्य परस्परवधैषिण ।
 न्यस्तशस्त्रा महारत्नान् समन्तात्क्षतविग्रहा ॥२४

उस योद्धा को देखो—वह वायु जैसे वेग से सब ओर झपटता हुआ बाण से बाण को काटता और दण्ड से दण्ड को ध्वंस करता है ॥१७॥ वह भाले वाला अपने भाले से उसके भाले को काट रहा है, वह गदा वाला विपक्षी की गदा में गदा भार रहा है परिध से परिध और शूल से शूल काटे जा रहे हैं ॥१८॥ हे राजन् ! इस प्रकार कुशलता पूर्वक युद्ध करते हुए वे बोर भयकर रूप से भिन्न रहे थे और उनके शब्द को ग्राह्य बन कर दिशाओं को गुंजित कर रहे थे ॥ १९ ॥ उस समय हजारों विहट आकार वाले भूत गण भयकर शब्द करते हुए वही आ उपस्थित हुए । उस भीषण रात्रि काल में युद्ध क्षेत्र में होने वाली

पंख-ध्वनि भयंकर हो उठी ॥ २०-२१ ॥ बहुत-से राजागण उस युद्ध में मृत्यु को प्राप्त होकर गिर गये । कुछ छिन्न केशो वाले नरेश रण भूमि में घराशायी होकर पहिले से ही पतित हुए धीरों के देह से भिड़ गये थे । २२॥ कुछ योद्धा शस्त्रों के हाथ में रहते हुए भी पतित हो गये और अनेक वीर कवच के विदीर्ण होने से मृत्यु को प्राप्त हुए घरती पर गिर गये ॥ २३॥ इस प्रकार उस युद्ध क्षेत्र में एक-दूसरे को मार डालने के लिये उद्यत हुए धीरों के शस्त्र प्रहार से आहत हुए बिना कोई भी नहीं रहा ॥ २४ ॥

पेतुर्गतासवः केचिद्यमराष्ट्रविवर्द्धनाः ।
 एवं ते निहता राजन्योद्धिताः सर्वे एव तु ॥ २५ ॥
 एतस्मिन्नन्तरे शूर एकलव्यो निपादपः ।
 धनुर्गृह्य महाधोरं कालान्तक्यमोपमः ॥ २६ ॥
 शरं रणेकसाहस्रं रदं यामाम यादवान् ।
 परं शतैः शराणां तु निशितं मर्मभेदिभिः ॥ २७ ॥
 वृष्णीनां च यत् सर्वं शोययामास सर्वतः ।
 युद्धघतः शस्त्रपाणीश्च क्षत्रियान्शौर्यवत्तरान् ॥ २८ ॥
 निशठं पञ्चविंशत्या शराणां नतपर्वणाम् ।
 सारणं दशभिर्विध्वा हादिक्यं पञ्चभिः शरैः ॥ २९ ॥
 उग्रसेनं नवत्याशु वसुदेवं च सप्तभिः ।
 उद्धवं दशभिश्च व ह्यक्रूरं पञ्चभिः शरैः ३० ॥
 एयमेकं कशः सर्वं निहता निशितैः शरैः ।
 विद्राव्य यादवी सेनां नाम विभ्राव्य वीर्यवान् ॥ ३१ ॥
 एकलव्यो यदुवृषान्वीर्यवान्बलवानहम् ।
 ददानीं सात्यकिर्वीरः यव यास्यति महाबलः ॥ ३२ ॥
 मदमत्तो हनी साप्तात्कथ यातीह गदाधरः ।
 द्रमाह गिहनादेन गिहान्विस्मानयन्निव ॥ ३३ ॥

हे रावण ! दारुण पुरी की धीवृद्ध करने वाले अनेकानेक योद्धागण

उस युद्ध क्षेत्र में काम आगये, वे सभी वीरता पूर्वक लड़ते हुए ही सद्गति को प्राप्त हुए थे ॥ २५ ॥ तभी कालान्तक के समान भयंकर निपादों का अधिपति एकलव्य अपने हाथ में एक भीषण तथा विशाल घनुष ग्रहण करके उस पर अत्यन्त तीक्ष्ण और मर्मभेदी हजारों बाणों के सवान द्वारा यादव सेना के सहार में प्रवृत्त हुआ । उसके प्रहार से सभी शस्त्रास्त्र चारी महाबली सत्रिय वीर व्रस्त हो उठे ॥२६-२८॥ फिर उसने अपने पच्चीस झुके हुए पर्व वाले बाणों के प्रहार से निशठ को, दस बाणों के प्रहार से सारण को तथा पाँच बाणों के प्रहार से हार्दिक्य को वीथ दिया ॥२९॥ फिर नव्वे बाणों से उग्रसेन को, सात बाणों से वसुदेव को, दस बाणों से उदव को और पाँच बाणों से अक्रूर को आहत कर डाला ॥३०॥ इस प्रकार उसने अपने तीक्ष्ण बाणों की मार से एक-एक कर सभी यादवों को वीथ कर गिरा दिया, जिससे समस्त यादव-सेना भाग खड़ी हुई । फिर उसने सिंहाव्य करते हुए कहा—मैं एकलव्य सम्पूर्ण यादव वीरों का विजेता हूँ । अब वह महाबली सात्यकि, और मदोन्मत्त गदाधर बलराम मेरे हाथों से कैसे बच सकते हैं ! यह कह कर वह बारबार गर्जना करने लगा, उसकी वह गर्जना सिंहीं को भी भयभीत करने वाली थी ॥३१-३२॥

॥ पोण्ड्रक सात्यकि संवाद ॥

निवृत्तोऽथ संन्येषु वृष्णिवीरेषु चैव हि ।
भीतेष्वथ महाराज हतेषु युधि सर्वतः ॥१॥
दोषिकासु प्रशान्तासु निशब्दे सति सर्वतः ।
जितमित्येव यन्मत्वा वृष्णीना वलमुत्तमम् ॥२॥
ततः पोण्ड्रो महावीर्यो वभाषे सैनिकान्स्वकान् ।
शीघ्रं गच्छत राजेन्द्राष्टङ्कैः कुन्तः पुरीमिमाम् ॥३॥
बुठारैः कुन्तलैश्चैव पापार्णैः सर्वतो दिक्षम् ।
क्वणस्यैः सुपापार्णैः सर्वतो यात भूमिपाः ॥४॥
भिद्यन्तां प्राकारक्षया प्रासादाश्च समन्ततः ।
गृह्यन्तां कन्दकाः सर्वा दास्यश्चैव समन्ततः ॥५॥

गृह्यन्ता वसुमुप्यानि घनानि सुवहून्यथ ।
 ते तथेति महात्मानो राजानः सर्व एव तु ॥६॥
 कुठारः सर्वे तश्चैव चिच्छिदुः पौण्ड्रकाक्षया ।
 प्राकाराश्चैव सर्वे त्व प्रासादान्नरसं चयान् ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! तब शेष रही यादव सेना और वृष्णिगण भाग खड़े हुए और वहाँ भशालो का प्रकाश भी नहीं रहा । सर्वप्रधान्ति ध्यागई, इसलिये पौण्ड्रक ने वृष्णियों को परास्त हुआ समस्त लिया और वह अपने सैनिकों से कहने लगा—हे वीरो ! अब तुम टक, गुन्त, कुठार, पापाण और कर्पणों आदि शस्त्राओं के साथ द्वारवापुरी में घुस कर वहाँ के सभी प्राकारों और अट्टालिकाओं को गिरा दो और सभी वन्याओं तथा दासियों को पकड़ लाओ ॥ १-५ ॥ उनकी प्रमुख सम्पत्तियों और श्रेष्ठ धनो पर तुरन्त अपना अधिकार कर लो । यह सुनते ही सैनिक कुठारादि औजारों तथा शस्त्रास्त्रों को लेकर वहाँ से चल दिये और उच्च अट्टालिकाओं तथा भवनो को सब ओर से गिराने लगे ॥ ६-७ ॥

अथ तत्र महाशब्दः प्रादुरासीत्समन्ततः ।
 दृष्ट्वेपु पात्यमानेषु प्राकारेषु महाबलः ॥८॥
 पूर्वं द्वारे महाराज भिन्नाः प्राकारसंचयाः ।
 श्रुत्वा शब्दं महाघोरं सात्यकिः क्रोधमुन्मिष्टः ॥९॥
 मयि सर्वं समारोप्य केशवो यादवेश्वरः ।
 गतः वैलागशिखरं द्रष्टुं शंकरमव्ययम् ॥१०॥
 अवश्यं हि भवा रक्षया पुरी द्वारावती त्वियम् ।
 इति न चिन्त्य मनसा धनुरादाय सत्वरम् ॥११॥
 रथं महाशक्तमारुह्य दाक्षस्य महात्मनः ।
 पुत्रेण संसृजतं घोरं यन्ता न स्वयमेव हि ॥१२॥
 धनुर्महत्तदादाय क्षरांश्चाग्नीषिपोऽगमात् ।
 आमुच्य यवचं घोरं क्षत्तसंपाज्जदुःसहम् ॥१३॥

ते समेत्य यथायोगं स्थितास्तत्र महाबलाः ।

स्थिते सैन्ये महाघोरे दीपिकादीपिते पथि ॥२१॥

शिनिर्वीरः शरी चापी गदी तूणीरवान्विभो ।

वायव्यास्त्रं समादाय योजयित्वा महाशरम् ॥२२॥

आकर्णं पूर्वं माकृष्य धनु प्रवरमुत्तमम् ।

मुमोच परसैन्येषु शिनिर्वीर प्रतापवान् ॥२३॥

धीरे-धीरे वह दीपक से प्रकाशित हुए क्षेत्र में पहुँच गये और उधर महाबली बलरामजी गदा और बाणादि से सुसज्जित होकर संग्राम के लिये चल पड़े । उस समय वह एक अत्यन्त तेजोमय रथ पर चढ़ कर भीषण गर्जना एवं चीत्कार कर रहे थे ॥१५-१६॥ सभी यादव श्रेष्ठ उद्धवजी भी युद्ध-नीति विषयक विचार करते हुए अपने अत्यन्त प्रिय तथा घोर गर्जन करने वाले श्रेष्ठ गजराज पर चढ़ कर युद्ध क्षेत्र के लिये अग्रसर हुए । उनके अतिरिक्त हादिक्य आदि अनेको यादव भगवान् श्रीकृष्ण के वचनों को याद करते हुए रथों और हाथियों आदि पर चढ़ कर घोर गर्जना करते हुए पुरी के पूर्वीय द्वार पर युद्ध के लिये इकट्ठे होने लगे, उन सभी ने भणालें जता रती थीं ॥१७-२०॥ इस प्रकार जब सम्पूर्ण यादव-सेना पुरी के पूर्वीय द्वार पर इकट्ठी हो गई तब महा-बली सात्यकि ने अपने विशाल धनुष पर वायव्यास्त्र चढ़ाया और उसे दानु-सेना को लक्ष्य करके छोड़ा ॥२१-२३॥

वायव्यास्त्रेण ते सर्वे तल्लस्या नरसत्तमाः ।

विजित ह्यस्त्रवीर्येण यत्र तिष्ठति पीण्डकः ॥२४॥

तत्र गत्वा स्थिताः सर्वे निद्रुता वातरंहगा ।

यत्र पूर्वं स्थिताः सर्वे विद्रुता राजसत्तमाः ॥२५॥

तत्र स्थित्वा च शं नेयः दारमादाय सत्यरम् ।

निक्षिप्तं गर्पभोगार्थं वभाषे मात्यकिम्तदा ॥२६॥

यव ददानो महाबुद्धिः पीण्डको राजसत्तमः ।

म्यिनोऽस्मि व्यवगायेन शरी चापी महाग्नयः ॥२७॥

यदि द्रष्टा दुरात्मान नतो हन्ता नृपाधमम् ।

भृत्योऽस्मि केशवस्याह जिघासु पौण्ड्रक स्थित ॥२८

तब उस एक अस्त्र की मार से ही प्राचीर आदि के तोड़ने में लगे हुए शत्रु पक्षीय सैनिक व्याकुल होगये और भयभीत होकर राजा पौण्ड्र के पास तेजी से चले ॥२४॥ वायव्यास्त्र के कारण वायुवेग से उड़ते हुए अनेकों राजागण भी पौण्ड्र के पास जाकर वही खड़े होगये, जहाँ युद्ध से भाग कर आये हुए बहुत से वीर पहिले ही आकर खड़े होगये थे ॥२५॥ उसी समय अपने धनुष पर नाग-फन के समान भयकर विष वाले एक अन्य बाण को चढाते हुए सात्यकि ने उच्च स्वर से कहा—मैं धनुष-बाण धारण करके युद्ध करने के लिये उपस्थित हूँ । इस समय वह महाबुद्धि, राजाओं में श्रेष्ठ पौण्ड्र कहीं निवास किये हुए हैं ? ॥२६ २७॥ मैं भगवान् श्रीकृष्ण का अत्यन्त तुच्छ सेवक राजा पौण्ड्र को मारने की इच्छा से यहाँ आया हूँ । यदि मैं उस नृपाधम को कहीं भी देख पाऊँ तो तत्काल ही उसका वध कर डालूँ ॥२८॥

ष्ठित्वा शिरस्तु तस्यास्य सर्वक्षत्रस्य पश्यत ।

बलिं दास्यामि गृध्रेभ्य श्वभ्यश्चैव दुरात्मन ॥२९

को नाम ईदृश कर्म चौरवच्च समाचरेत् ।

सुप्तेषु निशि सर्वं स यादवेषु महात्मसु ॥३०

चोरोऽप्य सर्वथा राजा न हि राजा बलान्वित ।

यदि शक्नो न कुर्याच्च चौर्यमेव नृपाधम ॥३१

अहोऽस्य बलिनो राज्ञश्चौरकायं प्रकुर्वते ।

सर्वथागमनं तस्य न हि पश्यामि साम्प्रतम् ॥३२

इत्युक्त्वा सात्यकिर्वीरं प्रजहास महाबल ।

विस्फार्य सुदृढं चापं कामुं के स दधे शरम् ॥३३

आकर्ष्य वचनं वीरं सात्यकेस्तस्य धीमत ।

क्व नु कृष्ण क्व गोपाल कुत सोऽप्य प्रवर्त्तते ॥३४

स्त्रोहन्ता पशुहन्ता च क्व स्वामीति सेवित ।

स इदानीं क्व वर्तेत गृहीत्वा मम नाम तत् ॥३५

में, इन सब क्षत्रियो की उपस्थिति में ही उसका शीश काट कर गिद्धों और दानवों को भक्षण करा दूँगा ॥२६॥ रात्रि काल में वीर यादवों के शयन करते हुए ऐसा कोन-सा बहादुर राजा होगा जो इस प्रकार चोर के समान कुत्सित कर्म करेगा ? ॥३०॥ इसलिये वह नृपाधम राजबल से सम्पन्न कदापि नहीं माना जा सकता, क्योंकि राजा कभी चोरो जैसा कार्य नहीं करते, इसलिये वह चोर ही है ॥ ३१ ॥ इस प्रकार के चौरवृत्ति परायण व्यक्ति के भुजबल की धिक्कार है, इस समय वह कहाँ जाकर छिप गया है ? ॥ ३२ ॥ यह कह कर वीर सात्यकि ने भीषण अट्टहास किया और अपने धनुष की खोल बर उस पर बाण सधान किया ॥३३॥ सात्यकि के वचनों से क्रोधित हुए राजा पौण्ड्र ने तुरन्त ही सामने आकर कहा—वह स्त्री हत्यारा, पशुओं का अधिक, गौओं का पालक और स्वयं को सर्वकर्ता समझने वाला कृष्ण इस समय कहाँ है, वह मेरे 'वासु-देव' नाम की ग्रहण करके कहाँ जा छिपा है ? ॥३४-३५॥

हन्ता सख्युर्महावीर्यो नरकस्य महात्मन ।
ममैव तात युद्धेऽस्मिन्हते तस्मिन्दुरात्मनि ॥३६॥
गच्छ त्व कामतो वीर योद्धु न क्षमते भवान् ।
अथ वा तिष्ठ किञ्चित्तु ततो द्रष्टाऽसि मे बलम् ॥३७॥
शिरस्ते पातयिष्यामि शरैर्घोरैर्दुर्वासदै ।
हतस्य तव वीरेह भूमि पास्यति शोणितम् ॥३८॥
श्रोप्यते ॥ तथा गोपो हत सात्यकिरित्यपि ।
यो गर्वस्तस्य गोपस्य सर्वदा वर्तते महान् ॥३९॥
विनश्यति न तु क्षिप्र हते त्वयि यदूत्तमम् ।
त्वयि रक्षा समादिश्य गोप कैलासपर्वतम् ॥४०॥
गत इत्येवमस्माभि श्रुत पूर्वं महामते ? ।
शर गृहाण निमित्त यदि शक्तोऽसि सात्यके ।
इत्युक्त्वा प्राणमादाय ययौ योद्धु व्यवस्थित ॥४१॥

उसी ने मेरे परम सखा नरनागुर की हत्या की बी, आज उत संग्राम

मे उसका वध करके ही मैं अपने घर को लौटूँगा ॥३६॥ हे सात्यके ! तुम मेरे समक्ष युद्ध करने में समर्थ नहीं हो, इसलिये अपने को मेरे समान न समझ कर तुम तुरन्त ही पलायन कर जाओ, अथवा एक क्षण युद्ध में ठहर कर मेरे पराक्रम को देख लो ॥३७॥ मैं अभी अपने सुतीक्ष्ण शरो के द्वारा तुम्हारे मस्तक को काट डालूँगा और तब यह रण भूमि तुम्हारे शोणित का पान करेगी ॥ ३८ ॥ वह ग्वाला तुम्हारे ही बल से गर्वित हो उठा है, परन्तु जब वह तुम्हारी मृत्यु का समाचार सुन लेगा, तब उसका गर्व नष्ट हो जायगा ॥ ३९ ॥ मुझे मालुम हुआ कि वह ग्वाला तुम पर द्वारकापुरी की रक्षा का भार देकर स्वयं कैलास पर्वत पर भाग गया है । इसलिये, यदि तुम्हें ही युद्ध करना है तो अपने बाण को संभाल कर आजाओ । यह कह कर पौण्ड्र बाण ग्रहण करके युद्ध के लिये प्रस्तुत हुआ ॥४०-४१॥

॥ पौण्ड्रक सात्यकि युद्ध [१] ॥

ततः क्रुद्धो महाराज सात्यकिर्वृष्णिपुङ्गवः ।
 उवाच वचनं राजन्वामुदेवं स्मरन्निव ॥१॥
 भवोच्चदीदृशं वाक्यं वासुदेवं नृपाधमः ।
 को नाम जगता नाधमित्थं ब्रूयाज्जिजीविषुः ॥२॥
 मृत्युस्त्वां सर्वथा याति वदन्तं तादृशं वचः ।
 जिह्वा ते शतधा दीर्याद्विदतस्तादृशं वचः ॥३॥
 एष ते पातयिष्यामि शिरः कायान्च पौण्ड्रक ।
 यन्नाम वासुदेवेति तव सप्रति वर्तते ॥४॥
 यावत्पतति कायात्ते शिरस्तावत्प्रवर्तते ।
 स एव श्वो न भगवान्वासुदेवो भविष्यसि ॥५॥
 एक एव जगन्नाथः कर्त्ता सर्वस्य सर्वगः ।
 दुरात्मन्सर्वथा देवो भविष्यति न सशयः ॥६॥
 एष तेऽहं शिरः कायात्पातयिष्यामि राजक ।
 यदसौ भगवान्विण्णुर्नागमिष्यति साम्प्रतम् ॥७॥

वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! फिर वृष्णि श्रेष्ठ सात्यकि ने अत्यंत क्रुद्ध होकर भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए उससे कहा—अरे, राजाओं में अघम ! ऐसा कौन होगा जो अपने जीवन को इच्छा रहते हुए भगवान् वासुदेव के प्रति ऐसे वंचन मुख से निकालेगा ? इस प्रकार के अनर्गल प्रताप के कारण तेरी जिह्वा के सँकड़ो खण्ड हो जायेंगे और मृत्यु तुझे अपना शिकार बना लेगी ॥ १-३ ॥ हे षोण्ड्र ! जब तक तुम्हारा शीश कट नहीं जाता, तब तक तुम अपने वासुदेव नाम के व्यामोह में पड़े रहोगे, इसलिये मैं तुम्हारा शिर उड़ा दूँगा और कल तक तुम्हारे दर्शन भी नहीं होंगे ॥४-५॥ जो एक ही जगदीश्वर, सब प्राणियों के उत्पन्न करने वाले और सर्वत्र गमनशील है, कल से एक मात्र वासुदेव भी वे ही रह जायेंगे ॥ ६ ॥ यदि भगवान् श्रीकृष्ण शीघ्र ही यहाँ नहीं आ सके तो फिर तुम्हारे शिर को मैं ही काट डालूँगा ॥७॥

अस्त्रवीर्यं बलं चैव सर्वं दर्शय साम्प्रतम् ।
 नातः परतरं राजन्वीर्यं च तव वर्तते ॥८
 सर्वं दर्शय यत्नेन स्थितोऽस्मि व्यवसायवान् ।
 शरी चापी गदी खड्गी सर्वथाऽहमुपस्थितः ॥९
 नैतन्नगरमायासीः सत्यमेतद्ब्रवीम्यहम् ।
 सर्वथा कृतकृत्योऽस्मि दृष्ट्वा त्वां वासुदेवकम् ॥१०
 तवाङ्गं तिलशः कृत्वा श्वभ्यो दास्यामि राजकम् ।
 इत्युक्त्वा बाणमादाय वासुदेवं महाबलः ॥११
 आकर्णपूर्णमाकृष्य विव्याध निशितं शरम् ।
 स तेन विद्धो यदुना वासुदेवः प्रतापवान् ॥१२
 वमच्छोणितमत्युष्णमङ्गान्नेत्रान्नृपोत्तम ।
 ततश्चु क्रोध नृपतिर्वासुदेवः प्रतापवान् ॥१३
 नवभिर्दशभिश्चैव शरैः सन्नतपर्वभिः ।
 विव्याध सात्यकिं राजा नदंश्च बहुधा किल ॥१४

तुम अपने सम्पूर्ण अस्त्र बल और पराक्रम का भले प्रकार प्रदर्शन कर

तो, क्योंकि थोड़ी देर में ही वह सब नष्ट होने वाला है । इसीलिये तो मैं धनुष, बाण, गदा और खड्ग आदि ग्रहण करके मैं तुम्हारे सामने डट गया हूँ ॥८-६॥ मैं तुमसे यह सत्य ही कह रहा हूँ कि अब तुम इस नगर में अपने प्रवेश करने की आशा को छोड़ दो । अहा, आज मैं तुम्हारे जैसे छद्मवेशी वासुदेव के दर्शन करके धन्य होगया हूँ । ॥१०॥ हे राजन् ! आज जबमें तुम्हारे देह के खण्ड-खण्ड कर दूँगा, सब श्वानगण इसका भोजन करेगे । यह कह कर सात्यकि ने एक सुतीक्ष्ण बाण का सघान करके पौण्ड्र पर छोड़ दिया । तब उन महाबली सात्यकि के बाण से बिध कर राजा पौण्ड्र अपने सभी अंगों और नेत्रादि से उष्ण दधिर प्रवाहित करता हुआ अत्यन्त कुपित होगया ॥११ १३॥ तब उसने विह्वल होकर धीरे गर्जना की और झुके हुए पर्व वाले नौ या दस बाणों के प्रहार से सात्यकि को बीध डाला ॥१४॥

ततो नाराचमादाय निशित यमसनिभम् ।
धनुराकृष्य भगवान्वासुदेवो नृपोत्तम ॥१५॥
विध्याध सात्यकिं भूयो निशि प्रह्लादयन्स्वकान् ।
नाराचेन समाविद्ध सात्यकिं सत्यसङ्कर ॥१६॥
ललाटे सुदृढ वीरो वृष्णीनामग्रणीस्तदा ।
निपसाद रथोपस्थे निश्चेष्ट इव सत्तम ॥१७॥
ततः स पौण्ड्रको राजा विद्ध्वा दशभिराशुम् ।
सारथिम्पञ्चविंशत्या हयाश्च चतुरो नृप ॥१८॥
ते हया रथिराक्तागा सारथिश्च समन्ततः ।
विह्वला समपद्यन्त वासुदेवस्य पश्यतः ॥१९॥
वासुदेवो रथे चापि सिंहनाद समाददे ।
तेन नादेन तस्माभूद्विबुद्ध सात्यकिनृप ॥२०॥
विद्वान्ह्यास्तथा दृष्ट्वा सारथिं च तथागतम् ।
शंनेयोऽयं महावीर्यो रपितो नृपसत्तम ॥२१॥
अल द्रक्ष्यामि ते वीर्यमित्युक्त्वा बाणमाददे ।
विध्याध येन बाणेन वक्षस्येन महाबल ॥२२॥

फिर उसने एक क्षण पीछे ही यम के समान भीषण एक और बाण संधान कर सात्यकि के शिर पर प्रहार किया । उससे वह सत्य-प्रतिज्ञ बौर सात्यकि गम्भीर घाव हो जाने से व्याकुल होकर मूर्च्छा को प्राप्त हुए और उसी अवस्था में अपने रथ पर बैठे रहे ॥ १५-१७ ॥ तभी पौण्ड्र ने दस बाणों के प्रहार से सात्यकि के सारथी को आहत किया और पच्चीस बाण चला कर रथ के अश्वों को भी घात डाला ॥ १८ ॥ इस आघात से सारथी और अश्वों के देह से रक्त प्रवाहित होने लगा, इससे वे व्याकुल हो उठे । यह देख कर पौण्ड्र घोर गर्जना करने लगा, परन्तु उसकी गर्जना सुन कर सात्यकि को चेत हो गया और अपने सारथी तथा घोड़ों की इस दशा को देख कर उन्हें अत्यन्त क्रोध हुआ और उन्होंने कहा — अच्छा, अब तुम्हारे पराक्रम को देखूंगा । यह कह कर उन्होंने एक श्रेष्ठ बाण ग्रहण करके, उसे संधान कर पौण्ड्र के हृदय को लक्ष्य किया ॥ १९-२२ ॥

ततश्चचाल तेनाजौ वासुदेवः शरेण ह ।
 सुस्ताव रुधिरं घोरमत्युष्णं वक्षसो नृप ॥२३॥
 रथोपस्थे पपाताशु निश्वसन्तुरगो यथा ।
 कृत्यं चापि न जानाति केवलं निपसाद ह ॥२४॥
 सात्यकिस्तु रथं विदध्या दशभिः सायकैस्तथा ।
 ध्वजं चिच्छेद भल्लेन वासुदेवस्य वृष्णिपः ॥२५॥
 हयांश्च चतुरो हत्वा बाणैः सारथिमेव च ।
 यूयुधानोऽथ राजेन्द्र पौण्ड्रकस्य च पश्यतः ॥२६॥
 सारथेश्च शिरः कायादहरत्स रथात्तदा ।
 रथग्रन्थि च चिच्छेद हयाश्च व्यसवोऽभवन् ॥२७॥
 चक्रं च तिलशः कृत्वा वाणं दंशभि रंहसा ।
 जहास विपुलं राजन्वामुदेवं महाबलः ॥२८॥

इस बाण के प्रहार से पौण्ड्र के हृदय से शीतल की उष्ण धारा प्रवाहित होने लगी और वह एक ओर को लुढ़क गया ॥ २३ ॥ तब वह फुंकार छोड़ते हुए नाग के समान श्वास छोड़ने लगा, उस समय उसका कर्तव्य-ज्ञान भी लुप्त

होगया ॥२४॥ यह अवसर देख कर सात्यकि ने दस बाण चला कर उसके रथ को जीर्ण कर दिया और एक भाले के प्रहार से उसकी ध्वजा भंग करके गिरा दी ॥२५॥ फिर उन्होंने बाणों की वर्षा करके पोण्ड्र के रथ के चारो घोड़े और सारथी का भी संहार कर दिया और फिर रथ को छिन्न-भिन्न कर डाला ॥२६-२७॥ तदनन्तर दस बाणों के प्रहार से उसके पट्टियों को तिल के समान खण्ड-खण्ड कर दिया और अट्टहास करने लगे ॥२८॥

ततः परं महत्कायं सात्यकिवृष्णिनन्दनः ।
 शब्दं कृत्वा बली साक्षात्सर्वक्षत्रस्य पश्यतः ॥२९॥
 शरैः साप्ततिसंख्याकरं दधामास सत्वरम् ।
 ते शराः शलभाकारा निपेतुः सर्वशस्तदा ॥३०॥
 शिरस्तः पार्श्वतश्च पृष्ठतः पुरतस्तथा ।
 केवलं धैर्यनिचयस्तृषातः शरवान्यथा ॥३१॥
 यथा मनस्वी रिक्तश्च तथा तिष्ठति पोण्ड्रकः ।
 ततश्चक्रोद्यत्तुल्यवान्वासुदेवः प्रतापवान् ॥३२॥
 अर्धचन्द्रं समादाय विव्याध युधि सात्यकिम् ।
 विद्ध्वा सप्तभिरायान्त क्रोधेन प्रस्फुरन्निव ॥३३॥
 विद्योऽथ सात्यकिस्तेन शरैः पञ्चभिराशुगैः ।
 चाप चिच्छेद पोण्ड्रस्य सिंहनादं व्यनीनदन् ॥३४॥

फिर उन्होंने भयकर चीत्कार की ओर समस्त राजाओं के देखते-देखते सत्तर बाणों के प्रहार से उस छद्मवेशी पोण्ड्र को बीध डाला । उस समय वे बाण अग्नि के प्लवंगों के समान सब ओर से गिरते हुए पोण्ड्र के मस्तक, पृष्ठ भाग, पार्श्व भाग और सामने की ओर घायल करने लगे ॥ २९-३१ ॥ जिस प्रकार कोई मनस्वी दानी सम्पूर्ण धन का दान करके खाली हाथ हो जाता है, वैसे ही बाणों से बिछा हुआ पोण्ड्र कुछ देर तक निस्तब्ध खड़ा रहा । कुछ कालो-परान्त कुछ स्वस्थ और अधिक क्रोधित होकर उसने अपने सात अर्धचन्द्राकार चारों को चढ़ा कर उन्हें सात्यकि पर टोका । इस प्रकार घायल होने पर

सात्यकि ने भी क्रोधपूर्वक अपने पाँच वेगवान् बाणों से पौण्ड्र का धनुष काट दिया और घोर गजना की ॥३२ ३४॥

वासुदेवो गदा गृह्य भ्रामयित्वा पदात्पदम् ।
 त्वरित पातयामास सात्यकेवक्षसि प्रभो ॥३५॥
 सव्येन ता समाकृष्य करेण यदुनन्दन ।
 शर प्रगृह्य विव्याध सात्यकिर्युधि पौण्ड्रकम् ॥३६॥
 तमन्तरे गृहीत्वाऽऽशु वासुदेव प्रतापवान् ।
 शक्तिभिर्दशभिश्चैव सात्यकिं निजघान ह ॥३७॥
 ताभिर्विद्धो रणे वीर सात्यकि सत्यस गर ।
 अपास्य धनुरन्यत्तद्धनुरादाय सत्वरम् ।
 आजघान तदा वीरो वृष्णीनामग्रणीर्नृप ॥३८॥

तभी पौण्ड्र ने अपनी गदा ग्रहण की और उसे वेग पूर्वक घुमा कर सात्यकि के हृदय पर दे मारी ॥३५॥ परन्तु सात्यकि ने अपने हृदय पर लगने से पूर्व ही उस गदा को अपने बाँए हाथ से धाम लिया और फिर अपने बाएँ की मार से पौण्ड्र को बीध डाला ॥ ३६ ॥ तदनन्तर पौण्ड्र ने भी दस शक्तियाँ एक साथ ग्रहण कर उनसे सात्यकि पर जोर से प्रहार किया ॥ ३७ ॥ सात्यकि उस प्रहार से अत्यन्त व्याकुल होगये, फिर भी उन्होंने एक धनुष ग्रहण करके पौण्ड्र पर भीषण बाण बर्षा आरम्भ कर दी ॥३८॥

॥ पौण्ड्रक सात्यकि युद्ध [२] ॥

तत क्रुद्धो गदापाणि सात्यकिर्वृष्णिनन्दन ।
 वासुदेव जघानाशु गदया तीक्ष्णया नृप ॥१॥
 सात्यकिं वासुदेवस्तु गदयाऽभ्यहनदबली ।
 तावुद्यतगदौ वीरौ शुशुभाते सुदारुणौ ॥२॥
 दृप्ती बने यथा सिंहौ परस्परवधं पिणो ।
 तत स सात्यकि क्रुद्ध सव्य मण्डलमागमत् ॥३॥

दक्षिण वासुदेवस्तु त जघान स्तनान्तरे ।
युयुधानोऽथ वीरस्तु बाह्वोर्मध्यमताडयत् ॥४॥
दृढ स ताडितो वीरो जानुभ्यामपतद्भुवि ।
तत उत्थाय वीरस्तु ललाटेऽभ्यहनद्गदाम् ॥५॥
विपण्ण किञ्चिदास्थाय तत उत्थाय सत्वरम् ।
गदयाऽभ्यहनद्वीर सात्यकि पौण्ड्रसत्तामम् ॥६॥
वासुदेवो बलिर्वीर साक्षान्मृत्युरिवापर ।
जघान गदया वृष्णि निर्दहन्निव चक्षुषा ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! तभी वृष्णि थोड़ा सात्यकि ने अत्यन्त क्रोध पूर्वक उस छद्म नाम धारी वासुदेव पर अपनी तीक्ष्ण गदा चलाई ॥१॥ उसी समय पौण्ड्र ने भी सात्यकि पर अपनी गदा से प्रहार किया । इस प्रकार गदा युद्ध करते हुए वे दोनों महावीर परस्पर में वध करने की कामना से वन में घूमने वाले दो सिंहों के समान प्रतीत होते थे । तभी सात्यकि ने मण्डल बना कर पेटरे बदलना आरम्भ किया और अपने दक्षिण पार्श्ववर्ती पौण्ड्र के हृदय पर गदा वा भीषण प्रहार कर दिया । उससे अत्यन्त घायल हुआ पौण्ड्र पृथिवी पर बैठ गया और थोड़ी देर बाद सभल कर उठा, तब उसने तत्काल ही सात्यकि के तिर पर गदा से प्रहार कर दिया ॥२॥ इस प्रहार से विपण्ण हुए सात्यकि गिर कर तुरन्त ही उठ पड़े और उन्होंने पौण्ड्र पर गदा से भीषण प्रहार किया । उस समय यमराज के समान भयंकर हुआ पौण्ड्र सात्यकि पर इस प्रकार दृष्टिपात करने लगा, जैसे उन्हें नेत्रों की अग्नि से ही भस्म कर देगा ॥६-७॥

स तया ताडितो वृष्णिर्गदया बाहुमुक्तया ।
बालम्ब्य भूमिं सहसा मृत्योरङ्कुगतो यथा ॥८॥
सज्ञा पुन स्रमालम्ब्य पाणिभ्यां दृढमेव च ।
गदा तस्य महाराज गृहीत्वा प्रग्रहेण ह ॥९॥
द्विधा मृत्वा महानुर्वी गदा बालायसी शुभाम् ।
सन्मृग्य सहसा वीर सिंहनाश व्यनीनदत् ॥१०॥

तत उत्सृज्य राजा तु वासुदेवो महाबल ।
 सव्येन सात्यकिं गृह्य दक्षिणेन करेण ह ॥११
 मुष्टिं दृत्वा महाघोरा वासुदेव प्रतापवान् ।
 ताडयामास मध्ये तु स्तनयो सात्यकेनृप ॥१२
 शैनेयो वृष्णिबोरस्तु गदामुत्सृज्य सत्वरम् ।
 तलेनाभ्यहनद्वीरो वासुदेव रणाजिरे ॥१३
 तलेन वासुदेवोऽपि सात्यकिं सत्यस गरम् ।
 तयोरव महाघोर तलयुद्ध प्रवर्तते ॥१४

तभी उसने सात्यकि पर पुन गदा-प्रहार किया, जिसके कारण वह बे-
 होश होकर पृथिवी पर मृतक के समान बंठ गये ॥१॥ हे राजन् ! कुछ देर
 में ही उनकी झूठई नष्ट हो गई और तब उन्होंने उठ कर पौण्ड्र की वह मृत्यु-
 भारी गदा उसके हाथ से छीन ली और उसके दो खण्ड करके घोर गर्जना करने
 लगे ॥१६-१७॥ तभी उस महाबली राजा पौण्ड्र ने अपने बाएँ हाथ से सात्यकि को
 पकड़ कर उनके हृदय में अपने दाएँ हाथ की मुष्टिका से प्रहार किया ॥ ११-
 १२ ॥ तभी सात्यकि ने अपनी गदा फेंक दी और पौण्ड्र के मुख पर एक जोर
 का समाचा जड़ दिया ॥१३॥ इस पर पौण्ड्र ने भी सात्यकि के धप्पड़ मारा ।
 इस प्रकार अब दोनों ही वीर धप्पड़-भार युद्ध में प्रवृत्त हुए ॥१४॥

जानुभ्या मुष्टिभिश्चैव बाहुभ्या शिरसा तदा ।
 उरसोर समाहत्य जानुभ्या जानुनी तथा ॥१५
 कराभ्या करमाहत्य तौ युद्ध सप्रचक्रतु ।
 तालयोस्तत्र राजेन्द्र वृक्षयो सनिकर्षयो ॥१६
 वने यथाऽग्निरुत्पन्नस्तथैवाभून्महास्वन ।
 तावाजौ प्रथितौ वीरावुभौ पौण्ड्रकसात्यकी ॥१७
 निशि स्तिमितमूकाया शस्त्र त्यक्त्वा महावली ।
 युयुधाते महार गे मल्लो द्वाविव विश्रुतौ ॥१८

उभे सेने महाराज्ञोः संशयं जग्मतुस्तदा ।

किं नु स्यात्सात्यकिर्वीरो हतस्तेन भविष्यति ॥१६

आहोस्विद्वामुदेवस्तु हतस्तेन महात्मना ।

अद्य वै तो महावीरो परस्परवधैषिणी ॥२०

युध्यमानो महावीरो नरो स्वर्गं गमिष्यतः ।

अन्यथा नोपरम्येतां युद्धाद्वीरो सुनिश्चितौ ॥२१

घण्ट-मार युद्ध के पश्चात् दोनों वीर घुटनों से घुटनों में प्रहार करते, मुक्के से मुक्का मारने, भुजा से भुजा, हृदय से हृदय और मस्तक से मस्तक को टकराते हुए युद्ध में प्रवृत्त थे । हे राजन् ! जिस प्रकार वन में स्थित दो ताल वृक्षों के धर्पण से अग्नि उत्पन्न होने पर शब्द होता है, वैसे ही उनके सघर्ष से शब्द निकल रहा था । फिर उस रात्रि काल में ही वे दोनों प्रसिद्ध रणवीरों ने दो प्रसिद्ध मत्तों के समान युद्ध करने लगे ॥ १५-१८ ॥ वे दोनों ही वीर अत्यन्त भयंकर रूप से युद्ध में लगे हुए थे, उस समय उभय पक्ष के व्यक्ति यह समझने लगे कि आज या तो सात्यकि पीण्ड को मार देगा अथवा पीण्ड के द्वारा सात्यकि मारा जायगा । क्योंकि यह दोनों वीर एक दूसरे का वध करने के लिये कटिबद्ध हैं ॥ १६-२० ॥ या यह दोनों ही इस युद्ध में मृत्यु को प्राप्त होकर स्वर्ग-गमन करेंगे अथवा यह दोनों इसी प्रकार न जानें कब तक युद्ध करते रहेंगे ॥२१॥

अहो वीर्यमहो धैर्यमेतयोर्वनशालिनोः ।

एतो महाबली लोके एतो प्रकृतिसत्तमौ ॥२२

नैवं युद्धं महाघोरमासीद्देवामुरेध्वनि ।

न श्रुतो न च वा दृष्टः संग्रामोऽयं कदाचन ॥२३

एते वै सैनिका ग्रूयः सेनयोरुभयोरपि ।

राप्सो निशोये मेघोये दृष्ट्वा युद्धं गुदारुणम् ॥२४

अयं तो बाहुभिर्वीरो संनिपेततुरज्जसा ।

दशभिर्मुष्टिभिर्जघ्ने सात्यकिः पीण्डकं तदा ॥२५

पञ्चभिः सात्यकिः पीण्डः समाजघ्ने महाबलः ।

तयोश्चटचटानन्दो ग्रह्याण्डशोभणो महान् ।

प्रादुरासीत्त सयेन सर्वोन्मिदनापर्वान्व ॥२६

देखो, यह दोनो वीर कैसे पराक्रमी और धैर्यवान् हैं, यथार्थ रूप से तों सम्पूर्ण जगत् मे यह दो पुरुष ही बल सम्पन्न दिखाई देते हैं ॥ २२ ॥ देवासुर-संग्राम में भी कभी ऐसा युद्ध हुआ हो, यह बात न कभी देखी और न सुनी हो गई ॥ २३ ॥ हे राजन् ! उस भीषण रात्रि काल मे आकाश मे बादल छाये हुए थे, तभी उन्हें बैसा भयंकर युद्ध करते देख कर दोनों पक्ष के सैनिको ने उपरोक्त विचार प्रकट किये थे ॥२४॥ तभी वे दोनो वीर मल्लयुद्ध करते हुए पृथिवी पर गिर पड़े, उस दशा मे भी सात्यकि ने पौण्ड्र पर दस मुक्को से और पौण्ड्र ने सात्यकि पर पाँच मुक्को से प्रहार किया । उस मुष्टिका-प्रहार के शब्द से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड क्षुब्ध होगया, जिससे सभी लोक आश्चर्य चकित होगये ॥२५-२६॥

॥ एकलव्य की सेना संहार ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्ध एकलव्यो निशादपः ।
 बलभद्रमभि क्षिप्रं धनुरादाय सत्वरम् ॥१॥
 नाराचं दशभिर्विदध्वा बाणेश्च दशभिः परैः ।
 चिच्छेद धनुरद्धं तत्सर्वं क्षत्रस्य पश्यतः ॥२॥
 सूतं दशभिराहत्य रथं त्रिशद्विरेव च ।
 ध्वजं चिच्छेद भल्लेन निपादस्य जगत्पतिः ॥३॥
 ततः परं महच्चापं निपादो वीर्यसंमतः ।
 दृढमौर्ध्या समायुक्तं दशतालप्रमाणतः ॥४॥
 कामपाल शरेणाशु जघान जनमध्यतः ।
 बलदेवो महावीर्यः सर्पः शेष इव श्वसन् ॥५॥
 दशमिस्मदनुदिव्यं शरैः सर्पसमैर्वलः ।
 चिच्छेद मुष्टिदेशे तु माघत्रो माघवाग्रजः ॥६॥
 एकलव्यो निपादेशः पद्ममादाय सत्वरः ।
 प्राहिणोद्वलमादाय निशितं घोरविग्रहम् ॥७॥
 तमन्तरे षट्पूर्वो वृष्णिवीरः प्रतापवान् ।
 तिलशः पञ्चभिर्वाणैश्चकार यदुत्तमः ॥८॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! उधर निपाद राज और बलरामजी का जो युद्ध चल रहा था, उसमें फ्रीधित हुआ एकलव्य धनुष ग्रहण करके बलरामजी की ओर वेग से बढ़ा ॥ १ ॥ तभी बलरामजी ने दस बाणों के प्रहार से एकलव्य को आहत कर दिया और दस बाण पुनः छोड़ कर उसके धनुष के टुकड़े कर दिये ॥२॥ फिर उन्होंने दस बाणों के प्रहार से सारथी को मार डाला और तीन बाणों से उसका रथ ध्वस्त कर दिया । फिर उन्होंने एक भाला मार कर एकलव्य की ध्वजा खंडित कर दी ॥३॥ फिर महाबली एकलव्य ने सुदृढ प्रयत्न बाला तथा दस ताल ऊँचा एक अन्य धनुष ग्रहण करके बलरामजी की भीषण दिया । तब बलरामजी ने भी एक दीर्घ फुंकार छोड़ते हुए सपें के समान बाणों से एकलव्य के धनुष का मुष्टिदेश छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ ४-६ ॥ फिर निपादराज ने भी शीघ्रतापूर्वक एक महती खड्ग लेकर बलरामजी पर वेग से प्रहार किया, परन्तु बलरामजी ने उस खड्ग का बार होते होते ही उसे पाँच बाणों के लक्ष्य से टुकड़े-टुकड़े कर दिया ॥७-८॥

ततोऽपरं महत्प्रडम् सर्वकालायसं शुभम् ।
 प्राहिणोत्सारथेः कायमालोक्याय निपादजः ॥६॥
 तं चापि दशमिवीरो माघवो यदुनन्दनः ।
 बाह्वोरन्तरयोश्च व निर्विभेद महारणे ॥१०॥
 ततः शक्तिं समादाय घण्टामालाकुला नृप ।
 निपादो बलदेवाय प्रेषयित्वा महाबलः ॥११॥
 सिंहनादं महाघोरमकरोत्स निपादपः ।
 सा शक्तिः सर्वकल्याणी बलदेवमुपागमत् ॥१२॥
 उत्पतन्ती महाघोरा बलभद्रं प्रतापवान् ।
 आदायाय निपादेशं सर्वान्निस्मापयन्निव ॥१३॥
 तयैव तं जघानाशु वक्षोदेशे च माघवः ।
 स तया ताडितो वीरः स्वशक्त्याय निपादपः ॥१४॥
 विह्वलः सर्वगात्रेषु निष्पात महीतले ।
 प्राणसंशयमापन्नो निपादो रमताडितः ॥१५॥

यह देख कर एकलव्य ने काले सोहे का एक अन्य खड्ग ग्रहण कर उससे बलरामजी के सारथी पर प्रहार किया, परन्तु उन्होंने उस खड्ग को भी दस बाण चला कर छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित कर दिया ॥ ६-१० ॥ फिर एकलव्य ने घण्टामाल से युक्त एक शक्ति ग्रहण कर बलरामजी के ऊपर घसाई और फिर घोर गर्जना करने लगा । परन्तु, सब का कल्याण करने वाली उस शक्ति को अपने निकट आते ही बलरामजी ने हाथ से पकड़ लिया और फिर उसी शक्ति से उन्होंने एकलव्य के हृदय पर प्रहार किया । बलरामजी की यह शूरता देख कर सभी उपस्थित जन आश्चर्य करने लगे और एकलव्य अपनी ही शक्ति से धायल होकर अत्यन्त व्याकुल होकर पृथिवी पर लुडक पड़ा, उस समय उसकी मरणासन्न अवस्था होगई ॥११-१५॥

निपादास्तस्य राजेन्द्र शतशोऽथ सहस्रश ।
 अष्टाशीतिसहस्राणि निपादास्तस्य योधिन ॥१६
 गदिन. खङ्गिनश्चैव महेष्वासा महाबलाः ।
 शरैरेनेकसाहस्रैः शक्तिभिश्च परश्वधैः ॥१७
 गदाभिः पट्टिशैः शूलैः परिधैः प्रासतोमरः ।
 कुन्तैरथ कुठारैश्च यादवाना महौजसाम् ॥१८
 शलभा इव राजेन्द्र दीप्यमान हुताशनम् ।
 ते शरैः पातयाचक्रू राम राममिवापरम् ॥१९
 केचित्कुठारं राजघ्नु केचित्कुन्तैः परश्वधैः ।
 गदाभिः केचिदाघ्नन्ति शक्तिभिश्च तथा परे ॥२०

एकलव्य की ऐसी बुद्धि देख कर उसने बट्ठासी हजार अत्यंत मजबूत सैनिक गदा, तलवार, घनुष, बाण, परसा, पट्टिश, शूल, परिध, प्रास, तोमर, भाले, कुठार प्रभृति अनेकानेक शस्त्रास्त्र ग्रहण कर शलभ के अग्नि की ओर जाने में समान ही, यादवों पर दोह पड़े और तुरन्त ही वे बलरामजी पर अपने विभिन्न शस्त्रास्त्रों से प्रहार करने लगे ॥१६-२०॥

निजघ्नुः सहस्रा रामं स्फुरन्तं पावकं यथा ।
 ततः क्रुद्धो हली साक्षाद्वलमुद्यम्य सत्वरम् ॥२१॥
 सर्वानाकर्षयामास मुसलेन हि पीडयन् ।
 सेहन्यमाना राजेन्द्र निषादाः पर्वताश्रयाः ॥२२॥
 निपेतुर्धरुणीपृष्ठे शतशोऽथ सहस्रशः ।
 क्षणेन तन्महाराज हत्वा सर्वान्महाबलान् ॥२३॥
 सिंहवद्वचनदं स्यत्र तस्यौ रामो महाबलः ।
 ततो रात्रौ महाघोराः पिशाचाः पिशिताशनाः ॥२४॥
 आकृष्य शवयूथानि भक्षयन्तः समासते ।
 पिबन्तः शोणितं कोष्ठात्स छिद्य च शव बहु ॥२५॥

उस सेना के प्रहारों से क्रोधित हुए बलरामजी ने अपना हल उठाया और उससे उन निषाद-सैनिकों को एक-एक कर खींचते और मूल मार कर कुचलने लगे । हे राजन् ! बलरामजी के इस कार्य से कुचने जाते हुए सैकड़ों हजार निषाद मर-मर कर पृथिवी पर गिर गये । इस प्रकार क्षण भर में ही सम्पूर्ण निषाद-सेना नष्ट होगई तब बलरामजी घोर गर्जना करने लगे । उस भयकर रात्रि काल में अतंश पिकाच रणक्षेत्र में शवों को नोच-नोच कर उनका मास-भक्षण और तद्विर पान करते हुए घूमने लगे ॥२१-२५॥

॥ बलदेव-एकलव्य युद्ध ॥

क्रव्यादाः सर्वे एवाणु भक्षयन्तस्तदा शवम् ।
 हसन्तो विविधं घोरं नादयन्तो वसुंधराम् ॥१॥
 राक्षसाश्च पिशाचाश्च पिबन्तः शोणितं बहु ।
 आशिखं भुञ्जते राजञ्छवस्य पिशिताशनाः ॥२॥
 नृत्यन्ति स्म तदा राजन्नगर्या रणतोपिताः ।
 काका बलाका गृध्राश्च श्येना गोमायवस्तथा ॥३॥
 भक्षयन्तः प्रवर्तन्ते राक्षसाश्चैव दारुणाः ।
 एतस्मिन्नन्तरे वीरो निषादो सद्यःसङ्गकः ॥४॥

हृतान्सर्वान्समालोक्य निपादान्नगचारिणः ।

गदामादाय कुपितो राममेव जगाम ह ॥१॥

जघान गदया राजश्छत्रदेशे निपादपः ।

ततो रामो गदी राजन्निपाद बाहुशालिनम् ॥६॥

आजघ्ने गदया क्रूरं मदमत्तो हलायुधः ।

तयोश्च तुमुलं युद्धं गदाभ्यां समवर्त्तत ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! उस समय वे मातभोजी पिशाचगण जिस प्रकार अट्टहास कर रहे थे, उससे सम्पूर्ण घरातल गुंजित हो गया ॥ १ ॥ सभी मास लोलुप राक्षसगण अत्यन्त रक्त पीकर और मांस भक्षण कर आनन्द से नृत्य करने लगे । उसी प्रकार काक, बलाक, गृध्र, बाज और शृगाल इत्यादि तृप्त होकर इधर-उधर झपट रहे थे । इसी अवसर पर निपादपति एबलव्य की चेतना लौट आई ॥ २-४ ॥ तब उसने अपनी सम्पूर्ण सेना को छिन्न-भिन्न और भृत्यु को प्राप्त हुई देखा तो उसे अत्यन्त क्रोध हुआ और वह अपनी गदा उठा कर तेजी से बलरामजी की ओर दौड़ा ॥५॥ जैसे ही वह बलरामजी के पास पहुँचा, वैसे ही उसने उनके कंधे पर वेग पूर्वक गदा का प्रहार किया । फिर बलरामजी ने भी अपनी गदा उठा कर वेग से चलाई । इस प्रकार उन दोनों वीरों में गदा युद्ध आरम्भ होगया ॥६-७॥

आकाशे शब्द आसीत् तयोर्द्वे महाभुज ।

समुद्राणां तथा धोपः सर्वेषां सन्निगच्छताम् ॥८॥

कल्पदाये महाराज शब्दः सुतुमुलोऽभवत् ।

क्षोभितो नागराजश्च नागाः क्षोभं समाययुः ॥९॥

पृथिवी चान्तरिक्षं च सर्वं शब्दमयं बभौ ।

ततः ऋषीन्द्रो राजा सात्यकि वृष्णिनन्दनम् ॥१०॥

गदयैव जघानाणु सत्तरं रणशोविदः ।

युयुधानो बली राजन्वामुदेवं जघान ह ॥११॥

तयोश्च तुमुलः शब्दः प्रादुरासीन्महारणे ।

चतुर्णां प्रध्वता राजम्बरस्परवर्धपिणाम् ॥१२॥

ब्रह्माण्डक्षोभणो राजञ्छब्द आसीत्सुदारुण ।
 तत रज प्रादुरभूत्तस्मिन्सग्राममूर्धनि ॥१३॥
 तारका निष्प्रभा राजस्तमस्येव क्षय गते ।
 उपसि प्रतिबुद्धाया ततो नि शेषता ययौ ॥१४॥
 उदितो भगवान्सूर्यश्चन्द्रश्च क्षयमाययौ ।
 तयोर्मुद्ध प्रादुरभूच्चतुर्णां बाहुशालिनाम् ।
 देवासुरसम राजन्नुदिते भास्करे महत् ॥१५॥

तब वे दोनों ही महावीर उस गदा युद्ध में लगे रहे और उनकी गदाओं को टक्कर अथवा एक दूसरे के शरीर में लगने से जो शब्द होता था, वह आकाश तक की व्याप्त कर देता था । जैसा शब्द प्रलय कालीन समुद्रों के उत्प्लवन से उनकी एकाकारिता द्वारा उठने लगता है वैसा ही शब्द उनके गदा युद्ध में होने लगा था । उस विकराल शब्द से नागगण और उनके अधीश्वर भगवान् क्षोभ भी क्षुब्ध होगये थे ॥ ८ ॥ पृथिवी और नभ-सर्वत्र ही वह भीषण शब्द भूँज रहा था । उसी समय पौण्ड्र ने भी सात्यकि पर अत्यन्त वेगपूर्वक अपनी गदा चलाई, तभी युयुधान ने भी राजा पौण्ड्र पर भीषण गदा प्रहार किया ॥१०-११॥ इस प्रकार यह सभी महाबली परस्पर में एक दूसरे को मल्ट करने की अभिलाषा से घोर सग्राम कर रहे थे ॥ १२ ॥ उस सग्राम से उठने वाले भीषण शब्द ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को क्षुब्ध कर दिया था । उस युद्ध क्षेत्र में धारे धीरे उत्पन्न हुईं पूल ने आकाश की व्याप्त कर सम्पूर्ण तारामण्डल को ढक दिया, जिससे सर्वत्र अधिकार का साम्राज्य छागया कहीं कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था । वह अधिकार प्रातः काल होने पर मिट गया ॥ १३-१४ ॥ उस समय पश्चिम में चन्द्रमा अस्त हुआ और प्राची में सूर्योदय होगया, तब भी उन महारथियों का युद्ध मयानक रूप से एवं निरंतर चलता रहा ॥१५॥

॥ श्रीकृष्ण पौण्ड्र युद्ध ॥

तत प्रभाते विमले भगवान्देवकीसुन ।
 गतुर्मच्छजगन्नाथ पुर वदरिकाश्रमात् ॥१॥

नमस्कृत्य मुनीन्सर्वान्ययी द्वारवती नृप ।
 आरुह्य गरुडं विष्णुर्वेगेन मङ्गता प्रभु ॥२॥
 सुमहाञ्छुश्रु वे शब्दस्तेषा युद्धं प्रकुर्वताम् ।
 गच्छता देवदेवेन पुरी द्वारवतीं नृप ॥३॥
 अचिन्तयज्जगन्नाथ को न्वय शब्द उत्थितः ।
 संग्रामसंभवो घोर आर्यशर्नेयसयुत ॥४॥
 व्यक्तमागतवान्पोण्ड्रो नगरी द्वारकामनु ।
 तेनप्युद्धं समभवत्पोण्ड्रकेण दुरात्मना ॥५॥
 यदूना वृष्णिशीराणा युद्धघतामितरेतरम् ।
 शब्दोऽयं सुमहान्व्यक्तो नात्र कार्या विचारणा ॥६॥
 इत्येव चिन्तयित्वा तु दध्मौ शङ्खं महारवम् ।
 पाञ्चजन्यं हरिं साक्षात्प्रीणय-वृष्णिपुङ्गवान् ॥७॥
 रोदसी पूरयामास तेन शब्देन केशवः ।
 यादवा वृष्णयश्चैव श्रुत्वा शङ्खस्य ते रवम् ॥८॥
 व्यक्तमायानि भगवान्पाञ्चजन्यरवो ह्ययम् ।
 इति ते मेनिरे राजन्वृष्णयो यादवास्तथा ॥९॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् । स्वच्छ प्रभात की उपस्थिति पर जगन्नाथ भगवान् श्रीकृष्ण ने बदरीवन से द्वारकापुरी जाने का विचार किया ॥ १ ॥ उस समय उन्होंने वहाँ उपस्थित हुए मुनिजनों से नमस्कार पूर्वक विदा लेकर अपने गरुड वाहन द्वारा बड़े वेग से प्रस्थान किया ॥२॥ द्वारका के निकट पहुँचने पर उन्हें दूर से ही उस महा भयंकर युद्ध का कोलाहल सुनाई देने लगा ॥३॥ उस शब्द को सुन कर वे विचार करने लगे कि यह कोलाहल कहाँ हो रहा है ? मैं समझता हूँ कि उसमें सात्यकि की ललकार का शब्द भी सम्मिलित है ॥४॥ इससे प्रतीत होता है कि पोण्ड्र अवश्य ही द्वारका पर चढ़ आया है, जिसकी रक्षा के लिये सात्यकि का उससे युद्ध हो रहा है । निस्संदेह यह कोलाहल उसी संग्राम का है ॥५-६॥ यह सोच कर उन्होंने वृष्णियों का उत्साह बढ़ाने के उद्देश्य से अपने पाञ्चजन्य को बजा कर घोर शब्द किया, जिससे सम्पूर्ण नम-

मण्डल परिपूर्ण होगया । उस शख-ध्वनि को सुन कर सब यादवों और वृष्णियों ने सोचा कि यह पाञ्चजन्य शंख की ही ध्वनि है, इससे प्रतीत होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ आ पहुँचे हैं ॥७-६॥

निर्भयाः समपद्यन्त वृष्णयो यादवाश्च ते ।
तस्मिन्नेव क्षणे दृष्टस्ताक्ष्यं च पतता वरः ॥१०॥

ततश्च देवकीसूनुर्दृष्टैर्याश्वेश्वरः ।
सूताश्च मागधाश्चैव पुरा यान्ति जगत्पतेः ॥११॥

स्तुत्या स्तुतं हरिं विष्णुमीश्वरं कमलेक्षणम् ।
ततश्च यादवाः सर्वे परिव्रज्य नार्हन्म ॥१२॥

कृष्णस्तु गरुडं भूयो गच्छ त्वं नाकमुत्तमम् ।
इत्युवाच गरुडं विष्णुविसृज्य यदुनन्दनः ॥१३॥

दारुणं पुनराहेदं रथमानय मे प्रभो ।
स तथेति प्रतिज्ञाय रथमादाय सत्वरम् ॥१४॥

रथोऽयं भगवन्देव किमत्र कृत्यमस्ति मे ।

इत्युक्त्वा रथमादाय प्रणम्याग्ने स्थितो हरेः ॥१५॥

उस समय सभी यादवों में नवीन साहस और उत्साह भर गया, उनका भय दूर होगया । सभी गरुडजन्म भगवान् यादवेश्वर श्रीकृष्ण सब के देखते-देखते वहाँ आगये । उनके आते ही मृतों और बन्दीजनों ने आगे बढ़ कर उनकी स्तुति की ॥ १०-११ ॥ फिर यादवगण उन्हें सब ओर से घेर कर रुके होगये । उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने गरुड से उनसे हुए कहा—हे गरुड ! तुम अब स्वर्ग लोका के लिये प्रस्थान करो । यह कहने पर गरुड वहाँ से चले गये, तब उन्होंने अपने सारथी को पुकारा—हे दारुण ! तुम मेरे रथ को शीघ्र यहाँ लाओ । दारुण ने 'जो आज्ञा' कह कर तुरन्त ही रथ लाकर उनके आगे रखा कर दिया और बोला ॥१२-१४॥ हे भगवन् ! यह रथ उपस्थित है, अब आगे या कर्त्तव्य बताइये । यह कहता हुआ दारुण उनके सामने स्थित हुआ ॥ १५ ॥

गतेऽथ गरुडे विष्णू रथमारुह्य सत्वरम् ।
 यत्र युद्धं समभवत्तत्र याति स्म केशवः ॥१६॥
 तत्र गत्वा महाराज युध्यतां च महात्मनाम् ।
 पाञ्चजन्यं महाशंखं दध्मौ यदुवृषोत्तमा ॥१७॥
 पौण्ड्रोऽथ वासुदेवस्तु कृष्णं दृष्ट्वा रणोत्सुकम् ।
 सात्यकिं पृष्टतः कृत्वा वासुदेवमुपागमत् ॥१८॥
 क्रुद्धोऽथ सात्यकी राजन्वारयामास पौण्ड्रकम् ।
 न गन्तव्यमितो राजन्नेष धर्मः सनातनः ॥१९॥
 जित्वा मां गच्छ राजेन्द्र परं योद्धुं महारणे ।
 क्षत्रियोऽसि महावीर स्थिते मयि रणोत्सुके ॥२०॥
 एष ते गर्वमखिलं नाशयिष्यामि संयुगे ।
 इत्युक्त्वा चाग्नतस्तस्थौ गच्छतो यादवेश्वरः ॥२१॥

गरुड के प्रस्थान करने पर भगवान् श्रीकृष्ण उस रथ पर चढ़ कर क्षर्त्यत वेगपूर्वक युद्ध क्षेत्र की ओर अग्रसर हुए ॥१६॥ वहाँ असंख्य वीरों के मध्य में पहुँच कर उन्होंने अपने पाञ्चजन्य शंख की ध्वनि की ॥१७॥ इस प्रशार भगवान् श्रीकृष्ण को युद्ध के लिये तत्पर देख कर राजा पौण्ड्र ने सात्यकि को छोड़ कर श्रीकृष्ण का सामना किया ॥१८॥ तब उसे सात्यकि ने क्रोध पूर्वक जल-कारा—हे राजन् ! मुझ लड़ते हुए को छोड़ कर अन्य के पास जाकर भिटना बड़ापि उचित नहीं है । युद्ध के नियमों के अनुसार तुम मुझे परास्त करके ही अन्यत्र जा सकते हो । हे वीर धेष्ट ! तुम क्षात्र धर्म के पालन करने वाले हो, जब मैं युद्ध में उत्सुकता पूर्वक सामना कर रहा हूँ तब दूगरे के पास जाना धर्म के विरुद्ध ही है ॥१९-२०॥ अब तुम यहाँ ठहरो, मैं तुम्हारे अटकार को पूर्ण लिये डालना हूँ । यह कहते हुए सात्यकि राजा पौण्ड्र के सामने खड़े हो-गये ॥ २१ ॥

पौण्ड्रस्य शिनिनप्ता तु पश्यतः केशवस्य ह ।

अघज्ञाय शिनेः पौत्रं कृष्णमेव जगाम ह ॥२२॥

निभंतस्य सहसा भूय सात्यकि क्रोऽमूर्च्छितः ।
 गदया प्राहरत्पीण्डं वासुदेवस्य पश्यत ॥२३॥
 यथाप्राणं यथायोग सात्यकि सत्यविक्रम ।
 दृष्ट्वाऽथ भगवानेव सात्त्विकं प्रशश स ह ॥२४॥
 निवार्य सात्यकिं कृष्णो यथेष्टं क्रियतामसौ ।
 उपारमद्याथायोग सात्यकिं कृष्णवारितः ॥२५॥
 स ततः पीण्डकौ राजा वासुदेवमुवाच ह ।
 भो भो यादव गोपाल इदानीं क्व गतो भवान् ॥२६॥
 त्वा द्रष्टुमथ सप्राप्तो वासुदेवोऽस्मि साम्प्रतम् ।
 हत्वा त्वां सबलं कृष्णं बलैर्वह्नुभिरन्वित ॥२७॥
 अहमेको भविष्यामि वासुदेवो महीतले ।
 यच्चक्रं तव गोविन्दं प्रथितं सुप्रभं महत् ॥२८॥

यह सम्भाषण श्रीकृष्ण की उपस्थिति में ही हो रहा था । उस समय पीण्ड
 सात्यकि को छोड़ कर भगवान् की ओर ही अग्रसर होता रहा ॥२२॥ इस पर
 सात्यकि ने अत्यन्त क्रोधित होकर उसकी निन्दा की और भगवान् के सामने हा
 उसके दक्ष स्थल पर गल पूर्वक गदा से प्रहार किया ॥२३॥ सात्यकि के इस
 साहस और वीरता को देख कर भगवान् श्रीकृष्ण ने उसकी भूरि भूरि प्रशंसा
 की ॥ २४ ॥ तदनन्तर भगवान् ने सात्यकि को निवारण करते हुए कहा—हे
 सात्यकि ! जैसी उसकी इच्छा हो, वैसा ही उसे करने दो । भगवान् के द्वारा इस
 प्रकार शान्त किये जाने पर सात्यकि ने उसे छोड़ दिया ॥२५॥ तब राजा पीण्ड
 ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा—हे यादव ! हे भवाले ! तुम अब तक कहाँ थे ?
 देखो, मैं वासुदेव तुमसे मिलने के लिये यहाँ आया हूँ । अभी कुछ देर में तुम्हें
 रोना के सहित नष्ट करके इस विश्व में मैं ही अकेला वासुदेव रह जाऊँगा
 ॥ २८ ॥

अनेन तव चक्रेण पीडितोऽस्मि च तदग्रे ।
 यत्रमस्तीति तद्वीर्यं तव माधव साम्प्रतम् ॥२९॥

नाशयिष्यामि तत्सर्वं सर्वक्षत्रस्य पश्या ।
 शाङ्गीति मा विजानीहि न त्वं शाङ्गीति शिष्यते ॥३०॥
 शङ्खमस्तीति तद्वीर्यं तव माघत्र साम्प्रतम् ।
 नाशयित्वाऽऽहवे चाह गदी चाह जनादनम् ॥३१॥
 मामेव हि सदा ब्रूयुर्जनन्तो वीर्यशालिन ।
 आदौ त्वं बलवद् बृहद्बान्धत्वा स्त्रीबालकान्वहन् ॥३२॥
 गाश्च हत्वा महागवस्तव सम्प्रति वत्संते ।
 तत्तेऽहं व्यपनेष्यामि यदि तिष्ठसि मत्पुर ॥३३॥
 शस्त्रं गृहाण गोविन्द यदि योद्धुं व्यवस्थित ।
 द्रव्यं कृत्वा बाणमादाय तस्यौ पार्श्वे जगत्पते ॥३४॥

तुम्हारे अत्यन्त तेजस्वी चक्र ने मुझे बड़ा दुःख दिया है इसलिये तुम्हारे उस चक्र को मैं इन सभी क्षत्रिया की उपस्थिति में नष्ट कर डालूँगा तुम समझने हो कि शाङ्गधर तुम्हीं अकेले हो ? देखो मेरे पास भी शङ्ख वज्र विद्यमान है ॥२६-३०॥ तुम गरज धारण करने वाले बड़े जात हो परन्तु मैं तुम्हारे उभय गव को भी नष्ट कर दूँगा । क्योंकि मैं भी गरज चक्र और गदाधारी हूँ । विन्ध के सभी बल सम्पन्न पुरुषों में मेरी गरज चक्र और गदाधारी यह बर प्रतिदिन है । अपने प्रारम्भ काल में तुमने अनेकों बन्हीन युद्ध, स्त्री और बालकों को नष्ट किया था तुम्हारे द्वारा गो-हत्याएँ भी हुई थी इसी कारण तुम अपने वीरत्व के गर्व में पून गये हो इसलिये यदि तूम युद्ध भूमि से भाग न गये तो मैं तुम्हारे उस गव का सङ्घन कर दूँगा । ३१-३३॥ हे गोविन्द ! यदि मेरे साथ युद्ध करने का साहस हो तो शस्त्र ग्रहण करो । यह कह कर पीण्ड ने धनुष बाण ग्रहण किया और मगवान् जगन्नाथ के सामने तन कर खड़ा होगया ॥३४॥

एतद्वचनमाकर्ण्य चागुदेवम्यथापितम् ।
 स्मितं कृत्वा हरिं कृष्णो बभाषे पीण्डन नृपम् ॥३५॥
 मामेव नृप त्वं हि पातयस्मि सदा नप ।
 एतो गानघातो च स्त्रीरन्ता सर्वेषां नृप ॥३६॥

चक्री भव गदी राजञ्छाङ्गीं च सततं भव ।
 नामधेयं वृथा मल्लं वासुदेवेति च प्रभो ॥३७
 शाङ्गीं चक्री गदी शंखीत्येवमादि वृथा मम ।
 किं तु वक्ष्यामि किंचित्तु शृणुष्व यदि मन्यसे ।
 क्षत्रिया वलिनो ये तु स्थिते मयि जगत्पतो ॥३८
 तयाऽनुव्रवते त्वां हि जीवत्येव मयि प्रभो ।
 यत्ते चक्रं महाघोरमसुरान्तकरं महत् ॥३९
 तत्तुल्यं मम चक्रं तु वृत्तातो न तु वीर्यतः ।
 आयुर्धेवथ सर्वत्र शब्दसादृश्यमस्ति ते ॥४०

उसकी बात सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण ने किंचित् मुसकाते हुए कहा—
 'हे राजन् । तुम भुक्ते गौ, बालक, स्त्री, वृद्ध आदि का हतयारा और पापी आदि
 चाहे जो कहलो ॥ ३४-३६ ॥ चाहे मेरा शस्त्र-चक्र गदापाणि नाम निरर्थक ही
 बसो न हो और चाहे तुम ही शस्त्र-चक्र-गदा-शाङ्गधारी कसो न बन जाओ,
 परन्तु यदि तुम्हारी इच्छा हो तो मेरी बात सुन लो—मुझ पृथिवी का शासन
 करने वाले के स्थित रहते हुए कौन-सा क्षत्रिय तुम्हें तुम्हारी इच्छानुसार कह
 सकता है ? तुमने मेरे असुरान्तक चक्र के विषय में जो कहा है, वह यथार्थ है
 और तुम्हारा चक्र भी मेरे समान रूप, रंग वाला तो हो सकता है—परन्तु
 उसकी महिमा ऐसी नहीं हो सकती । तुम्हारे अग्न्याण्य आयुध भी मेरे आयुधो
 जैसे रूप वाले हो सकते हैं, परन्तु उनका गुण वैसा नहीं हो सकता ॥३७ ४०॥

गोपोऽहं सर्वदा राजन्प्राणिनां प्राणदः सदा ।
 गोप्ता सर्वेषु लोकेषु शास्ता दुष्टस्य सर्वदा ॥४१
 कत्यनं सर्वकार्ये हि जित्वा शत्रून् पाधम ।
 अजित्वा किं भवान्द्र ते स्थिते मयि च शस्त्रिणि ॥४२
 हत्वां मां ब्रूहि राजेन्द्र यदि शक्नोऽसि पौण्ड्रक ।
 स्थितोऽहं चक्रमाश्रित्य रथी चात्री गदामिमान् ॥४३

रथमारुह्य युद्धाय सन्नद्धो भव मानद ।

इन्युक्त्वा भगवान्विष्णुं सिंहनाद व्यनीनदत् ॥४४

मैं एक तुच्छ खाला होकर भी सदैव सब प्राणियों को जीवन प्रदान करता रहता हूँ । मैं ही इस विश्व में साधुजन का रक्षक और दुष्टों का दमन करने वाला हूँ ॥४१॥ परन्तु, जब मैं शस्त्र ग्रहण करके तुम्हारे सामने युद्ध भूमि में उपस्थित हूँ, तब जब तक तुम मुझे परास्त न कर लो, तब तक इस प्रकार की आत्म प्रशंसा से क्या लाभ है । ॥४२॥ यदि तुम में सामर्थ्य ही तो मेरा वध करने के पश्चात् ही इन प्रकार कहना । अब मैं अपने चक्र, घनुष, गदा, तलवार आदि आयुधों के सहित खारूढ़ हुआ तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ, इसलिये तुम भी कवच धारण पूर्वक रथ पर चढ़ कर युद्ध करो । यह कह कर भगवान् श्री-कृष्ण सिंहनाद करने लगे ॥४३-४४॥

॥ श्रुकृष्ण द्वारा पौण्ड्रक वध ॥

तत शर समादाय वासुदेव प्रतापवान् ।

पौण्ड्र जघान सहसा निशितेन शरेण ह् ॥१॥

पौण्ड्रोऽथ वासुदेवस्तु शरैर्दशभिराशुगै ।

वासुदेव जघानाशु वाष्ण्य वृष्णिनन्दनम् ॥२॥

दारुक पञ्चत्रिंशत्या हयान्दशभिरेव च ।

सप्तत्या वासुदेव तु यादव वासुदेवक ॥३॥

तत प्रहस्य सुचिर केशव वेशिसूदन ।

दृष्टोऽसाविति मनसा सपूज्य यदुनन्दन ॥४॥

आकृष्य शार्ङ्गं बलवान्सधाय रिपुसूदन ।

नाराचेन सुतीक्ष्णेन ध्वज चिह्नेन केशव ॥५॥

सारथेश्च शिर कायादाहत्य यदुनन्दन ।

आश्वाश्च चतुरो हत्वा चतुर्भिः सायकोत्तमै ॥६॥

रथं राज्ञः समाहृत्य तदोभौ पाष्णिसारथी ।

चक्रं च तिलश. कृत्वा हसन्किचिदिव स्थितः ॥७

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! इसके पश्चात् अत्यन्त पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने तीक्ष्ण बाण से पोण्ड्र पर आघात किया ॥१॥ तब पोण्ड्र ने भी दस बाण चला कर कृष्ण को और पञ्चमीय बाण चला कर उनके सारथी दारुक को भीध दिया, फिर दस बाणों से घोड़ों पर और सत्तर बाणों से श्रीकृष्ण पर पुनः प्रहार किया ॥२-३॥ उसके इस साहस पर श्रीकृष्ण कुछ समय तक मुसकाते रहे और सोचने लगे कि चलो इसने सामना तो किया ॥४॥ फिर भगवान् ने भी अपने शार्ङ्ग धनुष पर एक सुतीक्ष्ण बाण चढाया और उससे पोण्ड्र के रथ की छत्रा काट डाली ॥५॥ तथा उसके सारथी का भस्म भी उसी बाण से कट कर गिर गया । तब उन्होंने चार बाण प्रहार करके पोण्ड्र के रथ में जुड़े हुए चारों अश्व मार डाले ॥६॥ उसी प्रहार के द्वारा उसका रथ विचूर्ण हो गया और दो पाष्णि सारथी भी नष्ट होगये । रथ के पहियों के टुकड़े-टुकड़े हो कर इधर उधर फैल गये । उस समय भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ खड़े हुए मुसकरा रहे थे ॥७॥

पोण्ड्रको वासुदेवस्तु रथाद्बुत्प्लुत्य सत्वरः ।

आदाय निशित खड्गं प्राहिणोत्केशवाय सः ॥८

स खड्गं शतधा कृत्वा तूष्णीमासीन्च केशवः ।

ततः पर महाघोरं परिघ काल समितम् ॥९

गृहीत्वा वासुदेवाय वासुदेव. प्रतापवान् ।

प्राहिणोद्वृष्णिवीराय सर्वक्षत्रस्य पश्यतः ॥१०

तद्विधा जगता नायश्चकार यदुनन्दन. ।

ततश्चक्रं महाघोरं सहस्रारं महाप्रभम् ॥११

त्रिंशद्भारसमायुक्तमायसास्यसममिश्रहा ।

आदायाय महाराज केशवं वाक्यमब्रवीत् ॥१२

पश्येदं निशित घोरं तव चक्रविनाशनम् ।

अनेन तव गोविन्द दर्पं दर्पवता वर ॥१३

अपनेप्यामि वाष्ण्यै सर्वक्षस्य पश्यतः ।

त्वामुद्दिश्य महाघोरं कृतमन्यद्दुरात्तदम् ॥१४

यह देख कर राजा पौण्ड्र अपने दूटे हुए रथ से उछल कर पृथिवी पर खड़ा हुआ और उसने एक तीक्ष्ण खड्ग का प्रहार श्रीकृष्ण पर किया ॥८॥ परन्तु श्रीकृष्ण ने उस खड्ग के सौ खण्ड कर डाले । तब उसने एक भीषण परिघ से उन पर बलपूर्वक प्रहार किया ॥९-१०॥ इस पर उन्होंने उस परिघ के भी दो खण्ड कर डाले । फिर उसने अपना सहस्रधार, अत्यंत विकट, लौहमय तेजस्वी चक्र हाथ में लेकर उनसे कहा—हे कृष्ण ! मेरे इस अत्यंत भयानक और तुम्हारे चक्र के नाशक चक्र की ओर देखो । हे गोविन्द ! हे गर्वितो मे श्रेष्ठ ! मैं इसी चक्र से इन राजाओं की उपस्थिति में तुम्हारे अहंकार को नष्ट कर डालूँगा, यह महाघोर चक्र तुम्हारे लिये ही निमित्त कराया गया है ॥११-१४॥

यदि शक्तो हरे कृष्ण दारयेद महास्पदम् ।

इत्युक्त्वा तच्छतगुण भ्रामयित्वा महाबलः ॥१५

चिक्षेपाथ महावीर्यं पौण्ड्रको नृपसत्तम ।

अवप्लुत्य ततो देशात्तदुत्सृज्य महाबलः ॥१६

सिंहनाद महाघोर व्यनद्वीर्यवास्तदा ।

ततो विस्मयमापन्यो भगवान्देवकीसुतः ॥१७

अहो वीर्यमहो धैर्यमस्य पौण्ड्रस्य दुःसहम् ।

इति मत्वा जगन्नाथ उत्थितश्च रथोत्तमात् ॥१८

ततः शिला समादाय प्रेषयामास केशवम् ।

ता शिला प्रेषयामास तस्मै यदुकुलोद्ग्रहः ॥१९

हे कृष्ण ! यदि तुम में सामर्थ्य हो तो मेरे इस भयकर चक्र के वेग को रोको । यह कह कर उसने अपने चक्र को सौ बार घुमाकर भगवान् श्रीकृष्ण पर छोड़ा और सिंहगर्जना करने लगा । उसकी उस समय की वीरता को देख कर भगवान् विस्मित हो उठे ॥१५-१७॥ भगवान् ने पौण्ड्र के घोर पराक्रम,

साहस और धैर्य की बड़ी प्रशंसा की और अपने रथ पर खड़े हो गये ॥१८॥
फिर उमने एक बहुत भारी तथा बहुत बड़ी शिला लेकर भगवान् के ऊपर
फेंकी, परन्तु उन्होंने उसे हाथ में लपक कर पुनः पौण्ड्र पर ही फेंक दिया ॥१९॥

पौण्ड्रेण सुचिरं कालं विन्नीड्य भगवान्ह्रिः ।
ततश्चक्रं समादाय निशित रक्तभोजनम् ॥२०॥
दैत्यमांसप्रदिग्धाङ्गं नारीगर्भविमोचनम् ।
शातकुम्भमय घोरं दैत्यदानवनाशनम् ॥२१॥
सहस्रार शतारं तदद्भुत दैत्यभीषणम् ।
ऐश्वर्यवर्म परम नित्य सुरगणार्चितम् ॥२२॥
विष्णुः कृष्णस्तथा शार्ङ्गं निन्ययुक्तः सदा हरिः ।
जघान तेन गोविन्दः पौण्ड्रकं नृपसत्तमम् ॥२३॥
तस्य देहं विदार्याशु चक्रं पिशितभोजनम् ।
कृष्णस्याथ करं भूयः प्राप सर्वेश्वरस्य ह ॥२४॥
ततः स पौण्ड्रको राजा गतासु प्रापतद्भुवि ।
निहत्य भगवान्विष्णुदुर्विज्ञेयगतिः प्रभुः ।
प्रतिपेदे सुधर्मा तु यादवः पूजितो हरिः ॥२५॥

इस प्रकार वे उसके साथ बहुत समय तक लीला करते रहे । फिर
उन्होंने दैत्य को सशक्ति करने वाले तथा देवनाओं द्वारा पूजित अपने अत्यन्त
तीक्ष्ण, रक्त-शोषक, गर्भ-विमोचक, दैत्य विदारक, स्वर्ण मण्डित सहस्रघार चक्र
को ग्रहण किया ॥२०-२२॥ वह चक्र महान् महिमा सम्पन्न तथा भगवान्
श्रीकृष्ण के पास सदैव रहने वाला था । उसी चक्र को उन्होंने राजा पौण्ड्र पर
पेरित किया और सभी पौण्ड्र के देह को विदीर्ण करके वह चक्र भगवान् के
हाथ में पुनः आगया ॥२३-२४॥ तब मृत्यु को प्राप्त हुआ वह पौण्ड्र घराशायी
हो गया और उसकी मृत्यु से हर्षित हुए यादव भगवान् श्रीकृष्ण का पूजन करने
लगे । फिर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी सुधर्मा समा में चले गये ॥२५॥

॥ पीण्डक वध के पश्चात् ॥

निषादेश ततो राम शक्त्या वीर्यवता वरः ।
 आजघान स्तनद्वन्द्वे सिंहनाद व्यनीनदत् ॥१
 तत क्रुद्धो निषादेशो राम मत्त महाबलम् ।
 गदया लोकविख्यातो जघान स्तनवक्षसि ॥२
 आहतः स तु सेनाशु बलभद्रो महाबल ।
 उभाभ्या चैव रामस्तु कराभ्या वृष्णिपुङ्गव ॥३
 गदा गृह्य महाघोरामायान्ती प्राणहारिणीम् ।
 दुद्रावाथ निषादेश समुद्र मकरालयम् ॥४
 धावत्येव तदा राज्ञि एकलव्ये निषादपे ।
 धावत्येव च रामोऽपि यत्र यातो निषादप ॥५
 सागर स प्रविश्याशु गत्वा योजनपञ्चकम् ।
 भीत एव तदा राजन्नेकलव्यो निषादप ॥६
 कचिद्द्वीपान्तरं राजन्प्रविश्यन्यवसत्तदा ।
 ततो रामो निषादेश जिगाय यदुनन्दन ॥७
 ता सभा मणिरत्नाढ्या प्रविवेश हलायुध ।
 सात्यकियुद्धससक्तस्ता सभा प्रविवेश ह ॥८

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! इधर अत्यन्त बलशाली बलरामजी ने एकलव्य के हृदय पर एक अत्यन्त घोर शक्ति का प्रयोग करके सिंहनाद किया ॥१॥ तब उस प्रहार से अत्यन्त क्रोधित हुए एकलव्य ने भी उनके वक्ष-म्यल पर गदा मारी ॥२॥ इस प्रकार धावत हुए बलरामजी ने एव अत्यन्त भयकर और प्राणों के नष्ट करने वाली गदा उठानी, जिसके कारण अत्यन्त भयभीत हुआ एकलव्य मुख्यक्षेत्र छोड़ कर समुद्र की ओर भाग गया ॥३-४॥ तब बलरामजी भी गदा ग्रहण किये हुए उसके पीछे-पीछे दौड़े । इस प्रकार पाँच योजन तब भागते थे पश्चात् एकलव्य समुद्र में गोता लगाकर अदृश्य हो गया और जल में

भीतर ही चलता हुआ एक द्वीप में जाकर रहने लगा । इधर एकलव्य को परास्त और अट्टश्य हुआ देख कर बलरामजी वहाँ से लौटे और यादवों की उसी सुधर्मा सभा में जा पहुँचे । उसी समय बनवान सात्यकि भी उस सभा में खा उपस्थित हुए ॥५-८॥

अन्ये च यादवा राजन्यथायोगमुपस्थिता ।
 आसीनेषु च सर्वेषु वृष्णिघोरेषु सर्वतः ॥८॥
 अभिवाद्य यथायोग वृष्णि-सर्वांश्च केशवः ।
 उवाच वचन काले भगवान्देवकीसुतः ॥९॥
 दृष्टं कैलासशिखरं शकरो नीललोहितः ।
 स तु मह्य यदुवराः प्रीतिमाश्च ददौ वरम् ॥११॥
 सल देवा समायाता मुनयश्च तपोधना ।
 दृष्ट्वा मा शंकरश्चैव प्रीतः स्तुत्वा समाययी ॥१२॥
 अत्यद्भुत मया दृष्ट राक्षो यादवसत्तमा ।
 पिशाची द्वौ महाघोरो वदन्तौ मामिका कथाम् ॥१३॥
 मृगया चक्रतुस्तौ तु चिन्तयन्तौ तु मा सदा ।
 दृष्ट्वा मा तौ तु राजेन्द्राः प्रीतिमन्तौ तपस्विनी ॥१४॥
 भक्तितन्म्री महात्मानौ प्रणाम चक्रतुस्तदा ।
 ततोऽह सर्वथा प्रीतस्तौ नीतौ स्वर्गमुत्तमम् ॥१५॥

कुछ समय में अन्यान्य सभी यादव वहाँ आ-आ कर अपने-अपने स्थान पर बैठ गये । तब भगवान् श्रीकृष्ण ने उन सब को सत्कारित करके कहा— हे यादव वीरो ! कंचास पर्वत अत्यंत ही सुरम्य है, मैंने वहाँ भगवान् शंकर के भी दर्शन कर लिये और उन्होंने प्रसन्न होकर मुझे पर भी प्रदान किया है ॥११॥ उस समय वहाँ अनेको देवगण और मुनिगण भी उपस्थित हुए थे । सभी भगवान् ने शंकर ने वहाँ आकर मेरी स्तुति की ॥१२॥ किन्तु वहाँ मुझे एक अस्मयजनक घटना दिखाई दी । एक रात्रि के समय दो भयंकर पिशाच

मृगया करते हुए वहाँ आकर मेरे विषय में चर्चा करने लगे । फिर उन्होंने मेरे पास आकर अत्यंत हृषं सहित मुझे प्रणाम किया और फिर वहीं तपश्चर्या आरंभ कर दी । उनकी अपने प्रति असाधारण भक्ति देख कर मैंने उन्हें स्वर्गलोक प्राप्त कराया ॥१३-१५॥

तोषयित्वा महादेवं मया चाद्य समागतम् ।
 ततस्ते वृष्णयः सर्वे देवदेवं शशांसिरे ॥१६
 सर्वया कृतकृत्यास्ते वृष्णयः केशवाश्रयाः ।
 यादवाः सर्वे एवैते स्वं स्वं जग्मुर्गन्धालयम् ॥१७
 अभ्यन्तरे जगन्नाथः प्रविश्य हरिरीश्वरः ।
 रुक्मिणीसत्यभामाभ्यामाचचक्षे यथाऽभवत् ॥१८
 ते प्रीते प्रीतियुक्तेन केशवेन समन्विते ।
 एतत्तो सर्वं मारयातं केशवस्य विचेष्टितम् ॥१९
 शशास पृथिवीं कृत्स्नां दुष्टान् हत्वा महाबलान् ।
 नरकं घोरकर्माणं पौण्ड्रकं नृपसत्तमम् ॥२०
 ह्यप्रीवं निशुम्भं च तथा सुन्दोपसुन्दकौ ।
 ररक्ष विप्रान्देवेशो मुनीन्मुनिवराक्षितः ॥२१
 विप्रेभ्यश्च ददौ वित्तं गाश्च दत्त्वा ॥ केशवः ।
 अग्निहोत्रं प्रयुञ्जानो ब्राह्मणाश्च सुतर्पयन् ॥२२
 मृतीश्च ब्रह्माचयं देवान्यज्ञैरनेकधा ।
 स्वधया च पितृन्सर्वान्प्रीणयन्नेव सर्वदा ॥२३
 तस्मिन्नासति देवेशे राज्यं निष्कण्टकं प्रभो ।
 सुखमेव प्रजाः सर्वा जीवन्ति ब्राह्मणादयः ॥२४

इसके पश्चात् मैंने भगवान् शंकर को प्रसन्न किया और फिर आज ही यहाँ आ रहा हूँ । वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! यह सुन कर सभी वृष्णियो ने भगवान् श्रीकृष्ण की प्रशंसा की और कहने लगे—आपका आश्रय प्राप्त करके हम सब धन्य होगये हैं । यह कहते हुए सभी यादव अपने-अपने निवास स्थान

को घने गये ॥१६-१७॥ फिर भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने भवन में जा पहुँचे और उन्होंने अपनी रुक्मिणी-सत्यभामा आदि रानियों को अपनी यात्रा सब वृत्तान्त सुनाया ॥१८॥ भगवान् के आगमन से वे सब रानियाँ अत्यन्त हर्षित हुईं । हे राजन् ! इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण का सम्पूर्ण वृत्तान्त मैंने तुम से कहा है ॥१९॥ उन्होंने महाबली नरकासुर, पौण्ड्रक, हयग्रीव, निशुम्भ, सुन्द, उपसुन्द आदि को मार फिर पृथिवी का शासन व्यवस्थित किया । उनके इस कार्य से असंख्य मुनि और ब्राह्मण संकट से छूट गये । फिर उन्होंने ब्राह्मणों को बहुत-सा धन तथा असंख्य गौएँ दान दी और तदनन्तर अग्निहोत्र से ब्राह्मणों को, ब्रह्मचर्य से मुनियों को, यज्ञों से देवताओं को और स्वधा से पितरों को तृप्त किया ॥२०-२३॥ उनके शासन काल में राज्य की सुरक्षा में कोई कण्टक नहीं था और ब्राह्मणादि चारों वर्ण सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे ॥२४॥

॥ हंस-डिम्भक उपाख्यान ॥

भूय एव द्विजश्रेष्ठ शंखचक्रगदाभृतः ।
 चरितं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण तपोधन ॥१॥
 न हि मे तृप्तिरस्तीह शृण्वतः कैशवी कथाम् ।
 को नु नाम हरेर्विष्णोर्वैवदेवस्य चक्रिणः ॥२॥
 शृण्वंस्तथा स्मरन्वाऽपि तृप्तिं याति दिवानिशम् ।
 पुरुषार्थोऽयमेव को यत्कथाश्रवणं हरेः ॥३॥
 कथमासीज्जगद्धेतोर्हंसस्य डिम्भकस्य च ।
 समितिः सर्वं भूतानां सदा विस्मयदायिनी ॥४॥
 विचक्रस्य कथं युद्धं दानवस्य महात्मनः ।
 स तयोर्मिन्नतां यात इत्येवमनुशुश्रुम ॥५॥

राजा जनमेजय ने कहा—हे तपोवन ! भगवान् श्रीकृष्ण के निर्मल चरित्र को बारबार सुन कर भी मैं तृप्ति को प्राप्त नहीं हो रहा हूँ । इसलिये आप उनके पवित्र चरित्र को और भी विस्तारपूर्वक कहिये । उनके चरित्र

को दिन-रात्रि निरंतर रूप से सुनने पर भी कोई पूर्ण तृप्त नहीं हो सकता । क्योंकि प्रभु का चरित्र क्या, वह तो एक महान् पुरुषार्थ ही है ॥१-३॥ हे भगवन् ! अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्ण और हस-डिम्भक मे संसार को आश्चर्य में डालने वाला सग्राम क्यों हुआ था ? दानव श्रेष्ठ विचक्र और उनके मध्य युद्ध होने का क्या कारण था ? सुना जाता है कि विचक्र और वे परस्पर में मित्र थे ॥५॥

तौ सुतीवीर्यं सपन्नौ शिष्यौ भृगुसुतस्य ह ।
 सर्वास्त्रकुशलो वीरौ हरेर्लब्धवरौ किल ॥६॥
 संग्रामः सुमहानासीदित्युक्तं भवता पुरा ।
 तयोश्च न पयोविप्र केशवस्य जगत्पते ॥७॥
 कस्य पुत्रौ समुत्पन्नौ यथाऽभूद्विग्रहो महान् ।
 अष्टाशीतिसहस्राणि दानवानां तरस्विनाम् ॥८॥
 बलान्यथ विचक्रस्य शितशूलधराणि च ।
 आसन्न्युद्धे महाराज दानवस्य महात्मनः ॥९॥
 यदूनामन्तरं प्रेप्सुर्यदूना युद्धकाङ्क्षया ।
 देवासुरे महायुद्धे देवाञ्जयति दुर्धरः ।
 तद्वधार्थं सदा यत्नमकरोच्चैव केशव ॥१०॥

वे हस-डिम्भक महाबली, परम शास्त्रज्ञ और भार्गव के शिष्य थे तथा उन्होंने भगवान् से वर भी प्राप्त किया था ॥६॥ उन दोनों के पिता कौन थे ? उनमें युद्ध किस लिये हुआ था ? विचक्र के पास अट्ठासी हजार दानव सैनिक थे, जिनके पास सुतीक्षण विशूल थे और वे विचक्र की विजय-कामना करते रहते थे । युद्ध की इच्छा से वे सदा ही मादवों के छिद्र खोजते रहते । एक बार जब देवासुर-संग्राम उपस्थित हुआ था, तब उसने देवताओं को हराया था । हथर भगवान् श्रीकृष्ण भी उसे मारने का विचार करते रहते थे । इसलिये मैं इन राज वृत्तांतों को भले प्रकार सुनने के लिये उत्कण्ठित हो रहा हूँ ॥७-१०॥

असीञ्छाल्लेष राजेन्द्र ब्रह्मदत्तो नृपोत्तमः ।
 नाम्ना राजन्स पूतात्मा सर्वभूतदयापरः ॥११॥

पञ्चयज्ञपरो नित्यं जितात्मा विजितेन्द्रियः ।
 ब्रह्मविद्वेदविच्चैव सदा यज्ञमयः शिवः ॥१२॥
 तस्य भायें महीपाल रूपीदार्यगुणान्विते ।
 बभूवतुः सुसंपन्ने अनपत्ये नृपोत्तम ॥१३॥
 स ताम्ना मुमुदे राजा शत्रो शक इवाम्बरे ।
 नाम्ना मित्रसहो नाम सखा चासीद्द्विजोत्तमः ॥१४॥
 तस्य राज्ञो महायोगी वेदवेदान्ततत्परः ।
 अनपत्यः स विप्रेन्द्रो यथा राजा बभूव ह ॥१५॥
 स राजा सहितस्नाम्यामर्चयामास शंकरम् ।
 पुत्तार्यं शूलिनं शर्वं दश वर्षाण्यनन्यधोः ॥१६॥
 स विप्रो वैष्णवं सखं पुत्तार्यं समयोजयत् ।
 अर्चितस्तेन राजेन्द्र शंकरो नीललोहितः ॥१७॥
 आत्मानं दशयामास स्वप्ने राजानमप्रवीत् ।
 प्रीतोऽस्मि तव भद्रं ते धरं धरय सुव्रत ॥१८॥

यैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! शाव नामक एक नगर मे अत्यन्त पवित्र विचार वाला ब्रह्मदत्त नामक राजा निवास करता था ॥ ११ ॥ वह पक्ष यज्ञ-रत, जितात्मा, ब्रह्मज्ञानी, वेद विज्ञ यज्ञमय एवं श्रेष्ठ विचारो से युक्त था ॥ १२ ॥ उसकी दो अत्यन्त रूपवती पत्नियां थी, परन्तु दोनों में से किसी के भी कोई सन्तान नहीं हुई थी ॥ १३ ॥ जैसे स्वर्गस्थ सुरपति इन्द्राणी शची के साथ सानन्द रहते हैं, वैसे ही अपनी रानियों के साथ ब्रह्मदत्त भी सुख से जीवन यापन करता था । उसका मित्रसह नामक ब्राह्मण सखा था ॥ १४ ॥ मित्रसह भी वेद-वेदान्तो मे पारंगामी विद्वान् और योग-परायण था, वह भी राजा के समान ही निःसन्तान था ॥ १५ ॥ राजा ब्रह्मदत्त ने पुत्र-प्राप्ति की कामना से भगवान् शंकर की उपासना करके उन्हें प्रसन्न किया था ॥ १६ ॥ राजा के सखा मित्रसह ने भी पुत्र की कामना से विष्णु भगवान् की आराधना के लिये यज्ञ का अनुष्ठान किया था । हे राजन् ! राजा ब्रह्मदत्त और उनकी रानियों की आराधना से प्रसन्न हुए भगवान् शंकर ने एक रात्रि के मध्य स्वप्न मे प्रकट होकर उनसे

कहा था—हे सुव्रत ! मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न होगया हूँ, इसलिये तुम अपना अभिलषित वर माँगो ॥१७-१८॥

अथ राजा जगन्नाथमुवाचेदं स्मयन्निव ।
 पुत्रो मम भवेतां हि तथेत्युक्त्वा वृषध्वजः ॥१९॥
 अन्तर्धानं गतः शम्भुः प्रतिबुद्धस्ततो नृपः ।
 सोऽपि मित्रसहो विद्वान्देवं केशवमव्ययम् ॥२०॥
 पञ्चवर्षं जगन्नाथमर्चयामास भक्तिततः ।
 अर्चितस्तेन विप्रेण देवदेवो जनादनः ॥२१॥
 पुत्रमेकं ददौ तस्मै स्वात्मना सदृशं हरिः ।
 ते भार्यं गर्भमाधत्तां तेजसा शंकरस्य ह ॥२२॥
 विप्रभार्या महाराज वैष्णवं तेज आदधत् ।
 महिष्यौ ते महावीर्यं पुत्री शंकरनिर्मितौ ॥२३॥
 असूयेता महोपाल क्रमेणैव नृपस्य ह ।
 स तयोश्च महाराज नामकर्मादिकाः क्रियाः ॥२४॥
 चकार विधिवत्सर्वा विप्रैर्भ्योऽदान्महद्वनम् ।
 स च विप्रो विनीतात्मा पुत्रमेकं हि लब्धवान् ॥२५॥
 साक्षादिव जगन्नाथं स्थितं पुत्रात्मना नृप ।
 जातकर्मादिकं सर्वं ब्राह्मणः स चकार ह ॥२६॥

इस पर प्रसन्न मुख हुए राजा ब्रह्मदत्त ने उनसे निवेदन किया—हे प्रभो ! मैं दो पुत्रों की कामना करता हूँ । यह सुन कर भगवान् शंकर ने 'ऐसा ही होगा' कहा और अन्तर्धान होगये । इस स्वप्न के पश्चात् ही राजा की निद्रा टूट गई । उधर मित्रसह ब्राह्मण भी निरन्तर पाँच वर्ष तक भगवान् विष्णु का आराधन करता रहा, तब उसके आराधन से प्रसन्न हुए भगवान् विष्णु ने उसे अपने ही समान श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न एक पुत्र होने का वर प्रदान किया । भगवान् शंकर की अनुकम्पा से राजा की दोनों रानियों ने और भगवान् विष्णु की कृपा से मित्रसह ब्राह्मण की भार्या ने गर्भ धारण किया ॥१९-२२॥ फिर समय

थाने पर राजा ब्रह्मदत्त की दोनो रानियो ने एक-एक पुत्र प्रसव किया तब राजा ने अत्यन्त आनन्दपूर्वक उन पुत्रो का नामकरण आदि किया और फिर ब्राह्मणो को बहुत-सा धन प्रदान किया । मित्रसह ब्राह्मण की पत्नी ने भी साक्षात् विष्णु भगवान् के समान एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया, तब मित्रसह ने अत्यन्त उमंग पूर्वक अपने उस पुत्र का जात कर्मादि संस्कारो को सम्पन्न किया ॥२३-२६॥

तौ कुमारवयं चैव त्रयः सवयसोऽभवन् ।
वेदानधीष्य ते सर्वाञ्छ्रुत्वा चान्वीवक्षिमी तथा ॥२७॥
धनुर्वेदे तथाऽस्त्रे च निपुणास्तेऽभवन्स्तदा ।
हसो ज्येष्ठो नृपसुतो डिम्भकोऽनन्तरोऽभवत् ॥२८॥
स च विप्रसुतो राजञ्जनार्दन इति स्मृतः ।
अन्योन्यं मित्रतां याताः सर्वे चैव कुमारकाः ॥२९॥

राजा ब्रह्मदत्त के दोनो पुत्र तथा मित्रसह ब्राह्मण का पुत्र यह तीनो अत्यन्त ही रूपवान् और सम वयस्क थे । धीरे-धीरे वयस्क होते हुए वे तीनो कुमार सभी वेदो और नीति शास्त्रो का अध्ययन करने लगे । इस प्रकार वे कुछ वर्षों मे ही धनुर्वेद तथा सम्पूर्ण अस्त्र-विद्या मे पारगट होगये । उन राजा के पुत्रो मे से बड़े का नाम हस और छोटे का डिम्भ हुमा तथा मित्रसह के पुत्र का नाम जनार्दन पड़ा । उन तीनो कुमारो मे गहरी मित्रता स्थापित होगई थी ॥२७-२९॥

॥ हंस-डिम्भक की तपस्या ॥

हंसश्च तपश्चतुं तथा डिम्भो महामतिः ।
मनश्चक्रतुरात्मांशी शंकरस्य नृपोत्तम ॥३॥
गत्वा तु हिमवत्पाश्वं तपश्चक्रनुरञ्जसा ।
उद्दिश्य शंकरं सर्वं नीचग्रीवमुभापतिम् ॥४॥
वीर्यास्त्रे चैव नो स्यातामित्याध्याय तु मानसे ।
एकाग्रो प्रयतो भूत्वा वाय्वम्बुप्राणिनो नृप ॥५॥

त्रियज्ञः शंकरः शर्वः शूलपाणिरुमापतिः ।
 अग्रतः संस्थितं शर्वं चन्द्राद्विकृतशेखरम् ।
 तौ दृष्ट्वा प्रीतमनसौ नमस्चक्रतुरञ्जसा ॥१०॥
 वरं वरय भद्रं वां यथेच्छा वा तथास्तु वै ।
 तावूचतुस्तदा राजन्प्रीतस्त्वं भगवन् यदि ॥११॥
 देवीसुरचमूमुख्यैर्यक्षैर्गन्धर्वदानवैः ।
 आदामजय्यो सर्वात्मन्नेव नो प्रथमो वरः ॥१२॥
 द्वितीयो नो विरूपक्ष रौद्रास्त्राणा च संग्रहः ।
 माहेश्वरं तथा रौद्रमस्तं ब्रह्मशिरो महत् ॥१३॥
 अभेद्यं कवचं दिव्यमच्छेद्यं चापि कामुकम् ।
 परशुं च तथा शर्वं सदा रक्षार्थमेव च ॥१४॥

इस प्रकार वे दोनों अहंकार और ममता को त्याग कर, मौन के अव-
 सभ्य पूर्वक पाँच वर्ष तक कठोर तपस्या करते रहे तब उन्हें शिवजी की प्रसन्नता
 प्राप्त हुई । उस समय भगवान् शार उन दोनों के सम्मक्ष प्रकट होगये ॥५-६॥
 वे भगवान् त्रियज्ञोपदीत और हाथ में शूल धारण किये हुए थे । उन दोनों
 क्रुमारी ने उन उमापति चन्द्रसेसर भगवान् शकर के दर्शन करते ही परम प्रसन्न
 मनसे उनको नमस्कार किया ॥ १० ॥ तब भगवान् शकर बोले—हे पुत्रो !
 तुम्हारी जो कामना हो वही मुझ से माँग लो । यह सुन कर उन दोनों ने
 निवेदन किया—हे भगवन् ! यदि आप हम पर प्रसन्न हुए हैं तो हमारी कामना
 मुझे—हम देवता, दैत्य, राक्षस, गन्धर्व और अगुर आदि से सभी भी न हारें
 तथा हमारे पान सब प्रकार के घोर बर्ष वाले शस्त्रास्त्र स्वयं ही एकत्र हो जाय ।
 माहेश्वरास्त्र, रौद्रास्त्र, ब्रह्मशिरास्त्र, अभेद्य कवच, दिव्य घनुष और परता हमें
 बिना प्रयत्न हो उपलब्ध हो जाय ॥११-१४॥

सहायो द्वौ महर्देव भूतौ मुद्गे हि गच्छताम् ।

एवमस्त्विति देवेश आह भर्द्गिरिटी हरः ॥१५॥

ततः स्वभवनं गत्वा पितुः पादावगृह्यताम् ।
 पितुश्च सख्युबलिनी मातुश्च चरणौ तदा ॥२३॥
 जनार्दनोऽपि धर्मात्मा कालेन महता नृप ।
 विद्यापारं महाबुद्धियुक्तेनासावुपेयिवान् ॥२४॥
 स च विष्णु हृद्यो केश पीतकौशेयवाससम् ।
 ब्रह्मतत्त्वपरो नित्यमुपास्ते विजितेन्द्रियः ॥२५॥
 ह सश्च डिम्बकश्चैव कृतदारौ बभूवतुः ।
 जनार्दनोऽपि धर्मात्मा कृतदारो बभूव ह ॥२६॥
 सर्वे ते यज्ञनिरताः पञ्चयज्ञपरास्तथा ।
 स्वदारनिरताः सर्वे गुरुशुश्रूषणे रताः ।
 धर्म एव परं श्रेय इति ते मेनिरे नृप ॥२७॥

इसके पश्चात् उन दोनों ने अपने घर जाकर माता-पिता के चरणों में पड़ कर उनकी वन्दना की ॥२३॥ उधर मित्रसह का पुत्र धर्मात्मा जनार्दन भी जितेन्द्रिय रह कर और बुद्धिमत्ता पूर्वक पीताम्बर धारी भगवान् विष्णु की उपासना में तन्मय रह कर ब्रह्मतत्त्व का चिन्तन करने लगा ॥२४-२५॥ फिर हंस, डिम्ब और जनार्दन—इन तीनों का ही विवाह मस्कार सम्पन्न हुआ और तब यह पंच यज्ञ के अनुष्ठान, एक पत्नी व्रत पालन और गुरु-सेवा में तत्पर रहते हुए केशव धार्मिक जागों के अनुष्ठान में ही लगे रहते थे ॥२६-२७॥

॥ हंस-डिम्बक का दुर्वासा से वार्तालाप ॥

जनार्दनश्च धर्मात्मा ह मो डिम्बक एव च ।
 सदः प्रविश्य सत्तस्य नमश्चक्रुर्मुनीश्वरान् ॥१॥
 तानागतान्महात्मानो मुनयः शिष्यसमुताः ।
 अर्घ्यपाद्यासनादीनि चक्रुः पूजा प्रयत्नतः ॥२॥
 तौ नृपौ स च विप्रेन्द्रः पर्या प्रतिगृह्य च ।
 प्रोतात्मानो महात्मान आसते सख्यं नृप ॥३॥

ततो हंसो बभाषे तान्मुनीन्संयनवाङ् नृप ।
 पिता हि नो मुनिश्चेष्टा यष्टुर्मच्छत्ससाधनम् ॥४॥
 गन्तव्यं तत्र युष्माभिः सत्रान्ते मुनिसत्तमाः ।
 राजसूयेन यज्ञेन कृत्वा दिग्विजयं वयम् ॥५॥
 याजयिष्यामहे विप्राः पितरं धार्मिकं नृपम् ।
 आयान्तु तत्र विप्रेन्द्राः न सशिष्याः सपरिच्छदाः ॥६॥
 वयमद्यैव सहितौ दिशो जेष्यामहे वयम् ।
 शक्ता वयमिहैवैतत्कतुं सैनिकसंचयैः ॥७॥
 आवयोः पुरतः स्यातुं न शक्ता देवदानवाः ।
 कैलासनिलयाद्देवाद्वरं लब्ध्वा स्वयत्नतः ॥८॥

वेशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! फिर वे धर्मात्मा जनार्दन, हंस और
 डिम्भक—तीनों ही यज्ञ क्षेत्र में गये और वहाँ पहुँच कर उन्होंने मुनियों को
 ममस्कार किया ॥१॥ शिष्यो महित स्थित उन मुनियो ने तुरन्त ही उन्हें अर्घ्य,
 पाद और आसनादि देकर उनका सत्कार किया ॥२॥ तब इस प्रकार सत्कृत हुए
 वे तीनों अत्यन्त प्रसन्न होकर श्रेष्ठ आसनो पर विराजमान होगये ॥३॥ फिर
 संयत धाणी वाले हंस ने उन मुनियो से कहा—हे तपस्वियो ! हमारे पिता एक
 अत्यन्त साधन सम्पन्न यज्ञ का अनुष्ठान करने के लिये इच्छुक है ॥४॥ इसलिये
 हे मुनिश्रेष्ठो ! आप अपने इस यज्ञ को पूर्ण करके मेरे यहाँ पधारने की वृत्ता
 करें । क्योंकि हम अपने पिताजी के द्वारा दिग्विजय वाले राजसूय यज्ञ को करा-
 येंगे, इसलिये आप अपने शिष्यो और यज्ञ के उपकरणो के सहित आने का
 वष्ट करें ॥ ५-६ ॥ हम अपनी सेना के बल पर दिग्विजय की सहज ही आशा
 करते हैं । हमने कैलास-पति भगवान् शंकर को प्रसन्न करके सब प्रकार के दिव्य
 वास्त्रास्त्र प्राप्त कर लिये हैं, इसलिये मनुष्य तो क्या, देवता और दंष्ट्र भी हमारा
 सामना नहीं कर सकते ॥७-८॥

अजय्यौ शत्रुसंघानामस्त्राणि विविधानि च ।
 इत्युक्त्वा विररामैव हंसो मदवलान्वितः ॥९॥

यदि स्तात्तत्र गच्छामो वयं शिष्यैर्नृपोत्तम ।
 आस्महे वाऽन्यथा राजन्नित्यूचुः किल तापसाः ॥१०
 ततो देशान्महाराज गन्तुं निश्चितमानसौ ।
 पुष्करस्योत्तरं तीरं दुर्वासा यत्र तिष्ठति ॥११
 यतयो नियता भूत्वा मन्त्रब्रह्मनिषेविणः ।
 ब्रह्मसूत्रपदे सक्तास्तदर्थान्नोक्तत्पराः ॥१२
 निर्ममा निरहंकाराः कौपीनाच्छादनव्रताः ।
 तमात्मानं जगद्योनिं विष्णुं विश्वेश्वरं विभुम् ॥१३
 ब्रह्मरूपं शुभं शान्तमक्षरं सर्वतोमुखम् ।
 वेदान्तमूर्तिमव्यक्तमनन्तं शाश्वतं शिवम् ॥१४
 नित्ययुक्तं विरूपाक्षं भूताधारमनामयम् ।
 ध्यायन्तं सर्वदा देवं मनसा सर्वतोमुखम् ॥१५

हमारे पास असत्य आयुष्य विद्यमान हैं, इसलिये कोई भी शत्रु हमें जीतने में समर्थ नहीं है । यह कह कर बलमद से अन्धा हंस चुप होगया ॥६॥ इस पर मुनियो ने कहा—हे नृपोत्तम ! यदि राजसूय यज्ञ का आपके यहाँ आयोजन हुआ तो हम अपन शिष्यादि के साथ उसमें अवश्य सम्मिलित होंगे ॥१०॥ वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! फिर हंस-डिम्भ ने चलने का विचार किया और फिर पुष्कर क्षेत्र के उत्तरीय तट पर स्थित महर्षि दुर्वासा के आश्रम को चल दिये ॥ ११ ॥ वहाँ ब्रह्मोपासन में तत्पर, वेद निरत, लोकहित की आकांक्षा वाले कौपीन धारी जितेन्द्रिय योगीजन समता और अहंकार को त्याग कर शान्त, शुभ, अक्षर, सर्वतोमुख, वेदान्त मूर्ति, अव्यक्त, अनन्त, शाश्वत, शिव, नित्ययुक्त, विरूपाक्ष, भूताधार, अनामय भगवान् विष्णु की सदा आराधना करते रहते थे ॥१२-१५॥

दुर्वाससा सदोपास्यं वेदान्तं करसं गुरुम् ।
 तर्कं निश्चिततत्त्वार्था ज्ञाननिर्मलचेतसः ॥१६
 हंसाः परमहंसाश्च शिष्या दुर्वाससः प्रभो ।
 गत्वा तत्र महात्मानो ती दृष्ट्वा तूर्ध्वरेतसम् ॥१७

दुर्वाससं महाबुद्धिं विचिन्वानं परं पदम् ।

क्रुद्धो यदि स दुर्वासा दग्धुं लोकानिमान्क्षमः ॥१८

देवा अपि च य द्रष्टुं क्रुद्धं वै न क्षमाः सदा ।

रोषमूर्तिः साद यस्तु रुद्रात्मा विश्वरूपधृक् ॥१९

रक्तकोपीनवसनो हंसः परम एव च ।

दृष्टुं न च तयोरेवं बुद्धिरासीन्महामते ॥२०

को नामासौ महाभूतः काषायी वर्णवित्तमः ।

कश्चायमाश्रमो नाम विहाय च गृहाश्रमम् ॥२१

वहाँ महर्षि दुर्वासा के शिष्य अपने गुरु के सहित भगवान् की उपासना में सदा तत्पर रहते थे । उन दोनों आश्रयों ने वहाँ ऊर्ध्वरेखा दुर्वासा को परब्रह्म के ध्यान में मग्न देखा, वे महर्षि दुर्वासा यदि क्रोधित हो जाय तो तीनों लोकों को भस्म करने में समर्थ थे ॥१९-२०॥ उस अवस्था में देवता भी उनकी ओर देखने का साहस नहीं कर सकते थे । वे रोष मूर्ति एवं विश्वरूप धारी महर्षि दुर्वासा मूर्तमान् क्रोध जैसे प्रतीत हो रहे थे ॥१९॥ उन महामुनि को इस प्रकार लाल कौपीन धारण किये देख कर हंस-डिम्ब ने विचार किया कि ये काषाय धस्त्र वाला महाभूत कौन है ? जो गृहस्थाश्रम को छोड़ कर अब किस आश्रम का आश्रित है ॥२०-२१॥

गृहस्थ एव धर्मात्मा गृहस्थो धर्मवित्तमः ।

गृहस्थो धर्मरूपस्तु गृहस्थो वर्ण एव च ॥२२

गृहस्थश्च सदा माता प्राणिना जीवनं सदा ।

त विनाऽन्येन रूपेण वर्तते योऽतिमूर्खवत् ॥२३

उन्मत्तोऽयं विरूपोऽयमथवा मर्ख एव च ।

ध्यायन्तिव सदा चायमास्ते वञ्चयिताऽपि वा ॥२४

किमेते प्राकृतज्ञाना ध्यायन्त इति किंचन ।

वयमेतान्दुरारोहानाश्रमान्तरकल्पकान् ॥२५

स्थापयिष्यामहे सर्वान्मन्दबुद्धीनिपण्णूहे ।

बलादेव द्विजानेतान्मूढविज्ञानतत्परान् ॥२६

असद्ग्राहगृहीतांश्च वालिशान्दुर्मन्तीनिमान् ।
 एषा शास्ता च को भूढो न विप्रो वयमस ह ॥२७॥
 धर्म्यं वर्त्मनि संस्थाप्य पुनर्यास्याव निर्वृती ।
 इति संचिन्त्य तो वीरो विप्रेण सहितो नृप ॥२८॥
 जनार्दनेन राजानो मोहाद्भ्राग्यक्षयान्नृप ।
 समीप तस्य राजेन्द्र यतेः स यतचेतमः ॥२९॥
 गत्वा च प्रोचतुरुभौ दुर्वाससमतीन्द्रियम् ।
 यतीश्च नियतान्कुड्यौ राजानौ राजसत्तम ॥३०॥

गृहस्थ ही धर्मात्मा, धर्मविद्, धर्मरूप और प्रधान वर्ण है । गृहस्थ ही सब प्राणियों के लिये माता स्वरूप है और वही जीवन प्रदान करने वाला है । इस प्रकार श्रेष्ठतम गृहस्थाश्रम को छोड़ कर अन्य आश्रम ग्रहण कर लेने वालों को उन्मत्त अथवा भूखंड ही समझना चाहिये । इससे हम समझते हैं कि यह तपस्वी नहीं कोई पाण्डवी ही तपस्या के बहाने से यहाँ विराजमान है ॥२२-२४॥ इस प्रकार के साधारण ब्राह्मण आश्रम में अन्तर करके व्यानासक्त रहते हैं, इन मूर्खों को गृहस्थ बनाया जाना चाहिये । यदि सहज प्रयत्न से यह कार्य न हुआ तो बलपूर्वक इसकी व्यवस्था की जायगी ॥२५-२६॥ इस मूर्ख को न जाने किसने इस प्रकार के ढोंग की शिक्षा दी है ? परन्तु, हम इन्हे धर्म मार्ग में प्रवृत्त करके ही अपने घर चलेंगे । हे राजन् ! मोह में पड़ कर उन क्षत्रियों ने जनार्दन को अपने साथ लिया और दुर्भाग्य के बशीभूत होकर उन सयत चित्त वाले महर्षि के पास गये ॥२७-२९॥ वहाँ आकर उन्होंने दुर्वासा तथा अन्यान्य यतियों पर क्रोध पूर्वक दृष्टि-पात किया ॥३०॥

॥ हस-डिम्भक का दुर्वासा से दुर्व्यवहार ॥

ज्ञानलेशाद्विहीनात्मन् किं ते व्यवसितं द्विज ।
 कश्चायमाश्रमो विप्र भवता यः समाश्रितः ॥१॥
 गृहमेध परित्यज्य किं त्वया साधितं पदम् ।
 दम्भ एव भवान्व्यक्तं शब्दे नास्त्यत्र कारणम् ॥२॥

लोकांश्चेमान्सदा मूढ नाशयिष्यसि निर्वृतः ।

एतान्सर्वान्विनेताऽसि नरके पातयिष्यसि ॥३॥

स्वयं नष्टः परान्मुखं नाशयिष्यसि यत्नतः ।

अहो शास्ता कथं नास्ति तव मन्दमतेद्विज ॥४॥

सर्वथा त्वद्विनेता च पापो नास्त्यत्र संशयः ।

त्यक्त्वेममाश्रमं विप्र गृही भव यतात्मवान् ॥५॥

पञ्च यज्ञान्सदा विप्र कुरु यत्नपरो भव ।

ततः स्वर्गं परं गत्वा स्वर्गं हि सुमहत्सुखम् ॥६॥

एष श्रेयः पथो विप्र जीविते चेत्स्पृहा तव ।

इत्युक्तवन्तौ धर्मात्मा श्रुत्वा विप्रो जनादर्शनः ॥७॥

उवाच च यति दृष्ट्वा प्रणम्यासी सुनीतवन् ।

मा ध्रूतामीदृशं वाक्यं राजानो मन्दचेतसौ ॥८॥

हस-डिम्भक ने कहा—हे ब्राह्मणो ! मैं आपको इस समय ज्ञान-विहीन देखता हूँ । आपका यह कौन-सा आश्रम है, जिसके अनुसार आप यह सब कर रहे हैं ॥१॥ गृहस्थाश्रम को छोड़ कर यह किनकी साधना की जा रही है । इससे स्पष्ट है कि इसमें दम्भ के अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥२॥ यह भी प्रतीत होता है कि आपके इस कर्म से सभी लोकों का नाश हो जायगा और इस अकर्म के कारण इन सब ब्राह्मणों को नरक की प्राप्ति होगी ॥३॥ अरे सौटी मति वालो ! तुम स्वयं तो नष्ट हो ही चुके हो, परन्तु इससे दूसरे भी नष्ट हो जायेंगे । क्या ऐसे कर्म से तुम्हें कोई रोकने वाला नहीं है ? ॥४॥ इससे प्रतीत होता है कि आपको प्रेरित करने वाले पापात्मा हैं, इसलिये आप इस आडम्बरमय आश्रम को छोड़ कर गृहस्थ बनिये और तब पंच यज्ञों के अनुष्ठान को करते हुए आपको यथेष्ट सुख और स्वर्ग की प्राप्ति होगी ॥५-६॥ हे विप्रो ! यदि जीवन की कामना है तो इसी कल्याण मार्ग को अपनाइये । हम-डिम्भक के इन वचनों को सुन कर ब्राह्मण श्रेष्ठ जनार्दन भयभीत होगया और उसने दुर्वासा को प्रणाम करके उन राजकुमारों से कहा कि आप निश्चय ही मन्द बुद्धि वाले हैं ॥७-८॥

अथाव्यमीदृशं घोरं लोकयोश्चमयोरपि ।
 को वस्तुमोक्षो मन्दात्मा यदि जीवेत्सवान्धवः ॥८॥
 सर्वथा काल एवायं युवयोर्मन्दचेतसोः ।
 समाप्त आयुषः शेषो ब्रह्मदण्डहतो युवाम् ॥९॥
 एते हि यतयः शब्दा ज्ञानदीपितचेतसः ।
 ज्ञानाग्निदग्धकर्माणः प्राणान्प्राणेषु जुह्वन्ति ॥१०॥
 ऋते वामीदृशं वाक्यं कः समर्थो ह्यनुब्रूयन् ।
 सर्वथा ज्ञातमस्माभिः समाप्तमिह जीवितम् ॥११॥
 चत्वार आश्रमाः पूर्वमृषिभिर्विहिता नृपैः ।
 ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः ॥१२॥
 तेषामप्रश्चतुर्योऽयमाश्रमो भिक्षुकः स्मृतः ।
 आस्ते तस्मिन्महाबुद्धिः स हि पुण्यतरः स्मृतः ॥१३॥

अब फिर इस बात को आप न बहेँ, क्योंकि यह वचन इहलोक-परलोक
 —दोनों में ही सुनने योग्य नहीं है । ऐसा कौन मूर्ख होगा जो बच सहित जीवन
 की कामना करता हुआ ऐसे वाक्यों को मुख से निकालेगा ? ॥८॥ यह वाक्य
 तुम्हारे लिये काल के समान है । मुझे प्रतीत होता है कि अब तुम्हारी आयु शेष
 नहीं रही है और तुम पर ब्रह्मदण्ड का आघात होने वाला है ॥९॥ तुम जिन
 बुद्ध अन्तःकरण वाले यत्रियों से ऐसा कह रहे हो, उनके हृदयों में ज्ञान का
 प्रकाश भर गया है । उस ज्ञानाग्नि से इनके सब कर्म भस्म हो चुके हैं और इस
 समय यह प्राणों में अपने प्राणों का दहन कर रहे हैं ॥१०॥ तुम्हारे अतिरिक्त
 इस प्रकार के वचन और कौन बहेगा ? मैं समझता हूँ कि तुम अब नष्ट जीवन
 हो चुके हो ॥ ११ ॥ प्राचीन वागीश ऋषियों ने ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ
 और सन्यास यह चार आश्रम कल्पित किये थे ॥१२॥ उन चारों में सन्यासाश्रम
 को ही सर्वोत्तम माना गया है । इस आश्रम में जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य
 ही बुद्धिमान एवं पुण्यात्मा है ॥१३॥

नोपासिता भयद्भूयां च वृद्धाः सम्यग्गिनीतयत् ।

ज्ञानं नाप्तं तपस्तेभ्यस्तथा ब्रह्मं ब्रूते कः ॥१४॥

अध्राव्यमीदृशं घोरं मया प्राणभृता नृप ।

किं करिष्यामि मन्दात्मन्मित्रत्वाद्भवतो नृप ॥१६॥

ज्ञानं यदाप्तं भवता गुरुम्यस्तदस्य दुःखाय हि केवलं नृप ।

ज्ञानं हि धर्मप्रभवं यथेष्टं वलाद्विपापस्य विघातृरूपम् ॥१७॥

युवां विहाय यास्ये वा पतेयं वा शिलातलम् ।

पिबेयं वा विषं घोरं पतेयं वा महोर्मिषु ॥१८॥

आत्मानं वात्र संत्यक्त्ये पश्यतां शृण्वतां पुनः ।

इत्युक्त्वा विललापैव मा ब्रूतमिति तौ वदन् ॥१९॥

तुम दोनों ने विनयपूर्वक वृद्ध जनो की कमी सेवा नहीं की है, इसी-
लिये तुम्हें उनके द्वारा किसी श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है और तुम्हारे मुख
से इस प्रकार के अनर्गल प्रलाप के होने का भी यही कारण प्रतीत होता है
॥१५॥ हे राजन् ! मैं तो अभी अपने जीवन की वासना किये हुए हूँ, इसलिये
ऐसे अनिष्टकारी यवनो को सुनने की इच्छा नहीं करता । परन्तु तुम्हारे साथ
मित्रता होने के कारण ही आज यह वाक्य सुनने को मिले हैं ॥१६॥ हे राजन् !
तुमने गुरुजी से जिस ज्ञान की प्राप्ति की है, यह आज अनुमय न होने के कारण
दुःख रूप होगया है, क्योंकि ज्ञान को धर्म का कारण होना चाहिये, परन्तु तुम्हारा
ज्ञान पाप का कारण होता हुआ दिखाई देता है ॥१७॥ यदि फिर कभी ऐसी
बात हुई तो मैं तुम्हारा त्याग कर दूँगा और पर्वत से गिर कर प्राण दे दूँगा,
अथवा भयकर विष-पान करके या समुद्र में गिर कर ही जीवन विसर्जित कर
दूँगा ॥ १८ ॥ अथवा तुम्हारे सामने ही मर जाऊँगा । इस प्रकार कहते हुए
जनादेन ने पुनः वही बात न कहने का उन दोनों राजपुत्रों से अनुरोध किया
॥ १९ ॥

॥ महर्षि दुर्वासा का क्रोध ॥

ततः क्रुद्धोऽयं दुर्वासा घृष्टान्निव तयोरमून ।

एकेनाशनाऽयं दुर्वासा रोद्रेणान्वियजा सदा ॥२॥

पश्यंस्ती च दुरात्मानो रोषव्यकुलितेन्द्रियः ।
 कुर्वन्निव तदा लोकान्भस्मभूतानिमान् ॥२॥
 ब्राह्मणं चक्षुषा पश्यन्सीभ्येनान्येन केवलम् ।
 उवाच वचनं राजधन्व सत ध्वंसतेति च ॥३॥
 इतो गच्छत राजानो किं विलम्बत मा चिरम् ।
 न वां वचनसम्भूतं रोषं धारयितुं क्षमे ॥४॥
 धन्यथा वो महीपालान्सर्वान्दिग्धुमहं क्षमः ।
 किमतः साहसं वक्तुं कश्च शक्नोति मत्पुत्रः ॥५॥
 दर्पं वा लोकविख्यातः शङ्खचक्रगदाधरः ।
 व्यपनेष्यति मन्दज्ञो किं वो वक्ष्यामि साम्प्रतम् ॥६॥
 तत उत्थाय धर्मात्मा गन्तुमैच्छद्यतीश्वरः ।
 ततो निपेढुं ह सस्त यत्तते स्म यतीश्वरम् ॥७॥
 तस्य बाहु समादाय हंसो नृपवरोत्तमः ।
 कौपीनं चिच्छिदे क्रूरः कृतान्त इव सत्तम ॥८॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! फिर महर्षि दुर्वासा ने रष्ट होकर उन दोनों को इस प्रकार देखा जैसे उन्हें तत्काल भस्म कर देना चाहते हो । क्रोध के कारण उनकी समस्त इन्द्रियाँ जलने लगी और उस समय वे सब लोको को भस्म करने में उद्यत प्रतीत होने लगे ॥१-२॥ परन्तु, दूसरे नेत्र से उस जनार्दन ब्राह्मण को उन्हीने प्रीति पूर्वक देखा और फिर हंस-उम्भक से कहा—तुम दोनों यहाँ से अविलम्ब चले जाओ । मेरे वचन मानने में किंवित् भी देर मत करो । क्योंकि तुम्हारे वचनो से मैं इतना क्रोधित हो गया हूँ कि, अब उसके बेग को नहीं रोक पा रहा हूँ ॥३-४॥ मैं क्रोधित होने पर तुम समस्त राजाओं को तत्काल भस्म करने में मैं समर्थ हूँ, मेरे सामने ऐसे वाक्य कौन बोल सकता है ? ॥५॥ मैं तुमसे अधिक कुछ नहीं कहना चाहता, तुम्हारे इस गर्व को शत-पद्म-गदाधारी भगवान् श्रीहरि ही धूँल कर देंगे ॥६॥ यह कह कर धर्मात्मा दुर्वासा यहाँ से चलने लगे तभी राजकुमार हंस ने उन्हें हाथ पकड़ कर रोका और यमराज के सामान कर होकर उन्हीं कौपीन फाड़ दी ॥७-८॥

यतयोऽन्ये पलायन्ति दिशो दश विचेतसः ।
 कष्टं हंति वदन्विप्रो मित्रभावाज्जनार्दनः ॥८६॥
 न्यवारयद्यथाशक्ति किमिदं साहसं त्विति ।
 दुर्वासाः सत्यधर्मस्तु हन्तुमीशोऽपि तं ततः ॥८७॥
 मन्दं मन्दमुवाचेदं हंसं द्विभक्तमेव च ।
 शापेनाहं समर्थोऽपि हन्तुं राजकुलाघमौ ॥८८॥
 तथापि न करोम्यन्तं यतयो ह्यस्य ते वयम् ।
 यो हि देवो जगन्नाथः केशवो यादवेश्वरः ॥८९॥
 शङ्खचक्रगदापाणिगर्वं वा व्यपनेष्यति ।
 लोके तस्मिन्यदुश्रेष्ठे रक्षत्येवं जगत्पती ॥९०॥
 भुवयोः सर्वथा जीवः सज्जीव इति मे मतिः ।
 जरासन्धोऽपि वां बन्धुः स च वक्तुं न चेच्छति ॥९१॥

यह देव कर आश्रम में निवास करने वाले अग्यान्य मुनिजन वहाँ से भागने लगे । तभी जनार्दन ब्राह्मण ने कहा—कैसे दुःख का विषय है, आप ऐसा दुःसाहस क्यों कर रहे हैं ? यह कह कर उसने राजकुमारों को निवारण करने का बहुत प्रयत्न किया । उसी समय उन्हें भस्म कर देने में समर्थ महर्षि दुर्वासा ने उनसे मधुर शब्दों में कहा—धरे राजकुल में वयम कुमारों ! मैं अपने तपो-बल से तुम्हें अभी नष्ट कर सकता हूँ, परन्तु यदि होने के कारण हम पैदा नहीं करना चाहते । आज इस पृथिवी का शासन यादवेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण कर रहे हैं, यही तुम्हारे अर्द्धाक्षर मद को नष्ट करेंगे । उन जगत्पति भगवान् श्रीकृष्ण के शासन-काल में तुम जीवन धारण विधे हुए हो, यह भी तुम्हारे विधे कम सीमाव्य की बात नहीं है । यद्यपि राजा जरासन्ध तुम्हारा बन्धु है, परन्तु तुम्हारी जैसी दूषित वाणी तो उमके मुग से भी न निश्चये ॥८६-९१॥

ईदृशं सोऽविद्विष्टं ग हि धर्मपथे सदा ।
 एतावता स वां बन्धुनं हि भूयो नयिष्यति ॥९२॥
 विद्वेषो ह्यस्तु वां तस्य भाग्यस्य महीवतेः ।
 श्रुत्वेदं घोररूपं तु ग हि बन्धुः सरेन चेत् ॥९३॥

धर्मनाशो भवेत्तस्य नात्र कार्या विचारणा ।

इत्युक्त्वा गच्छ गच्छेति हंसं प्राह पुनः पुनः ॥१७॥

जनादंनमुवाचे द दुर्वासा यतिसत्तमः ।

स्वस्त्यस्तु तव विप्रेन्द्र भक्तिरस्तु जनादने ॥१८॥

संगतिस्तव तस्यास्तु शङ्खचक्रगदाभूतः ।

अद्य श्वो वा परश्वो वा साधुरेव सदा भवान् ॥१९॥

न हि साधोर्विनाशोऽस्ति लोकयोरुभयोरपि ।

गच्छ सर्वं पितुर्ब्रूहि ज्ञात्वा वृत्तं यथाऽखिलम् ॥२०॥

तुम्हारे ऐसे व्यवहार को देख कर धर्म पथ पर चलने वाला जरासन्ध भी तुम्हें बन्धु कह कर सम्बोधित न करेगा ॥१७॥ यदि इस वृत्तान्त को यह भगधराज सुन लेगा, तो तुमसे अपनत्व का त्याग कर देगा । यदि ऐसा न करेगा तो उमका धर्म नष्ट होने में भी सन्देह नहीं है । यह कह कर महर्षि दुर्वासा ने हस्त-डिम्भक को वहाँ से चले जाने के लिये बारम्बार कहा और फिर विप्र जनादंन से बोले—हे विप्रेन्द्र ! तुम्हारा भगल हो और भगवान् श्रीहरि के चरणों में तुम्हारी अविचल भक्ति बनी रहे ॥१८-१९॥ तुम्हें उन शङ्ख-चक्र-गदाधर भगवान् के दर्शन अवश्य प्राप्त होंगे और तुम आज, कल या परसो में से किसी दिन भी यथार्थ रूप में साधु हो जाओगे ॥२०॥ इहलोक या परलोक में—साधु का विनाश वही भी नभव नहीं है । अब तुम अपने घर जाकर अपने पिताजी को भी इस सम्पूर्ण वृत्तान्त से अवगत करो ॥२०॥

॥ दुर्वासा का द्वारका जाना ॥

ततस्तीह सडिम्भको कृद्धो कालेन चोदितो ।

शिक्यं कमण्डलु चैव द्विदलं दारुमेव च ॥१॥

दण्डान्पात्रविशेषांश्च छित्त्वा भित्त्वा च सर्वशः ।

तस्मिन्देसे महाराज व्याघ्रं मीमान्यदीदहन् ॥२॥

भक्षयित्वा ततो देवात्स्वपुरीतो प्रजग्मतुः ।

जनादंनयच धर्मात्मा स्नेहादनुययौ तयोः ॥३॥

नष्टाविमाविति तदा स भेने दुःखितः परम् ।
 गतेषु तेषु सर्वेषु दुर्वासा यतिसत्तामः ॥४
 पलायनपरान्सर्वानिदं प्राह यतीश्वरान् ।
 इतो देशाद्विनिगंत्य पुष्करात्पुण्यसंयुतात् ॥५
 मन्दं मन्दं समाश्वास्य विश्रम्य च ततस्ततः ।
 प्रविश्य द्वारका देव शंखचक्रगदाधरम् ॥६
 दृष्ट्वा च तस्मै प्रभवे वक्ष्यामो यतिसत्तामाः ।
 स हि रक्षञ्जगदिदं धर्मवर्त्मनि सस्थितः ॥७
 आद्यो लोकगुरुर्विष्णुर्यतात्मा तत्त्ववित्प्रियः ।
 उद्धृत्य कण्टकान्सर्वाञ्छिशास पृथिवीमिमाम् ॥८
 स च पापान्महाघोरान्सर्वान्पापवृत्तान्प्रभुः ।
 रक्षेन्नः सकलान्सर्वाञ्जानेषु नियतात्मनः ॥९

येशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! फिर इस-दिग्भक्त ने बाल के यशी-
 मूत होकर उन मुनियों के दिनय, कमण्डलु, दण्ड तथा और भी अनेकों पात्रों को
 तोड़-फोड़ दिया और फिर अपने नगर में यापित आगये । उस समय जनार्दन
 ब्राह्मण भी उनके पीछे-पीछे चल रहा था ॥१-३॥ परन्तु मार्ग में वह मन ही मन
 विचार कर रहा था कि यह दोनों राजा मृतक जैसे ही होगये । जब यह लोग वहाँ
 से चले आये, तब महर्षि दुर्वासा ने वहाँ से भागते हुए यतियों को रोखते हुए
 कहा—हे यतिगो ! भय मत करो । अब इस पुण्यमय पुष्कर क्षेत्र को छोड़ कर
 हम शीघ्र ही द्वारकापुरी के लिये चल दें और वहाँ दंष्ट-खट्वा-गदाधर भगवान्
 श्रीकृष्ण को यह सब वृत्तान्त सुनावें, क्योंकि वे विश्व-ज्ञातृ भगवान् नगर में
 परम ने एक मात्र प्रवर्तक हैं ॥४-७॥ वे ही सब प्रपञ्च के मूल कारण, सभी के
 परम गुरु और संयतात्मा हैं । तत्त्व-ज्ञानियों के लिये वे अत्यन्त ही प्रिय हैं ।
 जब वे कंटकाशील पृथिवी के सभी बाँटों को हटा कर उसका शासन करते हैं,
 तो वे ही दुराधरण में प्रवृत्त इन पापियों का मर्दन करके हमारी सब प्रशंसा
 रखा करेंगे ॥८-९॥

इदमद्य क्षमं विप्रा यानमद्य विधीयताम् ।
 साहसं यत्कृतं ताभ्या पात्रभेदादि सत्तमा ॥१०॥
 एतत्सर्वं मन्त्रेण दर्शयाम जनार्दनम् ।
 तथेति ते प्रतिज्ञाय यतयो ज्ञानचक्षुषः ॥११॥
 छिन्नं ताभ्या समादाय शिष्य दाक्षम्यं तथा ।
 द्विदलं कर्पटं च व कौपीनमथ वल्कलम् ॥१२॥
 कमण्डलुं तथा राजन्नर्घं प्रोतकपालकम् ।
 एतान्ग्यान्समादाय द्रष्टुं केशवमाययु ॥१३॥
 पञ्च च व सहस्राणि पुरस्कृत्य महामुनीन् ।
 दुर्वाससं तपोयोनिमीश्वरस्यात्मसं भवम् ॥१४॥
 अहोरात्रेण ते सर्वे द्वारका वृष्णपालिताम् ।
 ययुर्दान्ता महात्मानो लोमशा केशवजिताः ॥१५॥
 प्रातः प्रविश्य राजेन्द्र पापिकाया यतीश्वराः ।
 स्नात्वापोस्पृश्य ते सर्वे यत्नेन महता तदा ॥१६॥
 द्रष्टुमभ्युद्यता विष्णु वृण्टकोदृतितत्परम् ।
 एकरूपं समास्थाय सुघर्मायामवस्थितम् ॥१७॥

इसलिये अब हमें आज ही यहाँ से चल देना चाहिये । उन पापियों ने हमारे जिन पापों की तोड़-फोड़ दिया है, उन्हें भी भगवान् की दिलाते के लिये साथ ही से चलें । ऐसा स्थिर करके उन सभी ज्ञानचक्षु यतिगण ने अपने बाण्ड्युक्त शिष्य, द्विदल, कर्पट, कौपीन, वल्कल वस्त्र, कमण्डलु आदि वस्तुओं की साथ लेकर द्वारका के लिये प्रस्थान किया ॥१०-१३॥ इस यात्रा में महर्षि दुर्वासा सब से आगे और पाँच हजार यतिगण उनके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥१४॥ केन-रहित और केन-युक्त वे सभी महर्ष्या दिन-रात यात्रा करते हुए द्वारकापुरी में जा पहुँचे तब उन रात्रि के प्रातः-काल के समय बावली में स्नान किया और निश्चय नैमित्तिक कर्म से निवृत्त हुए ॥१५-१६॥ फिर उन सब ने अद्भुत और मनोमत्त स्वरूप धारण किया और तुरन्त ही सुघर्मा समा में प्रतिष्ठित भगवान् श्रीवृष्ण के दर्शनार्थ चल दिये ॥१७॥

॥ दुर्वासा का श्रीकृष्ण से सम्भाषण ॥

अथ सर्वेश्वरो विष्णुः पद्मकिञ्जल्कलोचनः ।
 श्यामः पीताम्बरः श्रीमान्प्रलम्बाम्बरभूषणः ॥१॥
 किरीटी श्रीपतिः कृष्णो नीलकुञ्चितमूर्द्धजः ।
 अव्यक्तः शाश्वतो देवः सकलो निष्कलः शिवः ॥२॥
 क्रीडाविहारोपगतः कदाचिदभवद्धरिः ।
 कुमारैरपरैः साद्धं सात्यकिप्रमुखं नृप ॥३॥
 गोलक्रीडां सुधर्माया मध्ये यादवसत्तमः ।
 चकार प्रियकृत्कृष्णो युयुधानेन केशवः ॥४॥
 ममाय प्रथमो गोलस्तव पश्चाद्भुविष्यति ।
 इति ब्रूवन्स्तदा विष्णुः सात्यकिं कमलेक्षणः ॥५॥
 पार्श्वस्था यादवास्तस्य वसुदेवपुरोगमाः ।
 उदयप्रमुखा राजन्नासेदुः खविदसवै ॥६॥
 अन्यव्यापाररहितो भूतात्मा भूतभावनः ।
 विजहार यथा रामः सुग्रीवेण पुरा नृप ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! उस समय कमल भवन, श्याम वर्ण, पीताम्बर, भव्य यज्ञ, थोड़ा अलवार और किरीटकारी, अव्यक्त कृष्ण वर्ण के निरने और कुंचित केत माने सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण सात्यकि आदि यादव पतिवर्गों के साथ क्रीडा करने के लिये उत्पन्न होकर गुप्तार्थ सभा में विराजमान थे ॥१-३॥ यादव थोड़ा भगवान् श्रीकृष्ण उम गमा में विराजमान होकर सात्यकि के साथ गोनी क्रीडा में लगे थे । क्रीडा के आरम्भ में ही उन्होंने सात्यकि से कहा कि—हे सात्यकि प्रथम मैं गोनी फेंदूंगा, फिर तुम पंजना ॥४-५॥ उस समय वसुदेवजी और उदयजी प्रवृत्ति यादव गण सभा में बड़ी अरुणित थे ॥६॥ जंग पेशागुम में सुधीव के साथ भगवान् श्रीराम केनेते थे, थोड़े ही बोई बायें न होंगे पर भगवान् श्रीकृष्ण भी गेम में लग जाते थे ॥७॥

मध्यं दिने महाविष्णुः शंनेयेन सहाच्युतः ।
 विक्रीड्य सुचिरं कृष्ण उपारंसीत्स यादवः ॥८॥
 द्वाःस्थेन वारिताः पूर्वं द्वार्येव च समास्थिताः ।
 इदमन्तरमित्येवं विविशुस्तां सभां नृप ॥९॥
 यतयो दीर्घतपसः पुरस्कृत्य तपोधनम् ।
 दुर्वाससं सुमनसो ददृशुर्वादिवेश्वरम् ॥१०॥
 गोलक्रीडासमासक्तं करसंस्थितगोलकम् ।
 पद्मपत्रविशालाक्षं विष्णुं तं सात्यकि हरिम् ॥११॥
 एकेनाक्षणा ह्लादयन्तं परेणान्येन गोलकम् ।
 यतयश्च महाराज प्रत्यदृश्यन्त तत्पुरः ॥१२॥
 वृष्णिपः पुण्डरीकक्षः सात्यकिर्वलभद्रकः ।
 वसुदेवस्तथाऽक्रूर उग्रसेनस्तथा नृप ॥१३॥
 अन्ये च यादवाः सर्वे सभ्रमं प्रतिपेदिरे ।
 इदं किमिदमित्येवं व्याशङ्कमनसोऽभवन् ॥१४॥
 पृष्ठतोऽप्यनुगच्छन्ति दिग्धक्षन्त जगत्त्रयम् ।
 अर्धकौपीनवसनं स्मरन्तं कमपि द्विजम् ॥१५॥
 अन्तस्तापसमायुक्तं छिन्नदण्डधरं यतिम् ।
 अन्तर्ज्वलन्तं रोषेण हंसासादितकल्मषम् ॥१६॥

उम श्रीडा के चलते हुए मध्याह्न काल होगया, तब उनकी एक बाजी पूर्ण हुई ॥८॥ उन तपस्वी यतियों को सभा-द्वार पर पहुँचे हुए कुछ देर हो चुकी थी और द्वारपाल द्वारा रोके जाने पर वे सभा स्थल में प्रविष्ट नहीं हो सके थे । फिर अनुमति प्राप्त होने पर वह सम्पूर्ण मुनि-समूह सभा भवन में आ पहुँचा ॥९-१०॥ तब उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने हाथ में गोली लिये हुए, सात्यकि के गाय श्रीडा में लग्न हो रहे हैं ॥ ११ ॥ उस समय वे एक नेत्र से श्रीडा को और दूसरे नेत्र से उन आये हुए यतियों को देख रहे थे ॥ १२ ॥ उन यतियों के सहित महर्षि दुर्वासा को वहाँ आये देख कर भगवान् श्रीकृष्ण, वसुदेव, सात्यकि, अक्रूर, उग्रसेन श्री सभा-स्थल में उपस्थित

यादवगण विस्मय पूर्वक उनकी ओर देखने लगे ॥ १३१४ ॥ उस समय महर्षि दुर्वासा की भयकर मुद्रा को देख कर ऐसा प्रतीत होता था कि उनके क्रोधानल में पड़ कर नीनो लोक भस्म हो जायेंगे । उनके मुख पर उनके मन का सन्तप्त और चिन्तनशील होना स्पष्ट आभासित हो रहा था । उनके हाथ में टूटा हुआ दण्ड स्थित था तथा वे एक आधी कौपीन धारण किये हुए थे और हस्त के द्वारा तिरस्कृत होने के कारण क्रोधानल का कोप बढ़ रहा था ॥१५-१६॥

नेत्रोत्थितमहार्वाहं प्रेक्षन्त यादवेश्वरम् ।
 दुर्वासस ते ददृशुर्भीता यादवसत्तमा ॥१७
 किं करिष्यत्यसौ क्रुद्ध किं वा वक्ष्यति न प्रभु ।
 इति प्राञ्जलय सर्वे यादवा प्रतिपेदिरे ॥१८
 इदमासनमित्येव किञ्चिदूचुश्च वृष्णय ।
 ततः कृष्णो हृषीकेश किञ्चिदुत्प्लुत्य तत्पुर ॥१९
 इदमासनमित्येव स्थीयतामिह निवृत्त ।
 अहमद्य स्थितो विप्र किंकरोऽस्मीति चाब्रवीत् ॥२०

वे जब भगवान् वृष्ण की ओर देख रहे थे तब उनके नत्रों से रोप की पवाला निकलती प्रतीत हो रही थी । इससे सभी यादव नितान्त भयभीत होकर विचार करने लगे कि अब न जाने कौन-सी विपत्ति आने वाली है और हमारे स्वामी इनसे क्या कहेंगे ? ऐसा तक विचार करते हुए वे यादव महर्षि के सामने हाथ जोड़ कर खड़े होगये ॥१७-१८॥ फिर उन यादवों ने महर्षि से कहा—हे महर्षे ! आप वृषया इस आसन पर विराजमान हों । सभी सहसा भगवान् श्री-वृष्ण भी शीघ्रता से उठ कर महर्षि के सामने जाकर बोले—हे ब्रह्मन् ! यह आसन है इस पर मुझ पूर्वक बैठिये, और अपने मुझ सबको आज्ञा कीजिये ॥ १९-२० ॥

ततः किञ्चिदवासीन आसने र्थातिथिग्रह ।
 आसने स स्थिते तस्मिन्मृतयो धीतमत्सरा ॥२१

आसनानि यथायोग भेजिरे निर्वृता. किल ।
 अर्धादिसमुदाचार चक्रे कृष्णः किरीटभूत् ॥२२
 आह भूयो हृषीकेशो यति दुर्वामस प्रभुम् ।
 किमर्थं ब्रूहि विप्रेन्द्र अस्मिन्प्रत्यागमो हि यः ॥२३
 दृष्टं वा ह्ययवा किञ्चित्कारण चास्ति वो महत् ।
 स-यासिनो द्विजश्रेष्ठा ययं विगतवल्मषा ॥२४
 निःस्पृहाश्च सदा यूयमस्मत्तो द्विजपुङ्गवाः ।
 प्राढ्यं नाम न चेवास्ति स्पृहा नैवास्ति वो यत ॥२५
 स्पृहाप्रेरितकर्माणि क्षत्रियान् यान्ति सुव्रताः ।
 निहप्यमाणमस्माभिर्विप्र किञ्चिन्न दृश्यते ॥२६
 न जाने कारण ब्रह्मन्धुष्मदागमन प्रति ।
 एतावता चानुमेय किञ्चित्कारणमस्ति वै ॥२७
 तद्ब्रूहि यदि विद्येत त्वत्तो ज्ञास्यामहे वयम् ।
 इत्युक्तवति देवेशे चक्रपाणी जनाहने ॥२८
 तस्यापि राणन्विप्रस्य भूयः कोपो महानभूत् ।
 तस्मादभ्यधिकः पूर्वात्कोपः सजायते महान् ॥२९

यह सुन कर यति श्रेष्ठ दुर्वासा उम आसन पर बैठ गये तब अन्यान्य यतिगण भी यथा योग्य स्थान पर विराजमान हुए तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्घ्य-पादादि देकर यथोचित पूजन के पश्चात् उनसे कहा—हे विप्रेन्द्र ! आप अपने यहाँ पधारने का प्रयोजन बताने की कृपा करिये ॥ २१-२३ ॥ आप सर पाप-रहित देह वाले और स-यास मार्ग पर चलने वाले श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं ॥२४॥ इसलिये हम से आपकी कुछ कामना तो हो नहीं सकती, फिर आपके आने का क्या कारण, यह बहुत कुछ विचारने ने पश्चात् भी हम स्थिर नहीं कर पा रहे हैं ॥२५॥ रतना ही समझ रहे हैं कि अवश्य ही कोई विशेष कारण रहा होगा, अन्यथा इतनी दूर चल कर आने से क्या तात्पर्य था ? कुछ भी हो, आपको इस स्थिति में देख कर हम अत्यन्त दुःखी होते हैं ॥ २६-२८ ॥

कारण कहने की कृपा कीजिये । हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण के वचन सुन कर महर्षि दुर्वासा के हृदयस्थ क्रोध में कई गुणा वृद्धि होगई ॥२६-२६॥

दिग्दक्षन्निव लोकांस्त्रीन्भक्षयन्निव पश्यतः ।

रोषरक्तेक्षण. क्रुद्धो हसन्निव दहन्निव ॥३०

खदाच्च वचनं विष्णुं दुर्वासाः क्रोधमूर्च्छितः ।

न जाने इति कस्मात्त्वं त्रूपे नो यादवेश्वर ॥३१

जानामि त्वां महादेवं वञ्चयन्निव भाषसे ।

पुरातना वयं विष्णो पूर्ववृत्तान्तवेदिनः ॥३२

यथा हि देवदेवोऽसि मायामानुषदेहवान् ।

निगूहसे प्रभुरतः कस्मान्नो जगतीपते ॥३३

सोऽसि ब्रह्मविदां मूर्तिस्तवैतत्परमं पदम् ।

यदम्यच्चं पुरा ब्रह्मा यच्च ज्ञाना वयं पुरा ॥३४

यतो विश्वमिदं भूतं तदेतत्परमं पदम् ।

यच्च स्थूलं विजानन्ति पुरा तत्त्वेन चेतसा ॥३५

उस समय उनकी आकृति ऐसी होरही थी, जैसे वे देखने मात्र से ही चीनी लोको का भक्षण कर लेंगे अथवा उन्हें भस्म कर डालेंगे । फिर भी उन घोषासवन नयनो वाले महर्षि दुर्वासा ने भगवान् श्रीकृष्ण से हँसते हुए ही कहा — हे मादवेश्वर ! आऽ अनजान क्यों बन रहे हैं ? क्योंकि मैं तो आपको महादेव समझता हूँ, तब आप अपने मायामय वचनों में भ्रमाना क्यों चाहते हैं ? हे विष्णो ! आप पुरातन होने के कारण अनेक प्राचीन वृत्तान्तों के ज्ञाना हैं ॥३०-३२ ॥ आप तो देवताओं के भी देवेश्वर हैं, आपने अपनी माया से ही इस रूप को धारण किया है, फिर हे पृथिवीपते ! आप अपने को हमसे क्यों छिपा रहे हैं ? ॥३३॥ वेद के जानने वाले ज्ञानीजन आपने जिस रूप को मानते हैं और उन्हें ध्यानागत में जो रूप प्राप्त होता है, आप वही रूप एव वही परमपद हैं । हे प्रभो ! प्राचीन समय में ब्रह्माजी के सहित हम सभी मुनिजन जिग तस्य को गठन करने भी न जान सके तथा बहुत-से ब्रष्ट उद्भूत कर अन्ध में हम जिस

सत्त्व का निरूपण कर सके तथा जिसके द्वारा यह सगार उत्पन्न हुआ है, वह परमपद आप ही हैं ॥३४-३५॥

पुराविदोऽथ विश्वेश तदेतत्परम वपु ।
कर्मणा प्राप्यते यत्तु यत्स्मृत्वा निवृत्ता वयम् ॥३६॥
प्रत्यक्षमपि यद्रूप नैव जानन्ति मानुषा ।
नहि मूढधियो देव न वय तादृशा हरे ॥३७॥
न जाने इति यद्रूपे किमत साहस वच ।
ये हि मूल विजानन्ति तेषा तु प्रविवेचनम् ॥३८॥
कुर्वत किं फल देव तव केशिनिषूदन ।
वेदान्ते प्रथित तेजस्वव चेद विचार्यते ॥३९॥
ये च विज्ञानतृप्तास्तु योगिनो धीतकल्मषा ।
पश्यन्ति हृत्मरोजेऽपि तदेवेद वपु प्रभो ॥४०॥
वेदैर्यदगीयते तेजो ब्रह्मेति प्रतिपाद्य वै ।
तदेवेद विजानेऽह रूपमेश्वरमेव च ॥४१॥
वैष्णव परम तेज इति वेदेषु पठ्यते ।
अवगच्छाम्यह विष्णो तदेवेद वपुस्तव ॥४२॥

हे हरे ! पुरावेत्ताओ ने अपने सत्त्व ज्ञान की शक्ति से शरीर का स्थूल कह कर निरूपण किया है, परन्तु जिसे विविध कर्मों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और जो अत्यन्त आनन्ददायक है, उस रूप के प्रत्यक्ष होते हुए भी सामान्य जीव जानने में समर्थ नहीं होते, उस प्रकार के मूढ़ बुद्धि मनुष्य हम नहीं हैं ॥३६-३७॥ आपने द्वारा अनभिज्ञता प्रकट किये जाने पर मुझे बड़ा विस्मय है । हे केशव ! जिनके लिये ससार का सभी वृत्तान्त दृष्टिगोचर है, उनसे अपनी अनभिज्ञता प्रकट करने से लाभ भी क्या है ? वेदान्त के अध्ययन द्वारा आपने जिस स्वरूप का विशिष्ट चिन्तन करते हैं और जो स्वरूप पवित्र देह वाले ज्ञानी योगियों को हृदय में दिखाई देता है, हे प्रभो ! आरका यह स्वरूप नहीं जो है ॥३८-४०॥ आपके जिस रूप का वेदों में प्रतिपादित होने के कारण

पण्डितजन सदा गुण गान किया करते हैं, आपके उम ईश्वरीय रूप से मैं भने प्रकार परिचित हूँ ॥ ४१ ॥ हे नाथ ! वेदो ने जिस परम तेजोमय स्वरूप का वर्णन किया है, वह तेज-सम्पन्न देह आपका ही तो है ॥ ४२ ॥

य ओमित्युच्यते शब्दो यस्य वागिति गीयते ।
 स एवासि प्रभो विष्णो न जाने इति मा वद ॥ ४३ ॥
 परोक्षं यदि किञ्चित्स्यात्तव वक्तुं प्रयुज्यते ।
 न जाने इति गोविन्द मा वादी साहस हरे ॥ ४४ ॥
 विश्वं यदा प्रादुरासीद्यस्मिँल्लोनं क्षये सति ।
 इदं तदैश्वरं तेजस्त्ववगच्छामि केशव ॥ ४५ ॥
 कर्ता त्वं भूतभव्येश प्रतिभासि सदा हृदि ।
 यद्यद्रूपं स्मरे नित्यं तत्तादेवासि मे हृदि ॥ ४६ ॥
 वायुरेव यदा विष्णुरिति मे धीयते मतिः ।
 तदा तद्रूपमेवासि हृन्मध्ये संस्थितो विभो ॥ ४७ ॥
 आकाशो विष्णुरित्येव कदाचिद्धीयते मतिः ।
 तदा तद्रूपमेवासि हृन्मध्ये संस्थितो विभो ॥ ४८ ॥
 पृथिवी विष्णुरित्येतत्कदाचिद्धीयते मतिः ।
 तदा पार्थिवरूपस्त्वं प्रतिभासि सदा मम ॥ ४९ ॥

जो ओंकार एव वाणीमुक्त वह कर प्रगट है, वह वाणी मय प्रणव आप ही हैं, इनत्रिये आपकी अनजान नहीं बनना चाहिये ॥ ४३ ॥ यदि आप परोक्ष में कुछ कहना चाहते हैं तो ध्वनय ही बँगा करें, परन्तु अनजान न बनें ॥ ४४ ॥ हे नाथ ! यह सत्कार जिस देह से उत्पन्न होकर उठी मैं विनीत होया है, वह तेजस्वी देह आपका ही है, इसे मैं भने प्रकार जानता हूँ ॥ ४५ ॥ हे भूत भव्येश्वर ! मैं अपने हृदय में आपकी कर्ता रूप में स्थित समझता हूँ और मैं जब जिस स्वरूप का स्मरण करता हूँ, तब आप उगी रूप में मेरे समक्ष प्रत्यक्ष होते हैं ॥ ४६ ॥ हे प्रभो ! जब मैं जाने हृदय में आपकी वायु के रूप में देतना चाहता हूँ, तब आप मुझे वायु रूप में अवगम्य प्रतीत होते हैं ॥ ४७ ॥ जब मैं

आपका आकाश रूप से ध्यान करता हूँ तब आप आकाश स्वरूप ही दिखाई देते हैं ॥४८॥ जब ऐसी भावना होती है कि आप पृथिवी स्वरूप हैं तब आप मुझे पृथिवी के रूप में ही दिखाई देते हैं ॥४९॥

रसोऽयं देव इत्येव कदाचिच्चिन्त्यते मया ।
तदा रसात्मना विष्णो हृन्मध्ये सस्थितो विभो ॥५०॥
यदा त्वं तेज इत्येवं स्मर्ता स्या पुरुषोत्तम ।
तदा तद्रूपस पन्नः प्रतिभासि सदा हृदि ॥५१॥
चन्द्रमा हरिरित्येवं तदा चान्द्रमसं वपु ।
निरीक्ष्य चक्षुषा देव ततः प्रीतोऽस्मि केशव ॥५२॥
यदा सौरं वपुरिति स्मर्ता स्या जगतीपते ।
तदा तद्भावनायोगात्सूर्य एव विराजसे ॥५३॥
तस्मात्सर्वं त्वमेवासि निश्चिता मतिरीदृशी ।
अतो न जानेऽहमिति वक्तुं नेशो जनार्दन ॥५४॥
इत्यर्थे संस्थितो विष्णो पीडा नो नैव चिन्त्यसे ।
अत्यन्तदुःखिता विष्णो वयं त्वामनुसंस्थिताः ॥५५॥
ईदृशीयमवस्था नो नैता स्मरसि केशव ।
एतत्पुनर्भाग्यमतो नष्टमित्येव चिन्तये ॥५६॥

जब कभी आप रस रूप में प्रतीत होते हैं, तब आप रस स्वरूप ही दिखाई देने लगते हैं ॥५०॥ जब आपके प्रति तेज बुद्धि होती है, तब आप हृदय में तेज स्वरूप होकर ही प्रकट हो जाते हैं ॥ ५१ ॥ हे केशव ! जब मैं आपको चन्द्रमा समझता हूँ तब आप चन्द्रमा रूप से प्रत्यक्ष होते हैं ॥५२॥ जब मैं सूर्य रूप से आपका स्मरण करता हूँ, तब आप सूर्य रूप से हृदय में दिखाई देते हैं ॥५३॥ इसीलिये हे जनार्दन ! मुझे विश्वास है कि आप ही सर्व स्वरूप हैं, अतः आप अपने को किसी विषय से अनभिज्ञ मत कहिये ॥५४॥ क्रीडा में तन्मय होने के कारण आप हमारे सबट की ओर ध्यान नहीं दे पाये हैं, हे विष्णो ! हम अत्यन्त प्रसन्न होकर

घोर विपत्ति की ओर कुछ ध्यान नहीं दिया है, इसी से हमें प्रतीत होता है कि अब हमारा सौभाग्य नष्ट होरहा है ॥५६॥

मन्दभाग्या वयं विष्णो यतो नो न स्मरेः प्रभो ।

कौचित्क्षत्रियदायादौ गिरीशवरगवितौ ॥५७

नाम्ना हंसडिम्भको च वाधेते नो जनार्दन ।

गार्हस्थ्यं हि सदा श्रेयो वदन्ताचिति केशव ॥५८

इतस्ततश्च धावन्तो वदन्तो बहु किल्बिषम् ।

अयुक्तं बहु भापन्तो धर्पयन्तो च नः सदा ॥५९

इदमन्यत्कृतं देव असह्यं पापमुच्यते ।

पश्येदं बहुधा देव भिन्नं भिन्नं सहस्रशः ॥६०

शिक्यं च दारवं पात्रं द्विदलान्वेषुकाग्वहून् ।

इदमप्यपरं पश्य तयोः साहसचेष्टितम् ॥६१

कौपीनं बहुधा छिन्नं तदस्माकं महद्वनम् ।

कृतं कपालमास्त्रेण कण्ठस्तु जगत्प्रभो ॥६२

त्वं तु नो रक्षसे नित्यं क्षात्रं यं व्रतमास्थितः ।

चित्तं चित्रमिमं देव रक्षस्मसि सदाऽनिशम् ॥६३

हे प्रभो ! इस प्रकार अब हम भाग्यहीन होगये हैं, इसीलिये तो आपने भी हमारी ओर ध्यान नहीं दिया है । हे ईश्वर ! हंस और डिम्भक नामक दो क्षत्रिय पुत्र भगवान् संकर से घर प्राप्त करके अत्यन्त गवित होगये हैं, उन्होंने हमें बड़ा दुःख दिया है । उनका कहना है कि गृहस्थाश्रम ही सदा ब्रह्माण्डप्रद है ॥५७-५८॥ इधर-उधर विचरण करते हुए उन दोनों ने हमसे धनक अश्वमान-जनक और अयुक्त शब्द कह कर हमारा घोर निररवार किया है ॥५९॥ यह देखिये हमारे शिक्य, द्विदल, वग-दण्ड तथा अग्न्यान्य पात्र भी उन्होंने तोड़-थोड़ दिने और हमारे मृदापत्र स्वल्प कौपीन को भी पाड़ डाला । उन्होंने मेरे कण्ठस्थ को फोड़ कर उसे भी सत्कार मान रहने दिया है ॥६०-६२॥ आरने क्षत्रिय धर्म

के पालन पूर्वक हमारी सदा रक्षा की है, फिर भी ऐसी विचित्र घटना घटित हो ही गई ॥६३॥

किं करिष्यामि मन्दात्मा मन्दभाग्या वयं विभो ।
 किन्नः शरणमद्यैव तद्ब्रूहि जगतां पते ॥६४
 जीवन्ती तौ यदि स्यातां नष्टा लोका इमे त्रयः ।
 न विप्रा न च राजानो न वैश्या न च पादजाः ॥६५
 अत्यन्तबलिनो मत्तो तीक्ष्णदण्डधरो नृपौ ।
 न तयोः पुरतः स्थातुं शक्ता देवाः सवासवाः । ६६
 न च भीष्मो न वा राजा बाह्लीको भीमविक्रमः ।
 यो हि वीरो जरासन्धः क्षत्रियाणां भयकरः ॥६७
 नैव च प्रायशः स्थातुं गिरीशवरदपिणोः ।
 तयोः कृष्ण हरे शक्तो नित्यमप्रतिसङ्गिनोः ॥६८
 तस्मात्त्वं जहि तौ वीरौ रक्ष लोकानिमात्रभो ।
 अन्यथा रक्षसीत्येव व्यर्थः शब्दोऽत्र जायते ॥६९
 बहुनाऽत्र किमुषतेन रक्ष रक्ष जगत्सयम् ।
 इत्युक्त्वा विररामैव दुर्वासाः क्रोधमूर्च्छितः ॥७०

हे विभो ! अब हम अगामे क्या करें ? हम आपकी शरण में आये हैं, अतः हमारी रक्षा का उपाय भी आप ही बताइये ॥६४॥ वे दोनों क्षत्रिय-कुमार नष्ट न हुए तो तीनों लोकों का ही नाश कर डालेंगे और तब विप्र, राजा, वैश्य और शूद्र में से कोई भी श्रेय न बचेगा ॥६५॥ वे दोनों ही महाबली और घोर दण्ड धारण करने वाले हैं । इन्द्रादि देवता भी उनका सामना करने में समर्थ नहीं हैं ॥ ६६ ॥ भीष्म, राजा बाह्लीक तथा क्षत्रियों के लिये अत्यन्त भयावह महावीर जरासन्ध भी उन शिव-वरदानियों के सामने नहीं टिक सकते । इसलिये हे हरे ! हे कृष्ण ! आप शीघ्र ही उन दोनों को मार कर त्रैलोक्य-रक्षण का कार्य कीजिये । अन्यथा आपके 'रक्षक' नाम का क्या अर्थ रह जायगा ? ॥ ६७-६९ ॥ हे नाथ ! बहुत कष्ट व्यर्थ है, आप शीघ्र ही तीनों लोकों को बचाइये, यह कह कर मूर्छित दुर्वासा क्रोध से मुँह-मूँह होगये ॥७०॥

॥ भगवान् के यहाँ मुनियों का भोजन ॥

यतेर्वचनमाकर्ण्य मन्दमुच्छ्वस्य केशव ।
 दुर्वाससं समालोक्य बभाषे यादवेश्वरः ॥१॥
 क्षन्तव्यं भवता सर्वं दोष एव ममैव हि ।
 शृणु वाक्यं ममैतत् श्रुत्वा शान्तिपरो भव ॥२॥
 जेष्यामि तौ रणे विप्र हंसं डिम्भकमेव च ।
 गिरीशो वा वरं दद्याच्छक्रो वा धनदोऽपि वा ॥३॥
 यमो वा वरुणो वाऽपि ब्रह्मा वाऽथ चतुर्मुखः ।
 सबलो सानुजो हत्वा पुनर्दास्यामि वो रतिम् ॥४॥
 सत्येनैव शपाम्यद्य मा रोषवशगो भव ।
 रक्षा वोऽहं करिष्यामि हत्वा तौ च नृपाधमौ ॥५॥
 जानामि तौ दुरात्मानौ युष्मद्दोषकरो हि तौ ।
 श्रुतं च पूर्वमस्माभिस्तीक्ष्णदण्डधराविति ॥६॥
 अत्यन्तबलिनी मत्तौ गिरीशवरदपितौ ।
 नात्पप्रयत्नसं साध्यौ जरासन्धहितं पिणौ ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! यदि श्रेष्ठ दुर्वासाजी की बात
 सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण ने एक दीर्घ श्वास छोड़ी और फिर उनकी ओर देखते
 हुए बोले ॥१॥ हे ब्रह्मन् ! यह सभी दोष मेरा है, इसलिये मेरे अपराध को
 क्षमा करके मेरी बात सुनें ॥२॥ भगवान् शंकर, सुरपति इन्द्र, धनपति कुबेर
 अथवा यम, वरुण, ब्रह्मा आदि में से किसी ने भी उन्हें वर प्रदान किया हो,
 तो भी मैं सदैवपूर्वक कहता हूँ कि इस- डिम्भक को मार कर आप सब की
 अवश्य ही रक्षा करूँगा ॥३-५॥ मुझे शान्त है कि उन्होंने आपको अत्यन्त बल
 दिया है, क्योंकि आपने दण्डित किये जाने का समाचार मैं पहिले ही सुन चुका
 हूँ ॥६॥ वे महाबली भगवान् शंकर के वरदान से अत्यन्त अटकारी हो गये हैं
 और जरासन्ध के बाधव होने से भी न्यून बल द्वारा वश में नहीं किये जा
 सकते ॥७॥

प्राणानपि तयो राजा दास्यत्येव न शंशयः ।
जरासन्धो महीपालो विना तौ जयते महीम् ॥८॥
जये तयौविप्रवर्यं तस्य श्रेयो भवेत्ततः ।
यत्र यत्र तु तौ गत्वा स्थितावित्यनुशुश्रुम ॥९॥
तत्र तस्य च हन्ताऽहं नास्ति कार्या विचारणा ।
गच्छध्वं यतयः स्वरं निजकार्यपरायणाः ॥१०॥
अचिरेणैव कालेन जेष्यामि रणपुङ्गवौ ।
ततः प्रीता प्रसन्नात्मा थादवेश्वरमाह सः ॥११॥
स्वस्त्यस्तु भवते कृष्ण जगता स्वस्ति कुर्वते ।
किन्तु नाम जगन्नाथ दु साध्य तव केशव ॥१२॥
सिलोकेश त्रिधामाऽसि सर्वसंहारकारकः ।
देवानामपि देवेश सर्वज्ञ समदर्शनः ॥१३॥
विष्णो देव हरे कृष्ण नमस्ते चक्रपाणये ।
नमः स्वभावशुद्धाय शुद्धाय नियताय च ॥१४॥
शब्दगोचर देवेश नमस्ते भक्तवत्सल ।
अज्ञानादथवा ज्ञानाद्यन्मयोक्तं क्षमस्व तत् ॥१५॥
स्वमेवाहं जगन्नाथ नवयोरन्तरं पृथक् ।
अतः क्षमस्व भगवन्क्षमासारा हि साधवः ॥१६॥

राजा जरासन्ध उनका प्राणुपन से साथ देगा, इस लिये वह उन दोनों का सहायक न हो सके, ऐसा प्रयत्न करना होगा । इसी प्रकार उन्हें जीता जा सकता है, इसके लिये मैं यथोचित उपाय करूँगा । वे जहाँ जहाँ जाय, वही-वहीं उनको मारने का अवसर देखना होगा । अब आप यहाँ हैं पणारे, मैं अवश्य ही उनका सहार करूँगा ॥८-१०॥ भगवान् श्रीकृष्ण के सान्त्वनापूर्ण वचनों से दुर्वासाजी को अत्यन्त हर्ष हुआ और वे बहने लगे ॥११॥ हे कृष्ण ! हे जगन्नाथ ! हे केशव ! आपके द्वारा ही विश्व का कल्याण सम्व है, क्योंकि आपके लिये कोई भी कार्य असंभव नहीं हो सकता ॥१२॥ आप तीनों लोकों के स्वामी, तीन धाम रूप, सर्व संहारी, देवताओं के भी ईश्वर, सर्व व्याप्त तथा समदर्शी

हैं ॥१३॥ हे विष्णो ! हे देव ! हे हरे ! हे चक्रपाणे ! आपको नमस्कार है ।
 मैंने जाने, अनजाने में यदि कुछ अनुचित वचन बहे हों तो उन्हें क्षमा करने की
 कृपा करें ॥१४-१५॥ हे भगवन् ! हे जगन्नाथ ! आपका ही कहना है कि आप
 में और मुझ में कोई भेद नहीं है, फिर साधुजन तो वैसे ही क्षमावान् रहते हैं,
 इसलिये भी आप मुझे क्षमा कीजिये ॥१६॥

क्षन्तव्यं भवता विप्र क्षमासारां वयं सदा ।
 संन्यासिनः क्षमासाराः क्षमा तेषां परं बलम् ॥१७
 क्षमा मोक्षकरी नित्यं तत्त्वज्ञानमिव द्विज ।
 क्षमा धर्मः क्षमा सत्यं क्षमा दानं क्षमा यशः ॥१८
 क्षमा स्वर्गस्य सोपानमिति वेदविदो विदुः ।
 तस्मात्सर्वप्रयत्नेन क्षमां पालयत स्वकाम् ॥१९
 प्रत्यक्षज्ञानसंयुक्ता यूयं सर्वे यतीश्वराः ।
 य एते यतयो विप्राः पूजनीया मयाऽद्य वै ॥२०
 भोक्तव्या यतयो विप्रा भिक्षुकाः सर्वे एव हि ।
 सथेति ते प्रतिज्ञाय भोक्तुमच्छन्हरेर्गृहे ॥२१
 ततः स्वभवनं विष्णुः प्रविश्य हरिरीश्वरः ।
 चतुर्विधं तथाऽऽहारं कारयित्वा यथाविधि ॥२२
 भोजयामास तान्सर्वान्यतीन्यतिवराचितः ।
 छित्त्वा छित्त्वा च देवेशो दुकूलानि मृदूनि सः ॥२३
 ददौ तेभ्यस्तदा विष्णुः सर्वेभ्यो जनमेजय ।
 ते च प्रीता यथायोगं यथापूर्वं ततो गताः ॥२४

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—हे ब्रह्मन् ! मैं तो सदा ही क्षमा-युक्त रहता, हैं,
 परन्तु इस समय तो आप मुझे क्षमा करें, क्योंकि संन्यासियों के लिये तो क्षमा
 ही परम बल है ॥१७॥ हे ब्रह्मन् ! तत्त्व ज्ञान के समान ही क्षमा से भी मोक्ष
 की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि क्षमा ही धर्म, क्षमा ही सत्य, क्षमा ही दान
 और क्षमा ही यश है ॥१८॥ वेद-ज्ञानियों ने क्षमा को ही स्वर्ग की सोपान कहा

है, इसलिये क्षमाबल की सावधानी से रक्षा करनी चाहिये ॥१६॥ समस्त यतिगण प्रत्यक्ष ज्ञान वाले होते हैं, इसलिये जो यतिगण यहाँ पधारे है, उन सबकी आज पूजा करूँगा ॥२०॥ वैसे भी आप सब भिक्षुक हैं, इसलिये आज मेरे यहाँ भोजन करने की कृपा करें। भगवान् के इस अनुरोध को दुर्वासा आदि यतियों ने मान लिया ॥२१॥ तदनन्तर भगवान् ने अपने भवन में जाकर उनके लिये चार प्रकार की भोजन सामग्री तैयार कराई और उन्हें यथाविधि भोजन से तृप्त किया और श्रेष्ठ मृदु वस्त्र में से फाड़-फाड़ कर उन्हें पहनने को प्रदान किया। हे राजन् ! उनके द्वारा इस प्रकार सत्कृत हुए यतिगण अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनका गुण-गान करते हुए अपने नियत हुए स्थान को गये ॥२२-२४॥

॥ हंस के दूत का श्रीकृष्ण के यहाँ आना ॥

दुर्वासास्त्वय तत्रैव नारदेन महात्मना ।
चिन्तयन्ब्रह्मणस्तत्त्वं विजहार यथासुखम् ॥१॥
भगवानपि गोविन्दस्तयोर्वसिममन्यत ।
ततस्तौ हंसडिम्भकौ तस्मिन्काले महीपतिम् ॥२॥
ब्रह्मदत्तं महीपालं पितरं वीर्यशालिनम् ।
प्रावोचतामिदं वाक्यं समन्ताज्जनसंसदि ॥३॥
राजसूयं महायज्ञं पितः कुरु सुयत्नतः ।
अस्मिन्मासि नृपश्रेष्ठ यतावो यज्ञसिद्धये ॥४॥
आवा तेऽद्य महाराज दिशा विजयतत्परी ।
मतिष्ठ्यावो बलैः सार्द्धं गजैरश्वै रथैरपि ॥५॥
संभारा यज्ञसिद्धयर्थं मानेतव्या नृपोत्तम ।
तयेति स महाबाहो ब्रह्मदत्तोऽब्रवीत्तदा ॥६॥
जनार्दनस्तु विप्रेन्द्रो दृष्ट्वा साहसतत्परी ।
अशक्यमिति मन्वानो वयस्यं हंसमब्रवीत् ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! फिर महर्षि दुर्वासा ने द्वारका में नारदजी के पास निवास किया और उनके साथ ब्रह्मउत्सव पर चर्चा करते हुए

आनन्दपूर्वक समय व्यतीत करने लगे ॥१॥ भगवान् ने भी उन दोनों के वहाँ रहने का अनुमोदन किया था । इधर हंस-डिम्भक अपने पिता के पास पहुँचे और वहाँ उन्होंने सब सभासदों की उपस्थिति में कहा—हे पिताजी ! अब आप राजसूय यज्ञ का आरम्भ कीजिये । हम इसी महीने में यज्ञ को सम्पन्न कराने के लिये विशेष रूप से प्रयत्नवान् होगे ॥२-४॥ आज ही हम रथ, अश्व, गज, पंढर सेना और सामन्तों की साथ लेकर दिग्विजय करने के लिये यहाँ से चल पड़ेंगे ॥५॥ हे नृपोत्तम ! अब आप यज्ञ की समस्त सामग्रियों के एकत्रित किये ज नें विययक आदेश दीजिये । पुत्रों की यह बात सुन कर राजा ब्रह्मदत्त ने कहा—ठीक है, यही करो ॥६॥ परन्तु उस समय हंस-डिम्भक की इस व्यवस्था दुःसाहस पूर्ण कामना को सुन कर ब्राह्मण श्रेष्ठ जनार्दन से अपने सखा हंस से इस प्रकार कहा ॥७॥

शृणु हंस वचो मह्यं श्रुत्वा निश्चित्य वीर्यवान् ।

आयुष्मन्साहसं कर्तुमुद्यतोऽसि नृपोत्तम ॥८॥

स्थिते भीष्मे जरासन्धे बाह्लीके च नृपोत्तमे ।

किं च वीरेषु सर्वेषु यादवेषु नृपोत्तम ॥९॥

भीष्मो हि बलवान्वृद्धः सत्यसन्धो जितेन्द्रियः ।

सिःसप्तकृत्वः पृथिवी यो जिगाय भृगूत्तमः ॥१०॥

तं युद्धे जितवान्भीष्मः सर्वक्षसस्य पश्यतः ।

जरासन्धस्य यद्वीर्यं तद्भवान्वेत्ति संयुगे ॥११॥

घृष्णिवीरास्तु ते सर्वे कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ।

तत्र कृष्णो हृषीकेशो जितशत्रुः कृत्ती सदा ॥१२॥

जरासन्धेन सहितः सदा युद्धे जितश्रमः ।

प्रमुद्ये तस्य न स्यातुं शक्तो जीवन् नृपोत्तमः ॥१३॥

यत्नमद्रस्तथा मत्ताः क्रुद्धो यदि भवेद्वली ।

सोऽपानिमान्समाहृतुं शक्नोतीति मतिर्मम ॥१४॥

हे सगे ! पहले मेरी बात पर विचार करो, फिर अपना बर्ताव स्थिर करना । मैं तो समझता हूँ कि तुम्हारा यह निश्चय केवल एक दुःसाहस मात्र है

॥८॥ इस समय भीष्म, जरासन्ध, बाह्लीक और वीर श्रेष्ठ यादव इस पृथिवी पर विद्यमान हैं, उन सब के रहते हुए तुम्हारा ऐसे कार्य में उद्यत होना अवश्य ही अनुचित कार्य होगा ॥९॥ जिन भृगुवशी परशुरामजी ने इस पृथिवी को इक्कीस बार क्षत्रिय-विहीन किया था, उन्हीं को जितेन्द्रिय भीष्म ने असंख्य क्षत्रियों की उपस्थिति में हरा दिया था । फिर जरासन्ध का पराक्रम भी तुमसे छिपा हुआ नहीं है ॥१०-११॥ वृष्णीवशी वीर भी सब प्रकार के युद्धों में कुशल हैं, उनमें भगवान् श्रीकृष्ण ने तो असंख्य शत्रुओं को जीता है ॥१२॥ उन्होंने अनेकों बार जरासन्ध से युद्ध किया है, रणभूमि में उनका सामना करने वाला कोई भी राजा जीवित नहीं रहता ॥१३॥ बलीगन्धर्व बलरामजी यदि किसी प्रकार दृष्ट हो जाय तो वे अकेले ही त्रिलोकी का विनाश करने में समर्थ हैं ॥१४॥

तथा च सात्यकिर्वीरः शक्तो जेतुं रणे रिपून् ।
 तथाऽन्ये यादवाः सर्वे कृष्णमाश्रित्य द शिताः ॥१५॥
 अस्माभिश्च कृतः पूर्वं विरोधो यतिभिः सह ।
 दुर्वासा यतिभिः मार्ढं गतो द्रष्टुं स केशवम् ॥१६॥
 इति श्रुतं नृपश्चेष्ट ब्राह्मणाद्भोक्तुमागतात् ।
 तथा सति तथा सिद्धयेत्ताया चिन्त्यं च मन्त्रिभिः ॥१७॥
 ततः पश्चाद्विधास्यामो राजसूयं महाकतुम् ।
 को नाम भीष्मो मन्दात्मा वृद्धो हीनबलः सदा ॥१८॥
 आवयोः पुरतः स्थातुं शक्तः स किल वृद्धकः ।
 यादवा इति चिन्तं न शक्ताः स्थातु रणे द्विज ॥१९॥
 कश्च कृष्णः पुरः स्थातुं बलदेवश्च मत्तकः ।
 शंनेयश्चापि विप्रैर्द्र स्थातुं न इति चिन्तय ॥२०॥

यादववीर सात्यकि भी युद्ध में शत्रुओं को परास्त करने की क्षमता रखते हैं और भगवान् श्रीकृष्ण के आश्रय में रहने वाले अन्यान्य यादवगण भी असाधारण वीर हैं ॥१५॥ भोजन करने के लिये यहाँ आने वाले ब्राह्मणों ने बताया था कि हमारे द्वारा दुर्ध्वंहरप्रसूत महर्षि दुर्वासा अनेकों यतियों के

सहित भगवान् श्रीग्रन्थ के पास द्वारका पहुँच गये हैं ॥१६-१७॥ यदि राजसूय यज्ञ ही करना चाहते हो तो प्रथम अपने मंत्रियों से मन्त्रणा करके संभावित सक्तों से बचने का उपाय करलो । जनार्दन के यह विचार सुनकर हंस बोला—अरे, मन्दात्मा भीष्म तो अब बंसे ही बलहीन हो चुका है ॥१८॥ युद्ध क्षेत्र में वह बूढ़ हमारा क्या सामना करेगा ? हाँ, यादवगण हमारा सामना करें तो कोई विस्मय का विषय नहीं है ॥१९॥ परन्तु, तुम यह विश्वास रखो कि बलराम, कृष्ण या सात्यकि में से कोई भी यादव मेरा सामना करने में समर्थ नहीं होगा ॥२०॥

जरासन्धस्तु धर्मात्मा बन्धुरेव सदा मम ।
 गच्छ विप्र यदुश्रेष्ठं ब्रूहि मद्बचनात्स्वरम् ॥२१॥
 दीयतां करसर्वं स्वं यज्ञार्थं सुन्दरं बहु ।
 लवणानि बहून्यद्य गृह्य केशव मा विरम् ॥२२॥
 बागच्छ त्वरितं कृष्ण न ते कार्यं विलम्बनम् ।
 इति ब्रूहि यदुश्रेष्ठं याहि त्वरितविक्रमः ॥२३॥
 न ब्रूयाश्चोत्तरं विप्र शपेयं त्वां प्रियोऽसि मे ।
 मित्रभावादिदं ब्रूहि पश्यामि त्वां पुनः पुनः ॥२४॥
 इति स चोदितो विप्रो नोत्तरं प्रत्यभाषत ।
 मित्रभावात्ताया राजन् स्नेहाच्च जनमेजय ॥२५॥
 जनार्दनस्तु धर्मात्मा नित्यं गन्तुं समुद्यतः ।
 अद्य श्वो वा परश्वो वा गच्छामीति यतेत सः ॥२६॥
 देवं द्रष्टुं जगद्योनि दाह्यचक्रगदाधरम् ।
 एक एव च धर्मात्मा हयमारुह्य सत्वरम् ॥२७॥
 प्रातरेव जगामाशु द्रष्टुं द्वारवती द्विजः ।
 हरि कृष्णं हृषीकेशं मनसा संस्मरन्निद्विजः ॥२८॥

अब जरासन्ध भी सो—वे धर्मात्मा मेरे बन्धु हैं । इसलिये हे मित्र ।
 गम गुरन्त ही कृष्ण के पास जाकर उन्हें मेरी आज्ञा सुनाओ ॥ २१ ॥ हमारे

राजसूय यज्ञ के लिये कर दो और बहुत सा लवण लेकर अविलम्ब यहाँ आजाओ ।
 उनसे यही कहना है । हे विप्रश्रेष्ठ ! तुम मेरे मित्र हो, इसलिये मेरे इस अनु-
 रोध को मान कर इसी समय कृष्ण के पास जाने के लिये चल दो । तुम्हे मेरी
 शपथ है जो अब इस विषय में तर्क-वितर्क करो ॥२२-२४॥ हंस की बात सुन
 कर जनार्दन ब्राह्मण ने मित्रता के वश फिर कुछ भी नहीं कहा और तभी से
 यह विचार करने लगा कि मैं आज, कल अथवा परसों तक द्वारका अवश्य पहुँच
 जाऊँगा ॥२५-२६॥ वहाँ जाने पर मुझे शस्त्र-चक्र-गदाधारी उन भगवान् श्री-
 कृष्ण के अवश्य ही दर्शन होंगे । फिर उसने प्रातःकाल होने से पहिले ही एक
 श्रेष्ठ अश्व पर आरुढ़ होकर अकेला ही द्वारका के लिये प्रस्थान कर दिया
 ॥ २७-२८ ॥

॥ श्रीकृष्ण द्वारा पौण्ड्रक वध ॥

ततः प्रायाद्धरिं विष्णुं ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।
 ह्येनैकेन राजेन्द्र तरित स ययौ नृप ॥१॥
 यथा निदाघसमये सूर्याशुपरिपीडितः ।
 पान्थो याति जलं दृष्ट्वा त्वरित तत्पिपासया ॥२॥
 धावत्येवं तथा विप्रो हरिं द्रष्टुं जनार्दनः ।
 गच्छन्स चिन्तयामास चोदयन्ममुत्तमम् ॥३॥
 हंस एव प्रियो मह्यं कुर्यात्प्रियहित मम ।
 तथाहि प्रे पितस्तेन हरिं पश्याम्यहं प्रभुम् ॥४॥
 अहमेव सदा धन्यो मत्तो ह्यभ्यधिको न हि ।
 यतो द्रक्ष्याम्यहं विष्णुं वसन्तं द्वारकापुरे ॥५॥
 सा हि मे जननी धन्या हरिं दृष्ट्वा पुनर्गन्तुम् ।
 कृतार्थं सर्वदा देवी द्रक्ष्यत्येषा मनस्विनी ॥६॥

श्री वंशम्पायनजी कहने लगे—जिस प्रकार धीप्प श्वेतु में सूर्य के ताप
 तथा प्यास से पीडित कोई पथिक जगज्जग को देखकर शीघ्रतापूर्वक उसकी

तरफ अग्रसर होता है उसी प्रकार हम का मित्र वह जनार्दन ग्राह्याण घोड़े पर सवार श्रीकृष्ण की नगरी द्वारका की ओर जाने लगा ॥१-२॥ चलते-चलते वह अपने मन में सोचता जाता था कि इस वास्तव में मेरा प्रिय मित्र है, क्योंकि उसी की प्रेरणा से ऐसा अवसर आ सका कि मैं द्वारका जाकर भगवान् कृष्ण के दर्शनो का लाभ ले सकूँगा ॥३-४॥ आज जब मैं द्वारका पहुँच कर साक्षात् भगवान् के दर्शन करके अपने नेत्रों को सफल करूँगा तब मुझ से बढ़ कर भाग्यशाली और कौन हो सकेगा ? ॥५॥ जब मैं भगवान् का दर्शन परचे पर लौटूँगा तो मेरे पुण्य के प्रभाव से मेरी माता भी कृतार्थ हो जायगी और अपने बौ धन्य मानने लगेगी ॥६॥

मुमुक्षुर्निद्रहेमाब्जकिञ्जल्कसदृशप्रभम् ।
 द्रक्ष्यामि देवदेवस्य चक्रिणं शङ्खधन्वनं ॥७
 वपुर्द्रक्ष्याम्यहं विष्णोर्नौलोत्पलदलच्छवि ।
 शङ्खचक्रगदाशङ्खवनमालाविभूषितम् ॥८
 नेत्रे ते देवदेवस्य पद्मकिञ्जल्कसप्रभे ।
 पश्याम्यहमदीनात्मा नष्टदुःखोऽस्मि निर्वृतः ॥९
 अपि द्रक्ष्याति योगारमा सोम्येनैव स्वचक्षुषा ।
 अपि वा मत्प्रियं ग्रायात्स्वस्ति चेति च वा वदेत् ॥१०
 द्रक्ष्यामि चक्रिणीं वर्ष्मं ततस्त्रैलोक्यसन्निभम् ।
 पादाब्जं चक्रिणो द्रष्टुं त्वरत्येव च मे मनः ॥११
 यदा मयल सदा विष्णो स्फुरद्ग्लानप्रभायुतम् ।
 पश्यन्निव च गच्छामि स्मरश्चानिशमोश्चरम् ॥१२
 पीतवीशेषवसनं लम्बहारविभूषितम् ।
 ईषत्स्मिन्नाधरं विष्णुं पश्यामि च पुनः पुनः ॥१३
 स्मरतश्च हरे रूपं रोमहर्षोऽयमोदृशः ।
 गच्छन्तश्च पुरो भाति शङ्खचक्रगदासिमान् ॥१४

मैं परम धन्य हूँ कि आज मैं शङ्ख धनुष तथा मुद्रांग चक्र के धारण

करने वाले जगतपूज्य भगवान के स्वर्ण कमल के समान सुन्दर मुखारविन्द को देखूँगा ॥७॥ आज मैं भगवान का शंख-चक्र, गदा, शार्ङ्ग घायु युक्ता तथा वन-माला से विभूषित नील कमल के सदृश्य सुन्दर स्वरूप देख कर कृतकृत्य हो जाऊँगा ॥८॥ जब मैं पद्म किजल्क के समान सुन्दर, उन भगवान के अनुपम नेत्रों को देखूँगा, तो मेरे समस्त दुःख तत्क्षण अवश्य ही दूर हरे जायेंगे ॥९॥ क्या वे योगात्मा महाप्रभु मुझे प्रेमयुक्त दृष्टि से देखेंगे ? मुझसे प्रेमपूर्वक वार्तालाप करेंगे ? मैं उनके मुख से मधुर वाक्यों को सुन सकूँगा ? ॥१०॥ मेरा मन उन चक्रपाणि भगवान कृष्ण के चरण कमलों को देखने के लिये उत्सुक हो रहा है, जिनके भव्य स्वरूप में तत्त्वतः सम्प्र त्रिलोकी व्याप्त है ॥११॥ मैं उन्हीं महामहिमान्वित भगवान का ध्यान करता चल रहा हूँ जिनका वक्षस्थल सदैव रत्नों से अलङ्कृत रहता है ॥१२॥ पीताम्बर तथा कौशेय वसनधारी और बड़े-बड़े हारों से सुशोभित, किञ्चित मुस्कराते हुये अघरो से युक्त भगवान का दर्शन मैं बारम्बार करूँगा ॥१३॥ अब भी उनके लोकोत्तर मनोरम रूप का स्मरण करके मुझे रोमांच हो रहा है । यद्यपि अभी मैं मार्ग में चल ही रहा हूँ, पर मुझे ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो वे शंख-चक्र-गदा-शार्ङ्ग धारी भगवान मेरे सम्मुख ही खड़े हैं ॥१४॥

मातीव च पुरो भाति मह्यं देवो जगद्गुरुः ।

एषोऽयमिति, मे वक्तुं जिह्वा प्रस्फुरतीव तम् ॥१५॥

इदं दुःखतरं मन्ये करं देहीति यद्वचः ।

इदं तत्साहसं मन्ये तद्वचस्तस्य भूपतेः ॥१६॥

हंसस्य करदो विष्णुस्तदाज्ञापरिचारकः ।

तस्य सर्वं पुरो गत्वा वक्ताऽहं किल निर्दयः ॥१७॥

मूढानामग्रणीरस्मि निर्लज्जश्च तथा वदन् ।

करं देहि हरे विष्णो हंसस्य यदुपुङ्गव ॥१८॥

लवणानि बहून्पाशु दातव्यानि करात्मना ।

इति वक्तुं न मे युक्तं परतस्तस्य शार्ङ्गिणः ॥१९॥

तथाऽपि मित्रभावात्तु हंसस्य घोरमीदृशम् ।

कष्टो ह्ययं मित्रभावो मनुष्याणां कृतात्मनाम् ॥२०॥

इतना ही नहीं मुझे तो इस समय भी कि वे सामने ही जान पड़ रहे हैं और मेरी जिह्वा यह कहने के लिये फड़क रही है कि 'ये वे ही हैं' ॥१५॥ पर उनके सामने पहुँच कर हंस के आदेशानुसार मैं उनसे ऐसा किस प्रकार कह सकूँगा कि—“हे कृष्ण ! तुम कर दो ।” यह तो मेरे लिये अत्यन्त कष्टकर बात होगी । अथवा उनसे यह बहना कि “तुम राजा हंस के कर-दाता हो—भाजाकारी सेवक हो” मेरे लिये किस प्रकार संभव होगा ? ॥१६-१७॥ जब मेरे मुख से ये शब्द निकलेंगे कि “तुम कर प्रदान करो और बहुत-सा नमक इकट्ठा कराके राजा हंस के पास पहुँचाओ—तो उस समय मुझसे बड़ कर मूल्य और लज्जाहीन और कौन कद्दा जायगा ? उन शाङ्ग घनुधारी भगवान के सामने ऐसी बात निकाला कै ? हस्त्यास्पद होगा ॥१८-१९॥ किन्तु राजा हंस का दूत और मित्र होने के कारण मुझे घोर अनुचित बातें भी भगवान से कहनी पड़ेगी । निस्सन्देह सत्पुरुषों के लिये बड़े लोगो की भिन्नता भी बड़ी कठिन होती ॥२०॥

अथवा सर्वविद्विष्णुः सर्वस्य हृदि सस्थितम् ।

जानात्येव सदा भावं प्राणिनां शोभने रतः ॥२१॥

तथा सति न मे दोषो मित्रभावो यतो ह्ययम् ।

सर्वथा रक्षतां विष्णुर्घोरं वक्तुं यतस्य मे ॥२२॥

द्रक्ष्याम्यहं जगन्नाथं नीलकुञ्चितमूर्द्धजम् ।

कम्बुग्रीवाधरं विष्णुं श्रीवत्साच्छादितोरसम् ॥२३॥

स्फुरत्पद्ममहाबाहुं रत्नच्छायाविराजितम् ।

द्रक्ष्यामि केशवं विष्णुं चक्रिणं यादवेष्वरम् ॥२४॥

अचिन्त्यविभवं देवं भूतभव्यभवत्प्रभुम् ।

आत्मेच्छया जगद्रक्षं द्रक्ष्यामि जलशायिनम् ॥२५॥

कृतार्थः सर्वथा चाहं भवामि विगतज्वरः ।

अद्य मे सफलं जन्म साक्षाद्दृष्टवती हरिम् ॥२६॥

अद्य मे सफला यज्ञा साक्षात्कृतवतो हरिम् ।

नेत्रे मे सफले विष्णुं पश्यतश्च जगन्मयम् ॥२७॥

पर तो भी वे विष्णु भगवान के रूप में सबके हृदयों में निवास करते हैं और सभी प्राणियों के वास्तविक मनोभाव को अच्छी तरह जानते ही रहते हैं । इसलिये वे स्वयमेव समझलेंगे कि यह कठिन कार्य भुक्तों मित्रता के कारण विवश होकर करना पड़ रहा है । हे भगवान् । मेरा मुख जो अत्यन्त भयङ्कर शब्द कहने को उद्यत हो रहा है उसे मेरा दोष न समझ कर क्षमा ही करेंगे ॥२२॥ आज मैं उन भगवान को, जिन्हें जगन्नाथ, कुंचितकेश, कम्बुग्रीव, श्रीवत्सलाधित, महाबाहु रत्नविम्बधर, के लव, विष्णु, चक्रधर, यादवेश्वर, अचित्ता वैभव सम्पन्न, जलशायी आदि अनेक नामों और विशेषणों से स्मरण किया जाता, उनको इच्छा भर के देखूँगा ॥२३-२६॥ उन कृष्ण भगवान के दर्शनों से निःस्सन्देह मैं कृतार्थ हो जाऊँगा, मेरा जीवन सफल हो जायगा, मैंने जो यज्ञादि किये हैं वे भगवान का साक्षात्कार होने से सफल हो जायेंगे और उन जगत्पति विष्णु भगवान को देखने मात्र से मेरे नेत्रों का होना सार्पक हो जायगा ॥२६-२७॥

प्रीतिमानस्तु मे विष्णुर्वक्तुर्घोरस्य कर्मण ।

उन्मिषन्नेतयुग्मेन द्रव्यामि सकृदीश्वरम् ॥२८॥

आमूलमसकृद्विष्णुं पश्यामि च पुनः पुनः ।

पिबामि नेतयुग्मेन वपुः कृष्णस्य केवलम् ॥२९॥

धारयिष्याम्यहं पांसुं तत्पादप्रभवं शिवम् ।

ततः वृत्तार्थतां यास्ये स्वर्गं मार्गं हि तद्रजः ॥३०॥

मेघगम्भीरनिर्घोषं श्रोष्यामि च हरेः स्वरम् ।

पादान्जं चक्रिणोः विष्णो पश्यामि च जगत्पते ॥३१॥

पश्यामि च हरेर्वक्त्रं पूर्णन्दुसदृशप्रभम् ।

हरेरिदं जगद्रूपं पश्यामीव च सर्वतः ॥३२॥

प्रसीदतु सदा विष्णुरयुक्तं वक्तुमिच्छतः ।

आलोलकुण्डलयुतं हरिचन्दनचचितम् ॥३३॥

स्फुरत्केयूररत्नार्चिर्बाहुद्वयविराजितम् ।

सव्ये द्योतन्महाशख रश्मिजालविराजितम् ॥३४॥

प्रोद्यद्भास्करवर्णाभि चक्रज्वालाविराजितम् ।

प्रोज्ज्वलत्कङ्कणयुत तप्तजाम्बूनदाङ्गदम् ॥३५॥

किन्तु उसी अवसर पर मेरे मुख से जो अशोभनीय वाक्य निकलेंगे उन्हें सुन कर वे अप्रसन्न होंगे या नहीं, इसका कोई निश्चय नहीं । तो भी आज मैं उनका मन भर कर दर्शन करूँगा इसमें सन्देह नहीं । मैं उनको नख से शिख तक बारम्बार निहारूँगा और अपने दोनों नेत्रों से उनके सौन्दर्य रूपी सुधा का इन्द्रानुसार पान करूँगा । आज मैं उनकी चरण रज को अपने मस्तक पर चढाऊँगा और उससे अपने जीवन को शान्तिपुत्र और शीघ्रक करूँगा । उनका चरण रज तो स्वर्ग प्रदान करने वाला है ॥३८-३९॥ आज मैं उनका वर्षाकाल के मेघों के समान गम्भीर निर्घोष सुनूँगा । मुझे तो अभी ऐसा जान पड़ता है कि मैं उन भगवान के चरण-कमलों के दर्शन कर रहा हूँ । उनका पूर्ण चन्द्रमा के सदृश्य सुन्दर मूँख मण्डल मुझे दिखाई दे रहा है और उनका विश्वमय रूप मेरे नेत्रों के सम्मुख उपस्थित है ॥३१-३२॥ जिन भगवान के कानों में कुण्डल झूल रहे हैं और समस्त शरीर मलय चन्दन से चचित है वे भगवान मुझ पर प्रसन्न हो और मेरे अशिष्ट वाक्यों से बुरा न मानें ॥३३॥ उनकी भुजाओं में सदा रत्नजडित केयूर शोभायमान रहत हैं, उनसे दाहिने हाथ में महाद्युति वाल शख विराजमान रहता है । सूर्य सदृश्य तेजस्वी चक्र की प्रभा चारों ओर फैली रहती है । वे हाथों में प्रकाशयुक्त कंठण तथा स्वर्ण अगद धारण किये रहते हैं ॥३४-३५॥

प्रीतकौशेयवसनं विस्तीर्णो रस्वमच्युतम् ।

ऋदा द्रव्याणि देवेशानिदानीभयवाञ्छदा ॥३६॥

सर्वथा कृतकृत्योऽहं यद्वपुर्द्रष्टुमुद्यतः ।

नमो मह्यं नमो मह्यं यतो द्रष्टुमह हरिम् ॥३७

उद्यतोऽस्मि जगन्नाथ बलभद्रकृतास्पदम् ।

द्रक्ष्याम्यवश्यमद्यैव जिष्णु विष्णुं जगद्गुरुम् ॥३८

श्रीकौस्तुभोद्भवर्षिच स्फुरितोरुवक्षः पीताम्बरं मकरकुण्डल-
पकजाक्षम् ।

कृष्ण किरीटवरचक्रगदोर्ध्वहस्तं तेजोमयं मम हरेर्वपुरस्तु
भूत्यै ॥३९

वेदोदघौ विशदशास्त्रमहाहियो मे निष्णातशुद्धमतिमन्दरमस्थामाने ।
उद्योतमानममरैरनिश निषेव्य नारायणाख्यममृत प्रपिबामि
चाद्य ॥४०

ध्येयं मुमुक्षुभिरमेयमनाद्यनन्त स्थूलं सुसूक्ष्मतरमेकमनेकमाद्यम् ।
ज्योतिस्त्रिलोकजनक त्रिदशैकबन्ध्यमक्षणोर्ममास्तु सततं हृदये-
ऽच्युताख्यम् ॥४१

चिन्तयन्निति विप्रेन्द्रो ययौ द्वारवती पुरीम् ।

मत्वा कृतार्थमात्मानं बाह्यन्ह्यमुत्तमम् ॥४२

उन पीताम्बर तथा कौशेय बस्त्राधारी भगवान् कृष्ण को मैं शीघ्र ही अवश्य देखूँगा । इससे मैं अपने को कृतकृत्य मानता हूँ और सब प्रकार धन्य मानता हूँ । मैं स्वयं ही इस सौभाग्य के लिये अपने को नमस्कार करता हूँ ॥३६-३७॥ जब मैं बलभद्रजी के साथ विराजमान भुवनपति भगवान् कृष्ण का दर्शन करने को उद्यत हूँ तो मुझ से बढ़कर धन्य और बौन होगा ? उनका बसस्थल कौस्तुभ मणि से शोभायमान रहता है, उनका परिधान पीताम्बर है, नेत्र कमल समान है, कानों में मकरावृत्ति कुण्डल हैं, मस्तक पर किरीट, हाथ में चक्र और गदा विराजमान है—ऐसे भगवान् मेरा कल्याण करें ॥३८॥ शास्त्र रूपा महासर्प के संयोग से

का मयन करके जो अमृत निकाला गया था और देव स्वरूप ज्ञानी जन सदैव जिस पान करते रहते हैं मैं भी आज उन्हीं अपूर्व सुधा का पान करूँगा ॥४०॥ भुक्ति की कामना करने वाले साधक जिनका ध्यान करते रहते हैं, जो सीमातीत, अनादि और अनन्त हैं, जो स्थूल, सूक्ष्म, अद्वितीय अनेक और सब के मूल कारण स्वरूप हैं, जिनसे इस समस्त त्रिलोकी को उत्पन्न करने वाली ज्योति का आविर्भाव हुआ है, समस्त देवगण जिनकी बन्दना किया करते हैं, वे मन और बाण से अगोचर देवादिदेव मेरे हृदय और नेत्रों में विराजमान हो ॥४१॥ हे राजन ! वह हस्त का मित्र जनार्दन विप्र मनमें इस प्रकार वे तर्क-वितर्क करता हुआ वेग से चल कर द्वारका पुरी में प्रविष्ट हुआ ॥४२॥

॥ विप्रदूत की श्रीकृष्ण से भेंट ॥

स निवेदितसर्वंस्थो द्वाःस्थेन हि जनार्दनः ।
 अथ प्रविश्य धर्मात्मा सुधर्मा वै द्विजोत्तमः ॥१॥
 अपश्यद्देवदेवेशं सुधर्माकृतिसंस्थितम् ।
 बलभद्रेण संयुक्तमध्यासितमहासनम् ॥२॥
 अग्रतः स्थितश्चनेयं पार्श्वतः स्थितनारदम् ।
 दूर्वाससा कृतकथमुग्रसेनपुरस्कृतम् ॥३॥
 गायद्वन्धर्वमुख्यंश्च नृत्यदप्सरसां गणैः ।
 सेव्यमानं महाराजं सूतभागधबन्दिभिः ॥४॥
 उद्गीयमानयज्ञसं माधव मधुसूदनम् ।
 उद्गीयमानं विप्रश्च सामभिः सामगैर्हरिम् ।
 दृष्ट्वा प्रीतमना विष्णुं प्रोद्भूतपुलकच्छविः ॥५॥
 नाम्ना जनार्दनोऽस्मीति ननाम चरणी हरेः ।
 बलभद्रं ततो देवं ववन्दे शिरसा द्विजः ॥६॥
 दूतोऽस्मि देवदेव नृसस्य ह्यिन्द्रकस्य च ।
 इति ब्रवाणं विप्रेन्द्रमिदमाह स माधवः ॥७॥

आस्वेदं विष्टरं पूर्वं पश्चाद्ब्रूहि प्रयोजनम् ।

तथेति चाब्रवीद्विप्रो महदासनमास्थित ॥८॥

वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! ब्राह्मण थोड़ा जनार्दन ने द्वारका पहुँच कर द्वारपाल को अपने आने की सूचना देने के लिये भगवान् के पास भेजा और द्वारपाल ने उनसे अनुमति लेकर जनार्दन को सुंघर्मा सभा में पहुँचा दिया ॥१॥ वहाँ जाकर उसने बलरामजी के सहित भगवान् श्रीकृष्ण को बृहद् आसन पर विराजमान देखा ॥२॥ संनैय, सारथिक और उग्रसेनजी उनके सामने और देवर्षि नारदजी पार्श्व में विराजमान थे ॥३॥ गन्धर्वगण गायन कर रहे थे और अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं । सूत भाग्य बदीजन उनका गुण कीर्तन कर रहे थे और ब्राह्मण सामगान में तन्मय थे । इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी सभा की अतीतिक छवि देख कर विप्रवर जनार्दन का हृदय आनन्द के अतिरेक में पुलकित होगया ॥४-५॥ फिर ब्राह्मण जनार्दन ने कहा—हे प्रभो ! मैं जनार्दन नामक ब्राह्मण आपको नमस्कार करता हूँ । फिर उसने बलरामजी को भी नमस्कार किया ॥६॥ इसके पश्चात् उसने कहा—हे देवदेवेश्वर ! मैं हस और डिम्भक द्वारा भेजा हुआ दूत हूँ । यह सुन कर भगवान् ने कहा—अच्छा, आप हस आसन पर बैठ कर अपने आने का प्रयोजन कहिये । तब ब्राह्मण जनार्दन उस श्रेष्ठ आसन पर बैठ गया ॥७-८॥

वाचा स पूज्य विप्रेन्द्रमपृच्छत्कुशल हरिं ।

ब्रह्मादत्तस्य राजेन्द्र ह सस्य डिम्भकस्य च ॥९॥

श्रुत चापि तयोर्वीर्यं प्रयोजनमतो द्विज ।

अपि वा कुशल विप्र पितुस्तव जनार्दन ॥१०॥

कुशल ब्रह्मादत्तस्य पितुश्च मम केशव ।

तयोरेव जवन्नाथ ह सस्य डिम्भकस्य च ॥११॥

किमाहृतुमर्होपालो तो हसडिम्भको नृपो ।

ब्रूहि सवमशेषेण नास्ति शङ्का द्विजोत्तम ॥१२॥

वाच्य वाऽप्ययवाऽवाच्य कतव्यमथ चेतरेत् ।

अ त्वा तस्य विघास्यामो युक्तरूप द्विजोत्तम ॥१३॥

दूतोऽसि सर्वथा विप्र न वाच्यावाच्यकल्पना ।
 यत्कर्मकारनिर्दिष्टं तद्वाच्यं दूतजन्मना ॥१४॥
 नास्ति शङ्का त्वया कार्या वक्यव्यस्येतरस्य च ।
 अतो वद यथा प्रोक्तं ताभ्यामिह जनार्दन ॥१५॥

फिर भगवान् श्रीकृष्ण ने मधुर वचनों से उससे सत्कारपूर्वक ब्रह्मदत्त और उसके पुत्र हंस-डिम्भक की कुशल पूछी और बोले कि मुझे उनकी वीरता के विषय में पहिले से ही ज्ञात है, और हे विप्र ! आप अपने पिताजी की कुशल भी तो कहिये ॥६-१०॥ तब जनार्दन ने उत्तर दिया—हे जगन्नाथ ! हे केशव ! महाराज ब्रह्मदत्त, हंस, डिम्भक और मेरे पिताजी भी कुशल पूर्वक हैं ॥११॥ तदनन्तर भगवान् ने उससे पुनः पूछा—हे विप्रश्रेष्ठ ! अब हंस-डिम्भक ने जो कुछ कहा हो, वह मुझसे कहिये । जो बात यद्यपि रूप में हो उसे निःशक भाव से कह दीजिये ॥१२॥ आपकी बातों को सुन कर ही मैं अपने कर्तव्य पर विचार और निर्णय करूँगा ॥ १३ ॥ हे द्विजोत्तम ! आप तो दूत हैं, इसलिये इसका विचार मत करिये कि सदेश में जो कहा गया है, वह कहने योग्य है या नहीं, क्योंकि राजा की आज्ञा-पालन ही दूत का कर्तव्य है ॥१४॥ उनका कथन उचित है अथवा नहीं, इस विचार विमर्श में पड़ने की आपको आवश्यकता नहीं है, आप तो यथार्थ बात कहने के लिये स्वतन्त्र हैं ॥१५॥

केशवेन वमुक्तस्तु प्रोवाच स जनार्दनः ।
 अजानन्निव किं ब्रूये सर्वं प्रत्यक्षदर्शिवान् ॥१६॥
 न चास्ति ते परोक्षं तु जगद्दत्तान्तमच्युत ।
 सर्व हि मनसा पश्यन्किं त्वमास्थ वदेति माम् ॥१७॥
 विद्वद्भिर्गीयसे विष्णो त्वमेव जगतीपते ।
 इच्छया सर्वमाप्नोषि दृष्टादृष्टविवेचनम् ॥१८॥
 त्वमेवेदं जगत्सर्वं जगन्च त्वयि तिष्ठति ।
 न त्वया रहितो ह्येकः पदार्थः सचराचरः ॥१९॥
 नास्ति किञ्चिदवेद्यं ते सर्वमोऽसि जगत्पते ।
 त्वभिद्भः सर्वभूताना रुद्रः संहारकर्मकृत् ॥२०॥

रक्षिताऽसि सदा विष्णुः सर्वलोकस्य माधव ।

संसारस्य भवान्स्रष्टा किं त्वमात्य वदेति माम् ॥२१॥

भगवान् श्रीकृष्ण के वचन सुन कर जनार्दन ने कहा—हे प्रभो ! आप सब कुछ जानते हुए भी मुझसे अनजान की भाँति क्यों पूछ रहे हैं ? ॥ १६ ॥ विश्व का कोई भी वृत्तान्त आपसे छिपा हुआ नहीं है, और आप अपने मन के द्वारा ही सब कुछ देख रहे हैं, तब मेरे मुख से क्यों कहलवाना चाहते हैं ? ॥१७॥ हे जगतीपते ! हे विष्णो ! विमज्जन सदा आपकी महिमा गाया करते हैं और आप एक स्थान पर स्थित होकर भी संसार भर में जो कुछ हो रहा है, उसे देख सकते हैं ॥१८॥ हे नाथ ! यह संसार आपका ही स्वरूप है, और जो कुछ है, वह सब आप में ही लीन रहता है, आपसे पृथक् तो इस विश्व का कोई भी पदार्थ नहीं है ॥१९॥ हे जगदीश्वर ! कोई भी पदार्थ आपके लिये अविज्ञात नहीं है, क्योंकि आप ही सब प्राणियों के इन्द्र, संहारकर्त्ता रुद्र, पालनकर्त्ता विष्णु तथा जगत्-स्रष्टा ब्रह्मा हैं । फिर उस सन्देश को मेरे मुख से क्यों कहलाना चाहते हैं ॥ २०-२१ ॥

विद्वद्भिर्गीयसे नित्यं ज्ञानात्मेति च माधव ।

प्राणं प्राणविदः प्राहुस्त्वामेव पुरुषोत्तम ॥२२॥

शब्दं शब्दविदः प्राहुस्त्वामेव पुरुषोत्तम ।

तथा सति हृषीकेश किं त्वमात्य वदेति माम् ॥२३॥

तथापि श्रुणु देवेश चोदितोऽस्मि यतस्त्वया ।

वदेत्यसकृदेवं तत्तास्माद्वक्ष्यामि माधव ॥२४॥

राजसूयेन यज्ञेन ब्रह्मादत्तोऽहं यस्यते ।

तदर्थं प्रेषितस्ताभ्यां हंसेन डिम्मकेन च ॥२५॥

करार्थं यदुमुख्येभ्यस्तव चामन्त्रणाय हि ।

लवणं बहु देयं ते यजार्थं तस्य केशव ॥२६॥

इत्यर्थं प्रेषितस्ताभ्यां करं देहि तदाज्ञया ।

इदं त्वमपरं ताभ्यामुक्तं श्रुणु जगत्पते ॥२७॥

लवणानि बहून्पाशु प्रगृह्य त्वरितं भवान् ।
आगच्छतु तयो राज्ञो सेय केशव वाग्विभो ॥२८

हे माधव ! जानी पुरुषो ने आपको ज्ञानात्मा कहा है और प्राणतत्त्वज्ञ आपको प्राण बताते हैं ॥२२॥ शब्द शास्त्री आपको 'शब्द' कहते हैं, फिर भी है पुरुषोत्तम आप मुझ से उस सन्देश की क्यों सुनना चाहते हैं ? ॥२३॥ फिर भी यदि आपका आग्रह ही है तो मैं जो निवेदन करता हूँ, उस पर ध्यान दीजिये ॥ २४ ॥ हे प्रभो ! इस समय महाराज ब्रह्मदत्त राजसूय यज्ञ करने को उद्यत हुए हैं, उसी कार्य से इस डिम्भक ने मुझे यहाँ भेजा है ॥२५॥ मेरे यहाँ आने का मुख्य उद्देश्य यही है कि आपसे कर माँगू यज्ञ के लिये लवण प्राप्त करूँ और आपको निमंत्रण दूँ ॥२६॥ इसलिये, इस समय आप मुझे कर दें और बहुत-सा ममक लेकर यज्ञ स्थान में जाकर उपस्थित हो जायें । यही इस डिम्भक का आदेश है जो मैंने आपको सुना दिया है ॥२७ २८॥

इत्युक्तवति विप्रेन्द्रे दूते तत्र तयोन्प ।
प्रहस्य सुचिरं कृष्णो बभाषे दूतमीश्वर ॥२९
शृणु दूत वचो मह्य युक्तमुक्तं द्विजोत्तम ।
करं ददामि ताभ्यां तु करदोऽस्मि मतो नृपे ॥३०
घाष्ट्यं मेतत्तयोर्विप्रमतो यस्तु करग्रह ।
अहो घाष्ट्यं महो घाष्ट्यं तयो क्षत्रियबीजयो ॥३१
इदमश्रुतपूर्वं मे मत्तो यस्तु करग्रह ।
इत्युक्त्वा केशवो दूतमिदमाह स्म यादव ॥३२
हास्यमेतद्यदुश्रेष्ठा मत्तो यस्तु करग्रह ।
मष्टाऽसौ राजसूयस्य ब्रह्मदत्तो महीपति ॥३३
तौ त याजयितारौ हि ह सोऽडिम्भक एव च ।
बोढा किस यदुश्रेष्ठो लवणस्य दुरात्मन ॥३४
करदो वासुदेवो हि जितोऽस्मि यदुसत्तामा ।
हास्यं हास्यमिदं भूय शृणु ध्वं यादवा वच ॥३५

हस-हिम्भक के दूत जनार्दन की बात सुन कर भगवान् कृष्ण देर तक हँसे और फिर दून से बोले—हे दूत ! आपकी बात मैंने सुन ली, अब आप मेरे वचन सुनिये—मैं आपके राजा को कर अवश्य ही प्रदान करूँगा, परन्तु हे विप्र ! उन क्षत्रिय-पुत्रों भी यह घृष्टता विचारणीय है ॥ २६-३०-३१ ॥ आज तक मुझसे कर प्राप्त करने की कभी किसी ने इच्छा की हो, ऐसा इससे पहिले कभी भी सुनने में नहीं आया । यह कह कर उन्होंने वहाँ उपस्थित यादवों को सम्बोधित करके कहा—हे यादवों ! इस आश्चर्यजनक बात को सुनो कि राजा ब्रह्मदत्त राजसूय यज्ञ करेंगे, इसलिये उन्होंने मुझसे कर भी माँग की है ॥ ३२-३३ ॥ हस-हिम्भक उस यज्ञ को पूर्ण कराधेंगे और हमें उसके सिये नमक छोकर ले चलना होगा ॥ ३४ ॥ हे यादवों ! मैं महाराज ब्रह्मदत्त को कर देने वाला प्रजाजन हूँ । इससे तो यही प्रतीत होता है, जैसे मुझे उसने परास्त कर दिया हो, कौसी परिहासपूर्ण वार्ता है ? ॥ ३५ ॥

इत्युक्तवति देवेशे बलभद्रपुरोगमाः ।

यादवाः सर्वे एव ते हासाय समवस्थिता ॥३६

करदः कृष्ण इत्येव ब्रुवन्तः सर्वसात्वताः ।

हासं मुमुचुरत्यथ तलं दत्त्वा परस्परम् ॥३७

तलशब्दो हासशब्दो रोदसी पर्यंपूरयत् ।

स च विप्रो नृपश्चेष्ट निन्दयन्मित्रमात्मनः ॥३८

अहो कष्टमहो कष्टं दौत्यं यत्कृतवाहनम् ।

इति लज्जासमाविष्टस्तूष्णीमासीदवाङ्मुखः ॥३९

भगवान् श्रीकृष्ण के वचन सुन कर बलराम आदि जितने भी यादव वहाँ उपस्थित थे, वे सभी अट्टहास करने लगे ॥ ३६ ॥ इसके पश्चात् सभी ने 'भगवान् कृष्ण ब्रह्मदत्त के करदायक हैं' यह कहते हुए परिहासपूर्वक करतल ध्वनि की ॥ ३७ ॥ उनकी करतल-ध्वनि और अट्टहास से गगन मण्डल गूँजने लगा । उस समय ब्राह्मण श्रेष्ठ जनार्दन अपने मित्र की निन्दा करते हुए अपने को भी

धिकारने लगा और उसने विचार किया कि मुझे ही इस निकृष्ट दौत्य कर्म को करना पड़ा है । फिर उसने सज्जावश अपना मस्तक झुका लिया ॥३८-३९॥

॥ भगवान् कृष्ण का सात्यकि को भेजना ॥

हासं कुर्वंस्तु तेष्वेव केशवः केशिसूदनः ।
 उवाच वचनं दूत गच्छ मद्वचनाद्विज ॥१॥
 तावित्थं हंसदिम्भको ब्रूहि त्वरितविक्रमः ।
 बाणं दास्यामि निशितं शार्ङ्गं मुक्तं शिलाशितं ॥२॥
 असिना वाज्य दास्यामि निशितेन महात्मनोः ।
 शिरो वा छेत्स्यते चक्रं मत्करप्रहितं बलिम् ॥३॥
 यो वरं दत्तवान् रुद्रो युवयोर्धाष्टयं कारणम् ।
 स एव रक्षिता वां स्यात्तं जित्वा वां निहन्म्यहम् ॥४॥
 देशोऽयं संविधातव्यि यत्न नः संगतिर्भवेत् ।
 तत्र गन्ता तथा चास्मि सबलः सहवाहनः ॥५॥
 भवन्तो निर्भयो भूत्वा गच्छेतां सबलो नृपौ ।
 पुष्करे वा प्रयागे वा मथुरायामथापि वा ॥६॥
 तस्माद् सत्रलो याता नात्र कार्या विचारणा ।
 अथवा मित्रभावाच्च वक्तुमेव न ते क्षमम् ॥७॥
 न शक्यं मत्पया वक्तुं तच्च वक्ष्यति सात्यकिः ।
 त्वया सह ततो गत्वा साक्षिभूतो भव द्विज ॥८॥
 इदं च जाने विप्रेन्द्र स्नेहो मम सदा त्वयि ।
 तेन त्वं विजयी भूत्वा संसारे दुःखसंकुले ।
 मत्कथापरमो नित्यं सदा भव जनार्दन ॥९॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! इस पर उपस्थित समासदों के अट्टहास करने पर भगवान् बोले—हे दूत ! तुम हंस-दिम्भक से जाकर कह दो कि मैं वहाँ पहुँच कर अपने शार्ङ्ग धनुष बाणों अथवा तीखे क्षत्र्ग से उनको कर प्रदान करूँगा । उस समय मेरे द्वारा प्रेरित चक्र उनके मस्तक को काट डालेगा

॥१-३॥ जिन भगवान् शंकर के वर-प्रदान द्वारा वे ऐसे घृष्ट हुए हैं, यदि वे भी उसका पक्ष लेकर युद्ध क्षेत्र में उपस्थित होंगे तो उन्हें भी जीत लूंगा ॥४॥ वे जिस स्थान पर मुझसे युद्ध करना चाहे, उसकी सूचना मुझे दे दें । तब मैं तुरन्त ही अपनी बाहनों से सम्पन्न सेना के सहित वहाँ पहुँच जाऊँगा ॥५॥ तुम उनसे अभी जाकर यह कहना कि वे भय-रहित होकर पुष्कर प्रयाग अथवा मयुरा में मुझसे मिल लें ॥६॥ मैं भी वहाँ अवश्य पहुँच जाऊँगा, परन्तु मैं समझता हूँ कि उनसे तुम्हारी मित्रता होने के कारण तुम मेरे सदेश को उन्हें यथार्थ रूप से न सुना सकोगे, इसलिये मैं इन सब बातों को समझाने के लिये सात्यकि को तुम्हारे साथ भेज रहा हूँ । तुम तो इनके साथी ही हो जाना ॥७-८॥ हे प्रिय ! मैं तुम पर अधिक प्रीति रखता हूँ, इसलिये तुम इस दुःखमय जगत् को जीत कर हमारी भक्ति करते हुए आनन्द सहित अपना जीवन निर्वाह कर सकोगे ॥९॥

इत्युक्त्वा ब्राह्मणं कृष्णः सात्यकिं पुनराह सः ॥१०

गत्वा शैनेय विप्रेण ब्रूहि मद्बचनात्तयोः ।

यन्मयोधतमशेषेण वद गत्वा तयोः पुरः ।

यथा नः संगतियुद्धे तथा वद बलात्पदा ॥११

धनुरादाय गच्छ त्वं बद्धगोघ्राङ्गुलित्वान् ।

एकेनाश्वेन गच्छ त्वमसहायो यदूतम् ॥१२

सात्यकिस्तं तथेत्युक्त्वा हयमारुह्य शीघ्रगम् ।

गन्तुमंच्छत्ततो राजन्नसहायः स सात्यकिः ॥१३

जनार्दनं विसृज्याशु दूतं तं यादवेश्वरः ।

अहो घाष्ट्यंमहो घाष्ट्यमित्युवाच जनार्दनः ॥१४

नमस्कृत्य तदा दूतो माघवं माघवेश्वरम् ।

स ययौ शात्वनगरं शैनेयेन समन्वितः ॥१५

पेशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! जनार्दन ब्राह्मण से यह कहने के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण ने सात्यकि से कहा—हे सात्यकि ! तुम इन ब्राह्मण के साथ जाकर मेरा सब सदेश उन्हें सुनादो, जिससे रण क्षेत्र में मेरी-उनकी भेंट

हो सके ॥१०-११॥ तुम अंगुली-त्राण बाँधकर घनुष धारण करो और अश्वारूढ़ होकर शीघ्र ही चले जाओ ॥१२॥ भगवान् की आज्ञा होते ही सात्यकि अकेले ही घोड़े पर चढ़ कर हंस-डिम्बक के पास जाने को वहाँ से चल दिये ॥१३॥ इस प्रकार सात्यकि के वहाँ से चले जाने पर वे हंस-डिम्बक के कुकृत्य की निन्दा करने लगे । तभी जनार्दन ब्राह्मण ने भी भगवान् को नमस्कार करके सात्यकि के साथ ही शास्वनगर को प्रस्थान किया ॥१४-१५॥

ततः प्रविश्य घर्मात्मा ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।
 आसनं महदास्थाय विसृज्य यादवे पुनः ॥१६॥
 आस्ते सुखं यदा विप्रः शनैरेन समन्वितः ।
 अथ तं हंसडिम्बयोर्दशं यामास सात्यकिम् ॥१७॥
 दूतोऽयं सात्यकिः प्राप्तः सव्यो बाहुरयं हरेः ।
 तस्य तद्वचनं श्रुत्वा हंसः प्राह वचस्तदा ॥१८॥
 श्रुतः समागमः पूर्वमद्य दृष्टो मया त्वसौ ।
 धनुर्वो दे च वेदे च शस्त्रे शास्त्रे तथैव च ॥१९॥
 निपुणोऽयं सदा धीर इत्येवमनुशुश्रुम ।
 अथो दृष्टिपथं प्राप्तः प्रीतिं नो विदधात्यसौ ॥२०॥
 कुशलं वासुदेवस्य बलभद्रस्य वा पुनः ।
 कुशलाः सात्वताः सर्वे उग्रसेनपुरोगमाः ॥२१॥
 तथेति सात्यकिः प्राह मन्दमुन्मथिताननः ।
 ततो जनार्दनं प्राह हंसो वाक्यविशारदः ॥२२॥
 अपि दृष्टस्त्वया चक्री सिद्धं नः कार्यमीहितम् ।
 वद सर्वमशेषेण मा वृथा कालमत्यगाः ॥२३॥

वहाँ पहुँच कर ब्राह्मण जनार्दन ने सात्यकि के साथ ही राज-भवन में प्रवेश किया और सात्यकि को एक खेपट आसन पर बैठा कर, स्वयं भी बैठ गया फिर अपने हंस डिम्बक से सात्यकि का परिचय कराया कि—यह सात्यकि भगवान् श्रीकृष्ण के दक्षिण हाथ हैं और उनके दूत रूप हैं यहाँ आये हैं । यह

सुनकर हस बोला—मैंने इनके आने के विषय में तो सुन लिया था, परन्तु अब इन्हें देख भी लिया। ये धनुर्वेद, शस्त्र, शास्त्र, वेद आदि में पारंगत बताये जाते हैं। इन असामान्य वीर से मिलकर मैं अत्यन्त प्रगल्भ हुआ हूँ ॥१६-२०॥ हे सात्यकि जी ! वसुदेव, बलराम और उग्रसेन आदि सब यादव-गण कुशल-पूर्वक तो हैं ? तब सात्यकि ने सिर झिला कर उनके समुत्थल होने की पुष्टि की। फिर बाणी दिगारद हस ने जनादन से पूछा—हे विप्र श्रेष्ठ ! अब यह बताओ कि कृष्ण से भेंट हुई या नहीं और कार्य सिद्ध हुआ अथवा नहीं। व्यर्थ समय नष्ट न करके पहिले यही सब कहो ॥२-२३॥

॥ सात्यकि का हस के समक्ष भाषण ॥

इत्युक्तवन्नि ह से च धर्मात्माऽथ जनार्दन ।
 उवाच प्रहसन्वीर स्तुवन्नारायण तदा ॥१॥
 अद्राक्षमद्राक्षमह जनार्दन हस्तस्थश्च वरचक्रधारिणम् ।
 आतप्तजाम्बूनदभूषिताङ्गद स्फुरत्प्रभाघोतितरत्नधारिणम् ॥२॥
 अद्राक्षमेन यदुभि पुरातनं स सेव्यमान मुनिवृन्दमुख्यं ।
 सस्तूयमान प्रभुभि समागच्छे स्मिन्प्रवालाधरपल्लवारुणम् ॥३॥
 अद्राक्षमेन कविभि पुरातनं विविच्य वेद्य विधिवत्सहामरं ।
 प्रफुल्लनीलोत्पलशोभित श्रिया विनिद्रहेमाब्जविराजितोदरम् ॥४॥
 भूयोऽहमद्राक्षमज जगद्गुरु प्रमोदयन्त वचनेन यादवान् ।
 निरूपयन्त विधिवन्मुनीश्वरं प्रवृत्तावेदार्थविधि पुरातनं ॥५॥
 अद्राक्षमद्राक्षमह पुन पुन समस्तलोकैकहितैषिण हरिम् ।
 वसन्तमस्मिञ्जगतो हिताय जगन्मय तान्परिभूय शनून् ॥६॥
 भूयोऽप्यपश्य सह यादवेश्वरं विक्रीड्यमानं च विहारकाले ।
 रमन्तमीड्य रमयन्तमीश्वरान्यदूत्तमान्यादवमुख्यमीश्वरम् ॥७॥
 भूयोऽप्यपश्य सरसीरुहेक्षण समेतया भीष्मतज्जया हरिम् ।
 वसन्तमम्भोनिधिशायिनं विभु भक्तप्रिय भक्तजनास्पदं शिवम् ॥८॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! हस के बचन सुनकर जनार्दन ग्राह्याण ने भगवान् श्रीकृष्ण की प्रशंसा करते हुए हर्षपूर्वक कहा—हे सखे ! मैंने वहाँ जाकर शस-चक्रधारी श्रीकृष्ण को विराजनान देखा । उनक सभी अंगों में स्वर्णभूषण और रत्नादि सुशोभित थे ॥१-२॥ उनके सख और बंटे हुए प्रमुख यतिगण और मुनिगण उन्हीं की उपासना में तल्लीन थे । बंदोबन उनकी विरदावलि गा रहे थे और उनके पल्लवों जैस अरुण अघरो पर मन्द मुसकान फैली हुई थी ॥३॥ बड़ी कविगण और अनेक देवगण ध्यान भग्न होकर बंटे हैं । उनकी मुख-कान्ति नीलोत्पल जैसी और स्वर्णों रत्न के समान उदर है ॥४॥ वे अपने प्रमोदमय वचनों से यादवों को प्रसन्न कर रहे थे । प्राचीन मुनि वहाँ गूढ़ तत्वों के निरूपण में मग्न थे ॥५॥ मैं उन लोक हितकारी भगवान् को बारबार देखता था, तब मेरे मन में विचार उठा कि यह विश्व के कल्याणार्थ ही इस लोक में आकर प्रतिष्ठित हुए हैं ॥६॥ तभी विहार का समय होने पर मैंने उन्हें प्रमुख यादवों के सहित क्रीडा करते हुए भी देखा और यह भी देखा कि उन मंगलमय पद्माक्ष भगवान् के साथ साक्षात् लक्ष्मी स्वरूपा हविमण्जीजी विहार करने लगी हैं । ७ ॥

अद्राक्षमद्राक्षमह सुनिर्वृत पिवन्पिब स्तस्य वपु पुरातनम् ।
 नेनण मीलद्विवरेण केवल धन्योऽहमस्मीति तदा ह्यचिन्तयम् ॥८॥
 अद्राक्षमम्भोजयुग दधान प्रभु विभु भूतमय विभावनम् ।
 आद्य ककुद्यानमुख विभावसु सस्मृत्य सस्मृत्य तमेव निर्वृत ॥९॥
 अद्राक्ष जगतामीश वक्षोराजितकौस्तुभम् ।
 दीप्यमान हरि कृष्ण चामराणा शतं सदा ॥१०॥
 युवा विद्वेषयुवनेन चेतसा यादवेश्वरम् ।
 स्मरन्त सर्वदा विष्णु क्व चैव क्व च वेत्ति क ॥११॥
 क्व च द्रक्ष्यामि तौ मन्दौ कुतो वा मत्पुरोगतौ ।
 ध्यायन्तमित्य देवेश करे शङ्खवह सदा ॥१२॥
 हसन्तमेनमद्राक्ष करद हास्यतत्परम् ।
 वदन्त नारदे वाच दुर्वाससि यतीश्वरे ॥१३॥

उनके दर्शन करते ही अत्यन्त आह्लाद होने के कारण मेरे नेत्र अर्द्ध उन्मीलित से होगये और उनकी रूप-माधुरी का पान करते हुए मेरे मन में प्रतीत होने लगा कि मैं धन्य होगया हूँ ॥१॥ तब उन भूतभावन, भूर्य के समान तेजस्वी और विभु भगवान् ध्वं कृष्ण का स्मरण कर करके उस समय मुझे अत्यंत आनन्द की प्राप्ति हुई ॥ १० ॥ उस समय उनके वक्षस्थल पर कीर्तुम मणि सुशोभित और सँकड़ो चमर उन पर ढोरे जा रहे थे ॥११॥ उस समय मेरे मुख से कर प्रदान की बात सुनते ही उन्होंने विद्वेष बुद्धि से कहा—वे कहाँ हैं ? कहाँ मिलेंगे ? मुझे कर-प्रदान का आदेश देने वाला दुष्ट हम है किधर ? फिर वे नारदजी और दुर्वासा से यही वान कह-कह कर अट्टहास करने लगे ॥१२-१४॥

ब्रह्मसूत्रपदा वाणी दापयन्त मुनीश्वरम् ।

दृष्ट्वाऽहं तं हरिं देव पुन पुनरवीवदम् ॥१५॥

असाध्यमिदमारब्धं ताभ्यामिति नृपोत्तम ।

नारदव्यमिदं कार्यं मितं प्रभृति भूमिप ॥१६॥

निवृत्ता सा कथा ह साचि-तयद्रूपहणं तव ।

तद्वृत्तामखिलं सर्वं वदिष्यति हि सात्यकि ।

एतद्वचनमाकर्ण्य हं स क्रुद्धोऽब्रवीद्वच ॥१७॥

अरे ब्राह्मणदायादं तन्माया तव वाचि यत् ।

आवयो पुरतो वक्तुं त्रैलोक्यं जेतुमिच्छतो ॥१८॥

मायया त्वां अमयति कृष्णो लीलाविधानवित् ।

तं दृष्ट्वा भ्रम एवैष तव स जायते महान् ॥१९॥

शंखचक्रगदाशार्ङ्गं वनमालाविभूषितम् ।

वृष्णिवीरं समावेश्य समुच्छ्रितयशोधरम् ॥२०॥

सूतमागधसस्तावप्रकटद्वारबाहुकम् ।

अत्यद्भुतयशोराशिं विक्रमात्लोकमण्डनम् ॥२१॥

चतुर्भुजं बलाक्रान्तं वृष्णिदादवसं मतम् ।

अहोऽद्य भ्रम एवैष दर्शनं नात्तस्य चक्रिण ॥२२॥

तब मैं ब्रह्मसूत्र-प्रवक्ता दुर्वासा ऋषि और भगवान् श्रीकृष्ण को देख-देख कर विचार करने लगा कि मेरे मित्रों से यह कैसा अनुचित कार्य होगया

है ? हे नृपोत्तम ! यह कार्य असाध्य है, इससे अब भी विरत हो जाना उचित है ॥ १५-१६ ॥ हे मित्र ! ऐसा विचार उठने पर तुम्हारी बात को यथार्थ रूप से मैं उन्हें नहीं सुना पाया । ये महात्मा सात्यकि सब बात को वास्तविक रूप से कहेगे । यह सुन कर हम अत्यन्त क्रोधित होकर बोला—अरे, तू यह क्या कहने लगा ? इस समय हम दोनों भाई तीनों लोको को जीतने की तैयारी कर रहे हैं, सब इस प्रकार की बातें करने का साहस तुम मे कैसे होगया ? ॥१७-१८॥ तू उसके शल-चक्र आदि आयुधों और वनमाला के धारण, बन्दीजनों की स्तुति, यादवों द्वारा यश-कीर्तन और उसके चतुर्भुज रूप को देख कर भ्रम में पड़ गया है ॥२०-२२॥

इदानीं च महाराज भ्रामयत्येव दुर्मतिः ।

त्वामेव विप्र मन्दात्मन्निन्द्रजालिकता हि ते ॥२३॥

चापत्यमिदमेवेतत्तव विप्र भ्रमोद्भवम् ।

अहो हि खलु सादृश्यं वक्तव्यं भवता मम ॥२४॥

अहमेव त्वया विप्र मर्पये प्रोदितं वचः ।

सखिभावाद्विजश्रेष्ठ अन्यथा कः सहेदिदम् ॥२५॥

गच्छ मन्दमते विप्र यथेष्टं साम्प्रतं तव ।

द्विज गच्छ यथेष्टं त्व पृथिवी पृथिवी तव ॥२६॥

जित्वा गोपालदायादं हत्वा यादवकान्बहून् ।

एष नः प्रथमः कल्पो जेष्याम इति यादवान् ॥२७॥

गच्छ गच्छेति विप्र त्व घृष्टं परुषवादिनम् ।

शत्रुपक्षस्तुतिपर सह भुक्त्वा सदा मया ॥२८॥

तू अपने ब्राह्मण मुलभ भोलेपन से उसकी ऐन्द्रजालिकता के चक्कर में पड़ कर चकरा गया है, अन्यथा उस अवम के माथ मेरी तुलना कैसे हो सकती है ? ॥२३-२४॥ तू मेरा मित्र है, इसीलिये मैंने तेरे कुवाक्यों को सहन कर लिया है, अन्यथा इसका फल चखा देता ॥२५॥ हे मूर्ख ! यह पृथिवी तो अत्यंत विशाल इसमें तुम जहाँ कहीं रहना चाहो, वही तुरंत चले जाओ ॥२६॥ मैं प्रतिज्ञा

करता हूँ कि उस भ्वाले कृष्ण को उसके सहायकों सहित बाँध करके यादवों के सम्पूर्ण ऐश्वर्य को जीत लूँगा । २७॥ तू चिरकाल तक मेरे साथ खाता रहा है और आज शत्रु का गुण मार रहा है । तुझे ऐसा करने में किञ्चित् भी सज्जा नहीं आई ? इसलिए तू अब जहाँ चाहे, वही चला जा ॥२८॥

न मे विप्रवधः कायंः कण्टादपि हि सर्वतः ।
 हृत्युक्त्वा ब्राह्मणं भूयो हंसः सात्यकिमब्रवीत् ॥२९॥
 भो भो यादवदायाद किमर्थं प्राप्तवानिह ।
 किमग्रीन्मन्दसुतः किं वाऽसौ तेऽदिशत्करम् ॥३०॥
 इदं सत्यवचो हंस शङ्खचक्रगदाभूतः ।
 शरं निशितधाराग्रैः शार्ङ्गं भुक्तैः शिलाशितैः ॥३१॥
 दास्यामि करसर्वस्वमसिना निशितेन ते ।
 शिरश्छेत्स्यामि ते हंस करदानस्य संग्रहम् ॥३२॥
 धाष्टयं हि तव मन्दात्मन्किमतोऽपि नृपाधम ।
 देवदेवाज्जन्मायात्करमिच्छति यो नृपः ॥३३॥
 तस्यैव करसंक्षेपो जिह्वाच्छेदो नराधम ।
 तस्य शार्ङ्गं रथं श्रुत्वा शङ्खस्य च हरेः पुनः ॥३४॥
 को नाम जीवितं काङ्क्षेत्तिष्ठेदानी त्वमद्य वै ।
 गिरीशवरदण्डेण को ब्रूयादीदृशं वचः ॥३५॥

यह मैं इस कारण कहता हूँ कि घोर सकट उपस्थित होने पर भी मैं ब्राह्मण की हत्या नहीं करना चाहता । यह कह कर हंस ने सात्यकि से कहा— हे यादव दूत ! तेरे यहाँ आने का क्या प्रयोजन है ? कृष्ण ने क्या सन्देश भेजा है ? उसने कर दिया अथवा नहीं ? ॥२९-३०॥ इस पर सात्यकि ने कहा— हे हंस ! भगवान् श्रीकृष्ण का सन्देश है कि सुतीक्ष्ण जाणों एवं खड्ग द्वारा तुम्हारा सिर उड़ा कर ही कर प्रदान करूँगा ॥३१-३२॥ अरे नृपाधम ! विश्व के ईश्वर से जो कर प्राप्त करने की इच्छा रहे, उससे बढ कर घृष्ट पुरुष और कौन होगा ? ॥३३॥ अरे नराधम ! ऐसे मूर्ख की सो जिह्वा का ही उच्छेद कर

डालना चाहिये । उनके शाङ्ग धनुष की टकोर अथवा पाञ्चजन्य की ध्वनि सुन कर बड़े-बड़े वीरो के भी प्राण सकट में पड़ जाते हैं, जिसमें तुम तो एक तुच्छ प्राणी हो । फिर भगवान् शंकर से वर-प्राप्ति के मद में तुम्हारे अतिरिक्त कौन पुरुष ऐसी बात करेगा ? ॥३४-३५॥

सहाया वयमेवैते बलभद्रपुरोगमाः ।

प्रथमो बलभद्रोऽसी द्वितीयोऽहं च सात्यकिः ॥३६

कृतवर्मा तृतीयस्तु चतुर्थो निशठो बली ।

पञ्चमोऽयं च बभ्रुस्तु षष्ठश्चैवोत्कलः स्मृतः ॥३७

सप्तमस्तारणो धीमानस्त्रिशस्त्रविशारदः ।

अष्टमस्त्वथ सारङ्गो नवमो विपृथुस्तथा ॥३८

दशमश्चोद्धवो धीमान्वयमेते बलान्विताः ।

त एते पुरतो गोप्तुः शङ्खचक्रगदाभृतः ॥३९

देवदेवस्य युद्धेषु तिष्ठन्त्येव दिवानिशम् ।

यौ हि वीरौ सुतौ तस्य नास्त्यसदृशौ बले ॥४०

तामेव मा क्षमी युद्धे हन्तुं बलमदान्वितौ ।

यो गिरीशो गिरा देवो वरं दत्त्वा स तिष्ठति ॥४१

युवां हि किञ्चली युद्धे तिष्ठतः सशरं धनुः ।

गृहीत्वा शत्रूभिः सार्द्धं युद्धं कर्तुं समुद्यतौ ॥४२

ईदृशोऽन्य भृत्येषु युद्धं कुर्वन्तु क्षम्यभिः ।

नैलोक्यं रक्षतस्तस्मात्करमिच्छन्व्रजेत कः ॥४३

देव, बलरामजी जैसे उनके सहायक हैं, फिर मैं, कृतवर्मा, निशठ, बभ्रु, उत्कल, तारण, सारंग, विपृथु और उद्धव भी तो उनके पार्श्ववर्ती रहते हैं ॥ ३६-३९ ॥ युद्ध के उपस्थित होने पर तो हम सब दिन-रात उनके साथ रहते हैं । अस्विनीकुमार के समान थोड़ा भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी ही तुम मदान्धों को मारने में समर्थ हैं । जब तुम युद्ध भूमि में पहुँचोगे तब तुम्हारे वर-दायक भगवान् शंकर ही वंशज से आकर तुम्हारी महायत्ना भले ही करें ।

परन्तु जब भगवान् श्रीकृष्ण रणभूमि में उतरेंगे, तब सभी यादव उनके साथ दिखाई पड़ेंगे। इसलिये हमारे रहते किस की सामर्थ्य है जो उनसे कर लेने की इच्छा कर सके ? ॥४०-४२॥

हनिष्यत्येव वां युद्धे त्रैलोक्यं यो हि रक्षति
शरेण निशितेनाजौ शार्ङ्गमुक्तेन केवलम् ॥
क्व नः संप्राम इत्येव पुनराह जगत्पतिः ।
पुष्करे पुण्यदे नित्यमुत्त गोवर्द्धने गिरौ ॥४५॥
मथुरायां प्रयागे वा दशयन्तो बलानि मे ।
शखचक्रधरे देवे जगत्पालनतत्परे ॥४६॥
राजसूयं महायज्ञं कर्तुमिच्छति कः स्वयम्
वदन्वा स्वस्तिमान्मर्त्यस्त्वां विना को व्रजेत्सु ॥४७॥
इदमिच्छसि चेन्मूढ हास्यतां यासि भूतले ।
इत्युक्त्वा सात्यकिर्वीरो हसन्निव भुवि स्थितः ॥४८॥

तीनों लोको की रक्षा करने वाले वे भगवान् श्रीकृष्ण जब शार्ङ्गधनुष लेकर उससे बाण-वर्षा करेंगे, तब तुम्हारा बध करने में वे अकेले ही समर्थ होंगे ॥४४॥ इस प्रकार हमें रणक्षेत्र में जाने का अवसर ही नहीं आयेगा। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि पुष्कर, गिरि गोवर्धन, मथुरा या प्रयाग में से जहाँ कहीं भी चाहे, मेरा सामना करने के लिये आ जाय। ससार के पालनकर्त्ता भगवान् श्रीकृष्ण के रहते हुए राजसूय यज्ञ करने में कौन समर्थ है ? ऐसा अनर्गल प्रलाप तो तुम्हारे जैसे मूर्ख ही कर सकते हैं ॥४५-४७॥ अरे मूर्ख ! तू इस प्रकार के विचार रख कर जगत् में अपना उपहास करायेगा। यह कह कर सात्यकि कुछ हँसे और फिर मौन होगये ॥४८॥

॥ हंस डिम्भक की गर्वपूर्ण उक्ति ॥

ततः क्रुद्धो महाराज हंसो डिम्भक एव च ।

इदं वै प्रोचतुर्वीर्यं रोषव्याकुलितेक्षणौ ॥९॥

दिधक्षन्तौ दिशः सर्वाः सर्वान्वीक्ष्य न पोतमान् ।
 करेण निष्पीड्य करं स्मरन्तौ तद्वचो महत् ॥२॥
 वक्त्रं नु वक्त्रं वा नन्दसूनुः वक्त्रं वा रामो वलोत्कटः ।
 इति ब्रुवाणो साक्षेणो सात्यकि सत्यसंगरम् ॥३॥
 अरे यादवदायाद किं ब्रूयते नः पुरो गतः ।
 इतो निर्गच्छ मन्दात्मन्दूनस्त्वमसि साम्प्रतम् ॥४॥
 अन्यथा वक्ष्ये एव त्वं प्रलपन्परुषं वचः ।
 सत्यं निर्लज्ज एवामिदं ब्रूयाद् ईदृशं वचः ॥५॥
 आवामिदं जगत्सर्वं शासितुं संयत्नी नृपौ ।
 को नाम मानुषे लोके करदो नैव जीवति ॥६॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! यह सुन कर हंस-डिम्भक दोनों ही क्रोधित होगये और क्रोध से लाल हुए नेत्रों के द्वारा सात्यकि और सब उपस्थित राजाजों को इस प्रकार देखने लगे जैसे वे सब दिशाओं को जला डालेंगे । उस समय रोप के कारण हाथों को मलते हुए उन्होंने कहा—वह नन्द पुत्र ग्वाला कृष्ण और मदोन्मत्त बलराम है कहीं ? इस प्रकार गर्व से प्रलाप करते हुए वे दोनों सात्यकि से कहने लगे—अरे यादव-दूत ! तू हमारे सामने क्या बकवाद कर रहा है ? अरे दुरात्मन् ! तू अभी यहीं से भाग जा । क्योंकि दूत है ॥४॥ यदि दूत न होता तो क्या तू ऐसे वचन कह कर जीवित रह सकता था ? अरे, तू अत्यन्त निर्लज्ज है, तभी तो इस प्रकार के वचन कह रहा है ? ॥५॥ हम दोनों भाइयों का इस समय सम्पूर्ण विश्व पर आधिपत्य है, तब हमको कर दिये बिना कौन-सा वीर है जो पृथिवी पर जीवित रह सके ? ॥६॥

हत्वा गोपालकान्सर्वान्विद्ध्वा यादवकान्वहून् ।
 गृह्णीमः करसर्वस्वं ततो गच्छ नराधम ॥७॥
 अवध्यो दूततां प्राप्तो बह्वबद्धं प्रभापसे ।
 ईश्वरो नी वरं दाता ह्यस्त्राणामपि च प्रभुः ।
 रक्षितारो महामूर्तो संग्रामं गच्छतोश्च नी ।
 पितरं याजयिष्यावो जित्वा गोपालकं रणे ॥८॥

एते प्रोचता भूषां युद्धे कातराः सर्व एव ते ।
 हत्वा तान्सबलान्युद्धे पूनर्जेष्यामि केशवम् ॥१०॥
 संहर्तव्या महासेना प्रगृहीतशरासना ।
 गृहीतप्राममुशला गृहीतकवचा सदा ॥११॥
 आरूढरथसाहस्रा गदापरिघसङ्कुला ।
 सुप्रभूतेन्धनवती प्रभूतबल साधना ॥१२॥
 चाल्यता वाहिनी घोरा बलाध्यक्षा समन्ततः ।
 अवध्य एव मच्छ त्वं न ते मरणतो भयम् ॥१३॥
 सग्राम पुष्करेऽस्माक श्वः परश्वोऽपि वा नृप ।
 ततो ज्ञास्यामहे वीर्यं केशवस्य बलस्य च
 ये त्योक्ता नृपाः सकृदेतेषामपि च यद्वलम् ॥१४॥

आज मैं सब गोपो और यादवों का सहार कर उनके समस्त धनो को छीन लूँगा । परन्तु दूत को मारा नहीं जाता, यह जान कर ही तू ऐसी बातें करता है । क्या तू नहीं जानता कि भगवान् शंकर ने हमें वर प्रदानपूर्वक सभी प्रकार के वस्त्रास्त्र दिये हैं और वे ही हमारी रक्षा करते हैं ॥७-८॥ आज हम ग्वालों का वध करके ही अपने पिता को राजसूय यज्ञ की दीक्षा दिलायेंगे । तूने जिन यादवों का नाम लिया है, उन सभी कायरों को परास्त करके ही तुम्हारे कृष्ण को मारेंगे ॥९-१०॥ उनसे जितना हो सके उतना ही अधिक सैन्य-संग्रह करके हजारों धनुर्धरों को प्रास, मूसल, कवच आदि से सजालें तथा सहस्रो रथों पर आरूढ़ होकर गदा-परिघ आदि ग्रहण कर लें, बहुत सा ई धन एकत्रित करें और बाहनों सहित सेना को अधिक से अधिक जुटा कर सब प्रकार तैयार हो जाय ॥११-१२॥ उनके महान् सेनापति अपनी भीषण सेना को लेकर आजाय । हमें तुझसे क्या करना है ? तू दूत होने के कारण अवध्य है, इसलिये जहाँ जाना चाहे, वही तत्काल भाग जा ॥ १३ ॥ कल परसो मे पुष्कर में युद्ध का प्रारम्भ होगा, उसमें तुम्हारे कृष्ण, बनराम जैसे सभी वीर राजाओं के बल का पता चल जायगा और हम में कितना बल है ? यह भी तू जान सकेगा ॥१४॥

हंसायच्छामि वां हन्तुं श्वः परश्वोऽपि वा नृप ।
 अद्यैव हि भया वक्ष्यो न चेद्भूतो भवाम्यहम् ॥१५
 नहि श्वो वा परश्वो वा युवां कटुकभाषिणी ।
 दौत्ये हि दुःखमतुलं वहाम्येव सदा नृणाम् ॥१६
 अन्यथाऽहं युवा हत्वा ततो यास्यामि निर्वृतिम् ।
 स्वधीर्यं बाहुदर्पं च दर्शयन्वां नृपाधमौ ॥१७
 शंखचक्रगदापाणिः शार्ङ्गधन्वा किरीटभृत् ।
 नीलकुञ्चितकेशाढ्यो लम्बबाहुः श्रिया वृतः ॥१८
 स सर्वलोकप्रभवो विश्वरूपः सुरूपवान् ।
 दैत्यदानवहन्ताऽसौ योगिध्येयः पुरातनः ॥१९
 पद्मकिञ्जल्कनयनः श्यामलः सिंहविक्रमः ।
 सृष्टिस्थितिलयेष्वाकः कर्ता सिजगतो गुरुः ॥२०
 शरेण निशितेनाजी दर्पं वां व्यपनेष्यति ।
 इत्युक्त्वा रथमारुह्य प्रययौ सारथ्यकः किल ॥२१

सारथ्यक ने कहा—हे हंत ! हम भी तुम दोनों का प्राण-हरण करने के लिये बल-परसों में वही पहुँच जायेंगे । यदि इस समय मैं दूत के रूप में न होना, तो तुम दोनों का आज ही वध कर डालता ॥१५॥ तुम्हारी भाषा जैसी बदवी है, उसके देखते हुए तो तुम्हें कल या परसों तक का समय देना भी आवश्यक प्रतीत नहीं होता । परन्तु, दौत्य कर्म की बढोरता में बँधा हुआ हूँ ॥१६॥ यदि यह बात न होती तो मैं आज ही अपना मुख-बल दिशा कर तुम्हें ठिगाने लगा देता तो मेरा मन अत्यंत शान्ति को प्राप्त होता । १७॥ जो शंख-चक्र-गदा-शार्ङ्ग-किरीट धारी, नील कुंचित बेजों से गुणोभित मस्तक और विशाल बाहु वाले, लदमोदल्लभ, सब सोशों की मृष्टि के मून कारण, विश्वम्भ, सर्व गुप्तर, दैत्य-दानव-विध्वंसक, योगियों के ध्यान योग्य, पुराण पुराण, कमल नेत्र, श्यामल, सिंह जैसे पराक्रमी तथा विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कर्ता हैं, वे ही असीम-शक्ति अपने शीघ्र बाणों से तुम्हारे अहंकार को नष्ट करेंगे । यह कह कर सारथ्यक अपने मरुत पर चढ़कर द्वारका के लिये चल पड़े ॥१८-२१॥

॥ भगवान् कृष्ण की पुष्कर यात्रा ॥

प्रविश्य स पुरं विष्णोः सात्यकिः शिनिपुंगवः ।
 आचक्षतेऽथ कृष्णाय यथा वृत्तं तयोस्तथा ॥१॥
 ततः प्रभाते विमले केशवः केशिसूदनः ।
 जलाध्यक्षानुवाचेदं चक्रपाणिर्गदाधरः ॥२॥
 संनह्यतां बलं सर्वं रथकुञ्जरवाजिमत् ।
 अनेकभेरीपणवं प्रासासिपरिघाकुलम् ॥३॥
 सध्वजं सपताकं च सालकारपरिच्छदम् ।
 ते तथेति प्रतिज्ञाय सर्वं चक्रुरधीनगाः ॥४॥
 आदाय सुदृढं चापं रथमारुह्य दशिताः ।
 अग्रतो जग्मुरत्यर्थं सेनायाः पुरुषोत्तमाः ॥५॥
 सात्यकिश्च तथा राजन्प्रगृहीतशरासनः ।
 जम्भौ क्रोधसमायुक्तो जगामाल महाबलः ॥६॥
 अन्ये च यादवाः शूराः प्रगृहीतमहायुधाः ।
 सिंहनादं प्रकुर्वन्तो जग्मुरत्यर्थमुत्तमाः ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! तदनन्तर सात्यकि ने द्वारकापुरी में पहुँच कर भगवान् श्रीकृष्ण को वहाँ का सब वृत्तान्त यथार्थ रूप में कहा ॥१॥ दूसरे दिन रात्रि के व्यतीत होने पर नित्य-नैमित्तिक कृत्यों से निवृत्त होने के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने सेनापतियों को बुलाकर उनसे कहा—हे वीर श्रेष्ठो ! आप अश्व रथ, गज तथा पँदलों से युक्त चतुरभिणी सेना को तुरन्त ही सजाओ । शीघ्र ही भेरी, पणव, प्राज्ञ, सङ्ग, परिघ, ध्वजा-पताका और उपयुक्त अलकारादि को एकत्रित कर डालो । यह सुनकर उन सेनाध्यक्षों ने उनकी आज्ञा-पालन-सूचक सिर झुकाकर सहमति प्रकट की ॥३-४॥ फिर वे वहाँ से जाकर युद्ध की लैयारी में लगे और कुछ ही देर में शस्त्रास्त्रों से युक्त होकर चल पड़े, उनमें जो मुख्य-मुख्य वीर थे, वे रथों में बैठ कर आगे-आगे चले ॥५॥ हे राजन् ! वीरवर सात्यकि भी धनुष धारण किये हुए सबसे आगे

चल रहे थे ॥६॥ अन्यान्य यादव भी आयुधो से सुसज्जित हुए सिंहनाद कर रहे थे ॥७॥

हरिस्तु रथमारुह्य संस्कृतं दारुकेण ह ।
 शागं भारसह घोरं गृहीत्वा सशरं धनुः ॥८
 चक्रपाणिस्तदा शंखी गदाशरवरासिमान् ।
 बद्धगोघांगुलिस्त्राणः पीतवासा जनार्दनः ॥९
 पद्ममालावृत्तोरस्को नवजीमूतसन्निभः ।
 ययौ रथगतो विप्रः स्तूयमानो मुदान्वितः ॥१०
 सूतैर्मणिघण्टैश्च गीयमानस्ततस्ततः ।
 आनीय सेना सकला ययौ काष्ठामयोत्तराम् ॥११
 पाञ्चजन्यं मुखे न्यस्य सर्वप्राणेन केशवः ।
 दध्मौ महारथं कुर्वन्ञ्छूणा भयवर्द्धनः ॥१२
 आध्मातस्तेन हरिणा स चक्रे शंखराड् ध्रुवम् ।
 रवः स रोदसी राजन्मूरयामास सर्वतः ॥१३
 तस्मिञ्छवे तथाऽऽध्माते दध्मुः शंखाः सहस्रशः ।
 भेर्यश्चापि समाध्माता मृदंगा बहवो नृप ॥१४

सभी पीताम्बर धारी भगवान् श्रीकृष्ण दारुक द्वारा सुसज्जित किये गये रथ पर चढ़ कर चल दिये । उस समय उन्होंने शार्ङ्गधनु, धाण, दंश, चक्र, गदा और तल्ल हाथों में ले रखे थे । उनकी अगुलियों में अगुलिप्राण धँपा हुआ था ॥८-९॥ उनके घट, रथल में कमल पुष्पों की भासाएँ गुलोभित थी, उनका यणं महीन मेघ के समान स्वाम था । जब वे युद्ध के लिये चले तब ब्राह्मण यर उनकी स्तुतिर्पा करने लगे ॥१०॥ मून, मागय और यदीत्रनों ने उनका गुण-कीर्तन किया और तब वे समस्त एतत्रित सेना के साथ उत्तर दिशा की ओर बढ़े ॥११॥ उस समय उन्होंने अपने पाञ्चजन्य ध्वज को मुन से पूँव कर उनकी पीछे ध्वनि की ॥१२॥ हे राजन् ! उस दध्म-ध्वनि के होते ही गमस्त नम्र-मण्डल उन्मथित होने लगा ॥१३॥ उस दंश के बजते ही हजारों दाश एव साथ बज और सभी धनेहों भेरी और मृदगादि वाद्य बजने लगे ॥१४॥

नेदुरत्ययंमतुल धर्मान्नि जलदा यथा ।
 अयाययुर्महाराज पुष्कर पुण्यवर्धनम् ॥१५
 सरसस्तस्य राजेन्द्र पुष्करस्य नृपोत्तमा ।
 प्रतीक्ष्य ह सडिम्भकौ युद्धाय समवस्थिता ॥१६
 निवेश कारयामासुर्यादवा सर्व एव हि ।
 स्व स्व ययु सुख राजन्प्रगृहीतकुटीमठम् ॥१७
 भगवानपि गोविन्द सरो दृष्ट्वा सुशोभनम् ।
 उपस्पृश्य जले तस्मिन्प्रणम्य यतिपु गवान् ॥१८
 तयोरागमन लिप्सुरास्ते तीरे यथासुखम् ।
 शृण्वन् वेदध्वनिं विष्णुर्ब्राह्मणा समन्तत ॥१९

जैसे वर्षा के प्रारंभ में मेघ गभीर गर्जना करते हैं वैसे ही भेरी मृदंग
 आदि बाजों का शब्द एक साथ गूँज उठा । उपर पुष्कर में हस डिम्भक के
 आगमन की प्रतीक्षा करते हुए बहुत से राजागण अपने-अपने शिविर स्थापित
 करके ठहर गये ॥१५-१६॥ तभी भगवान् कृष्ण ने उस शोभा सम्पन्न पुष्कर
 सरोवर पर जाकर उसके दर्शन किये और आचमन लेकर तीर्थवासी मुनिजनों
 को प्रणाम किया तथा वेद ध्वनि श्रवण करते हुए वे भी शिविर स्थापित कर
 हस डिम्भक के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे तथा अयान्य यादव वीरों ने भी
 शिविर गाढ़ कर निवास किया ॥१७-१९॥

॥ हस-डिम्भक का पुष्कर पहुँचना ॥

अथ तौ हसडिम्भकौ जग्मतु पुष्कर प्रति ।
 प्रगृहीतमहाचापौ सरथौ सध्वजौ नृप ॥१
 पुर सरमहाभूती सहरन्ताविवोल्बणौ ।
 प्रकुर्वन्तौ सिंहरव भस्मना परिलेपितौ ॥२
 त्रिपुण्ड्रकललाटान्तौ रुद्राक्षपरिशोभितौ ।
 अन्यौ द्वाविंश रुद्रौ तौ लोकसंहारकारकौ ॥३

ततोऽनुजग्मुः शतशः सैन्यानिनृपसत्तम ।
 अक्षीहिण्यो दशैवासस्तयोरथ समागता ॥४॥
 विचक्रस्तु महाराज दानवो नगसन्निभ ।
 तयोरेव सखा पूर्वमासीञ्च बलशालिनो ॥५॥
 शक्रो यस्य पुर सरः स्यात्तु शक्तो न वञ्चभृत् ।
 यो हि वीरो महाराज देवदैत्यसमागमे ॥६॥
 देयान्निघ्नस्तथा राजन्देवेन्द्रमजयन्महान् ।
 अकरोच्च पुरा युद्धं विष्णुना प्रमविष्णुना ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! हम और डिम्भक भी महान् पनुर्पों
 की प्रहण कर पृथक् पृथक् रथों के द्वारा पुष्कर के लिये चल पड़े ॥१॥ उनके
 आगे-आगे विकराल शरीर वाले दो भूत सिंहनाद करते हुए चल रहे थे उन
 भूतों के मस्तक पर त्रिपुण्ड लगा था और देह पर रुद्राक्ष की माला गुणोभित
 थी । वे दोनों लोक-सहारायं अवतीर्ण दो रुद्र जैसे प्रवीन हो रहे थे ॥२॥
 फिर उन हम डिम्भक के पीछे सैकड़ों सनानी तथा दस अक्षीहिणी सेना चल पड़ी
 ॥४॥ हे राजन् ! बहुत समय हुआ, तब उन दोनों का विचक्र नामक एक पयत
 के समान दानव से मैत्रि-भाव हो गया था ॥५॥ उस विचक्र के चल के सामने
 देवराज इन्द्र भी त्रिभुज में गमय नहीं थे । जब देवागुरु तपाम हुआ था तब उग
 वीर ने देवताओं की बुरी तरह हराया और इन्द्र को भी जीत लिया था उसने
 पहिले कभी सय नोनेश्वर भगवान् विष्णु से भी सपाम लिया था ॥६-७॥

यो हि द्वारयतीं प्राप्य ववाधे यदुपु गवात् ।
 स तदानो महाराज श्रुत्वा युद्धमुपस्थितम् ॥८॥
 अनेकशतसाहस्रं दानिने परिधायुधं ।
 वृत् समनवहैत्यो वृत्पिण्डेषानुषोत्तम ॥९॥
 हगस्य डिम्भकस्याय साहाय्यं वनुमुद्यत ।
 विचक्रस्याय दैत्यस्य हि डिम्बो गणसेनार ॥१०॥

अतीव मित्रतां यातो दद्यात्प्राणांश्च संयति ।
 राक्षसैरपरैः साढं शिलाशूलासिपाणिभिः ॥११
 ययो तस्य सहायार्थं हिडिम्बः पुरुषादकः ।
 अष्टाशीतिसहस्राणि राक्षसास्तस्य चाभवन् ॥१२
 अनुयाता महाराज शिलापरिघबाहवः ।
 तयोस्तत्र महासैन्यं गच्छतोः केशव प्रति ॥१३
 मिश्रितं दैत्यसंघैश्च राक्षसैश्च समन्ततः ।
 अत्यद्भुत महारोद्रं वैलोक्यभयदायकम् ॥१४

एक बार उसने द्वारका पर आक्रमण करके यादवों को भी व्रत किया था और इन युद्ध की सूचना मिलते ही यादवों के वैर का स्मरण कर कई हजार दानवों को साथ लेकर हंस डिम्भक का साथ देने के लिये चल दिया । उस विचक्र की हिडिम्ब नामक एक महाराक्षस से मित्रता थी । जब मित्र के लिये प्राणोत्सर्ग कर देने वाले उस हिडिम्ब ने सुना कि विचक्र युद्ध में जा रहा है, तब वह भी उसकी सहायता करने के विचार से शिला, शूल और तलवारों से सुसज्जित भारी सेना को साथ लेकर चल पड़ा, वह सेना अट्ठासी हजार थी ॥८-१२॥ हे राजन् ! उसके सैनिकों के बाहु परिघ के समान अत्यन्त कठोर और विशाल थे । कुछ दूर जाने पर विचक्र, हिडिम्ब और हंस-डिम्भक की सेनाएँ परस्पर मिलकर एक हो गईं ॥१३॥ तब वह राक्षसों से युक्त हुई सम्पूर्ण सेना तीनों लोहों के लिये घोर सकट दायिनी प्रतीत होने लगी ॥१४॥

दैत्येन सहितौ तौ हि जग्मतुः पुष्करं प्रति ।
 तावेतौ हंसडिम्भकौ हन्तुं केशवमञ्जसा ॥१५
 ततः श्रुत्वा जरासन्धो विग्रहं यदुमिः सह ।
 नाकरोन्मृषसाहाय्यं पापं मे भवितेति ह ॥१६
 गच्छतोः समिति राजन्हंसस्य डिम्भकस्य च ।
 अतित्वरितविक्रान्तास्ते ययुः पुष्करं प्रति ॥१७

सिंहनाद विमुञ्चन्तः कथयन्तः परस्परम् ।
 अहमेव नृपा युद्धं करोमि प्रथमं हरेः ॥१८
 इत्यप्रवृत्तनृपा राजञ्छतशः केशवं प्रति ।
 संप्रान्तास्ते नृपश्रेष्ठाः पुष्करं पुण्यवर्द्धनम् ॥१९
 मुनिजुष्टं तपोवृद्धं ऋषिभिश्च निपेक्षितम् ।
 अत्यन्तभद्रं लोकेषु पुष्करं प्रथमं नृप ॥२०
 पुष्करं पुण्डरीकाक्षो द्वावेव जगतीपते ।
 दर्शनात्स्पर्शनाच्चैव किल्बिषच्छेदिनौ नृप ॥२१

उन दोनों असुरों को साथ लेकर हंस-हिम्भक ने यादवों को नष्ट करने के लिये पुष्कर क्षेत्र की ओर वेग सहित कूँच किया ॥१५॥ यादवों के साथ होने वाले इस संग्राम का समाचार जरासभ की भी मिला, परन्तु उसने ब्रह्म शाप के कारण उस युद्ध में भाग नहीं लिया ॥१६॥ हंस-हिम्भक के अनुयायी सभी राजागण सिंह गर्जन करते हुए कहते थे मैं ही सब से आगे बढ़ कर कृष्ण को युद्ध में पछाड़ूँगा । ऐसी गर्वोक्ति व्यक्त करते हुए वे राजा आपस में वेगपूर्वक आगे बढ़ने की होड़ करने लगे ॥१७-१८॥ यह कहते हुए वे सैकड़ों भूपास मुनिजनों द्वारा सेवित एवं पुण्य की बढ़ाने वाले पुष्कर तीर्थ में युद्ध की इच्छा से जा पहुँचे ॥१९-२०॥ हे राजन् ! पुष्कर क्षेत्र और पुण्डरीकाक्ष भगवान् दोनों के ही दर्शन या स्पर्श से पाप दूर हो जाते हैं ॥२१॥

पुष्करं पुण्डरीकाक्षी द्वावेव नृपसत्तम ।
 सेव्यमानी मुनिश्रेष्ठैरमरीषैर्महात्मभिः ॥२२
 द्वावेव हि नृपश्रेष्ठ सर्वपापप्रणाशकौ ।
 तावुमी यत्र सहितौ तत्र ते संस्थिता नृपाः ॥२३
 दृष्टवन्तौ हरिं विष्णुं विष्टरश्चरसं परम् ।
 पुष्करं पुण्यनिलयं तीर्थं ब्रह्मनिपेक्षितम् ॥२४
 ताम्नां पुरु नमस्कारं मनसा नृपसत्तम ।
 अहो निःशेषमभवत्तस्य भूयो न संगमः ॥२५

सैन्यं तत्र च संग्रान्तं दैत्यरक्षसमाकुलम् ।
 अनेकभेरीपणवज्रक्षरीडिण्डिमाकुलम् ॥२६॥
 नानापणवसमिध्रं रक्षोनादविनादितम् ।
 प्रविश्य सरसस्तोरं पुष्करस्य विशापते ।
 दर्शयामास देवेश युद्धाय समुनस्थितम् ॥२७॥

वहाँ तब वृद्ध महान् तपस्वी और सामवेदाध्यायी ऋषि मुनि पुष्कर और पुण्डरीकाक्ष दोनों की आराधना में तन्मय रहते थे । उसी ब्राह्मणों द्वारा सेवित पुण्य धाम पुष्कर में भगवान् श्रीकृष्ण को जिविर झाले देखकर सब राजाओं ने अपने अपने जिविर लगा दिये ॥२२-२४॥ हे राजन् ! आप भी यही बैठे बैठे उस पुष्कर तीर्थ और पुण्डरीकाक्ष भगवान् विष्णु को प्रणाम करिये, इससे नि सदेह आपके सभी पापों का नाश हो जायगा ॥२५॥ फिर क्षत्रिय राजा, दैत्य, राक्षस आदि सभी भेरी, पणव, जज्ञर, डिडिम आदि बजाते और भीषण कोलाहल करते हुए जब पुष्कर सरोवर पर गये तो वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण को वीर वेश में अपनी प्रतीक्षा करते हुए देखा ॥२६-२७॥

॥ हंस-डिम्भक और यादवों का संग्राम ॥

द्वे सेने सगते राजन्सध्वजे सपरिच्छदे ।
 महापरिघसक्रीर्णे गदाशवितसमाकुले ॥१॥
 भेरीभ्रक्षरसपूर्णो डिण्डिमारावसकुले ।
 प्रगृहीतमहाशस्त्रे शूलासिवरकामुके ॥२॥
 परस्परवृत्तोत्साहे चक्राते युद्धमुत्प्लवणम् ।
 ते शरा कामुकोत्सृष्टा निर्भिद्याय शरीरिणम् ॥३॥
 शरीराणि महाराज जग्मुर्द्वरं सहस्रशः ।
 भटवाहुविनिमुक्ताः पङ्क्ता निर्भिद्य वक्षसि ॥४॥
 स्फुरिताय च तथा राजज्जिह्वास्याहृत्य च ययुः ।
 परिषारच तथा राजा बाहुभिः परिचोदिता ॥५॥

तिलशश्चक्रु रतुलं शरीरं नृपक्षसाम् ।

दैत्याना कुर्वता नादमन्योऽन्यवघकाक्षिणाम् ॥६

दैत्या रक्षासि राजेद्र राजानश्च समन्तत ।

अन्योऽन्य परिघैर्जघ्नुश्चापमुक्तं शिलाशितं ॥७

वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! दोनो पक्ष की सेनाएँ युद्ध सामग्री और ध्वजादि के साथ तथा परिघ, गदा आदि आयुधों सहित भेरी, झंझर, ड्रिण्डम आदि वज्रो को बजाते हुए युद्ध क्षेत्र में पहुँच कर भिड़ गई और तब वीरों के धनुषों में छूटते हुए तीक्ष्ण बाण परस्पर में देहों को विदीर्ण करने लगे ॥१-३॥ तलवारों के प्रहार से हज़ारों योद्धाओं के हृदय और मस्तक आदि अगच्छिन्न-भिन्न होने लगे । परिघों के आघात से देहों के टुकड़े उड़ गये । एक दूसरे को मारने की इच्छा से सैनिकगण धोर गर्जन करने लगे ॥४-६॥ दैत्य, राक्षस तथा राजागण परिघों और तीक्ष्ण बाणों के प्रहार से परस्पर आघात करने लगे ॥७॥

शरैश्च भोगिभोगभैस्तीक्ष्णमन्ये महाबल ।

राक्षसा दानवाश्चान्ये मत्तमातङ्गविक्रमा ॥८

अन्योऽन्य जघ्निरे राजश्चापमुक्तैर्महाशरै ।

नागा नागैर्महाराज हया अश्वै समन्तत ॥९

रथा रथै समाजग्मु सादिन सादिभिस्तदा ।

पट्टिशासिभरव्रातं कुन्तं सायकरुपर्णं ॥१०

सशक्तिपरिघप्राप्तपरश्वधसमाकुलं ।

मिन्दिपालैर्महारीर्द्रैर्जघ्नुरन्योऽन्यमाह्वे ॥११

अन्योऽन्य जघ्निरे राजश्चापमुक्तं शिलाशितं ॥१२

राक्षसा दानवा राजन्क्षत्रियाश्च समन्तत ।

इतश्चेतश्च घायन्त कुर्वन्तो विस्वरं खम् ॥१३

मदमत्त गजराज के समान बली राक्षस और दैत्य नागपत्त के समान विपासत यानों से वीरों को निह्न करने लगे । हाथी हाथियों से, अश्व अश्वों से,

रथ रथों से और पदाती पदातियों से भिड़े हुए थे । पट्टिषा, तनवार, शर, कून्त, कर्पण शक्ति, परिघ, प्राम, परश्वध और भिन्दिपाल आदि के प्रहारों से शरीर कट रहे थे ॥८-११॥ हे राजन् ! मत्त वायु के समान बलशाली दैत्य, क्षत्रिय और राक्षस आदि तीखे बाणों से परस्पर भे घायल करते हुए तथा भयकर रूप से चीखते हुए घूमने लगे ॥१२-१३॥

हताः केचिन्महाराज पेनुह्य्यां महासिभिः ।
 केचिन्मथितमस्तिष्का गदाभिर्वीर्यवत्तमाः ॥१४॥
 भिन्नग्रीवा महाराज परिघैः परिघायुधैः ।
 यमगष्टं गताः केचित्केचित्स्वर्गं समाययुः ॥१५॥
 अप्मरोमिः समासेदुः पश्यन्तः स्वकलेवरम् ।
 केचित्स्वाश्वं पराश्वं च हत्वा भ्रान्ता इवाभवन् ॥१६॥
 एतस्मिन्नन्तरे राजञ्छा भेर्यः सहस्रशः ।
 सस्वनुः सर्वतः सैन्ये मृदगा बहवस्तथा ॥ १७॥
 मध्यंदिनगते सूर्ये ताप दधति घोरवत् ।
 ततः पिशाचा विकृताः कराला वितततोवराः ॥१८॥
 राक्षसाश्च महाघोराः पिशितं केशशाद्वलम् ।
 मुदिता भक्षयामासुः पिबन्तः शोणितं बहु ॥१९॥
 सञ्चितानि शवान्यासन्कवन्धाः खगपातिताः ।
 विभज्य देशं बहुसो युद्धभूमौ शवाशिनः ॥२०॥

हे राजन् ! उनमें से कुछ वीर तलवार के प्रहार से छिन्न-भिन्न होकर गिर पड़े, कुछ के मस्तक गदाओं के आघात से फट गये ॥१४॥ कुछ परिघधारी वीर परिघों के प्रहार से ही भारे गये, कुछ वीर यमलोक को और कुछ स्वर्गलोक को प्राप्त हुए ॥१५॥ जो लोग स्वर्ग पहुँच गये, वे अप्सराओं के साथ विहार करते हुए, रण क्षेत्र में पड़े अपने मरे हुए देह को ऊपर से देखने लगे । कुछ व्यक्ति इतने उन्मत्त हो गये थे कि वे अपने पदा के और शत्रु पदा के बीचों में कुछ भेद न समझ कर दोनों पक्ष वालों को ही मारने हुए घूम रहे थे ॥१६॥

हे राजन् ! जब सूर्य आकाश के मध्य में पहुँच कर अपनी प्रखर किरणों से घोर ताप पहुँचा रहे थे, तब सब ओर से हजारों शख, भेगी और मृदगादि वज्र उठे । फिर उस रणभेद्य में घूमते हुए विक्टाकार पिशाच और राक्षसादि अत्यन्त हय पूर्वक रुधिर-मांस का भक्षण करने लगे ॥१७॥ बहुत से भर कर गिरे हुए वीर अथवा बिना मस्तक के देह हाथ की तलवारों को घुमा रहे थे ॥२०॥

अथ श्येना मृगाश्चैव कङ्का मृध्रास्तथा परे ।
 तुण्डै शवान्विनिष्टृष्य भक्षयन्ति ततस्तत ॥२१॥
 सप्ताशीतिसहस्राणि हता नागा नृपोत्तम ।
 त्रिंशत्सहस्रमयुन निहता हयसत्तमा ॥२२॥
 हत लक्ष महाराज रथाना रथिभि सह ।
 त्रिंशत्तोद्यो हतास्तत्र सादिन सायुधा भृशम् ॥२३॥
 मध्य दिनगते सूर्ये हता केचन निर्गता ।
 केचिच्च तृपिता राजन्विविधु पुष्कर सर ॥२४॥
 केचिद्रूमि समालिङ्ग्य भीना एत्यग्रधनूणे ।
 मुक्तरुक्षा पतन्ति स्म रथान्सत्यज्य केचन ॥२५॥
 सदष्टोष्ठपुटा केचित्मादिन पुरतो हता ।
 अत्यद्रुत महायुद्धमासीत्पुष्करतीर्थके ।
 यथा देवासुर युद्धमासीत्पूर्वं नृपोत्तम ॥२६॥

उस समय बहुर, बीआ वर और शघगण मृत शरीरों को गोंच-गोंच कर भक्षण कर रहे थे ॥२१॥ हे राजन् ! उग सधाम में गस्ताती हजार हाथी, घानीत हशार अश्व, रथियों के सहित एक साथ रथ और तीस करोड़ सगसत्र पैदल सट्ट हो गये ॥२२॥ उस म-याह्न बान म जो भी घोड़ा युद्ध में गया वह वहाँ से नहीं लौट सका । उनमें से कुछ वीर पुष्कर सरोवर में ही गिर गये ॥२४॥ कुछ लोग पृथिवी पर पट गये ही शीघ्र रहे थे । कुछ घोड़ा अपने दूरे हुए रथों से नीचे गिर गये ॥२५॥ कुछ अपशरोही प्रतिपक्ष के गवारों द्वारा मारे गये । हे राजन् ! पुष्कर क्षेत्र में होने वाला यह सधाम देवागुर सधाम व समान ही समय पर था ॥२६॥

॥ श्रीकृष्ण का महान पराक्रम ॥

मत्स्मिन्नन्तरे राजन्ध्रयुद्धमवतत ।
 विचक्रं योधयामास शाङ्गधन्वा गदाधरः ॥१॥
 बलभद्रोऽथ हंसेन डिम्भकेन च सात्यकिः ।
 वसुदेवोऽग्रसेनाभ्यां हिडिम्बः पुष्पादकः ॥२॥
 शेषाश्च शेषै राजेन्द्र चक्रयुद्धमदीनगाः ।
 वासुदेवस्त्रिसप्तत्या दैत्य वक्षस्यताडयत् ॥३॥
 शरैर्निशितधाराग्रैर्विस्मय दशैयनूने ।
 दानवो देवदेवेशं दृढेन निशितेन च ॥४॥
 शरेणाकर्णमाकृष्य धनुःप्रवरमीश्वरम् ।
 जघान स्तनमध्ये च पश्यतस्तु शचीपतेः ॥५॥
 तेन विद्धोऽय भगवान्वक्षोदेशे जनार्दनः ।
 अवमच्छ्रोणितं विष्णुरादिकाले यथा प्रजाः ॥६॥
 ततः क्रुद्धो हृषीकेशः क्षुरप्रेणाहनदध्वजम् ।
 अश्वांश्च चतुरो हत्वा सारथिं च शरैस्त्रिभिः ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! इसके पश्चात् दोनों पक्षों ने द्वन्द्व युद्ध होने लगा और गदा तथा शाङ्ग धनुशारी भगवान् श्रीकृष्ण विचक्र से, बलरामजी हंस से, सात्यकि डिम्भक से और वसुदेव, अग्रसेन दोनों ही अमुरराज हिडिम्ब से लड़ने लगे ॥१-२॥ अन्य सभी यादव विपक्ष के अन्याय्य योद्धाओं से भिडे हुए थे, उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण ने तिहत्तर तीक्ष्ण बाणों से विचक्र का हृदय बीध दिया ॥३॥ फिर जब विचक्र ने अपने तीक्ष्ण बाणों से भगवान् का वक्षस्थल बीधा, तब उसकी खोरता देखकर सभी विस्मित हो गये ॥४॥ उसके पश्चात् उसने अपने धनुष की प्रत्यक्षा की कान तक से जाकर भगवान् कृष्ण के हृदय पर एक और बाण से प्रहार किया ॥५॥ उस बाण का अत्यन्त कठोर आघात हुआ, जिससे आदिकाल में उनके मुख से सृष्टि उत्पन्न होने के समान ही, इस समय रुधिर की धारा निकल पड़ी ॥६॥ फिर भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त

क्रोधित हो गये तब उन्होंने एक सुतीक्ष्ण बाण से विचक्र के रथ की ध्वजा काट कर, उसके चारों अश्व भार डाले, फिर उसके सारथी पर तीन बाणों से प्रहार किया ॥७॥

ततो दध्मो महाशत्रु यथा तारामये रणे ।
 रथादुत्प्लुत्य सहसा दानवः क्रोऽमूर्च्छिनः ॥८
 गदा गृह्य महाघोरा दुःसहा वीरशालिनीम् ।
 तया जघान दैत्येन्द्र किरीटे केशवस्य ह ॥९
 ललाटे च पुनर्विष्णुं सिंहनाद व्यनीनदत् ।
 ततः शिला च महती प्रगृह्य दनुजः किल ॥१०
 भ्रामयित्वा दशगुणं प्राहरत्केशवोरसि ।
 तामापतन्ती स प्रेक्ष्य हस्तेनादाय केशवः ॥११
 जघान च तया दैत्य स पपानादितः क्षिती ।
 गतासुरिव सञ्जज्ञे श्वसन्निव पपात ह ॥१२
 प्राप्य सञ्ज्ञा ततो दैत्यः क्रोधाद्द्विगुणमावभौ ।
 आदाय परिघं घोरमिदमाह जनार्दनम् ॥१३
 अनेन तत्र गोविन्द दर्पजातं निहन्म्यहम् ।
 विक्रमज्ञस्तदा चासि मम देवासुरे रणे ॥१४
 तावेव विपुली बाहू स एवास्मि जनार्दन ।
 तथापि युध्यसे वीर ज्ञात्वा त्वं मामकं बलम् ॥१५

फिर तारक युद्ध में शस-ध्वनि करने के समान ही उन्होंने घोर शंस-ध्वनि की, तभी विचक्र अपने रथ से कूद पड़ा और एक भयंकर गदा लेकर भगवान् के किरीट और ललाट पर प्रहार किया तथा घोर गर्जन करने लगा । फिर उसने एक विशाल शिला ग्रहण कर उसे दम गुने वेग से घुमाई और भगवान् के हृदय पर दे मारी । यह देख कर भगवान् ने उसे बीच में ही हाथों से पकड़ लिया और फिर वही शिला उन्होंने विचक्र की ओर चला दी ॥८-११॥ उस शिला के लगने ही विचक्र दीर्घ निश्वास छोड़ता हुआ निष्प्राण के समान

पृथिवी पर लेट गया ॥११॥ कुछ समय पश्चात् होश आने पर दुग्धने क्रोध से उठा और एक घोर परिघ ग्रहण कर भगवान् से कहने लगा—हूँ गोपीन्द । देवासुर सग्राम में तुम मेरे पराक्रम को भले प्रकार देव चुके हो, मैं अब इस परिघ से तुम्हारा सभी गर्व खण्डित कर डालूँगा ॥१२॥ १४॥ मेरे यह भुजदण्ड वही हैं, मैं भी वही हूँ इस पर भी तुम मुझसे युद्ध करने का हुसाहस करते हो ॥१५॥

वारयेन महाबाहो परिघ बाहुनि सृतम् ।
 इत्थुक्त्वा देवदेवेश श खच्चक्रादाऽरम् ।
 चिक्षप दैत्यो लोकेश सर्वलोकस्य पश्यत ॥१६॥
 त गृह्य बाहुना कृष्णो हतो ऽसीति वदन् हरि ।
 खण्डश कारयामास खङ्गेन निशितेनह ॥१७॥
 उत्पाद्य वृक्ष दैत्येश शतशाख महाशिखम् ।
 तेन स पोषयामास विष्टरश्रवस विभुम् ॥१८॥
 छिन्ना त चापि खङ्गेन तिलशश्च चकार ह ।
 विक्रीड्य सुचिर विष्णुस्तेन दैत्येन माधव ॥१९॥
 हन्तुमैच्छत्तदा दैत्यमादाय निशित शरम् ।
 आग्नेयास्त्रेण सयोज्य जघान न महान् हरि ॥२०॥
 सदह्य स शरो दैत्य सर्वलोकस्य पश्यत ।
 यथापूर्वं जगामाशु कर भगवत पुन ॥२१॥
 हतशिष्टास्ततो दैत्या पलायन्तो दिशो दश ।
 अद्यापि न निवर्तन्ते गच्छन्तो वै महोदधिम् ॥२२॥

हे महाबाहो ! अब मैं इस परिघ से तुम पर प्रहार करता हूँ यदि सामर्थ्य ही तो इसे रोको । यह कह कर विचक्र ने जैसे ही अपने परिघ का प्रहार किया वैसे ही उन्होंने उस परिघ को सपन लिया और अपने खङ्ग से उनके टूट-टूट कर डाले ॥१६-१७॥ फिर विचक्र ने एक संवर्धों शाखावाला वृक्ष निकाल कर डाले उन पर फेंका तो उन्होंने उसे भी अपने हाथ में पकड़

कर खण्ड-खण्ड कर दिया । इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण बहुत देर तक उसे खिलाते रहे ॥१८-१९॥ फिर उन्होंने उसे मारने का निश्चय कर आग्नेयास्त्र ग्रहण किया और उस दैत्यराज विचक्र पर वेग से छोड़ा ॥२०॥ तब उस भीषण आग्नेयास्त्र ने विचक्र का पूरा शरीर तुरन्त ही भस्म कर दिया और फिर वह अस्त्र भगवान् के पास ही लौट गया ॥२१॥ तब बचे हुए दैत्यगण सब दिशाओं में भागते हुए अन्त में समुद्र में जाकर छिप गये और आज तक लौट कर नहीं आये ॥२२॥

॥ हस और चलभद्र का भीषण युद्ध ॥

बलदेवस्तु धर्मात्मा धनुरादाय सत्वरम् ।
जघान ह स दशभिर्बाणैर्बाणिमृता वर ॥१॥
त प्रत्यविध्यन्नाराचं हंस पञ्चभिराशुगैः ।
तानन्तरे हली छिन्वा नाराचं दंशभि पुन ॥२॥
नाराचेनाशु विव्याध ललाटे ह समोजसा ।
दृढ पतन्स नाराचस्तस्य सज्जा समादधे ॥३॥
लब्ध्वा ह स स सज्जा तु विद्ध्वा तेन यदूतपम् ।
सिंहवद्व्यनदद सौ देवान्विस्मापयन् रणे ॥४॥
तन क्रुद्धो हली विद्धस्तेन बाणेन माधव ।
वमच्छोणितमत्युष्ण नि श्वसश्च रणाजिरे ॥५॥
सोहिताग्निगान्तस्तु कुङ्कुमाद्रं इवाभवत् ।
नाराचः शतसाहस्रं रक्षयामास माधव ॥६॥
ह स ह सर्गति वीर नीलवासा हलायुध ।
ते मुक्ता निशिता घोरा नाराचाश्च मुशजिन ॥७॥
रथे ध्वजे तथा चापे चक्रे तूणाद्वये नृप ।
पतिता सर्वतो राजन् व्यथा चैव तथा ददु ॥८॥

वंशम्पायनजी ने कहा—ह राजन् । इसी समय धनुष धारण करने वाली मे श्रेष्ठ बलरामजी ने दस बाणों की म

॥१॥ तब हस ने भी उन पर पाँव बाण छोड़े, जिन्हें बलरामजी ने बीच ही काट दिया और फिर दस बाणों से हस के हृदय में प्रहार किया और एक बाण से उसका सलाह बीच दिया, जिसके कारण वह निश्चेष्ट होकर पृथिवी पर गिर गया ॥२-३॥ जब बहुत देर बाद उसे होश हुआ तब उसने एक बाण से बलराम जी पर प्रहार करके घोर गर्जना की । उसके उस साहस को देखकर देवता भी विस्मित हो उठे ॥४॥ उसके भयंकर आघात के कारण बलरामजी दीर्घ निःश्वास का श्वास करते हुए भुल से रक्त वमन करने लगे ॥५॥ उनका सम्पूर्ण देह रक्त से लयपय हो गया, जैसे वे कुकुम के रंग में सराबोर हो गये हो । फिर नीला-म्बर धारी बलरामजी ने वस जैसी मति वाले हस पर एक साथ ही सात हजार बाण छोड़े, जो उसके रथ, ध्वज, छत्र और दोनों तरफ़ों में जाकर लगे, जिससे हस को बहुत त्रस्त होना पड़ा ॥६-८॥

ततः क्रुद्धो महाराज ह सो वीर्यमंदान्वितः ।

शरेण हलिनं विद्ध्वा ध्वजं चिच्छेद कालवित् ॥६

शरैश्चतुर्भिरश्वाश्च सूतं प्रेताधिपं दधी ।

ततः क्रुद्धो हली तस्मै गदां गृह्य महारणे ॥१०

आपपात महाबाहुर्हंस शेष इव श्वसन् ।

तथा रथं ध्वजं चक्रमश्वान्सूतं हलायुधः ।

बभञ्ज तिलश सर्वं ननाद च पुनः पुन ॥११

भूयश्च गदया ह स चिक्षेप च बली किल ।

सोऽपि हंसो गदा गृह्य रथात्तस्मादवापतत् ॥१२

ततस्ती ह सहलिनो युयुधाते महारणे ।

महारथो महाबाहू लोके प्रयिततेजसो ॥१३

अत्यद्भुतो सुविक्रान्तो परस्परवर्धयिणौ ।

वृत्तश्रमो महायुद्धे ह सविक्रान्तगामिनी ॥१४

यया देवासुरे युद्धे शकृन्पुत्री पुराऽम्बरे ।

उभौ सप्तानसर्वाङ्गौ शोणिनेन महारणे ॥१५

तब बल से भदान्ध हुए हंस ने अत्यन्त क्रोध पूर्वक एक बाण से ही बलराम को बीध दिया और दूसरे बाण से उनकी ध्वजा भग कर दी ॥१॥ फिर उसने चार बाणों के प्रहार से उनके चारों अश्वों को सारथी सहित मार दिया । तब बलदेवजी ने भी गदा उठाकर अत्यन्त क्रोध पूर्वक श्वास लेते हुए हंस पर आघात किया, जिससे उसके रथ, चक्र, जुआ और ध्वज आदि खड़-खड़ हो गये ॥१०-११॥ तभी उन्होंने हंस पर गदाघात किया, जिसका प्रतिकार करने के लिये हंस भी गदा ग्रहण करके रथ से नीचे आगया ॥१२॥ इस प्रकार उन दोनों प्रसिद्ध पराक्रम वाले विशाल बाहु वीरों में घोर गदा युद्ध आरम्भ हो गया ॥१३॥ परस्पर एक दूसरे को मारने की इच्छा करते हुए वे दोनों वीर देवासुर संग्राम में इन्द्र और वृत्र के समान युद्ध करते हुए रक्त में भीग गये ॥१४-१५॥

अत्यन्तखेदिनी युद्धे परस्परबलेन ह ।
 ततश्च दक्षिणं मामं बलभद्रोऽग्रहीदथ ॥१६॥
 सव्यं तु हंसो राजेन्द्रो व्यगृह्णात्स्वयमेव हि ।
 पोथयाञ्चक्रतुयुद्धे गदाभ्या गजविक्रमो ॥१७॥
 यथाप्राणं महाबाहू जघ्नतुर्मरणाय तौ ।
 अतिप्रवृद्धं संग्राम देवासुररणोपमम् ॥१८॥
 विदधाते महारणे पश्यतां त्रिदिवीकसाम् ।
 देवाश्च मुनयश्चैव विस्मयं परिजग्मिरे ॥१९॥
 अहो खल्वीदृशं युद्धं दृष्टं पूर्वं न च श्रुतम् ।
 इत्युचुर्विस्मयवशाद्देवगन्धर्वकिन्नराः ॥२०॥
 परस्परकृतोत्साहौ चक्रतुयुद्धमुत्तमम् ।
 अथ हंसो महारणे दक्षिणं दक्षिणोत्तमः ॥२१॥
 व्यचरन्मार्गं मत्पर्यं सव्यं तु बलवान्बलः ।
 निकुञ्चय जानुनी पूर्वं चक्रतुर्गदया भृशम् ।
 रणे रणविदा श्रेष्ठौ पश्यतां त्रिदिवीकसाम् ॥२२॥

परस्पर प्रहार करते हुए वे दोनों योद्धा मन में खिन्न होकर लड़ रहे थे । बलरामजीने दक्षिण मण्डल और हंसने वाम मण्डल बांध कर पेटरे बदले,

उस समय वे दोनों निर्भय होकर एक दूसरे पर प्रहार कर रहे थे । इस प्रकार युद्ध में देवासुर-संग्राम जैसी ही भयकरता थी ॥१६-१८॥ उस महायुद्ध को देखते हुए देवता, मुनि, गधर्व और किन्नरादि अत्यन्त आश्चर्य व्यक्त करते हुए परस्पर में कहने लगे कि ऐसा युद्ध तो हमने कभी भी नहीं देखा और न सुना ॥१६-२०॥ परन्तु वे दोनों महान् योद्धा पूर्ण उत्साह के साथ युद्ध में जुटे रहे, तभी दोनों ने पुनः अपने-अपने पेटरे परिवर्तित किये । उस समय घुटनों को मोड़े हुए उन वीरों में अत्यन्त भीषण गदा युद्ध हो रहा था ॥२१-२२॥

॥ डिम्भक-सात्यकि युद्ध ॥

युद्धं चक्रतुरत्ययं ततो डिम्भकसात्यकी ।
तावुभौ बलिनी वीरौ विप्यातौ क्षत्रियेषु च ॥१॥
कृतश्रमौ महायुद्धे सततं वृद्धसेविनी ।
सात्यकिर्दशभिर्वीरौ डिम्भकं वेदपारगम् ॥२॥
अविध्यन्निशितैर्वाणस्तेन वक्त्रे तयोरसि ।
स तेन विद्धो बलिना डिम्भकः क्षत्रियोत्तमः ॥३॥
नाराचः पञ्चसाहस्रं विव्याध युधि गर्वितः ।
तानन्तरे वृष्णिवीरौ निपिदन्ननदन्नुबन् ॥४॥
अथ क्रुद्धो नृपवरो विद्धः सप्तभिराशुगैः ।
पुनः शतसहस्रेण प्रत्यविध्यत सात्यकिम् ॥५॥
सात्यकिस्त्वथ विक्रान्तो धनुश्चिच्छेद तस्य तत् ।
अर्धचन्द्रेण तीक्ष्णेन डिम्भकस्य स यादवः ॥६॥
आजघ्ने डिम्भको वीरश्चापमादाय चापरम् ।
सुरप्रेणाय रोद्रेण तैलघौतेन विक्रमी ॥७॥

वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! वृद्धजनों की सेवा करने वाले क्षत्रियों में प्रसिद्ध वीर सात्यकि और डिम्भक के मध्य जो युद्ध हो रहा था, उसमें प्रथम सात्यकि ने ही डिम्भक के मुख और हृदय पर दस सुतीक्ष्ण बाणों से प्रहार किया । तब डिम्भक ने भी एक साथ पाँच हजार बाणों की सात्यकि

पर दृष्टि की। परन्तु सात्यकि ने उन सभी बाणों को बीच में ही काट दिया और घोर गर्जना करने लगे ॥१-४॥ फिर क्रोधित हुए डिम्भक ने हजार बाणों के आघात से सात्यकि को त्रस्त कर दिया ॥१॥ तब सात्यकि ने भी अपने एक अर्द्ध चन्द्राकार बाण से डिम्भक का धनुष काट दिया ॥६॥ यह देख कर डिम्भक ने दूसरा धनुष लेकर अत्यन्त तीक्ष्ण किये गये बाण से सात्यकि पर प्रहार किया ॥७॥

स तेन विद्धो बाणेन वमञ्छोणितकं नृप ।
 अवीव शुशुभे राजन्वसन्ते किंशुको यथा ॥८
 धनुश्चिच्छेद भूयस्तु गृहीतं यत्पुरा धनुः ।
 ततोऽन्यद्धनुरादाय डिम्भको यादवेश्वरम् ॥९
 जघानं निशितैर्बाणैः सर्वक्षत्रस्य पश्यतः ।
 स धनुः पुनरत्युग्र चिच्छेद युधि सात्यकिः ॥१०
 शरेण तीक्ष्णपुंस्तेन डिम्भकस्य दुरात्मनः ।
 ततोऽन्यद्धनुरादाय सत्वरं स नृपोत्तमः ॥११
 धनुषात्तेन राजेन्द्र सात्यकिं विव्यधे पुनः ।
 एवं धनूषि राजेन्द्र शतं पञ्च च पञ्च च ॥१२
 छित्त्वा ननाद शं नेयः सर्वक्षत्रस्य पश्यतः ।
 धनुषी सौ परित्यज्य वीरौ डिम्भकसात्यकी ॥१३
 खड्गौ प्रगृह्य चात्युग्रौ युद्धाय समुपस्थितौ ।
 तौ हि खड्गविदां श्रेष्ठौ वीरौ डिम्भकसात्यकी ॥१४

उस बाण से घायल होकर सात्यकि ॥ मुख से रक्त बहने लगा, उस समय वे वसंतकाल में फूलने वाली किशुक के समान प्रतीत होने लगे ॥८॥ तब उन्होंने अपने एक बाण के प्रहार से डिम्भक का यह धनुष भी काट दिया, इससे क्रोधित होकर डिम्भक ने एक अन्य धनुष पर तीक्ष्ण बाण चढ़ा कर सात्यकि पर प्रहार किये। परन्तु, सात्यकि ने उसका वह धनुष भी काट दिया और डिम्भक ने एक और थोड़ा धनुष ग्रहण किया ॥९-११॥ जिसके द्वारा सात्यकि

पर कठिन प्रहार हुए, तब सात्यकि ने उसके उस धनुष को भी काट दिया । हे राजन् ! इस प्रकार सब राजाओं के देखते-देखते ही सात्यकि ने उसके पाँच सौ पाँच धनुष काट डाले और फिर घोर गर्जना की । अब उन दोनों वीरों ने भयंकर तलवारें ले-लेकर युद्ध आरम्भ किया ॥१२-१४॥

दोःशासनिर्महाभाग सोमदत्तिस्तथैव च ।

अभिमन्युश्च विक्रान्तौ नकुलश्च तथैव च ॥१५

एते खड्गविदां श्रेष्ठाः कीर्तिता युधि सत्तमाः ।

एतेष्वेतौ नृपश्रेष्ठौ खड्गे हि नृपसत्तम ॥१६

सावेतावासिना युद्धं चक्रतुर्बुद्धलालसौ ।

भ्रान्तमुद्भ्रान्तमाविद्ध प्रविद्धं बाहुनिःसृतम् ॥१७

आकरं विकरं भिन्नं निर्मयादिममानुषम् ।

संकोचितं कुलचितं सव्यजानु विजानु च ॥१८

आहितं चक्रकं क्षिप्तं कुसुम्बं लम्बनं धृतम् ।

सर्वबाहुर्विनिर्बाहुः सव्येतरमथोत्तरम् ॥१९

क्षिबाहुस्तुङ्गबाहुश्च सव्योन्नतमुदासि च ।

पृष्ठतः प्रथितं चैव योधिकं प्रथितं तथा ॥२०

इति प्रकारान्द्वात्रिंशच्चक्रतुः खड्गयोधिनौ ।

पुनः पुनः प्रहरन्तौ न च श्रममुपेयतुः ॥२१

हे राजन् ! उस समय दुःशासन का पुत्र, सोमदत्त का पुत्र, डिम्भक, सात्यकि, अभिमन्यु और नकुल—यह छ वीर तलवार के युद्ध में प्रथम श्रेणी के समझे जाते थे । उन छ वीरों में से भी सात्यकि और डिम्भक का इस प्रकार के युद्ध में विशेष नाम था । ॥१५-१६॥ इस प्रकार असियुद्ध में अत्यंत प्रसिद्ध इन दोनों वीरों में इस युद्ध का आरम्भ हुआ, उस समय उन्होंने भ्रान्त, उद्भ्रान्त, अविद्ध, प्रविद्ध, बाहुनिःसृत, आकर, विकर, भिन्न, निर्मयादि, अमानुष, संकोचित, कुलचित, सव्यजानु, विजानु च, आहित, चक्रक, क्षिप्त, कुसुम्ब, लम्बन, धृत, सर्वबाहु, विनिर्बाहु, सव्येतरमथोत्तर, क्षिबाहु, तुङ्गबाहु, सव्योन्नत, मुदासि च, पृष्ठतः, प्रथित, चैव, योधिक, प्रथित, तथा ॥२०

सकोचित, कुलचित, सव्यजानु, विजानु, आहित, चक्रक, क्षिप्त, कुसुम्ब, लम्बन, घृत, सर्वबाहु, विनिर्बाहु, सव्येतर उत्तर, त्रिबाहु, तुंगबाहु, सव्य, उन्नत, उदासि, पृष्ठ पणित, योधिक और प्रणित, इन वत्तीस प्रकार की असि-कलाओं के करतब दिखाये । इस प्रकार निरन्तर भीषण असियुद्ध करते हुए भी उन दोनों में से कोई भी पीछे न हटा ॥१७-२१॥

पुष्करस्थौ महाराज युद्धाय कृतनिश्चयौ ।
ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥२२॥

तुष्टुवुस्ती महाराज जये कृतपरिश्रमौ ।
अहो वीर्यमहो धैर्यमनयोर्बाहुशालिनो ॥२३॥

एतावेव रणे शक्तौ खड्गे धनुषि पारगौ ।
एकः शिष्यो गिरीशस्य द्रोणस्यान्यो हि धीमतः ॥२४॥

अर्जुनः सात्यकिश्च वासुदेवो जगत्पतिः ।
स एते महाराज प्रणिताः संगरे सदा ॥२५॥

डिम्भकः शक्तिभृच्छर्वस्त्रय एते महारथाः ।
प्रसिद्धाः सर्व एवैते वीर्येषु च चलेषु च ॥२६॥

इति ते देवगन्धर्वाः सिद्धा यक्षा महोरगाः ।
दिवि स्थिता समं ब्रूयुर्बुद्धदर्शनलासताः ॥२७॥

उन दोनों वीरों का ऐसा पराक्रम देख कर देवता, गन्धर्व, सिद्ध, यक्ष, नाग और ऋषिगण आदि परस्पर कहने लगे—देखो, यह कैसे बलवान् है, ये ही असियुद्ध और धनुर्वेद में यथार्थ रूप से पारंगत हैं । वास्तव में इनके धैर्य प्रशंसा के योग्य हैं ॥ २२-२३ ॥ इनमें से एक भगवान् शक्र का और दूसरा द्रोणाचार्यजी का शिष्य है, जैसे अर्जुन, सात्यकि और भगवान् श्रीकृष्ण युद्ध-कला में विशेषज्ञ हैं, वैसे ही डिम्भक, शक्तिकेय और भगवान् रघु भी महारथी बहूँ पर प्रसिद्ध हैं । इनके समान बल-वीर्य वाला भी और कोई नहीं है ॥२४-२६॥ इस प्रकार कहते हुए देवताओं और गन्धर्वादि ने उनकी रण-शुशलता की प्रशंसा की ॥२७॥

॥ हिडिम्ब वध वर्णन ॥

वसुदेवोग्रसेनी च वृद्धो युद्धे सुनिवृत्तो ।
 जराजस्तिसर्वांगी पलितागशिरोरुहो ॥१
 ज्ञानविज्ञानसंपन्नो राजमार्गं विशारदो ।
 युयुधाते महारुद्धे राक्षसेन दुरात्मना ॥२
 शरं रत्नेकसाहस्रं रक्षयामासतू रणे ।
 राक्षसेन्द्रं दुरात्मनं हिडिम्बं पुरुषादकम् ॥३
 हिडिम्बो राक्षसेन्द्रस्तु भक्षयन्सर्वतो नरान् ।
 अतिप्रवृद्धो दुष्टात्मा लम्बाबाहुर्महाहनुः ॥४
 लम्बोदरो विरूपाक्षः पिङ्गकेशो विलोचनः ।
 श्येन नासो महारौद्र ऊर्ध्वरोमा महाभुजः ॥५
 पर्वताकारवर्ष्मा च दीर्घदंष्ट्रः शिवाननः ।
 लम्बोदरो दीर्घदन्तो जगद्ग्रासपरस्तथा ॥६
 उत्तङ्गासो महोरस्को दीर्घग्रीवो गजोपमः ।
 भक्षवन्मासपिटकं पिबञ्छोणितसंचयम् ॥७

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! बयोवृद्ध एव रणकुशल महात्मा वसुदेवजी और महाराज उग्रसेनजी ने उस अग्रग्त दुष्ट राक्षसराज हिडिम्ब के साथ उस महायुद्ध में युद्ध करना आरम्भ किया ॥१-२॥ उस समय उन्होंने बहुत-से बाणों की वृष्टि के द्वारा उस मानव मांस का आहार करने वाले महा राक्षस हिडिम्ब को आहत कर दिया ॥ ३ ॥ तब भी वह राक्षस असह्य मानवों का भक्षण करता हुआ युद्ध क्षेत्र में इधर से उधर घूमता रहा । उसके विशाल बाहु, लम्बी हनु, मोटा उदर, पिङ्गल वर्ण के भयावने नेत्र, पीत केश, श्येन के समान नाक और भयानक शरीर था । उसके रोंगटे खड़े हुए थे, पर्वताकार भीषण देह, पर बड़े-बड़े दाँत, स्थूल और लम्बा उदर, परन्तु मुखाकृति सुन्दर थी । उस समय वह मुख खोले हुए ऐसा प्रतीत होता था जैसे छीनो लोको को भक्षण कर लेना चाहता हो ॥४-६॥ उसका चौड़ा वक्ष स्थल, ऊँचा स्कंध प्रदेश और हाथी

के समान बिसाल कंठ था । वह बारम्बार भास भक्षण और रुधिर पान कर रहा था ॥ ७ ॥

गजान्नागैः समाहत्य हयैरश्वान्पोततम् ।
 रथान् यैः समाहत्य सादिनः सादिमिस्तथा ॥८॥
 मनुष्यान्स्वपुरो दृष्ट्वा नास्यग्रासं चकार सः ।
 कांश्चिद्धृत्वा महाराज वृष्णिपालान्समन्ततः ॥९॥
 भक्षयामास सहसा हिडिम्ब्यः पुरुषपादकः ।
 यान्पश्यन्परतो रक्षस्ताञ्जघान विरूपयक् ॥१०॥
 भक्षयन्परान्वृष्णीन्यादवाग्राक्षशेखरः ।
 चिक्षेप सहसा कांश्चिद्धिडिम्ब्यः पुरुषपादकः ॥११॥
 अन्तकाले यथा क्रुद्धो रद्रः प्राणभूतो नृप ।
 क्षणेन केन सर्वास्तान्भक्षयामास राक्षसः ॥१२॥
 केचिद्धीता दिशः प्रापुर्वृष्णयो वीर्यशालिनः ।
 केचित्सुभक्षितास्तेन रक्षसा वृष्णिपुंगवाः ॥१३॥
 कुम्भकर्णो यथा राजन्भक्षयामास वानरान् ।
 निःशेषं वृष्णिर्मन्यं तु चकार पुरुषपादकः ॥१४॥
 निश्चेष्टं वृष्णिसंन्यं तु स्थितं चित्रं वटे यथा ।
 एतस्मिन्मन्तरे क्रुद्धो वृद्धो यादवपुंगवो ।
 धनुर्गृह्य महाघोरं राक्षसस्य गुरः स्थितो ॥१५॥

वह हाथियों से हाथियों को मार देता, भ्रूवों को टट्टा कर उन्हीं के प्रहार से भयों को समाप्त कर देता । इसी प्रकार रथों में रथों को और सवारों से सवारों को मारता हुआ अपने सामने आने वाले को दोषभाग लेकर अपनी मादिका के रोद में गीब भेठा था । इस प्रकार वृष्णियों से से जो कोई भी उग्रर सामने आता, उसी को वह मर के देता-देता बचा कर भक्षण कर देता ॥८-१०॥ हे राजन् ! जिस प्रकार प्रमदकाय उद्विग्न होने पर भद्रवान् सब रथों औरों को उन्मत्त करने लगते हैं, वैसे ही वह राक्षसराज हिडिम्ब उन

यादव-सैनिकों को मार-मार कर अपने उदर में रखने लगा ॥११-१२॥ यह देख कर बहुत-से यादव वीर वहाँ से भाग गये और बहुत से उसके द्वारा पकड़े जाकर उदरस्थ होगये ॥१३॥ हे राजन् ! पूर्वकाल में जैसे कुम्भकर्ण ने असह्य बन्दरों का भक्षण कर लिया था, वैसे ही इस युद्ध में हिडिम्ब नामक उस राक्षस ने यादवों का आहार करना आरम्भ किया ॥१४॥ इस प्रकार उसने घोंड़ी देर में ही सम्पूर्ण वृष्णि सेना को चित्रपट के समान निश्चेष्ट कर दिया तभी अत्यन्त क्रुपित हुए वसुदेव और उग्रसेन अपने अपने धनुषों को ग्रहण करके उस घोरकृतित वाले राक्षस के सामने आ पहुँचे ॥१५॥

यथा क्रुद्धस्य सिंहस्य मृगौ वृद्धतमाविव ।
व्यादायास्य महारक्षस्तौ वृद्धावभ्यधावत ॥१६॥
चिखादिपुर्विरूपाक्ष पाता लतलसन्निभ ।
ततो रक्ष पर्यधावत्खादन्खादन्कलेवरम् ॥१७॥
पूरयामासतुर्वीरो शरैर्यदुव्रपौ नृप ।
हिडिम्बस्य महघोर व्यादितास्यमिवान्तकम् ॥१८॥
सर्वास्तान्वारयामास देवशत्रुविरूपधृक् ।
धावति स्म ततो रक्षो व्यादितास्य भयानकम् ॥१९॥
तयोगं हीत्वा धनुषी वभञ्ज युधि सत्वरम् ।
बाहू प्रसार्य दुष्टात्मा राक्षसो विकृतानन ॥२०॥
वसुदेव महीपाल राजान वृद्धसेविनम् ।
गृहीतु राक्षसश्रेष्ठो यतते नृपस सदि ॥२१॥
एष वा भक्षयिष्यामि वसुदेव त्वया सह ।
उग्रसेन किमर्थं त्व तिष्ठसे मत्पुरोगम ॥२२॥

जैसे किसी क्रोधित सिंह के सामने दो वृद्ध हरिणों के जाकर खड़े होते ही सिंह उन पर झपट पड़ता है वैसे ही उन्हें सामने खड़ा देख कर वह दैत्य मुख खोल कर उन पर झपटा ॥१६॥ उस विरूपक्ष राक्षस का मुख पाताल-छिद्र के समान भयंकर था, उस समय उन वृद्धों की ओर बढ़ते हुए उस राक्षस

के समान विनाश कठ था । वह बारम्बार मांस भक्षण और रुधिर पान कर रहा था ॥ ७ ॥

गजान्नागैः समाहत्य हयैरश्वान्नृपोत्तम ।
 रथान् रथैः समाहत्य सादिनः सादिभिस्तथा ॥८
 मनुष्यान्स्वपुरो दृष्ट्वा नास्थिग्रासं चकार सः ।
 कांश्चिद्धत्वा महाराज वृष्णिपालान्समन्ततः ॥९
 भक्षयामास सहसा हिडिम्बः पुरुषादकः ।
 यान्पश्यन्परतो रक्षस्ताञ्जघान विरूपयक् ॥१०
 भक्षयन्परान्वृष्णीन्यादवान् राक्षसेश्वरः ।
 चिक्षेप सहसा काश्चिद्धिडिम्बः पुरुषादकः ॥११
 अन्तकाले यथा क्रुद्धो रुद्रः प्राणभृतो नृप ।
 क्षणेन केन सर्वास्तान्भक्षयामास राक्षसः ॥१२
 केचिद्धीता दिशः प्रापुर्वृष्णयो वीर्यशालिनः ।
 केचित्तु भक्षितास्तेन रक्षसा वृष्णिपुंगवाः ॥१३
 क्रुम्भकर्णो यथा राजन्भक्षयामास वानरान् ।
 निःशेषं वृष्णिर्सेन्यं तु चकार पुरुषादकः ॥१४
 निश्चेष्ट वृष्णिर्सेन्यं तु स्थितं चित्रं पटे यथा ।
 एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धो वृद्धो यादवपुंगवो ।
 धनुर्गृह्य महाघोरं राक्षसस्य पुरं स्थितो ॥१५

यह हाथियों से हाथियों को मार देता, अश्वों को उठा कर उन्हीं के प्रहार से अश्वों को समाप्त कर देता । इसी प्रकार रथों से रथों को और सवारों से सवारों को मारता हुआ अपने सामने आने वाले को दीर्घश्वास लेकर अपनी नासिका के छेद में खींच लेता था । इस प्रकार वृष्णियों में से जो कोई भी उसके सामने आता, उसी को वह सब के देलते-देपते धवा कर भक्षण कर लेता ॥८-१० ॥ हे राजन् ! जिस प्रकार प्रलयकाल उपस्थित होने पर भगवान् दानव सम्पूर्ण जीवों को उदररुप करने लगते हैं, वैसे ही वह राक्षसराज हिडिम्ब उन

अतः शीघ्रता से मेरे मुख में आ जाओ ॥२४॥ पहिले तुम्हारे रक्त-पान से तृप्त होकर फिर तुम्हारे मांस का भक्षण करूँगा, इस प्रकार मुझे अत्यन्त आनन्द की प्राप्ति होगी ॥२५॥ हे राजन् ! यह कह कर वह राक्षसेन्द्र हिडिम्ब अपने मुख-विवर को फैला कर अत्यन्त वेगपूर्वक उनकी ओर झपटा ॥२६॥ उस समय वसुदेव और उग्रसेन के पास कोई अस्त्र नहीं था और उन्होंने जैसे ही उस विकट-टाकार राक्षस को अपनी ओर आता देखा तो भयभीत होकर वे दोनों इधर-उधर भागने का उपक्रम करने लगे ॥२७॥ तभी बलरामजी ने उनको इस विकट स्थिति में पड़े हुए देखा तो हस के आगे बढ़ कर और श्रीकृष्ण को वहाँ नियुक्त कर स्वयं उस हिडिम्ब राक्षस के पास पहुँच गये और बोले ॥२८-२९॥

मा कृथाः साहसं रक्षो मुञ्चतौ राजसत्तमौ ।
स्थितोऽस्मि युध्यता रक्षो मया शत्रुं जिघासता ॥३०॥
अहमेव हतिष्ये त्वां का चेयं तव भीषिका ।
इति ब्रूवाणं हलिनं तौ विसृज्य महारणे ॥३१॥
महानयमसौ दुष्टो भक्षयाम्येनमगमतः ।
विदायं पूर्ववद्वक्त्रं बलभद्रमुपाद्रवत् ॥३२॥
विसृज्य सशरं चापं रक्षसस्य पुरः स्थितः ।
मुष्टिं प्रगृह्य बलवान् स्फोटयन्बाहुमुत्तमम् ॥३३॥
हिडिम्बस्त्वथ दुष्टात्मा मुष्टिं कृत्वा भयानकम् ।
जघान वक्षो रामस्य व्यादितास्य इवान्तकः ॥३४॥
ऋद्धोऽथ बलभद्रस्तु मुष्टिना तेन ताडितः ।
जघान मुष्टिना तेन राक्षसेशमनिन्दितः ॥३५॥

उन्होंने कहा—अरे दुरात्मन् ! वही खड़ा रह, शत्रुओ को मारने के लिये तो मैं ही बहुत हूँ, तू उन्हें छोड़ कर मेरे साथ युद्ध कर ॥३०॥ अरे, तू ऐसी विभीषिका क्यों प्रकट कर रहा है ? मैं ही तुझे मारूँगा । यह सुन कर हिडिम्ब ने सोचा कि यह सम्बान्-चौड़ा पुरुष है, प्रथम इसी का भक्षण क्यों न करूँ ? यह स्थिर कर उसने उन दोनों वृद्धों को छोड़ कर बलरामजी की ओर

ने बीच में जो भी आया, उसे भक्षण कर लिया ॥१७॥ तब यादव वीर वसुदेव और उग्रसेन ने उस भीषण राक्षस के फँसे हुए मुख को भीषण बाण-वर्षा करके उसका मुख भर दिया ॥१८॥ परन्तु, उन बाणों को भी उदरस्थ करता हुआ वह दानव भयानक रूप से उस रण क्षेत्र में दौड़ लगाने लगा ॥१९॥ फिर सहसा उसने वसुदेव और उग्रसेन के पास पहुँच कर उनके घनुष तोड़ डाले और सभी राजाओं के देखते-देखते ही अपनी विशाल भुजाओं को फँसा कर उन्हें पकड़ने के लिये अग्रसर हुआ और फिर वसुदेवजी से कहने लगा—हे वसुदेव ! तुम दोनों का मैं अभी भक्षण करूँगा । हे उग्रसेन ! तुम इस प्रकार मेरे सामने क्यों स्थित हो ? ॥२०-२२॥

आगच्छ प्रविशास्यं मे प्रासभूतौ तु वां मम ।
 विधिना निर्मितो वृद्धो वसुदेवोः हरेः पिता ॥२३॥
 युभुक्षितः श्रमार्तश्च युद्धे त्वरितविक्रमः ।
 मन्मुद्यान्तं व गच्छेता प्रविशेतां त्वरान्वितौ ॥२४॥
 युवयोः शोणितं पीत्वा तृप्तिं यास्यामि निवृत्तः ।
 खादामि च पुनर्मांसं वृद्धयोर्धूमोः सुखम् ॥२५॥
 इति श्रुत्वांस्तथा रक्षो व्यादितास्यं महाहनुः ।
 धावति स्म तदा क्षिप्रं हिडिम्बो राक्षसेश्वरः ॥२६॥
 वसुदेवोऽग्रसेनौ च भीती विप्रैश्च सत्यतः ।
 दिशोऽभ्यमजतां राजन्निःशङ्खी वृष्णिपुङ्गवौ ॥२७॥
 एतस्मिन्नन्तरे दृष्ट्वा बलान्नदः प्रतापवान् ।
 दृष्ट्वा च तौ तयाभूतौ वसुदेवोऽग्रसेनौ ॥२८॥
 वामुदेव्यं ममादिश्य ह स युध्यन्तमीश्वरः ।
 निर्गत्य भ्रान्तरं तस्य राक्षसस्य दुरात्मनः ॥२९॥

देगो, विषाणा में तुम दोनों को मेरा घाग बना कर भेजा है, अब तुम मेरे मुग-विवर में चुग जाओ ॥२३॥ अब मैं युद्ध करने-करने श्रमार्त हो गया है और तुम भी लगे रही है, इगतिदे तुम मुगसे दिगी प्ररार भी बच गरी गवने,

इस आघात को सहन न करके वह राक्षस घुटनों के बल पृथिवी पर गिरा और मरे हुए के समान लेट गया ॥३७-४०॥ फिर उसे दोनों हाथों से उठा कर बल-रामजी सब उपस्थित राजाओं पर अपना पराक्रम व्यक्त करने के लिये कुछ देर चैसे ही खड़े रहे और फिर उसे इतने जोर से फेंका कि वह मृत्यु को प्राप्त होता हुआ दो कोस की दूरी पर जा पड़ा ॥४१-४३॥

ये केचिद्राक्षसास्तत्र हतशेषा महारणे ।

बलभद्रात्ततो भीता जग्मुश्चैवं दिशो दश ॥४४

अथांशुमाली भगवान् दिनेशः संहृत्य तेजांसि सहस्ररश्मिः ।

अस्तं ययौ चक्षुरपि प्रजानामीषत्तमश्चापि समाविवेश ॥४५

तस्मिन्प्रविष्टेऽथ समुद्रतोयं प्रजापतौ विश्वमुखे जगद्गुरौ ।

नक्षत्रनाथः समुपाजगाम संध्यातमोऽपि व्यनशन्नपोत्तम ॥४६

प्रभातकाले नृपसत्तमो रणो गोवर्द्धने किन्नरगीतनादिते ।

इति ब्रुवन्तो नृपसत्तमास्तदा व्युपारमस्तस्य रणोत्सवे नृप ॥४७

यह देख कर शेष बचे हुए राक्षस बलरामजी से डर कर तुरन्त ही विभिन्न दिशाओं में भाग खड़े हुए ॥४४॥ तभी भगवान् सूर्यदेव ने अपनी रश्मियाँ समेट ली और उनके पश्चिमी सागर में निमग्न होने पर अन्धकार छा गया और तब कुछ भी दिखाई न देने लगा ॥४५॥ भगवान् सूर्य के अस्तावल गामी होते ही चन्द्रमा प्रकट होगये, इस कारण रात्रि का घोर अन्धकार समाप्त होगया ॥४६॥ सब वहाँ उपस्थित सभी राजाओं ने उस दिन के युद्ध को समाप्त करते हुए कहा कि—कल प्रातःकाल किन्नरों के मधुर स्वरो से भूँजते हुए गोवर्धन सर्वत पर त्रयाम होगा ॥४७॥

॥ हंस और श्रीकृष्ण का युद्ध ॥

उभौ तौ हंसडिम्भकौ राजावेव महागिरिम् ।

जग्मतुः सहितौ राजन् गोवर्द्धनमर्थो नृप ॥१

शपट्टा मारा ॥ ३१-३२ ॥ तब बलरामजी ने धनुष-बाण तो छोड़ दिया और मुष्टिका तान कर उसके सामने जा खड़े हुए ॥३३॥ यह देख कर राक्षस अत्यन्त क्रोधित हुआ और मुख खोले हुए उनके सामने आकर एक बड़े जोर का मुक्का बलरामजी के वक्षःस्थल पर मार दिया ॥ ३४ ॥ तब उस प्रहार को सह कर सहोते भी बड़े वेगपूर्वक उसके हृदय पर मुष्टिका से प्रहार किया ॥३५॥

मुष्टियुद्धं समभवन्नरराक्षसवीरयोः ।

युद्धघतोष्णं दधतोयुद्धरङ्गस्थं नरराक्षससिंहयोः ॥३६॥

तयोश्चटचटाशब्दः प्रादुरासीद्भयानकः ।

अथ राक्षसराजस्तु मुष्टिना राममाहवे ॥३७॥

जघान वक्षोदेशे तु वज्रेणेव पुरंदरः ।

अथ रामो बली साक्षान्मुष्टिं संवर्त्य यत्नतः ॥३८॥

हिडिम्बं ताडयामास वक्षस्यमरविद्विषम् ।

तलाभ्यामथ रामस्तु वक्त्रे हत्वा न राक्षसम् ॥३९॥

आहतस्तलघातेन हिडिम्बो राक्षसेश्वरः ।

जानुभ्यामपतद्भूमौ गतासुर्वीरदन्तसः ॥४०॥

तत उत्पाद्य रामस्तु दोभ्यां संगृह्य राक्षसम् ।

आदाय बाहुवेगेन भ्रामयित्वा पदात्पदम् ॥४१॥

व्याविध्यत्सुचिरं रामो दर्शयन्नात्मनो बलम् ।

उत्क्षिप्य राक्षसेन्द्रं तं सर्वलोकस्य पश्यतः ॥४२॥

गव्यूतिमात्रं चिक्षेप ततो देशादलायुधः ।

गतासू राक्षसश्चेष्टस्ततो देशान्निराक्रमत् ॥४३॥

इसके पश्चात् उन दोनों में घोर युद्ध होने लगा और उससे होने वाला भयंकर शब्द आवाज में गूँज उठा ॥३६॥ तभी हिडिम्ब ने एक जोर का धूँसा उनके हृदय में उसी प्रकार मारा जैसे इन्द्र अपने यज्य का प्रहार करते हैं, जिसे सह कर बलरामजी ने उस देवताओं के शत्रु हिडिम्ब पर धूँसे का जोरदार प्रहार किया और फिर उसके दोनों गालों पर एक-एक थप्पड़ भी मार दिया ।

एवं ते सहिता राजश्चक्रयुद्धमदीनवत् ।
 अत्यद्भुतं महाघोरं यादवाः सर्वे एव हि ॥१०॥
 चक्रुस्ताभ्यां महायुद्धं वासुदेवस्य पश्ययः ।
 सर्वानपि महाराज यादवान्वलदर्पितान् ॥११॥
 तावुभौ हंसडिम्भकौ नृपांस्तान्प्रत्यविध्यताम् ।
 प्रत्येकं दशगिर्विद्ध्वा बाणैर्निशितकोमलैः ॥१२॥
 जघ्नतुश्च शरैस्तीक्ष्णैरत्यथं यादवेश्वरान् ।
 व्यधिताः सर्वे एवैते वमन्तः शोणितं बह्वु ॥१३॥
 माघवे किंशुका राजन्पुष्पिता इव ते वभुः ।
 भीताश्च यादवा राजन्पलायनपरायणाः ॥१४॥

फिर तीस बाण प्रचुम्ब ने, सात बाण साम्ब ने और इकसठ बाण अना-
 धूष्टि ने चला कर हंस-डिम्भक को विद्ध कर दिया ॥१॥ इस प्रकार सभी यादवों
 ने एक साथ प्रहार करते हुए उस संग्राम को अपने उत्साह से घोरतर बना दिया
 ॥ १० ॥ तब भगवान् श्रीकृष्ण एक स्थान पर खड़े होकर उस युद्ध को देख रहे
 थे। फिर हंस-डिम्भक ने भी दस-दस बाणोंसे यादवों पर प्रहार किया ॥११-१२॥
 उस आघात ने यादवों को संतस्त कर दिया और वे भुस्त से रक्त गिराने लगे ।
 उस समय रक्त से सथपथ उनके देह किशुक के समान शोभा पाने लगे । हे
 राजन् ! उस भय से डरे हुए यादव युद्ध भूमि को छोड़ कर पलायन करने लगे
 ॥ १३-१४ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राजन्वासुदेवात्मजौ नृप ।
 वासुदेवो हली युद्धे प्रमुखे घन्विनौ तयोः ॥१५॥
 चक्रतुयुद्धमतुलं स्कन्दशक्राविवाम्बरे ।
 तयोरेव सगन्धर्वाः सिद्धा यक्षा महर्षयः ॥१६॥
 विमानस्थाश्च ददृशुर्दृष्ट्वा देवासुरोपमम् ।
 ततः प्रादुरभूतां तौ दूतौ भूतेश्वरौ नृप ॥१७॥

अथ प्रभाते विमले सूर्ये चाभ्युदिते सति ।
 गोवर्द्धन जगामाशु केशव केशिसूदन ॥२॥
 शैनेयो वलभद्रश्च यादवा सारणादय ।
 गन्धर्वैरप्सरोभिश्च नादित बहुजा गिरिम् ॥३॥
 जम्भतु सहितो राजन् गोवर्द्धनमथो गिरिम् ।
 गायनैरथ सैन्यैश्च नादित बहुधा गिरिम् ॥४॥
 तस्योत्तर नृपश्चेष्ट पाश्वर्कं स प्राप्य यादवा ।
 निकषा यमुना राजस्ततो युद्धमवर्तत ॥५॥
 विव्याध हृसडिम्भकी वसुदेवश्च सप्तभिः ।
 सारण पञ्चविंशत्या दत्ताभिः कङ्क एव च ॥६॥
 हृसेन डिम्भकेनाथ यादवैश्च समन्ततः ।
 उग्रसेनस्त्रिसप्तत्या शराणां नतपर्वणाम् ॥७॥
 विराट्त्रिंशता राजन्सात्यकिश्चापि सप्तभिः ।
 अशीत्या विपृथू राजन्नुद्धवो दत्ताभिः शरैः ॥८॥

वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! उस रात्रि बाल की उपस्थिति में ही हृस डिम्भक ने गोवर्द्धन पर्वत की ओर प्रस्थान किया ॥१॥ दूसरे दिन प्रातः बाल सूर्योदय होने पर भगवान् श्रीकृष्ण भी गिरि गोवर्द्धन पर जा पहुँचे ॥२॥ उनके साथ ही सात्यकि, बलरामजी और सारणादि सभी यादवगण गधवों और अप्सराओं से सुशोभित गोवर्द्धन पर्वत पर गये ॥ ३-४ ॥ इसके पदचार गोवर्द्धन पर्वत के पार्श्व भाग में स्थित यमुनाजी के किनारे दोनों पक्षों में पुन युद्ध होने लगा ॥५॥ उस समय वसुदेवजी ने हृस डिम्भक दोनों पर सात बाणों से प्रहार किया और पञ्चवीं बाण सारण ने, दस बाण कङ्क ने, विहतर बाण उग्रसेन ने, तीस बाण विराट ने, सात बाण सात्यकि ने, दस विपृथु ने और दस बाण ही उद्धव ने चलाये ॥६ ८॥

प्रथमस्त्रिंशता राजन्सात्यकिश्चापि च सप्तभिः ।
 धनापुष्टिस्त्वेवपष्टया शराणां नतपर्वणाम् ॥९॥

एवं ते सहिता राजंश्चक्रुर्गुं दधमदीनवत् ।
 अत्यद्भुतं महाघोरं यादवाः सर्वे एव हि ॥१०॥
 चक्रुस्ताभ्यां महायुद्धं वामुदेवस्य पश्ययः ।
 सर्वानपि महाराज यादवान्वलदपितान् ॥११॥
 तावुभौ हंसडिम्मकौ नृपांस्तान्प्रत्यविध्यताम् ।
 प्रत्येकं दशभिर्विद्ध्वा बाणं निशितकोमलैः ॥१२॥
 जघ्नतुश्च शरं स्तीक्ष्णं रस्यथं यादवेश्वरान् ।
 व्यथिताः सर्वे एवं ते वमन्तः शोणितं बहु ॥१३॥
 माघवे किशुका राजन्पुष्पिता इव ते वभुः ।
 भीताश्च यादवा राजन्पलायनपरायणाः ॥१४॥

फिर तीस बाण प्रक्षुब्ध ने, सात बारण साम्ब ने और इकसठ बाण अना-
 धुष्टि ने चला कर हंस-डिम्मक को विद्ध कर दिया ॥१०॥ इस प्रकार सभी यादवों
 ने एक साथ प्रहार करते हुए उस संग्राम को अपने उत्साह से घोरतर बना दिया
 ॥ १० ॥ तब भगवान् श्रीकृष्ण एक स्थान पर खड़े होकर उस युद्ध को देख रहे
 थे। फिर हंस-डिम्मक ने भी दस-दस बाणोंसे यादवों पर प्रहार किया ॥११-१२॥
 उस आघात ने यादवों को सन्नस्त कर दिया और वे मुख से रक्त गिरने लगे।
 उस समय रक्त से लथपथ उनके देह किशुक के समान शोभा पाने लगे। हे
 राजन् ! उस भय से डरे हुए यादव युद्ध भूमि को छोड़ कर पलायन करने लगे
 ॥ १३-१४ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राजन्वसुदेवात्मजौ नृप ।
 वामुदेवो हली युद्धे प्रमुखे घन्विनौ तयोः ॥१५॥
 चक्रतुर्गुं दधमतुलं स्कन्दशक्राविवाम्बरे ।
 तयोरेव सगन्धर्वाः सिद्धा यक्षा महर्षयः ॥१६॥
 विमानस्थाश्च ददृशुर्गुं दधं देवासुरोपमम् ।
 ततः प्रादुरभूतां तौ दृत्तौ भूतेश्वरो नृप ॥१७॥

शूलिना प्रेषितौ युद्धे रक्षार्थं बलिनोस्तयो ।
 हंसोऽयं वासुदेवश्च युद्धं चक्रतुरीश्वरौ ॥१८॥
 रामश्च द्विभक्तश्चैव स युक्तौ युद्धकाक्षया ।
 विश्रुताः सर्वे एवैते ह्यस्त्रे शस्त्रे तथा बले ॥१९॥
 शङ्खान्दधुः पृथग्घ्रात स्वे स्वे सर्वे रथे स्थिताः ।
 अथ कृष्णो हृषीकेशः पाञ्चजन्यं महारथम् ॥२०॥
 दध्मी पद्मपलाशाक्षः सर्वान्विस्मापयन्निव ।
 अथ भूतौ महाघोरौ लम्बोदरशरीरिणौ ॥२१॥
 दुद्रुवतुर्महाराज शूलमादाय केशवम् ।
 शूलेन पोथया राजञ्चक्रतुर्यादिवेश्वरम् ॥२२॥

पादबो को इस प्रकार भागते हुए देख कर श्रीकृष्ण और बलराम उन दोनों के सामने जा डटे । उस समय प्रतीत होने लगा कि स्वयं स्वामि वार्तिकेय और इन्द्र मंदान में आ गये हो । तब उस युद्ध को देवता, गणवं, सिद्ध, महर्षि आदि आकाश मार्ग में स्थित होकर देखने लगे । तभी भगवान् शंकर के दो भूत हंस द्विभक्त की रक्षा के लिये वहाँ आ उपस्थित हुए । उस समय हंस के साथ भगवान् श्रीकृष्ण और द्विभक्त के साथ बलरामजी भिड़ रहे थे । ये चारों ही अपने-अपने बल-पराक्रम में प्रतिद्वन्द्वी ॥१४-१६॥ अब यह सभी धीर अपने-अपने रथों पर चढ़कर दात-ध्वनि करने लगे । उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण ने साथ की आश्वत्थ-वृक्षित करते हुए अपने पाञ्चजन्य दात से घोर निनाद किया । जिससे उत्तेजित हुए सम्बे पेद और बिनाल देह वाले दोनों मृत त्रिदल लेकर भगवान् श्रीकृष्ण की ओर दौड़े और वहाँ जाकर उन्होंने उन पर त्रिदल पता दिया ॥२०-२२॥

तान्धा समाट्ती विष्णुर्देवगन्धर्वम निधौ ।
 ईषतिमताप्ररो देव त्रिचिदुत्सृज्य सततम् ॥२३॥
 रघाद्रथिरथेऽस्तौ प्रगल्भ जनाङ्गनः ।
 भ्रामयित्वा शागुणमभानमिव येनयः ॥२४॥

कैलासं च समुद्दिश्य प्रचिक्षेप ततो हरिः ।
 तावुपेत्य गिरेः शृङ्गं कैलासस्य महामते ॥२५॥
 दृष्ट्वा तत्कर्म देवस्य विस्मयं जग्मतु परम् ।
 हंसश्च दृष्ट्वा तत्कर्म रोपताम्रायतेक्षणः ॥२६॥
 उवाच वचनं हंसः शृण्वतां त्रिदिवीकसाम् ।
 किमयं राजसूयस्य विघ्नं चरसि केशव ॥२७॥
 ब्रह्मदत्तो महीपालो यथा तस्य महाक्रतो ।
 करं दिशं यथायोगं यदि प्राणान् हि रक्षसि ॥२८॥
 अथवा त्वं क्षणं तिष्ठ ततो ज्ञात्वा करं बहु ।
 ददासि त्वं नन्दपुत्र ततो यष्टा स मे गुरु ॥२९॥
 ईश्वरोऽहं सदा राज्ञा देवानामिव शूलभृत् ।
 एष ते वीर्यमनुलं नाशयिष्यामि स युगे ॥३०॥

तब भगवान् श्रीकृष्ण ने रथ से नीचे उतर कर कुछ मुसकराते हुए दोनों भूतों को हाथ से पकड़ कर चक्र के समान सौ बार घुमा कर कैलाश पर्वत पर जोर से फेंक दिया । वे वहाँ गिर कर अत्यन्त आश्चर्य चकित हुए । तब भगवान् श्रीकृष्ण के इस पराक्रम से क्रोधित हुए हस ने सभी देवताओं की उपस्थिति में कहा—हे केशव ! तुम मेरे राजसूय यज्ञ में बाधक क्यों होना चाहते हो ? इस यज्ञ को महाराज ब्रह्मदत्त अवश्य ही सम्पन्न करेंगे । यदि तुम प्राण रक्षने की इच्छा करते हो तो तुरन्त ही कर प्रदान कर दो ॥२३-२८॥ अन्यथा कुछ देर में ही तुम्हें मेरे पराक्रम का परिचय मिल जायगा तब स्वयं ही कर देने के लिये तत्पर हो जाओगे ॥२९॥ जैसे भगवान् शकर देवताओं में अप्रगण्य हैं, वैसे ही मैं सब राजाओं का स्वामी हूँ और तुम्हारे पराक्रम के गर्व को मैं इसी युद्ध में नष्ट किये देता हूँ ॥३०॥

इत्युक्त्वा सशरं चापं शालतालोपमं नृप ।
 आकृष्य च यथा प्राणं नाराचेन च केशवम् ॥३१॥

ललाटे चिक्षिपे हंसो ललाम इव सोऽभवत् ।
 उवाच सात्यकिं कृष्णो रथ वाहय मे प्रभो ॥३२॥
 दारुकं पृष्ठवाह त कृत्वा देश तमीश्वर ।
 अथ तेन समादिष्टः सात्यकिर्वाहयन्नरथम् ॥३३॥
 मण्डलानि बहून्याजो दशयामास सत्वरम् ।
 अथ विदधो दृढ तेन शरेण हरिरीश्वरः ॥३४॥
 आग्नेयमस्त्रं सयोज्य शरं कस्मिंश्चिदव्ययः ।
 उवाच हस राजेन्द्र सात्यकिं प्रेरदनरणे ॥३५॥
 अनेन त्वा दहाम्यद्य यदि शक्तोऽसि वारय ।
 अल ते बह्वदधेन क्षत्रियोऽसि सदा शठ ॥३६॥
 मत्तश्चेत्करमिच्छेस्त्वयं दशयाद्य पराक्रमम् ।
 यतयो बाधिता ह स पुष्करे सस्थितात्वया ॥३७॥

यह कह कर हस ने अपने ताल वृद्ध के समान विशाल धनुष पर बाण
 को चढ़ाकर उससे प्रहार किया, जो उनके सलाह में लग कर अलवार स्वरूप
 हो गया । तब श्रीकृष्ण ने सात्यकि से रथ चलाने को कहा और दारुक को रथ
 के पीछे बैठाया । इस प्रकार सात्यकि ने रथ हाँकिना प्रारम्भ किया ॥३१-३३॥
 तब सात्यकि ने रथ के ही अनेक पैतरे बदले और हस के प्रहार से स्पर्धित हुए
 भगवान् ने आग्नेयास्त्र का संपान किया और हस से कहने लगे—अरे दुष्ट !
 अब अधिका मुझ नहीं बचेगा । मैं इसी अस्त्र से तुझे भस्म किये कासता हूँ, यदि
 तू तमयं क्षत्रिय है तो इससे प्रहार को रोक ॥३४-३६॥ यदि मुझसे कर लेने
 की इच्छा है तो अपने पराक्रम का प्रदर्शन कर, तू ने पुष्कर यात्रियों को बड़ा
 भय किया था ॥३७॥

शास्ता त्वं यानु विप्राणा न्यते मयि नराधम ।
 स्थिते मयि जगन्नाथे हृत्वा क्षत्रियपुष्टवान् ॥३८॥
 शास्ताऽभ्यस्यो त्वां हि सोऽरेदुष्टानां ब्रह्मविडिगाम् ।
 साधेन यतिमुष्यानां ह्य एव नृपाधम ॥३९॥

मृत्यवे त्वा निवेद्याद्य रक्षिता ब्राह्मणानहम् ।
इति ब्रूय स्तदस्त्र तु मुमोच युधि चेशव ॥४०॥
तदस्त्र वारुणेनाथ ह सोऽपि प्रत्ययेद्यत् ।
वायव्यमथ गोविन्दो मुमोच युधि ह सके ॥४१॥

अरे नराधम ! तू मेरे रहते हुए क्षत्रियो को नष्ट करने के स्वप्न
देखता और ब्राह्मणों पर कासन करना चाहता है ? ब्राह्मणों से द्वेष करने वालों
और पापात्माओं को मैं सदा दण्ड देना हूँ । प्रथम तो पुष्कर वासी मुनियों के
भाप से ही तेरी मृत्यु हो चुकी है, दूसरे मैं भी अब तुझे यमराज की सौंप कर
ब्राह्मणों की रक्षा करने के लिये दण्ड प्रतिज्ञा हूँ । यह कह कर उन्होंने अपने
आग्नेयास्त्र को उस पर छोड़ दिया ॥३६४०॥ परन्तु इस ने अपने वायुणास्त्र
के प्रयोग से आग्नेयास्त्र को व्यर्थ कर दिया, तब उन्होंने वायव्यास्त्र का प्रयोग
किया ॥४१॥

तदस्त्र वारयामास माहेन्द्रेण नृपोत्तम ।
अथ माहेश्वर कृष्णो मुमोचात्युग्रमाहवे ॥४२॥
गौद्रेण तत्ततो ह सो वारयामास तत्क्षणात् ।
गन्धर्वं राक्षसं चैव पेशाचमथ केशव ॥४३॥
ब्रह्मास्त्रमथ कौबेरमासुर याम्यमेव च ।
चत्वार्येतानि ह सस्तु मुमोच युधि सत्वरम् ॥४४॥
वारणाथ तदस्त्राणां चतुर्णां माधवस्य ह ।
अथ ब्रह्मशिरो नाम घोरमस्त्रं विनाशकम् ॥४५॥
मुमोच ह समुद्दिश्य देवदेवो जनार्दन ।
अस्त्रं वैष्णवमादाय शरे सन्निहिते हरि ॥४६॥
योजयामास तद्ध से महाघोरपराक्रमम् ।
अथ भीतो महारौद्रमस्य दृष्ट्वा नृपोत्तम ॥४७॥
ह सोऽपि तेन राजेन्द्र वारयामास त शरम् ।
यमुनाप उपस्पृश्य देवदेवो जनार्दन ॥४८॥

देवदेवो जगन्नाथो जगद्विस्मापयन्निव ।

प्राहरत्ता महाबाहुः पादाभ्यामथ केशवः ॥६॥

पादक्षेपं नृपस्तस्मात्खण्ड्वा हंसो नृपोत्तम ।

ममार च नृपश्चेष्टः केचिदेवं वदन्ति हि ॥७॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! उस वैष्णव नामक महारौद्र अस्त्र को देखते ही हंस अत्यन्त भयभीत एवं निश्चेष्ट हो गया ॥१॥ फिर वह रथ से कूद पड़ा और जहाँ श्रीकृष्ण ने कालिय नाग का दमन किया था, उस ओर भागने लगा ॥२॥ वह कालियदह अत्यन्त भयकर था, उसका जल अंजन के समान नीले वर्ण का था और वह पाताल तक गहरा था ॥३॥ उसी भयंकर वह मे हंस कूद पड़ा । उस समय उसके कूदने पर वैसा ही शब्द हुआ, जैसा, पहिले कभी इन्द्र के डर से पर्वतों के समुद्र मे कूदने पर हुआ था । उसे दह मे कूदता देख कर भगवान् श्रीकृष्ण भी अपना रथ छोड़ कर उसके पीछे पीछे उसी दह मे कूद पड़े ॥४-५॥ भगवान् श्रीकृष्ण के इस महान् साहस को देख कर सभी उपस्थित जन समूह को बड़ा विस्मय हुआ । भगवान् श्रीकृष्ण ने दह मे घुमकर हंस को पकड़ लिया और उसे सातों मार-मार कर पीड़ित करने लगे ॥५॥ कुछ लोगों का विचार है कि भगवान् श्रीकृष्ण की सातों के प्रहार से नृपोत्तम हंस भी मृत्यु हो गई ॥७॥

अन्ये पातालमायातो भक्षितः पन्नग रिति ।

अद्यापि नैव राजेन्द्र दृष्ट इत्यनुशुश्रुम ॥८॥

यथापूर्वं जगन्नाथो रथं समपजग्मिवाम् ।

हृते तस्मिन्महाराज धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥९॥

अकरोद्राजसूयं च तव पूर्वेपितामह ।

यदि जीवेदसौ हंसः को नमस्यति त क्रतुम् ॥१०॥

स च सर्वास्त्रविन्नित्य रुद्रात्तदधवर प्रभो ।

क्षणादेव महाराज वार्त्तय मामगाहन ॥११॥

हतो हंसो हतो हंसः तृप्तेन रिपुमदिना ।

जगुर्गन्धर्वपतयो देवलोके दिवानिशम् ॥१२॥

कृष्णेन लोकनाथेन विष्णुना प्रभविष्णुना ।

यमुनाया हृदे घोरे हंसो निहत इत्यपि ॥१३॥

परन्तु, कुछ जानकारों का कहना है कि हंस कालियदह के मार्ग से पाताल लोक में जा पहुँचा और वहाँ उसे सर्पों ने डस लिया, हे राजन् ! इस वृत्तान्त को मैंने सुना ही है, देखा नहीं है ॥८॥ जिस प्रकार से भी हो, हंस की मृत्यु होगई और भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ से लौट कर अपने रथ पर आ गये । हे राजन् ! उसके मर जाने पर ही तुम्हारे पूर्व पितामह महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था । यदि हंस न मरता तो उस यज्ञ को कौन कर सकता था ? ॥६-१०॥ क्योंकि प्रथम तो हंस सब शास्त्रों का ज्ञाता था, दूसरे उसे भगवान् शाकर से घर मिल चुका था । उस हंस की मृत्यु का समाचार सम्पूर्ण पृथिवी पर क्षणभर में ही फैल गया ॥११॥ शत्रु सर्वत्र भगवान् श्रीकृष्ण ने हंस की यमुनाजी के कालीदह में मृत्यु के घाट उतार दिया । देवताओं की सभा में इस कथा का गद्यवों ने दिन-रात निरन्तर गान किया था ॥१२-१३॥

श्रुत्वा निहतमृत्युग्रं भ्रातरं वीर्यशालिनम् ।

बलदेवं परित्यज्य मुध्यमानं महारणे ॥१४॥

डिम्भको वीर्यसंपन्नो यमुनामनुजग्मिवान् ।

तमन्वधावद्वेगेन बलभद्रो हलायुधः ॥१५॥

हंसो हि यत्र पतितस्तथासी निपपात ह ।

यमुनाया महाराज विलोक्य जलसंचयम् ॥१६॥

अथ क्रुद्धः स डिम्भको भ्रामयित्वा जल बहु ।

उन्मज्ज्योन्मज्ज्य सहसा निमज्ज्य च पुनः पुनः ॥१७॥

न ददर्श तदा राजन्भ्रातरं वीर्यशालिनम् ।

उन्मज्ज्याय महाबाहुर्वासुदेवं विलोक्य च ॥१८॥

उवाच वचनं राजन्डिम्भको वीर्यवत्तमः ।

अरे गोपकृशापाद यवापी हंस इति स्थितः ॥१९॥

वासुदेवोऽपि धर्मात्मा यमुनापृच्छ राजक ।
 इत्यग्नवीत्प्रसन्नात्मा वासुदेव प्रतापवान् ॥२०॥
 तच्छ्रुत्वा यमुना भूय प्रविश्य डिम्भक किल ।
 बहुप्रकारमुद्दीक्ष्य भ्रातर भ्रातृवत्सल ॥२१॥

वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! अपने भाई हस की मृत्यु का समा-
 चार सुनकर महाबली डिम्भक ने भी युद्ध का परित्याग किया और यमुनाजी की
 ओर दौड़ पड़ा । यह देखकर बलरामजी भी उसके पीछे-पीछे चले ॥१४-१५॥
 जिस दह में कूदने पर हस की मृत्यु हुई थी, उसी दह में डिम्भक भी कूद गया ।
 उसके कूदने के कारण यमुना जल में हलचल सी मच गई ॥१६-१७॥ उसके
 बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी वहाँ वह अपने भाई को नहीं देख सका । तब
 वह दह से बाहर निकल आया और भगवान् श्रीकृष्ण को देखकर उनसे बोला-
 अरे श्वाल-मुत्र ! मेरा भाई हस कहाँ है ? यह पता ॥१८-१९॥ यह सुनकर
 भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होते हुए कहा—हे नृप ! इस बात को यमुनाजी से
 ही पूछो ॥२०॥ यह सुन कर भ्रातृवत्सल डिम्भक पुनः यमुना जल में घुस कर
 अपने भाई को ढूँढने लगा, परन्तु उसे उसका कहीं भी पता न लगा ॥२१॥

विललाप सतो राजा डिम्भको भ्रान्तमानस ।
 क्व नु गच्छसि राजेन्द्र विहार्यममबान्धवम् ॥२२॥
 कुतो भ्रातरितो गच्छे परित्यज्यैव मामिह ।
 विनप्यैव नृपश्चैष्ठ डिम्भको भ्रातृवत्सल ।
 आत्मत्यागे मन कुर्वन् यमुनाया महाहृदे ।
 निमज्ज्योन्मज्ज्य सहसा मरणे कृतनिश्चय ॥२४॥
 हस्तेन जिह्वामाकृष्ण भूयो भूयो विलप्य च ।
 तत्र समूलामाकृष्य जिह्वा साहमवृत्स्वयम् ॥२५॥
 ममारान्तर्जले राजन् डिम्भको नरकाय वै ।
 एव तु निहते ह से डिम्भके वीर्यशालिनि ॥२६॥

आगमत्पुण्डरीकाक्षो भूतान्विस्मापयन्निव ।
 ततः प्रीतः प्रसन्नात्मा वासुदेवः प्रतापवान् ॥२७॥
 गोवर्धनेऽथ विश्रम्य बलद्रसहायवान् ।
 कंचित्कं महाराज पूर्वभुवतमूवास ह ॥२८॥

हस के कहीं भी न मिलने पर दिम्भक अत्यन्त आतं होकर विलाप करने लगा—हे राजेन्द्र ! हे हय ! तुम मुझे इस अवस्था में छोड़ कर कहीं चले गये हो ? यह कहता हुआ दिम्भक बारम्बार दुःखी लगाता हुआ यमुनाजी में डूब कर आत्मघात करने के लिये उद्यत हुआ ॥२२-२४॥ फिर यह बारम्बार विलाप करने लगा और अन्त में उसने अपनी जिह्वा को जोर लगाकर हाथ से खींचा, जिससे वह मूल सहित बाहर निकल आई, तब उसी वेदना से धड़पटाते हुए दिम्भक भी मृत्यु हो गई । हे राजन् ! इस प्रकार आत्मघात के पाप से दिम्भक को नरक की प्राप्ति हुई । जब हस और दिम्भक दोनों का ही विनाश हो गया, तब भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न हुए और सभी उपस्थित जन उस दृश्य को देखकर विस्मय करने लगे ॥२५-२७॥ फिर वे ज्येष्ठ भ्राता बलरामजी के साथ अपने उस पूर्व श्रीकाश्यप गोवर्धन पर्वत पर विद्याप करने लगे २८

॥ भगवान् का नन्द-यशोदा से मिलना ॥

यशोदा नन्दगोपश्च कृष्णदशं नलालसी ।
 गोवर्धनगतं श्रुत्वा वासुदेवं सहाग्रजम् ॥१॥
 नयनीतं च दधि च पायसं कृतरं तथा ।
 वन्यं पुष्पं महाराज मयूरान्नदमेव च ॥२॥
 यत्नवरपरं साद्यं गोपीमिश्रं समन्ततः ।
 जग्मतुः सहसा प्रीतो गोवर्धनमयो नृप ॥३॥
 यच्चिद्वृक्षे समामयन् कृष्णं कृष्णमृगेशणम् ।
 दर्शनं तुमहावाहूँ यामुदेवं सहाग्रजम् ॥४॥
 प्रणेमन् मुमं हृषी तत्र दृष्ट्वा महाप्रभो ।
 दशनं यामासुर्वी पायसानि महान्ति ॥५॥ च

रक्षणात्तव देवेश सदा कुलशिनो वयम् ।
 सगोधन. सवत्साश्च नीरोगा इव केशव ॥१३
 एकमेव सदा दुःखं न त्वा द्रक्ष्यामि केशव ।
 यदेतत्केवल दुःखमिति धी. शीर्यते सदा ॥१४

ये रस्त्रियाँ, कील और विभिन्न प्रकार की घासों तो सब पहिले के समान ही होगी ? हे पिताजी ! सुगन्धि से परिपूर्ण छकड़े सो उतने ही होंगे ? सन्तान-वती गोपियों के क्या-क्या और कितनी-कितनी सतति हुई है ? ॥८-९॥ व्रज के घाट जीर्ण-शीर्ण तो नहीं हो गये ? गोएँ उसी प्रकार बहुत-सा दूध देती हैं न ? ॥१०॥ घृत, दुग्ध आदि सब पदार्थ थोड़ा रूप से तो उत्पन्न होते हैं ? व्रज का गोधन रोग-रहित तो है ? ॥११॥ भगवान् श्रीकृष्ण के ऐसे भीठे वनन सुन कर नन्दजी ने उत्तर दिया—हे केशव ! हे यदुधेष्ठ ! सब कुछ कुशल-पूर्वक ही है, सब आनन्द से हैं, गोधन रोग-रहित है, गोएँ भी सकुशल हैं ॥१२॥ हे देव ! हम सब अपने बालक और गोधन के सहित आगके सरक्षण के कारण रोग-रहित तथा कुशलपूर्वक ही हैं, परन्तु आपके दर्शन न कर पाने का ही हमें सदा दुःख बना रहता है, इसी से हमारी बुद्धि नष्ट होनी जा रही है ॥१३-१४॥

एवमादि विलप्यन्त गच्छेत्याह न केशवः ।
 यशोदा पुनरोद्देह मातर्गच्छ गृह प्रति ॥१५
 ये च त्वा कीर्तयिष्यन्ति ते च स्वर्गं मवाप्नुयुः ।
 ये केचित्त्वा नमस्यन्ति ते मे प्रियतरा. सदा ॥१६
 मद्भक्ताः सर्वदा सन्तु गच्छेत्याह च ता हरिः ।
 इत्पुत्रत्या पितरी देवो वामुदेव सनातनः ॥१७
 गाढमालिङ्ग्य तो प्रीतो प्रेपयामास वेशवः ।
 यशोदा नन्दगोपश्च जग्मतु. स्वगृह प्रति । १८
 तत. वृष्णो हृषीकेशो यादवैः सह वृष्णिभिः ।
 गन्तुमर्च्छतदा विष्णुः पुरी द्वारवती किन ॥१९

य एतच्छृणुयान्नित्यं पठेद्वापि समाहितः ।

पुत्रबान्धनवांश्चैव अन्ते मोक्षं च गच्छति ॥२०॥

वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! नन्दजी के इस प्रकार दुःख प्रकट करने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने माता यशोदा के सहित उनसे कहा—हे पिताजी ! हे माताजी ! अब आप घर के लिये पधारें । जो यासारिक मनुष्य आपका नाम सकीर्तन करेगा या आपको नमस्कार करेगा, वे हमारे बहुत ही प्रीति-भाजन होंगे और उन्हें स्वर्ग भी मिलेगा, और वे सदा ही मेरे भक्त रहेंगे । सनातन पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण ने माता-पिता से हृदय मिल कर उन्हें विदा किया । इसके पश्चात् वे अपने घर के लिये चल पड़े ॥१५-१८॥ फिर सभी यादवों और वृष्णिगणों के सहित भगवान् श्रीकृष्ण ने वहाँ से द्वारकापुरी को लौटने का विचार किया ॥१९॥ इस कथा को सुनने और पढ़ने वाला मनुष्य पुत्रवान् एवं सुखी होता है तथा अन्त फल में उसे मोक्ष की प्राप्ति होना है ॥२०॥

॥ भगवान् कृष्ण का द्वारका प्रत्यागमन ॥

गच्छन्नथ महाविष्णुः पुष्करं प्राप्य यादवै ।

अपश्यन्मुनिमुख्यास्तु पुष्करस्थान् पोतम ॥१॥

ते समेत्य महादेव मृषयो वीतमत्सरा ।

अर्घ्यादिसमुदाचारं कृत्वा न यादवोत्तमम् ॥२॥

प्रोचुर्विश्वेश्वरं विष्णुं भूतभव्यभवत्प्रभुम् ।

अत्यद्भुतमिदं विष्णो तव वीर्यं जनार्दन ॥३॥

येन तौ निहतौ युद्धे हंसो डिम्भक एव च ।

यो विचक्रो दुराघर्षो देवैरपि सुदुःसहः ॥४॥

संगरे निहतो देव दुःसाध्य इति नो मतिः ।

क्षेमो नः सर्वकार्येषु चरतां तप उत्तमम् ॥५॥

निष्कल्मषा भविष्यामस्तव संस्मरणादरे ।

त्वां हि सर्वस्य दुःशम्य हर्ता त्वां ध्यायतां सदा ॥६॥

वंशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! द्वारका जाने के विचार से यादवों के सहित चनते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने पुष्कर क्षेत्र में पहुँच कर प्रमुख महर्षियों से भेंट की ॥१॥ उन वीतराग मुनियों ने जैसे ही भगवान् को आते हुए देखा, वैसे ही उन्होंने अर्घ्य पाद्य आदि से उनका पूजन किया ॥२॥ उन भूत-भविष्य-वर्तमान के स्वामी और सम्पूर्ण ससार के ईश्वर की अर्चना के पश्चात् वे मुनि-जन बहते लगे—हे विष्णो ! हे जनार्दन ! आपके पराक्रम पर विस्मय होता है ॥३॥ हे प्रभो ! जो विचक्र देवताओं द्वारा भी नहीं जीता जा सका, वह विचक्र, हंस और डिम्बक के सहित आपके द्वारा ही नाश को प्राप्त हो सका है, यथार्थ में यह अमाध्य कार्य ही सिद्ध होगया है । अब हमारा सब प्रकार से बलयाण प्रत्यक्ष है और हम निर्विघ्न रूप से तप करने में उद्यत हैं ॥४-५॥ हे कृष्ण ! हम आपका स्मरण करते ही पाप रहित होंगे और जो आपका ध्यान करेंगे, उन्हें कभी किसी सबूट की प्राप्ति नहीं होगी ॥६॥

त्वदनुस्मरणं जन्तो सदा पुण्यप्रदं प्रभो ।
 त्वं हि न सततं घाता विधाता तपसो हरे ॥७॥
 त्वमोषारो वषट्कारस्त्वं यज्ञस्त्वं पितामह ।
 त्वं ज्योतिर्ग्रहणो भूर्निस्त्वं ब्रह्मा रुद्र एव च ॥८॥
 प्राणस्त्वं सर्वभूतानामन्तरात्मेति वध्यते ।
 उपास्य सर्वभूतानां यज्ञं दर्शनं जगत्पते ॥९॥
 नमो विश्वसृजे देव नमस्ते विश्वभूतये ।
 पाहि लोकमिमं देव हृत्वा ब्रह्माद्विपं सदा ॥१०॥
 स तथेति हरिर्विष्णुर्मयो द्वारवती पुरीम् ।
 अवसद्भूषिभिः साढं स्तूयमानं समागधं ॥११॥
 इयं च देवदेवस्य चेष्टा हि जनमेजय ।
 प्रोक्ता ते पृच्छते राजन् विमन्मच्छ्रीनुमिच्छसि ॥१२॥

हे नाथ ! आपका वृत्तान्त समस्त जीवों के लिये पुण्यजनक है, आप ही प्रणय, है । हमारी तपश्चर्या के भूत भी आप ही हैं ॥७॥ हे प्रभो ! आप ही प्रणय,

वपट्कार, यज्ञ, पितामह, ज्योति, ब्रह्ममूर्ति हैं तथा आप ही ब्रह्मा एव रुद्र हैं ॥८॥ आप ही सब जीवों के अंतर में वास करने वाले आत्मा हैं और यज्ञ तथा दानादि कर्मों के द्वारा आपकी ही आराधना की जाती है ॥ ९ ॥ हे प्रभो ! हे विश्वमृज ! हे विश्वमूर्ति ! आपकी बारम्बार नमस्कार है । हे ईश्वर ! आप ब्राह्मणों के द्वेषियों का सहार कर त्रैलोक्य का रक्षण कीजिये ॥१०॥ भगवान् मे 'ऐसा ही हो' कह कर प्रस्थान किया और द्वाका जाकर बन्दीजनों की श्रुतियों को सुनते हुए सुखपूर्वक वहाँ निवास करने लगे ॥११॥ हे राजन् ! आपने भगवान् विष्णु के विषय में जो पूछा था, वह सब आप से कहा जा चुका । अब और क्या सुनने की इच्छा है, सो कहिये ॥१२॥

॥ हरिवंश श्रवण फल ॥

भगवन्केन विधिना श्रोतव्यं भारत बुधे ।
 फलं किं के च देवाश्च पूज्या वै पारणेश्विह ॥१
 देयं समाप्ते भगवन्वि च पर्वणि पर्वणि ।
 वाचयन् कीदृशश्चासं यष्टव्यस्तद्ब्रवीहि मे ॥२
 शृणु राजन्विधिमिमं फलं यच्छति भारतात् ।
 श्रुताद्भूवन्ति राजेन्द्र यत्त्वं मामनुपृच्छसि ॥३
 दिवि देवा महीपाल क्रीडायंभवन्ति गता ।
 कृत्वा नार्यमिदं चैव तनश्च दिवमागता ॥४
 हन्त यत्ते प्रवक्ष्यामि तच्छृणुष्व समाहितः ।
 श्रुषीणा देवतानां च स भव वमुघातल ॥५
 अत्र रद्रास्त्रया साध्या विश्वदेवाश्च शाश्वताः ।
 आदित्याश्चाश्विनौ देवौ सोमपाला महर्षयः ॥६
 गुह्यवाक् सगन्धर्वा नागा त्रिषाधरास्तथा ।
 सिद्धा घर्मः स्वयं भूश्च मुनिः कात्यायनो यर ॥७
 गिरयः सागरा नद्यन्तर्यामिवाप्सरसा गणाः ।
 ग्रहाः स यत्नराक्षसश्च अघातापावस्तथा ॥८

स्थावर जङ्गम चैव जगत्सर्वं सुरासुरम् ।

भारते भरतश्चेष्ट एकस्वामिह दृश्यते ॥६॥

यह सुन कर राजा जनमेजय ने कहा—हे भगवन् ! इस भारत का श्रवण किस प्रकार से करे ? इसके श्रवण का क्या फल है और इसके पारामर्श के समय किस देवता का पूजन करे ? ॥१॥ पर्व की समाप्ति पर क्या दान दे ? क्यावाचक कंसा हो ? उसका पूजन किस प्रकार करे ? इस पर आप पूर्ण प्रकाश डालने की कृपा करिये ॥२॥ वंशम्नायनजी ने कहा—हे राजन् ! अब मैं इसके पारामर्श और श्रवण के पूर्ण फल को कहना हूँ, आप सावधान होकर सुनिये ॥३॥ हे राजन् ! स्वर्गवासी देवता पृथिवी पर प्रीड़ा करने की इच्छा से अवतरित होकर पुन अपने लोक को लौट गये ॥४॥ अब मैं उस कथा को कहता हूँ, जिसमें ऋषियो और देवताओं के पृथिवी पर जन्म-धारण करने का वृत्तान्त है, सुनो ॥५॥ इस ग्रन्थ में रुद्र, सिद्ध, साध्य, विश्वेदेव, आदित्य, अदिशनीकुमार, लोकपाल, महर्षि, गुह्यक, गंधर्व, ताम्र, विद्याधर सिद्ध, धर्म, स्वयम्भू वात्स्यायन मुनि, गिरि, सागर, नदी, अप्सरा, ब्रह्म, सवत्सर, अयन, ऋतु, स्थावर-जगम, सुर, असुर, आदि के सहित सम्पूर्ण विश्व अथवा और भी जो-जो कुछ आप देखना चाहेंगे, वही मिल जायगा ॥६-८॥

तेषां श्रुतप्रतिष्ठानं नामकर्मनिर्गोर्ननात् ।

वृत्त्याऽपि पातकं घोरं सद्यो मुच्येत मानवः ॥१०॥

इतिहासमिमं श्रुत्वा यथावदनुपूर्वशः ।

स यतात्मा धुचिर्भूत्वा पारं गत्वा च भारते ॥११॥

तेषां शृणु त्वं देवानि श्रुत्वा भारतं भारतम् ।

ब्राह्मणेभ्यो यथाशक्त्या भक्त्या च भरतर्षभ ॥१२॥

महादानानि देवानि रत्नानि त्रिविधानि च ।

गाय पात्योपदोहाश्च यन्याश्चैव स्वसृष्टा ॥१३॥

सर्वं नामगुणोपेता यानाति त्रिविधानि च ।

भाजनानि विवित्राणि भूमिर्वासासि वाञ्छनम् ॥१४॥

वाहनानि च देवानि ह्या मत्ताश्च वारणा ।
 शयन शिविकाश्चैव स्यन्दनाश्च स्वल वृत्ता ॥१५॥
 यद्यद्गृहे वर किञ्चिद्यद्यदस्ति महद्भुम्भु ।
 तत्तद्देयं द्विजातिभ्य आत्मा दाराश्च सूनव ॥१६॥

उपरोक्त सब के प्रतिष्ठान, नाम और कर्मादि का गुणानुवाद करने पर
 तुरन्त ही महा पाप तक से मुक्ति हो जाती है ॥ १० ॥ जो मनुष्य सयत और
 शुद्ध मन से इसको आदि से अन्त तक सुनता है वह भवसागर से पार हो जाता
 है ॥११॥ हे राजन् ! अब यह कहता हूँ कि भारत को सुन कर क्या दान देना
 उचित है ? हे राजन् ! उचित तो यह है कि उस समय पूर्ण भक्ति भाव के
 सहित जो अपनी सामर्थ्य हो, उसी के अनुसार दान दे ॥ १२ ॥ फिर अपनी
 सामर्थ्य भर रत्न, दूध देने वाली गाय, आभूषणों से सुयज्जित कन्या, पात्र,
 पृथिवी, वस्त्र, सुवर्ण, वज्र अश्व आदि वाहन, शय्या, शिविका आदि जो वस्तु
 ध्येष्ठ हो वह सभी दान की जा सकती है ॥१३-१६॥

श्रद्धया परया दत्तं क्रमशस्तस्य पारग ।
 शक्तितं सुमना हृष्टं शुश्रूषुरविकम्पन ॥१७॥
 सत्याजं वरतोऽयं शुचिं शौचपरायण ।
 श्रद्धधानो जितक्रोधो यथा सिद्धयति तच्छृणु ॥१८॥
 शुचिः शीलान्विताचारः शुक्लवासा यतेन्द्रिय ।
 सस्मृतं सर्वशास्त्रज्ञः श्रद्धधानोऽनमूयक ॥१९॥
 रूपवान्सुभगो दान्तः सत्यवादी जितेन्द्रिय ।
 दानमानग्रहीता च कार्यो भवति वाचक ॥२०॥
 अविलम्बमनायस्तमद्रुतः धीरमूर्जितम् ।
 असक्तताक्षरपदं न च भावसमन्वितम् ॥२१॥
 क्षिप्यष्टिवर्णं युक्तमष्टस्यानसमीरितम् ।
 वाचयेद्वाचकः स्वरथ स्वाधीनः सुसमाहित ॥२२॥

दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्यगन्धविभूषितः ।
 दिव्यागदधरो नित्यं देवलोके महीयते ॥२८
 तृतीयं पारणं प्राप्य द्वादशाहफल लभेत् ।
 वसत्यमरसंकाशो वर्षाण्ययुतशो दिवि ॥२९
 चतुर्थं वाजपेयस्य पञ्चमे द्विगुणं फलम् ।
 उदितादित्यसंकाशं ज्वलन्तमनलोपमम् ॥३०
 विमानं विबुधो साद्वंमारुह्य दिवि गच्छति ।
 वर्षायुतानि भवने शक्रस्य दिवि मोदते ॥३१

प्रथम पारण के समाप्त होने पर ब्राह्मणों को सतुष्ट करने पर अग्निष्टोम का फल प्राप्त होता है और अन्त में श्रोता को स्वर्ग-यात्रा के लिये अप्सराओं से परिपूर्ण दिव्य विमान मिलता है ॥२४-२६॥ जब द्वितीय पारण पूर्ण हो जाता है तब सुनने वाले को अतिरात्र का फल मिलता है और वह दिव्य वस्त्र, माला, गन्ध, अलंकार आदि को धारण कर दिग्ग यान के द्वारा देवलोक को प्राप्त होकर देवताओं के लिये भी सम्माननीय हो जाता है ॥ २७-२८ ॥ तीसरे पारण की समाप्ति पर श्रोता द्वादशाह का फल प्राप्त करता है, इस फल से उसे देवताओं के समान दस हजार वर्ष तक स्वर्ग सुख भोगने का अधिकार मिल जाता है ॥ २९ ॥ चौथे पारण की पूर्णता पर वाजपेय यज्ञ का फल मिलता है और पाँचवें पारण की समाप्ति पर उससे भी दूना फल प्राप्त होता है । इसका पृथक् श्रोता को प्रदीप्त अग्नि और उदयशाल के सूर्य के समान साल वर्ष धाले सौम्य विमान के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति कराता है, जहाँ वह इन्द्र के विशाल प्रासाद में विहार करता हुआ दस हजार वर्ष तक सुगोपभोग करता है ॥ ३०-३१ ॥

पष्ठे द्विगुणमस्तीति सप्तमे त्रिगुणं फलम् ।
 कलासशिखराकारं वेदूयंमणिवेदिकम् ॥३२
 परिशिष्टं च बहुधा मणिविद्रुमभूषितम् ।
 विमानं समप्रिष्ठायकामगं साप्तरोगणम् ॥३३

सर्वाल्लोकान्विचरते द्वितीय इव भास्वर ।
 अष्टमे राजसूयस्य पारणे लभते फलम् ॥३४
 चन्द्रोदयनिभ रम्य विमानमधिरोहति ।
 चन्द्ररश्मिप्रतीकाशं हंयैयुक्त मनोजवै ॥३५
 सेव्यमानो घरस्त्रीणा चन्द्रवान्ततरं मुंछः ।
 मेघलाना निनादेन नूपुराणा च निस्वनः ॥३६
 अद्भ्यो परमनारीणा सुषं सुप्तो विबुध्यते ।
 नवमे ऋतुराजस्य वाजिमेघस्य भारत ॥३७
 पाञ्चनस्तम्भनिध्युह वैदूर्यं कृतवेदिषम् ।
 जाम्बूनदमयैर्दिव्यैर्गन्धादां सवंतो दिशम् ॥३८
 सेवितं चाप्सर सघैर्गन्धर्वैर्दिव्यचारिभि ।
 विमान समधिष्ठाय श्रिया परमया ज्वनन् ॥३९
 दिव्यमातयाम्बरधरो दिव्यचन्दनमूषितः ।
 मोरते दैवते साष्टं दिवि देय द्वापर ॥४०

दिव्य माला, वस्त्र और गन्ध के अनुलेपन पूर्वक बैठा हुआ थोता देवताओं के साथ देवलोक में भ्रमण का आनन्द लेता है ॥३६-४०॥

दशम पारण प्राप्य द्विजातीनामिवन्द्य च ।
 किङ्किणीजालनिर्घोष पताकाध्वजशोभितम् ॥४१॥
 रत्नवेदिकस काश बंदूर्यमणितोरणम् ।
 हेमजालपरिक्षिप्त प्रवालवलमीसुखम् ॥४२॥
 गन्धवर्गीतकुशलैरप्सरोभिनिषे वितम् ।
 विमान सुकृतावास सुकृतावास सुखेन वोपपद्यते ॥४३॥
 मुकुटेनाकर्णणेन जाम्बूनदविभूषण ।
 दिव्यचन्दनदिग्धाङ्गो दिव्यमाल्यविभूषित ॥४४॥
 दिव्याल्लोकान्प्रचरति दिव्यं भोगं समन्वितम् ।
 विबुधानां प्रसादेन श्रिया परमया युतः ॥४५॥
 अथ वर्षगणानेव स्वर्गलोके महीयते ।
 ततो गन्धर्वसहित सहस्राण्येकविंशति ॥४६॥
 पुर दरपुरे रम्ये शक्रेण सह मोदते ।
 दिव्ययानविमानेषु लोकेषु विविधेषु च ॥४७॥
 दिव्यनारीगणावीर्णो निवसत्यमरो तथा ।
 सतः सूर्यस्य भवने चन्द्रस्य भवने तथा ॥४८॥
 शिशस्य भवने राजन्विष्णोर्याति सलोकताम् ।
 एवमेतन्महाराज नास्ति वार्या विचारणा ॥४९॥

दशम पारण पूर्ण होने पर किङ्कणियों से अनेकृत, ध्वजा पताका से युक्त, रत्नमय बंदी और मणिमय तोरण से सुशोभित, गान-विद्या युक्त गधवों और अप्सराओं से भरा हुआ स्वर्ण निमित्त यान थोता जो उपलब्ध होता है ॥ ४१-४३ ॥ तब थोता के मस्तक पर स्वर्णमय और सूर्य के समान तेजोमय मुकुट सुशोभित होता है और दिव्य माला और गन्धादि के अनुलेपन पूर्वक दिव्य मनोहर रूप वाला होकर वह थोता देवताओं के साथ में भ्रमण करता है ॥४४-

४५॥ इस प्रकार कुछ काल स्वर्ग में विहार करके फिर गन्धर्वों द्वारा परिचर्या को प्राप्त होकर आनन्द सहित रहता है । फिर इन्द्र के समान विविध लोको में भ्रमण करने की शक्ति प्राप्त करके इच्छित रूप से घूमता और दिव्याङ्गनाओं के मध्य में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है । फिर वह सूर्य के भवन में, चन्द्रमा के भवन में और भगवान् शिव के भवन में रह कर अन्त में भगवान् विष्णु के सायुज्य मोक्ष को प्राप्त हो जाता है । हे राजन् ! मेरा सब कथन सत्य है, इसमें सन्देह के लिये किंचित् भी स्थान नहीं है ॥४६-४६॥

श्रद्धधानेन वै श्राव्यमेवमाहु गुरुर्मम ।
 वाचकस्य तु दातव्य मनसा यद्यदिच्छति ॥५०
 हस्त्यश्वरथयानादि वाहनं च विशेषतः ।
 कटकं कुण्डले चैव ब्रह्मसूत्रं तथापरम् ॥५१
 वस्त्रं चैव विचित्रं च गन्धं चैव विशेषतः ।
 देववत्पूजयेत्तं तु विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥५२
 अतः परं प्रवक्ष्यामि यानि देयानि भारते ।
 वाच्यमानेऽथ विप्रेभ्यो राजन्पर्वणि पर्वणि ॥५३
 जार्ति देशं च सत्यं च माहात्म्यं भरतर्षभ ।
 धर्मवृत्तिं च विज्ञाय क्षप्तियाणा नराधिप ॥५४
 स्वस्ति वाच्यं द्विजानादी ततः कार्यं प्रवर्तयितुं ।
 समाप्ते पर्वणि ततः स्वशक्त्या तर्पयेद्द्विजान् ॥५५
 आदौ तु वाचकं चैव वस्त्रगन्धसमन्वितम् ।
 विधिवद्भोजयेद्राजन्मधुपायससयुतम् ॥५६
 ततो मूलफलप्रायं पायसं मधुसर्पिषा ।
 आस्तिनेः भोजयेद्राजन्दद्याच्चैव गुडोदनम् ॥५७

हे राजन् ! मेरे गुरु का उपदेश है कि भारत का अथवा अथवा पूर्ववत् करे और क्या वाचक घातण को गज, अश्व, रथ, यान, वाहन, कटक, कुण्डल, ब्रह्मसूत्र, वस्त्र, गन्ध आदि जिस वस्तु को भी यह इच्छा करे, वही उसे देकर

देवता के समान ही उसे पूजे । ऐसा करने वाले श्रद्धालु श्रोता को अन्त में विष्णु लोक की प्राप्ति होती है ॥५०-५१॥ हे राजन् ! महाभारत की कथा के समय प्रत्येक पर्व पर जाति, देश, उत्साह, गौरव, धर्म आदि के अनुसार जो दान देना चाहिये, उसे कहना है, सुनो ॥५२-५४॥ प्रथम स्वस्ति वाचन कराने के पश्चात् ही कथा सुनने में प्रवृत्त हो । आदि पर्व के समाप्त होने पर ब्राह्मणों को शक्ति भर दान दे ॥५५॥ हे राजन् ! पर्व के पूर्ण होने पर कथावाचक को धत्त और गन्ध आदि अर्पित करके मधु से युक्त खीर के भोजन से तृप्त करे ॥५६॥ इस प्रकार फल, मूल और घी-शहद मिश्रित खीर खिलाकर फिर उसे गुह मिश्रित भात का भोजन करावे ॥५७॥

अपूपैश्चैव पूपैश्च मोदकैश्च समन्वितम् ।
 सभापर्वणि राजेन्द्र हविष्यं भोजयेद्विजान् ॥५८॥
 धारण्यके मूलफलैस्तर्पयेच्च द्विजोत्तमान् ।
 अरणीपर्व आसाद्य जलकुम्भान्प्रदापयेत् ॥५९॥
 तर्पणानि च मुख्यानि वन्यमूलफलानि च ।
 सर्वकामगुणोपेतं विप्रेभ्योऽन्नं प्रदापयेत् ॥६०॥
 विराट्पर्वणि तथा वामासि विविधानि च ।
 उद्योगे भरतश्चेत् सर्वकामगुणान्वितम् ॥६१॥
 भोजनं भोजयेद्विप्राङ्गन्धमाढ्यं रत्नकृतम् ।
 भीष्मपर्वणि राजेन्द्र दत्त्वा यानमनुत्तमम् ।
 ततः सर्वगुणोपेतमन्नं दद्यात्सुमस्कृतम् ॥६२॥
 द्रोणपर्वणि विप्रेभ्यो भोजनं परमार्चितम् ।
 शराश्च देवा राजेन्द्र पापान्यसि वरस्तथा ॥६३॥
 कर्णं पश्यन्पि तथा भोजनं सार्वकामिकम् ।
 विप्रेभ्यः सस्कृतं सम्यग्दद्यात्सयत्नमानसः ॥६४॥

जय गन्धर्व समाप्त हो जाय, तब ब्राह्मणों को पूर, अपूप, मोदन और खीर का मोदन दे ॥५८॥ फिर बनर्षों को सम्पत्ति पर जस से भरे हुए नमन

प्रदान करे और फल, मूल आदि विविध प्रकार के पदार्थों से भोजन करावे ॥५६-६०॥ तदनन्तर जब विराट् पर्व समाप्त हो, तब उन्हें विविध प्रकार के वस्त्रों का दान करे और उद्योग पर्व के पूर्ण होने पर श्रेष्ठ वस्त्र आदि देकर सुसज्जित पदार्थों से भोजन करावे ॥६१-६२॥ फिर द्रोण पर्व की समाप्ति पर ब्राह्मणों को श्रद्धा सहित भोजन करावे और उन्हें धनुष बाण एवं तलवार का दान करे ॥६३॥ कर्ण पर्व समाप्त होने पर संयत चित्त से ब्राह्मणों को श्रेष्ठ भोजन से तृप्त करे ॥६४॥

शल्यपर्वणि राजेन्द्र मोदकैः सगुडौदनं ।
 अपूपैस्तपयेच्चैव सर्वमन्नं प्रदापयेत् ॥६५॥
 गदापर्वण्यपि तथा मुद्गमिश्रं प्रदापयेत् ।
 स्त्रीपर्वणि तथा रत्नैस्तपयेत् द्विजोत्तमान् ॥६६॥
 घृतौदनं पुरस्ताच्च ऐपिके दापयेत्पुनः ।
 ततः सर्वगुणोपेतमन्नं दद्यात्सुसंस्कृतम् ॥६७॥
 शान्तिपर्वण्यपि गते हविष्यं भोजयेद्द्विजान् ।
 अश्वमेधिकमासाद्य भोजनं सार्वकामिकम् ॥६८॥
 तथाऽऽश्रमनिनासे तु हविष्यं भोजयेद्द्विजान् ।
 मौसले सार्वगुणिकं गन्धमाल्यानुलेपनम् ॥६९॥
 महाप्रस्थानिके तद्वत्सर्वकामगुणान्वितम् ।
 स्वर्गपर्वण्यपि तथा हविष्यं भोजयेद्द्विजान् ॥७०॥
 हरिवंशमभाप्ती तु सहस्रं भोजयेद्द्विजान् ।
 गामेका निष्कसंयुक्ता ब्राह्मणाय निवेदयेत् ॥७१॥
 तदर्थं नापि दातव्या दरिद्रेणापि पार्थिव ।
 प्रतिपर्वसमाप्ती तु पुस्तकं च विचक्षणः ॥७२॥
 सुवर्णं च संयुक्तं वाचकाय निवेदयेत् ।
 हरिवंशे पर्याणि च पायमं तत्र भोजयेत् ॥७३॥

शल्यपर्व के समाप्त होने पर मोदक, गुड, भाठ आदि के भोजन से

वाचके परितुष्टे तु शुभा प्रीतिरनुत्तमा ।
 ब्राह्मणेष्ु च तुष्टेषु प्रसन्नाः सर्वदेवताः ॥८७॥
 ततो हि वरणं कार्यं द्विजानां भरतयंभ ।
 सर्वकामैर्यथान्यायं साधुभिश्च यथाक्रमम् ॥८८॥
 इम्येष विधिर्हृदिष्टो मया ते द्विपदा वर ।
 श्रद्धधानेन वै भाव्यं यन्मा त्वं परिपृच्छसि । ८९
 भारतश्रवणं राजन्यारणं च नृपोत्तम ।
 सदा यत्नवता भाव्यं श्रेयस्तु परमिच्छता ॥९०॥

इन उपरोक्त वस्तुओं के अतिरिक्त ओर भी जो कुछ देने की इच्छा हो, उसे उसी समय दान कर दे । कथावाचक को गुरु के समान भक्ति-भाव पूर्वक सन्तुष्ट करे । तदनन्तर सब देवताओं का तथा भगवान् नर नारायण का नाम सकीर्तन करे ॥८२॥ यदि थोटा गन्ध, माला एवं अन्यान्य उपयोगी पदार्थों के प्रदान द्वारा ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करे तो उसे अतिरान यज्ञ के फल की प्राप्ति होती है ॥७३-८४॥ मधुर कण्ठस्वर वाला और स्पष्ट रूप से वर्ण-वाक्यादि के उच्चारण में समर्थ व्यक्ति ही कथा वाचने का अधिकारी है । इसलिये ऐसे पुरुष को ही भविष्यादि पर्वों की कथा कहनी चाहिये ॥८५॥ जब ब्राह्मण भोजन पूर्ण हो जाय, तब कथावाचक को भी भोजन करावे और उसकी विधि सहित पूजा करे, क्योंकि कथावाचक के सन्तुष्ट होने से ही सब देवताओं की सन्तुष्टि होती है ॥८६-८७॥ इस प्रकार ब्राह्मणों का विधि पूर्वक वरण करे । हे राजन् ! आपने मुझसे ग्रन्थ के अध्ययन की जो विधि पूँछी थी, वह मैंने आपके प्रति कह दी है ॥८८-८९॥ अब भी जो व्यक्ति अपने कल्याण की कामना करके महाभारत को सुनना चाहते हो, उन्हें इसकी श्रवण विधि का पूर्ण रूप से पालन करना चाहिये ॥९०॥

भारत शृणुयान्नित्यं भारतं परिकीर्तयेत् ।
 भारत भवने यस्य तस्य हस्तगतो जय ॥९१॥
 भारत परमं पुण्यं भारते विविधाः कथाः ।
 भारत सेव्यते देवैर्भारतं परिकीर्तयेत् ॥९२॥

भारत सर्वशास्त्राणामुत्तम भरतर्षभ ।
 भारतात्प्राप्यते मोक्षस्तत्त्वमेनद्ब्रवीमि ते ॥६३॥
 महाभारतमाख्यानं क्षितिं गा च सरस्वतीम् ।
 ब्राह्मणं केशव चापि कीर्तयन्नावसीदति ॥६४॥
 वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ ।
 आदौ चान्ते च मध्ये च हरिं सर्वज्ञं गीयते ॥६५॥

मनुष्य मात्र को नित्य प्रति महाभारत कथन और श्रवण करना चाहिये,
 जिस घर में यह ग्रन्थ सदा निवास करता है उस घर के मनुष्यों के हाथों में
 विजय सदैव रहनी है ॥६१॥ महाभारत अत्यन्त पुनीत ग्रन्थ है, इसका सभी
 देवता सम्मान करते हैं तथा यह विविध प्रकार की गाथाओं से परिपूर्ण है ॥६२॥
 हे राजन् ! यह सभी ग्रन्थों में श्रेष्ठ है और इसमें एक विशेषता यह है कि इसके
 द्वारा मुक्ति भी प्राप्त की जा सकती है ॥६३॥ महाभारत की कथाओं के कीर्तन
 से पृथिवी, सरस्वती, धेनु, ब्राह्मण और भगवान् विष्णु के नामों का स्वयं ही
 सकीर्तन हो जाता है और ऐसा करने वाले प्राणी को दुःख भी कभी व्याप्त नहीं
 होते ॥६४॥ वेद, रामायण, महाभारत आदि की पुण्य कथा के कथन-श्रवण के
 आदि, मध्य और अन्त में भगवान् श्रीहरि के नामों का सकीर्तन करे ॥६५॥

यत्र विष्णुकथा दिव्या श्रुतमप्यच सनातना ।
 तच्छ्रोतव्यं मनुष्येण परं पदमिहेच्छता ॥६६॥
 एतत्पवित्रं परममेतद्धर्मनिदर्शनम् ।
 एतत्सर्वगुणोपेतं श्रोतव्यं भूतिमिच्छता ॥६७॥
 क्रियतेऽसारससारे वाञ्छितस्यैव कारणम् ।
 हरिवंशस्य श्रवणमिति द्वं पायनोऽब्रवीत् ॥६८॥
 अश्वमेधसहस्रेण वाजपेयशतंस्तथा ।
 यत्फलं प्राप्यते पुष्पिस्तद्वरेवंशपारणात् ॥६९॥
 अजरममरमेव ध्येयमाद्यन्तशून्यं

सगुणमगुणमाद्यं स्थूलमत्यन्तसूक्ष्मम् ।

निरूपममनुमेय योगिना ज्ञानगम्य

त्रिभुवनगुरुमीश त्वाप्रपन्नोऽस्मि विष्णो ॥१००

सर्वस्तरत्तु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।

सर्वोपा वाञ्छिता अर्था भवन्त्वस्य च पारणात् ॥१०१

जो पुरुष परमपद प्राप्ति की कामना करते हो, उ हे भगवान् विष्णु की कथाओं और सनानन श्रुतियों के विशद वर्णनों से युक्त महाभारत महाप्र य का सदा श्रवण करना चाहिये ॥१६५॥ क्योंकि यह प्र य परम पुनीत परम धर्म तथा सभी धोष्ठ गुणों का घर होने से सुनने के योग्य है ॥१६७॥ महर्षि व्यास देवजी का स्वयं हो यह कहना है कि इस असार समार मे हरिवंश के सुनने से ही सब मनोरथों की प्राप्ति हो सकती है ॥१६८॥ जो फल सहस्रो अथर्वमेष यज्ञ और सैण्डा वाजपेय यज्ञ करने से मिल सकता है वह फल अकले इस हरिवंश के सुनने से प्राप्त हो जाता है ॥१६९॥ हे प्रभो ? आप अजर अमर और अनन्त हैं । आप ही सगुण, निर्गुण, स्थूल, सूक्ष्म, अनुपमेष, उपमा से परे और केवल योगिया के लिये ही जानने मे आने योग्य हैं । इसलिये हे विष्णो ! हे ईश्वर ! हे अगदुरो ! मैं आपकी शरण मे हूँ ॥१००॥ इस हरिवंश के पारण से सब के सकट दूर हो, सब का कल्याण हो तथा सभी के मनोरथ पूरे हो ॥१०१॥

॥ त्रिपुर वध कथन ॥

अथाऽद्वयमह ग्रहाञ्द्रोतुमिच्छामि तत्त्वत ।

सयाणा पुरसज्ञाना खेचराणा समासत ॥१

भृशु विस्तरत सर्वं यन्मा पृच्छमि नैघनम् ।

दैत्याना बाहुवलिना सर्वप्राणिविरोधिनाम् ॥२

शक्रेण वध राजन् शूलैस्त्रिभिरजिह्वै ।

वृत्त पुराऽसुरेन्द्राणा सर्वभूतवर्धपिणाम् ॥३

त्रिपुर पुरुषव्याघ्र बृहदातुममोरितम् ।

विक्रामति नभोमध्ये मेषवृन्दमिवोत्पितम् ॥४

प्राकारेण प्रवृद्धेन काञ्चनेन विराजता ।
 मणिभिश्च प्रकाशद्भिः सर्वरत्नैश्च तोरणैः ॥५॥
 वभासे नभसो मध्ये श्रिया परमया ज्वलन् ।
 गन्धर्वाणामिवोदग्रं कर्मणा साधितं परम् ॥६॥
 वाजिनः पक्षसयुक्ता बहन्ति बलदर्पिताः ।
 पुरं प्रभाकरश्चेष्टं मनोभिः कामवृंहणैः ॥७॥

यह सुन कर राजा जनमेजय ने कहा—हे ब्रह्मन् ! अब मैं भगवान् शंकर द्वारा त्रिपुरासुरके मारे जाने की कथा सुनना चाहता हूँ, उसे आप विस्तारपूर्वक कहिये ॥१॥ वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् ! तुमने लोगो का अनिष्ट करने वाले महाबली जिस त्रिपुरासुर के सहार के विषय में जिज्ञासा की है, वह त्रिपुर भगवान् शंकर के बाणो से जिस प्रकार मृत्यु को प्राप्त हुआ था, उस कथा को तुम्हे विस्तार पूर्वक सुनाता हूँ ॥२-३॥ वह अत्यन्त पराक्रमी और बलशाली त्रिपुरासुर सहसा आकाश में छा जाने वाले मेघो के समान नभ मंडल में स्वच्छ-श्वता पूर्वक घूमता फिरता था ॥४॥ उसके पुर में श्रेष्ठ मणियो और रत्नो से युक्त ऊँचे-ऊँचे स्तूपों निमित्त भवन थे, जिनके तोरण भी विविध प्रकार के रत्नादि से सुसज्जित किये गये थे ॥५॥ आकाश में उस गंधर्वनगरी के समान सजी हुई सुन्दर पुरी की विस्मय उत्पन्न करने वाली शोभा थी ॥६॥ उस पुरी को बहन करने वाले मन के समान वेग से दौड़ने वाले, अत्यन्त बलशाली, सूर्य के समान तेजस्वी और पक्ष वाले उसके अश्व थे ॥७॥

धावन्ति हेषमाणास्ते विक्रमैः प्राणसंगृह्यतः ।
 आहूयन्त इवाकाशं खुरैः श्यामदलप्रभैः ॥८॥
 वायुवेगसमैर्वेगैः कालयन्त इवाम्बरम् ।
 असुराः समदृश्यन्त चक्षुर्भिविदितात्मभिः ॥९॥
 अपिभिर्ज्वलनप्रज्यैस्तपसा दग्धकित्त्वपैः ।
 गीतवादिसबहुल गन्धर्वनगरोपमम् ॥१०॥

चिलायुधसमाकीर्णः प्रतप्तकनकप्रभैः ।
 भवनं बहुभिश्चैव प्रांशुभिः समलंकृतैः ॥११
 देवेन्द्रभवनाकारैः शुशुभे तन्महाद्युति
 प्रासादाग्रैः प्रवृद्धैश्च कैलासशिखरप्रभैः ॥१२
 शुशुभे दैत्यनगरं बहुसूर्यमिवाम्बरम् ।
 वराट्टालकसम्पन्नं तप्तकाञ्चनसप्रभम् ॥१३
 प्रदीप्तमिव तेजोमीरराजाय महाप्रभो ।
 क्ष्वेडितोत्कृष्टबहुलं सिंहनादनिनादितम् ॥१४

शब्द करते हुए वे अश्व जब अपने पूर्ण पराक्रम से भागते थे, तब उनके वायु जैसे वेग को देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि वे अपने हरे रंग के खुरो को चला कर आकाश को खुनौनी दे रहे हों और उनके भय से उसका अन्तस्तल काँपने लगा हो। आरम तत्व के शाता, प्रदीप्त अग्नि के समान तेजस्वी और धीतकाम ऋषिगण जब, जिधर देखते, तब उधर ही गायन-वादन से परिपूर्ण उस गंधर्व नगरी के समान त्रिपुर की नगरी उन्हें दिखाई पड़ती ॥८-१०॥ उसमें तपे हुए स्वर्ण के समान असह्य तेजस्वी शस्त्राश्रो से परिपूर्ण बहुत-सी ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ विद्यमान थीं । ११॥ उनसे आभास होता था कि इन्द्र-भवन या कैलास-शिखर ही विद्यमान हो गया हो अथवा आकाश में असह्य सूर्य एक साथ प्रकाशित हो उठे हो । उसमें तपे हुए सोने के समान तेजोमय वर्ण वाले अनेकों भव्य प्रासाद थे । हे राजन् ! वह पुरी अपने ही तेज से प्रकाशित रहती थी और उसमें वही ताल ठोसने का शब्द, वही भर्तृनामय मूँज और कही सिंह जैसा घोर गर्जन सुनाई पड़ता था ॥१२-१४॥

यभी वल्गुजनाकीर्णं वनं चैत्ररथं यथा ।
 समुच्छ्रितपताकं तदसिभिश्च विराजितम् ॥१५
 रराज त्रिपुरं राजन्महाविद्युदिवाम्बरे ।
 धूपनाभश्च दैत्येन्द्रश्चन्द्रनाभश्च भारत ॥ ५

तथाऽन्ये च महावीर्या दानवा बलदर्पिताः ।
 ममृदुष्वच बभञ्जुष्वच मोहिताः परमेष्ठिना ॥१७
 पन्थानं देवगमनं पितृयानं च भारत ।
 तेरेवमसुराग्रेष्वच प्रगृहीतशरासनः ॥१८
 दानवैर्न रक्षादूर्ल देवयाने महापथे ।
 पितृवह्निबलोपेते हृते भरतसत्तम ॥१९
 ब्रह्माणमभ्यधावन्त सर्वे सुरगणास्तथा ।
 विवर्णवदना दीनाश्छिन्नेव गतिकर्मणि ॥२०
 अब्रुवश्च गताः स्थित्वा स्वरेणार्त्तनिनादिना ।
 हन्यामहे शस्त्रगणं भोगोच्छेदेन भागद ॥२१
 तेषां चैव वधोपायं वदस्व वदता वर ।
 य ज्ञात्वा बाहुबलिनो बाधेम समरे परान् ॥२२

उन शब्दों से प्रतीत होता था कि वह मल्लो से परिपूर्ण चैनरय उद्यान
 हो, क्योंकि वहाँ स्थान-स्थान पर पनाकाएँ और तलवारें चमकती हुई दिखाई
 देती थी ॥१५॥ इससे आकाश के विद्युत् की माला से प्रकाशित हो उठने का
 भ्रम होने लगता था । हे राजन् ! सूर्य-नाभ और चन्द्रनाभ नामक दो दैत्यों के
 साथ अन्यान्य दैत्यगण ब्रह्माजी से वर प्राप्त करके अत्यन्त गवित और बल के
 कारण भ्रमित हो उठे थे । उन्होंने देवलोक और पितरलोक का आवागमन-मार्ग
 बीच-बीच से तोड़ दिया था और उनके धनुष-बाण की दक्षिण के सामने कोई भी
 नहीं ठहर पाता था ॥१७-१८॥ तब सभी देवता अत्यन्त दीन, हीन, मलीन होकर
 ब्रह्माजी के निकट पहुँचे और आर्तस्वर में उनसे निवेदन करने लगे—हे प्रभो !
 आपके द्वारा निश्चित हमारे यज्ञ-भागों को हमारे शत्रुओं ने छीन लिया है, इस
 लिये हम मरे के समान हो गये हैं ॥२०-२१॥ इसलिये अब आप उनके नष्ट होने
 का कोई उपाय करें, जिससे हम भी अपने को बल-सम्पन्न करके उन्हें मारने में
 उत्तर हो सकें ॥२२॥

सान्त्वयित्वा तु वरदो ब्रह्मा प्रोवाच देवताः ।

शृणुष्वं देवताः सर्वाः शत्रुप्रतिकृतिं पराम् ॥२३

अवध्या दानवाः सर्वे शंकरमव्ययम् ।
 प्रतिगृह्य च तद्वाक्यं मनोमिर्वाग्निरेव च ॥२४
 भूमौ प्रपेदिरे सर्वे सह रुद्रैश्च भारत ।
 विन्ध्यपादे च मेरी च मध्ये च पृथिवीतले ॥२५
 तपसोग्रेण योगज्ञाः सर्वे ते मुनयोऽभवन् ।
 काश्यपेय हरं प्राप्ता जपन्तो ब्रह्मसंहिताम् ॥२६
 येषां च परदाराणामभवद्विद्व्यता जने ।
 विन्यस्तदर्भनिचये ताम्रलोहं च भूषणम् ॥२७
 परिधानानि चर्माणि मृद्गानि च शुभानि च ।
 स्वयं मृतानां कृष्णानां मृगाणां कुरुसत्तम ॥२८

देवताओं की पुकार सुन कर ब्रह्माजी ने उन्हें सात्वता देते हुए कहा—
 हे देवगण ! भगवान् शंकर के अतिरिक्त अन्य कोई भी उन असुरों को मष्ट
 करने में समर्थ नहीं है । यह सुन कर सभी देवता और रुद्रादि उन्हें प्रणाम करके
 वहाँ से चल दिये । अपने तपोबल अथवा योग बल के कारण विन्ध्य पर्वत, सुमेरु
 पर्वत, पृथिवी या आकाश का कोई भी स्थान उनसे अपरिचित नहीं था इसलिये
 वे पृथिवी पर आये और ब्रह्म संहिता को जपते-जपते उन्हें दिखाई दिया कि ताम्र
 और लौहमय अलंकारों से अलङ्कृत भगवान् शंकर अत्यन्त कोमल मृगचर्म धारण
 किये कुछ के एक आसन पर बैठे हैं ॥२३-२८॥

गृहीतानि विमुक्तानि देहेभ्यो वनचारिणाम् ।
 अन्तरिक्षमयोपेत्य विविशुर्मायया वृताः ॥२९
 हरालयं सुराः सर्वे व्याघ्रचर्मनिवासिनः ।
 प्रणिपत्याथ ते दीना भगवन्तं जगत्पतिम् ॥३०
 सुव्यवतेनाभिधानेन प्रभापन्त हरं ततः ।
 हविर्दत्तमविजानाद्भस्मच्छन्नेषु वह्निषु ॥३१
 यरदानं वृषाऽस्मासु भगवन्विमुखे त्वयि ।
 ययादेश ययावालं क्रियतां ब्रह्मणो वचः ॥३२

यदुक्त देवदेवेन खेचराणा समीपत ।
 एव देववचोभिश्च भाविनोऽर्थस्य वैभवात् ॥३३॥
 समनह्यन्महादेवो देव सह सवासर्वः ।
 आदित्यपथमास्थाय सन्नद्धा समल कृता ॥३४॥
 सर्व काञ्चनवर्णाभा बभ्रुर्दीप्ता इवाग्नयः ।
 रुद्रेण सहिता रुद्रा दहन्त इव तेजसा ॥३५॥
 सन्नद्धा कुशला सर्व प्राशव पर्वता इव ।
 विश्वे विश्वेन वपुषा बलिन कामरूपिण ॥३६॥
 समनह्यन्महात्मानो दानवान्त विधिस्तव ।
 एभि सह घनाध्यक्ष समन्तात्परिवारित ॥३७॥
 त्रिपुर योधयत्यक्ष प्रगृह्य सशर धनुः ।
 अथ दैत्या भिन्नदेहा पुराट्ठाल गता इव ॥३८॥

यह देख कर उन सभी देवताओं ने भगवान् शिव को नमस्कार करके
 हा—हे प्रभो ! यदि आप हमें वर देकर स्वयं उस वर का ध्यान न रखेंगे तो
 हमें वरदान भस्म से ढँकी हुई धूमि पर दी जाने वाली आहुति के समान व्यर्थ
 जायगा । इसलिये, अब ब्रह्माजी ने हमसे जो कहा है, उसके अनुगार कार्य
 रके उनके वचनो को रतिये ॥३६-३८॥ यह सुनकर देवाधिदेव भगवान् शिव
 कार्य को महत्वपूर्ण समझ कर तुरन्त ही शस्त्रास्त्र ग्रहण किये और देवताओं
 ने भी सुसज्जित होने का आदेश दिया, जिसे सुन कर सभी देवता वक्त्रादि
 धारण कर स्वयं पर चढ़े तब उनकी शोभा प्रदीप्ति अग्नि के समान हुई ॥३३-
 ४॥ विविध शस्त्रास्त्रों और मुकुटादि अलंकारों को धारण किये हुए पद्मगण भी
 वीर के समान ऊँचे आकार वाले तथा तेज से अत्यन्त प्रकाशमान दिखाई देने
 लगे ॥३५॥ दानवों को नष्ट करने की इच्छा से अनेक रूप धारण में समर्थ
 शिवदेवता भी विविध शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर चल पड़े । इस प्रकार उस
 भूयं देव-सेना से घिरे हुए भगवान् शिव धनुष-बाण ग्रहण पूर्वक त्रिपुरामुर
 : सायं साम्राज्य करने के लिये तैयार हुए ॥३५-३८॥

न्यपतन्त विदेहास्ते विशीर्णा इव पर्वताः ।
 अतिविद्धाः सुविद्धाश्च रणमध्यगता नृप ॥३६
 न्यपतन्दैत्यसघाता वज्रेणेव हता नगाः ।
 असिभिश्च हता देवैः शक्तिचक्रपरश्वधैः ॥४०
 बाणैश्च भिन्नमर्माणो दैत्येन्द्रो युद्धगोचरे ।
 प्रपेनुः सहिता उर्वरा छिन्नवक्षा इवाचलाः ॥४१
 तत्र सज्ञा विमुञ्चन्ति दीप्यमानेन तेजसा ।
 एवं तेऽन्योन्यसबाधे क्षीयन्ते क्षयकर्मणा ॥४२
 नोपालभ्यन्त चक्षुर्म्यामपि दिव्येन चक्षुषा ।
 अस्त प्राप्ते दिनकरे सुरेन्द्रास्ते निशामुखे ।
 छिन्नभिन्नक्षतमुखा निपेतुर्वसुधातले ॥४३

उस युद्ध में भगवान् शकर द्वारा कौ जाने वाली बाण वर्षा से बिघ-बिघ
 कर पायल हुए दैत्य घरायायी होने लगे । उस समय ऐसा प्रतीत होता था
 जैसे इन्द्र के वज्र से चूर्ण होकर पर्वत पृथिवी पर गिर रहे हो । उस समय किसी
 देवता के पास खड्ग, किसी के पास चक्र, किसी के पास परशु और किसी के
 पास धारु आदि थे । इन सभी शस्त्रास्त्रों के प्रहार से नितान्त पीड़ित हुए दैत्य
 पर-कटे पर्वत के समान गिर रहे थे ॥३६-४१॥ देवताओं के भारी तेज के कारण
 दैत्यों में कर्त्तव्य-विचार की शक्ति नहीं रही और उनकी जो सेना उस युद्ध में
 भारी गई, उनकी सख्या का अनुमान दिव्य दृष्टि से भी नहीं हो सकता । इस
 प्रकार युद्ध करते-करते सायनाल हो गया और सूर्य अस्ताचलगामी हो गये ।
 तब देवताओं में भी किसी ना मुग और किसी का कोई अन्य अग दातन
 विगत हुआ दिखाई दिया । बहुत-से देवता पायल होकर पृथिवी पर पड़े
 हुए थे ॥४२-४३॥

अथ दैत्या जयं प्राप्ता निनाया निशितैः शरैः ।

विनेशुर्विपुर्नर्दिर्मघा इव मदारवाः ॥४४॥

जयंप्राप्तासुराश्चैव तेन्योऽन्यमभिजल्पिरे ।
 त्रासितास्त्रिदशाः सर्वे संग्रामजयकाक्षिणः ॥४५॥
 अस्माभिर्वलसम्पन्नैः सह प्रासासितोमरैः ।
 विरेजुश्च जय प्राप्ता उशनोहव्यबोधिताः ॥४६॥
 समरे बलसम्पन्नाः सायुधा दैत्यसत्तमाः ।
 सुरैश्च सहितः सर्वे रथमास्थाय शंकरः ॥४७॥
 दर्पितान्निनदन्देत्याग्रदहन्निव तेजसा ।
 युगान्तकाले वितते रश्मिवानिव निर्दहन् ॥४८॥
 सर्वभूतानि भूताग्न्यः प्रलये समुपस्थिते ।
 स रथो वाजिभिः शीघ्रैरुह्यमानो मनोजवैः ॥४९॥
 विबभौ नभसो मध्ये सविद्युदिव तोयदः ।
 वृषभेण ध्वजाग्रेण गर्जमानेन भारत ॥५०॥
 भातिस्म स रथो राजन्सेन्द्रायुध इवाम्बुदः ।
 ततोऽम्बरगताः सिद्धास्तुष्टुवुर्वृषभध्वजम् ॥५१॥
 कर्मभिः पूर्वजं पूर्वेः शुचिभिस्त्यम्बकं तदा ।
 ऋपयश्च तपःशान्ताः सत्यव्रतपरायणाः ॥५२॥
 अमृतप्राशिनश्चैव सुरसंघास्तथैव च ।
 गन्धर्वाप्सरसश्चैव गन्धर्वेण स्वरेण वै ॥५३॥

रात्रिकाल के उपस्थित होते ही दैत्यगण विजय-घोष करने लगे, उस समय वह घोष मेघों के गर्जन जैसा प्रतीत होने लगा ॥४४॥ इस प्रकार वे विजयोन्मत दैत्य परस्पर में कहने लगे-देखो, विजय की इच्छा से आये हुए सब देवता हमारे पराक्रम, प्राप्त, तलवार और छोमर आदि शस्त्रास्त्रों को देख कर डर गये हैं । यह कहते हुए शुक्राचार्य के शिष्य वे दैत्य विजयोत्सास में भर कर घुमने लगे । इधर भगवान् दृष्ट कर भी स्तब्ध होकर देवताओं सहित युद्ध क्षेत्र में अग्रसर होते हुए अपने वाणों की अग्नि में दैत्यों को उसी प्रकार भस्म करने लगे, जैसे प्रलयकाल में सूर्य अपनी तीव्रता रश्मियों से प्राणियों को भस्म कर डालता है ॥४५-४८॥ मन या वायु जैसे द्रुत वेग वाले अश्व भगवान् दृष्ट कर

का रथ खींचते हुए तेजी से चल पड़े तब ऐसा लगा जैसे आकाश में विद्युत कौंध रही हो । उनके रथ की ध्वजा में स्थित वैल की गर्जना से प्रतीत होता था जैसे इन्द्र धनुष से युक्त बादलों की ही गर्जना हो । उस समय आकाश में स्थित हुए सिद्ध, सत्यव्रत और तपश्चर्या युक्त ऋषि और अमृत के पान करने वाले देवतागण भगवान् के शंकर गुणों का सकीर्तन करते हुए उनकी स्तुति करने लगे, तभी गध्यों ने उनकी महिमा का गान प्रारम्भ किया ॥४६-५३॥

प्रहृष्टवदना सौम्या पश्ये स्थानान्तरे नृप ।
चयाट्टालकसम्पन्ने शतघ्नीशतसकुले ॥५४
तस्मिस्तु दैत्यनगरे सर्वभूतभयावहे ।
ततस्तु शरवर्षाणि मुमुक्षुर्दैत्यदानवा ॥५५
सुराणामरयो मध्ये तीक्ष्णाग्राणि समन्ततः ।
शतघ्नीभिश्च निघ्नन्तो भल्लं शूलैश्च भारत ॥५६
ते चक्रिरे महत्कर्म दानवा युद्धकोविदाः ।
गदाभिश्च गदा जघ्नुर्भल्लाश्च चिच्छिदुः ॥५७
अस्त्रैरस्त्राण्यबाघ्नन् माया मायाभिरेव च ।
ततोऽपर समुद्यम्य शरशक्तिरश्वघ्नान् ॥५८
अशनीश्च महाघोरांभुक्ताञ्छतसहस्रशः ।
असिभिर्मायाविहितैर्मृत्योर्विषयगोचरैः ॥५९

हे राजन् ! वे दैत्यगण अपनी ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं पर चढ़ गये । उन अट्टालिकाओं पर तोपें लगी थी और उन्हें देखकर सभी प्राणी भयभीत होते थे, उन्हीं अट्टालिकाओं से वे अपने अत्यन्त तीक्ष्ण बाणों को बरसाने लगे । उस समय शतघ्नी, भाले, शूल आदि हथियारों के प्रयोग से भयानक स्थिति हो गई और दैत्यगण देवताओं के सब प्रहारों को व्यर्थ करने लगे । उनकी गदाओं को अपनी गदाओं से, भालों को भालों से तथा अग्न्याग्न्य अस्त्रों को अपने अस्त्रों से और माया को अपनी माया से काटते हुए असंख्य दैत्य बाण, शक्ति, परशु, अशनि और भयंकर तलवारों से देवताओं पर भोषण प्रहार करने लगे ॥५६-५९॥

ते वध्यमाना विबुधाः शरवर्षैरवस्थिताः ।
 गन्धर्वनगराकारः सोऽसीदत्सहयो रथः ॥६०॥
 हन्यमानोऽसुरगणैः प्रासासिशरतोमरैः ।
 तेष्वच दैत्यप्रहरणैर्गुरुभिर्भारसाहिभिः ।
 चित्तैश्च बहुभिः शस्त्रैरतिष्ठत शचीपतिः ॥६१॥
 ततो मध्ये दिव्यशब्दः प्रादुरासीन्महीपते ।
 अपीणा ब्रह्मपुत्राणां महतामपि भारत ॥६२॥
 स एष शंकरस्याग्रे रथो भूमिं प्रतिष्ठितः ।
 अजेयो जय्यता प्राप्तः सर्वलोकस्य पश्यतः ॥६३॥
 तस्मिन्निपतिते राजनूरयानां प्रवरे रथे ।
 निपेतुः सर्वभूतानि भूतले वसुधाधिप ॥६४॥
 विचेलुः पर्वताग्राणि चेलुश्चैव महाद्रुमाः ।
 विचुक्षुभुः समुद्राश्च न रेजुश्च दिशो दश ॥६५॥
 वृद्धाश्च ब्राह्मणास्तथ जेपुश्च परमं जपम् ।
 यत्तद्ब्रह्ममयं तेजः सर्वस्य विजयं पिणाम् ॥६६॥
 दान्त्ययं सर्वभूतानामिह लोके परस्य च ।
 समाधायान्मनाऽऽत्मानं योगप्राप्तेन हेतुना ॥६७॥

उस समय देवताओं की पिटना पड़ रहा था । दैत्यों के तलवार तोमर और प्राप्त आदि के आपात से भगवान् शंकर का रथ भी अविफल हो गया और देवराज इन्द्र ही उस रथ-बीज में अकेले राखे रह गये ॥६०-६१॥ तभी आकाश मार्ग में अवस्थित हुए ब्रह्माभी के पुत्र अपिगण दश प्रकार बह उठे— भूतनाथ भगवान् के रहते हुए भी उनका रथ भेष्टा-रहित हो गया । तीनों तीर्थों में जिस रथ की कोई नहीं जीत सकता था, वह रथ दैत्यों ने जीत लिया ॥६२-६३॥ हे राजन् ! उस रथ के पतित होते ही जगत् के सभी प्राणी परा-हायी हो गये । उस समय सभी पर्वतों के शिखर क्षिप्त हो उठे, गूँघर गिर गये, समुद्रों का जल क्षुब्ध हो गया और सभी दिशाएँ व्यर्थ हो गई ॥६४-६५॥ उस समय जगत् में क्षान्ति स्थापित करने के दिग्भार से योगाभ्यासी विप्रगण

सामवेद के मंत्रों को जपने लगे । क्योंकि उस समय विजय चाहने वाले देवताओं को वह देवमय तेज ही बल-प्रदान कर सकता था ॥६६-६७॥

रथन्तरेण साम्नाऽथ ब्रह्मभूतेन भारत ।
तेजसा ज्वलयन्विष्णोस्त्र्यक्षस्य च महात्मनः ॥६८॥
सर्वेषां च देवानां वलिनां कामरूपिणाम् ।
ऋषीणां तपसाऽऽह्वानां वसतां विजने वने ॥६९॥
अथ विष्णुर्महायोगी सर्वतोदृश्यतस्त्वतः ।
वृपरूपं समास्थाय प्रोज्जहार रथोत्तमम् ॥७०॥
समाक्रान्तं देवगणैः समग्रवलपौर्ण्यः ।
वलवांस्तोलयित्वा तु विपाणाभ्यां महाबलः ।
ननाद प्राणयोगेन मथ्यमान इवार्णवः ॥७१॥
तृतीयं वामुविपयं समाक्रम्य विपाणवान् ।
ननाद बलवान्नादं समुद्र इव पर्वणि ॥७२॥
ततो नादेन विप्रस्ता दैतेया युद्धदुर्मदाः ।
पुनस्ते कृतसन्नाहा युयुधुः सुमहाबलाः ॥७३॥
सर्वे वै बाहुवलिनः समर्थवलपौरुषाः ।
सुरसैन्यं प्रमदन्तः प्रगृहीतशरासनाः ॥७४॥

उन ब्राह्मणों के वेदानुष्ठान से भगवान् विष्णु, त्रिलोचन शिव, स्वेच्छा रूपधारी महाबली देवगण और निर्जन वन में रहने वाले तपोनिष्ठ ऋषि अत्यन्त तेजस्वी हो गये ॥६८-६९॥ तब महायोगी भगवान् विष्णु ने वृषभ का रूप धारण किया और देवताओं के सहित उस अत्यन्त विशाल रथ को सींगों पर उठा लिया । उन वृषभ रूप धारी भगवान् ने रथ को उठाकर अत्यन्त घोर गर्जन किया तो जैसा घोर शब्द समुद्र मंथन के समय हुआ था, वैसा ही भयंकर शब्द प्रतिध्वनित होने लगा ॥७०-७१॥ फिर उन वृषभ रूपी भगवान् ने रथ सहित आकाश में पहुँच कर पुनः घोर निनाद किया, जो पूर्वकाल में समुद्र का गर्जन जैसा प्रतीत हुआ ॥७२॥ उस शब्द को सुन कर मुद्र में कठिनाई से जीते

जाने वाले दैत्यगण भयभीत होकर शस्त्र ग्रहण पूर्वक युद्ध के लिये सुसज्जित हो गये ॥७३॥ तब वे भुजबल से युक्त एवं अत्यन्त पराक्रम वाले दैत्य धनुष ग्रहण करके यथाशक्ति बढ़ते हुए देवताओं को नष्ट करने लगे ॥७४॥

अग्नि संघाय धनुषि शितं बाणं सुपत्रिणम् ।
 ब्रह्मास्त्रेणाभिस योज्य ब्रह्मादण्डं शिवोऽव्ययः ।
 मुमोच दैत्यनगरे सिधामास्त्रानुसंजितम् ॥७५॥
 तं बाणं सिविधं वीर्योत्संघाय मनसा प्रभुः ।
 सत्येन ब्रह्मयोगेन तपसोग्रण भारत ॥७६॥
 मुमोच दैत्यनगर सर्वप्राणहराञ्छरान् ।
 दीप्तान्कनकवर्णाभ्रान्सुवर्णाश्च सुनिर्मलान् ॥७७॥
 मुक्त्वा वरक्षरान्घोरान्सविपानिव पन्नगात् ।
 सुप्रदीप्तैस्त्रिभिर्वर्णैर्वेगिभिस्तद्विदारितम् ॥७८॥
 शरघातप्रदीप्तानि विन्ध्याग्राणीव भारत ।
 गोपुराणि पुरैः साद्व्यशीर्यन्त नराधिप ॥७९॥
 तानि वैदूर्यवर्णानि शिखराणि गिरेरिव ।
 शक्रेण प्रदग्धानि ब्रह्मास्त्रेणापतन्प ॥८०॥
 हते च त्रिपुरे देवैर्वाचो हर्षात्किलेरिताः ।
 सर्वान्जहीति शल्लंस्त्वं प्रवृद्धान्पुरपोत्तम ॥८१॥
 विष्णुरेव महायोगी योगेन प्रस्मयन्निव ।
 स्तूयते ब्रह्मसदृशं पृथिविभिः शङ्करेण च ।
 ब्रह्मणा सहितं देवैः संपन्नवलपीरयैः ॥८२॥

इसके पश्चात् भगवान् शंकर ने अपने अत्यन्त तेजोमय, स्वर्ण जैसे वर्ण वाले, स्वच्छ एवं भयंकर ब्रह्मास्त्र, आग्नेयास्त्र और ब्रह्मादण्ड की धनुष पर एक साथ चढ़ाकर सत्य, तप और वेद के बल से दैत्य पुरी पर चला दिये ॥७५-७७॥ उन सर्प के समान अत्यन्त भयंकर सीनों अम्त्रों के भीषण आघात से त्रिपुर के संकटों टूटते हो-झोड़ झपट-झपट बिखर गये ॥७८॥ उस समय ऐसा प्रतीत

होने लगा जैसे विन्ध्याचल के सभी शिखर एक साथ विचूरण होकर बिखर गये हो । तीनों नगरों के गिरते ही उसके सभी गोपुर गिर कर नष्ट हो गये ॥७६॥ उस समय ऐसा लगने लगा जैसे वैदूर्य मणि के समान चमचमाते हुए पर्वत शिखर पृथिवी पर गिर गये हो ॥७७॥ हे राजन् ! भगवान् के ब्रह्मास्त्र की शक्ति से ही वे तीनों पुर भस्मोभूत हो गये । उस समय हर्ष के कारण गद्गद हुए देवताओं ने भगवान् शिवजी से कहा—हे पुरुष श्रेष्ठ ! आप हमारे सभी बैरियों का सहार कर डालिये ॥७८॥ फिर ब्रह्माजी, ऋषिगण, भूतनाथ भगवान् शंकर और शक्ति से सम्पन्न हुए सभी देवगण एक साथ मिलकर भगवान् विष्णु की स्तुति करने लगे ॥७९॥

॥ युग और मन्वन्तर कथन ॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् ।
तस्य तावच्छती संध्या द्विगुणा जनमेजय ॥१॥
तत्र धर्मश्चतुष्पादो ह्यधर्मः पादविग्रहः ।
स्वधर्मनिरताः सन्तो जयन्ते चैव मानवाः ॥२॥
स्थिता धर्मपरा विप्रा राजवृत्तौ स्थिता नृपाः ।
कृष्यामभिरता वंश्याः शूद्राः शुश्रूषवस्तथा ॥३॥
सदा सत्यं तपश्चैव धर्मश्चैव विवर्धते ।
सद्भिराचरितं यच्च क्रियते ध्यायते च यत् ॥४॥
एतत्कृतयुगे वृत्तं सर्वेषामेव भारत ।
प्राणिना धर्मबुद्धीनामपि चेन्नीचयोनिनाम् ॥५॥
लौणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगमिहोच्यते ।
तस्य तावच्छती संध्या द्विगुणा परिकीर्तिता ॥६॥
द्वाम्यामधर्मः पादाम्यां लिभिर्धर्मो व्यवस्थितः ।
तत्र सत्यं च सत्त्वं च वृत्ते सर्वे प्रवर्तन्ते ॥७॥

राजा जनमेजय ने युग-परिचयन का रहस्य बतलाते हुये वंशम्पादन की

ने कहा—सतयुग चार हजार वर्षों का होता है और उससे दुगुने वर्षों की उसके संध्या तथा संध्याश भी होते हैं। उस समय धर्म के चारों पैर होते हैं और अधर्म नाममात्र के लिये एक पैर पर स्थित रहता है। उस काल में सब मनुष्य अपने अपने धर्म में सलग्न रहते हैं और अपना कर्तव्य पालन ईमानदारी से करते हैं ॥१-२॥ उस समय ब्राह्मण पूर्णतः धर्मपरामर्श होते हैं और राजागण भी अपने प्रजासंरक्षण का कार्य सचाई से करते हैं। वैश्य कृषि-कार्य और शूद्र सेवा-वृत्ति का यथोचित रूप से पालन करते हैं ॥३॥ इस समय में सत्य, तपस्या और धर्म की वृद्धि होती है। सज्जनगण जिस प्रकार का आचरण करते हैं सामान्य जनता को भी उसी का उपदेश करते हैं। सतयुग में छोटे बड़े सबका आचरण शुद्ध रहता है और सब प्राणी धर्म-बुद्धि से ही व्यवहार करते हैं ॥४-५॥ त्रेता का परिमाण तीन हजार वर्ष का कहा गया है और उसकी संध्या छ सौ वर्ष की होती है ॥६॥ इस समय धर्म के तीन और अधर्म के दो पैर रहते हैं और इस कारण सत्य तथा धर्मव्यवस्था की प्रवृत्ति सतयुग से कुछ ही कम होती है ॥७॥

त्रेतायां विकृतिर्यान्ति वर्णा लौल्येन संयुताः ।

चातुर्वर्ण्यस्य वै कृत्याद्यान्ति दीर्घल्यमाश्रिता ॥८॥

एष त्रेतायुगविधिर्विहितो देवनिर्मितः ।

द्वापरस्यापि या चेष्टा तामपि श्रोतुमर्हसि ॥९॥

द्वापरं द्वे सहस्रे तु वर्षाणां कुरसत्तम् ।

तस्य तावच्छती स ध्या द्विगुणा परिवर्जिता ॥१०॥

तस्मात्पर्यपरा विप्रा ज्ञानिनो रजसाऽऽवृताः ।

शठा नैष्टुतिकाः क्षुद्रा जायन्ते कुरुपुङ्गव ॥११॥

द्वाभ्यां धर्मः स्थितः पद्मयामधर्मस्तिभिरुत्थितः ।

विपर्ययं शनैर्यान्ति नृते ये धर्मसेतवः ॥१२॥

ब्राह्मण्यभावा नश्यन्ति तथाऽऽस्तिक्यं विशीर्यते ।

अतोभवासास्त्यज्यन्ते द्वापरे युगपर्यये ॥१३॥

पर त्रेता में मनुष्य भी धर्म वृत्ति में ग्यूनता आने लगती है और इससे

फलस्वरूप चारों वर्णों में अनेक प्रकार के विकार उदय होने लगते हैं ॥८॥ यह त्रेता युग का लक्षण बतलाया अब द्वापर की स्थिति से विषय में बतलाते हैं ॥९॥ द्वापर दो हजार वर्ष का होता है और उसकी सध्या इससे दुगुनी अर्थात् चार सौ वर्ष की होती है ॥१०॥ इस युग में ब्राह्मण गण रजोगुण की वृद्धि होने से धन के लोभी, क्षुद्र और ठगपन के स्वभाव के हो जाते हैं । धर्म के दो ही पैर शेष रह जाते हैं और अधर्म के तीन पैर हो जाते हैं । सौम सत्युग के धर्म-नियम, व्रत तथा उपवास आदि को त्याग देते हैं ॥११-१२॥ इसका परिणाम यह होता है कि ब्राह्मणत्व और ईश्वर प्रणिधान का धीरे धीरे नाश होने लगता है और धर्म की वृद्धि करने वाले जो अन्य व्रतोपवास हैं उनको भी लोग त्यागने लग जाते हैं ॥१३॥

तथा वर्षसहस्रं तु वर्षाणां द्वे शते तथा ।
 स ध्यया सह स र्यात क्रूर कलियुग स्मृतम् ॥१४॥
 तन्नाधर्मश्चतुष्पादः स्याद्धर्म पादविग्रहः ।
 कामनिष्ठास्तमश्छन्ता जायन्ते तस्य मानवा ॥१५॥
 नैवोपवासकृत्कश्चिन्न च साधुर्न सत्यवाक् ।
 आस्तिको ब्रह्मवक्ता वा नरो भवति यः तदा ॥१६॥
 अहंकारगृहीताश्च प्रक्षीणस्नेहवान्धवा ।
 विप्रा शूद्रसमाचारा शूद्रास्त्वाचारलक्षणा ॥१७॥
 द्रूपकास्त्वाश्रमाणा च वर्णानां चैव स करा ।
 अगम्येध्वभिरस्पन्ते वत्स्यन्त्येव कली युगे ॥१८॥
 एवं द्वादशसाहस्रं तदेकं यममुच्यते ।
 तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥१९॥
 त्रय्या चैव न स देहो युगान्ते जनमेजय ।
 दिव्यं द्वादशसाहस्रं युगं तु कवयो विदुः ।
 एतत्सहस्रपर्यन्तं तदेहो ब्राह्ममुच्यते ॥२०॥
 ततोऽहनि गते तस्मिन्सर्वपापमेव देहिनाम् ।
 शरीरनिवृत्तिं दृष्ट्वा लोकां स हारबुद्धिमान् ॥२१॥

द्वापर के पश्चात् कलियुग का आगमन होता है जिसे सबसे अधिक बुरा बतलाया गया है । वह सध्या सहित बारह सौ वर्ष का होता है ॥१४॥ इस समय अधर्म चारो चरणो पर खड़ा हो जाता है और धर्म का केवल एक चरण चोप रह जाता है । इस समय लोग काम भावना तथा अन्य श्रद्धा से बहुत अधिक प्रेरित होने लगते हैं ॥१५॥ इस समय में व्रत और उपवास की प्रथा समाप्त-
 प्राय हो जाती है, सच्चे साधुओं और सत्यवादियों का अभाव हो जाता है । वास्तिक तथा ब्रह्मवादी मनुष्य हूँढ़े नहीं मिलते ॥१६॥ सब लोग अहंकार से मत्त होकर बन्धु-बान्धवों की मर्यादा को भुला देते हैं । ब्राह्मण क्षूद्रो का सा और क्षूद्र ब्राह्मणों का सा आचार व्यवहार करने लगते हैं ॥१७॥ सभी लोग आश्रम धर्म से विमुक्त होकर वर्णसंकर करने लगते हैं, अगम्या रिषियों से दुरा-
 चार करने में किसी को सबोध नहीं होना और शास्त्र-वाक्यों का महत्व गूँठ हो जाता है ॥१८॥ इस प्रकार बारह हजार वर्षों का एक महा-युग होता है और ऐसे इकहत्तर चौकड़ी युगों का एक मन्वन्तर माना जाता है ॥१९॥ हे जन-
 मेजय ! ऐसे एक मन्वन्तर का चौदह गुना समय ब्रह्म का एक दिन होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ॥२०॥ ऐसे ब्रह्म का एक दिन पूर्ण होने पर तब-
 भगवान् समस्त पृथ्वी जीव प्राणियों का अन्त कर देते हैं अर्थात् प्रलय-काल आ जाता है ॥२१॥

देवताना च सर्वेषां ब्राह्मणानां महीपते ।

दैत्यानां दानवानां च मक्षगन्धर्वरक्षसाम् ॥२२॥

देवर्षीणां ब्रह्मर्षीणां तथा राजर्षीणामपि ।

विन्निराणामप्सरसां भुजङ्गानां तपयव च ॥२३॥

पर्वतानां नदीनां च पशूनां च च भारत ।

तिर्यग्योनिगतानां च सत्त्वानां मृगपक्षिणाम् ॥२४॥

महामृतपतिदेवः पञ्चभूतानि भूतवृत् ।

जगत्सु हरणार्थाय कृत्ते वंशसं महत् ।

जगत्सु हरणार्थाय कुरते वंशसं महत् ॥२५॥

भूत्वा मूर्धश्चक्षुषी पारसानी भूत्वा वायु म ह्रस्वग्राणिजातम् ।

भूत्वा वह्निर्दहते सर्वलोकाग्नेषो भूत्वा भूम एवाग्न्यवर्षा ॥२६॥

हे राजन् । ऐसा प्रलय काल आने पर देव, दानव, ब्राह्मण, दैत्य, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, देवर्षि, ब्रह्मर्षि राजर्षि वि नर, अप्सरा, सर्प पर्वत, नदी पशु, मृग, पक्षी तथा अन्य त्रियम् योनि के जीवो आदि किसी की भी रक्षा नहीं हो पाती ॥२२ २४॥ उस समय समस्त भूतो के महान अधिपति शिव भगवान् समस्त जगत का सहार करने के लिये एक एक करके सब कुछ मष्ट करते चले जाते हैं । उस समय वे ही सुष रूप से दृष्टि शक्ति का अन्त कर डालते, वायु रूप से प्राणिमो का सहार करते हैं, अग्नि रूप से सब को भस्म कर डालते है और मेघ रूप से सब को डुबाकर अन्त कर देते हैं ॥२६॥

॥ एकाग्रं मे विष्णु भगवान् की स्थिति ॥

भूत्वा नारायणो योगी सप्तमूर्तिविभावसु ।
 गभस्तिभि प्रदीप्ताभि स शोपयति सागरान् ॥१॥
 पीत्वाऽर्णवाश्च सर्वान्सि नदीकूपाश्च सर्वश ।
 पर्वताना च सलिल सर्व पीत्वा च रश्मिभि ॥२॥
 भित्त्वा सहस्रशश्च व मही नीत्वा रसातलम् ।
 रसातलजल कृत्स्न पिवते रसमुत्तमम् ॥३॥
 अन्तु सृजन्वलेदमन्यद्वाति प्राणिना ध्रुवम् ।
 तत्सर्वमरविन्दाक्ष आदत्ते पुरुषोत्तम ॥४॥
 वायुश्च बलवान्भूत्वा स विधूयाखिल जगत् ।
 प्राणोदय सुराणा च वायुना कुरुते हरि ।
 ततो देवगणाना च सर्वेपामेव देहिनाम् ॥५॥
 ये चेन्द्रियमणा सर्वे ये चान्ये च यतोद्भवा ।
 पूय ध्राण शरीर च पृथिवीमाधिता गुणा ॥६॥
 जिह्वा रसश्च क्लेदश्च स श्रिता सलिल गुणा ।
 रूप चक्षुर्विपावश्च ज्योतिरेवाश्रिता गुणा ॥७॥
 स्पर्श श्राणश्च चेष्टा च पवन स श्रिता गुणा ।
 परमेष्ठिन वरेण्य च हृषीवेश समाश्रिता ॥८॥

श्री वंशम्पायनजी ने कहा—‘हे राजन् । उस काल में वे महायोगी नारायण सात सूर्यों के तुल्य तेजोमय स्वरूप को प्रकट करके अपनी तीव्र किरणों से भूमण्डल के समस्त कूप, नदी, समुद्रों के जल को सोख लेते हैं । पर्वतों में भी जल का नाम नहीं रहता ॥१-२॥ उस समय पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े होकर वह रसातल की चली जाती है और वहाँ का सब जल भी उन्हीं नारायण द्वारा शोषण कर लिया जाता है । फिर उस समय अन्यत्र शेष रहे प्राणियों के लिये अन्य रसों की सृष्टि करते हैं । अन्त में आगामी सृष्टि करने का विचार करके वे समस्त भूतों और प्राणियों को अपने में लय कर लेते हैं ॥३-४॥ वे भगवान् प्रथम वायु रूप लेकर समस्त देवताओं तथा भूमण्डल के प्राणियों की इन्द्रियों को भय कर रूप से क्षकक्षोर कर समाप्त कर देते हैं । इससे फल स्वरूप गन्ध, घ्राण और शरीर आदि पार्थिव गुण पृथ्वी को, रूप तथा नेत्र आदि आग्नेय गुण अग्नि को, जिह्वा, रस तथा बलेद आदि जल के गुण जल को, स्पर्श, प्राण वायु और अंगों की गति आदि वायु गुण वायु को अप्रति हो जाते हैं । इस प्रकार सभी तत्व और उनके गुण परमेष्ठी, वरेण्य भगवान् हृषीकेश के आश्रित हो जाते हैं ॥५-८॥

ततो भगवता तप्त रश्मिभि परिवारिता ।

वायुना वृष्यमाणाश्च रूपान्योन्यसमाश्रयात् ॥६

तेषां च धर्षजोद्भूत पावक शतधा ज्वलन् ।

अदहन्निधिलांस्तीक्ष्णानुग्रहं सवर्तकोऽनल ॥१०

सपर्वतामृत्तुल्यगुल्मास्तलतावतीस्तृणानि च ।

विमानानि च दिव्यानि पुराणि विविधानि च ॥११

आश्रमाश्च तथा पुण्याग्निदिव्यान्यायतनानि च ।

मानि चाश्रमणीयानि तानि सर्वाणि सोऽदहत ॥१२

मस्मीभूतास्ततः सर्वान्लोकान्निर्लोमगुरुरहंरि ।

भूयो निर्वापयामास जलयुक्तेन यमंणा ॥१३

सहस्रहृद्महातेजा भूत्वा वृष्णो महाधन ।

दिव्यतोयेन हविषा तर्पयामास मेदिनोम् ॥१४

तत क्षीरनिकाशेन स्वादुना परमाम्भसा ।

शिवेन पुण्येन मही निर्वाणमगमत्परम् ॥१५॥

उस समय भगवान् पाँचो प्रकार के गुणों और उत्वो को एकत्र कर देते हैं । उन सबके सघर्ष महामयकर अग्नि का उद्भव हो जाता है जो अत्यन्त भयकर वेग से जलने, लगती है । उसका नाम 'सम्बर्तक' अग्नि है । वह अग्नि अपनी हजारो विशाल लपटो से ससार के समस्त पेड़ पौधे, लता, वेल, घास दिव्य विमान, बड़े-बड़े नगर, आश्रम पुण्य तीर्थ, दिव्य स्थान सबको भस्म कर देता है ॥६-१२॥ इस प्रकार जब सब लोक भस्म हो जाते हैं तो वह जल के द्वारा शान्त की जाती है । वे सहस्राक्ष भगवान् हो काले महामेघ के रूप समझ पड़ते हैं और समस्त पृथ्वी को जल रूपी हवि से तर्पण कर देते हैं ॥१३-१४॥ तब भूमण्डल दूध सहस्र सुस्वाद जल से परिपूरित हो जाता है और पृथ्वी बड़ा कल्याणमयी रूप धारण कर लेती है ॥१५॥

ते नगा जलसंछन्ना पयसं सर्वतोऽधरा ।

एकाण्वजला भूत्वा सर्वसत्त्वविवर्जिता ॥१६॥

महाभूतान्यपि च तं प्रविष्टान्यमितोजसम् ।

नष्टाकिंपवनाकाशे सूक्ष्मे जनविवर्जिते ॥१७॥

तं शोषयित्वा पीत्वा च वसत्येकं सनातनम् ।

पीराणं रूपमास्थाय किमप्यमितबुद्धिमान् ॥१८॥

एकाण्वजले ह्यासीद्योगी योगमुपागतः ।

अयुतानां सहस्राणि गतान्येकाण्वेऽम्भसि ।

न चैनं कश्चिदव्यक्तं वेदितुमर्हति ॥१९॥

एकाण्वविधिः कोऽयं यश्चैव परिकीर्तितः ।

क एष पुरुषो नाम वियोगः कश्च योगवान् ॥२०॥

एतावन्तमसौ कालमेकाण्वविधिं प्रति ।

वरिष्यतीमं भगवानिति कश्चिन्न बुध्यते ॥२१॥

• न च माता न च द्रष्टा न ज्ञाता नैव पार्श्वम् ।

ततोऽप्यज्ञायते कश्चिद्वदते तं देवमीश्वरम् ॥२२॥

नमः क्षिति पवनमथ प्रकाशयन्प्रजापतिं भुवनचरं सुरेश्वरम् ।
पितामहं श्रुतिनिलयं महामुनिं शशास भू-शयनमरोचयत्प्रभु ॥१३॥

उस समय पृथ्वी के समस्त पर्वत और अन्यान्य पदार्थ उस दुग्ध सहाय जल में लीन होकर सर्वत्र जल ही जल दृष्टि गोचर होना है और किसी जीव का वहाँ चिह्न नहीं रहता । उस अवसर पर पचनूत, सूर्य और पवन भी उन्हीं महाप्रभु में विलीन हो जाते हैं ॥१६-१७॥ उस अवस्था में वे सनातन प्रभु सब कुछ अपने भीतर लय करके उस अनन्त जलराशि के बीच लकेले ही स्थित रहते हैं ॥१२॥ इस प्रकार महायोग की दशा में उस जल पर स्थित रहते हुये उनको असह्यो यर्ष्य्यतीति हो जाते हैं, पर कोई उन अव्यक्त प्रभु के विषय में कुछ जान नहीं पाता ॥१६॥ यह सुन कर राजा जनमेजय ने प्रश्न किया कि हे ब्रह्म । जिन एकाग्रों का आपने वर्णन किया उसका क्या रूप है ? क्या उसकी कोई सीमा रहती है ? फिर यदि जब अन्त में हम स्वयमेव उन महा प्रभु में लीन हो जायेंगे तब ससार में रहते हुये, अनेक प्रकार की साधन करने की क्या आवश्यकता है ? और वे परम पुरुष कौन हैं और उनका योग किस प्रकार का है ? ॥२०॥ वैशम्पायनजी ने कहा—महाराज । उन महाप्रभु का कोई परिमाण या सीमा नहीं है । इसलिये उस एकाग्रों की स्थिति की भी कोई सीमा नहीं बताई जा सकती । उन परम प्रभु की न कोई माता होती है, न कोई परिवर्त होता है और न कोई पाप में रहने वाला होता है । इस लिये उनको यदि कोई सुरेश्वर, वेदों तथा पितामह महामुनि के आधार स्वरूप महाप्रभु उस एकाग्र व

॥ नारायण और मार्कण्डेय सम्वाद ।

एवमेवाणं बीभूते शीते लोके महायुति ।
प्रच्छाद्य सलिलं सर्वं हरिर्नारायणः प्रभु ॥१॥
महती रजसो मध्ये महार्णवसमस्य वै ।
विरजस्वो महाबाहुरक्षरं ब्रह्म यं विदुः ॥२॥

आत्मरूपप्रकाशेन तपसा संवृतः प्रभुः ।
 त्रिकमास्थाय कालं तु ततः सुष्याप सोऽव्ययः ॥३॥
 पुरुषो यज्ञ इत्येवं यत्परं परिकीर्तितम् ।
 यच्चान्यत्पुरुषार्थं स्यात्सर्वं तत्पुरुषोत्तमः ॥४॥
 ये च यज्ञपरा विप्रा श्रुत्विजा इति संज्ञिताः ।
 आत्मदेहात्पुराभूता यज्ञेभ्यः श्रूयतां तदा ॥५॥
 ब्रह्माणं परमं वक्त्रादुद्गातारं च सामगम् ।
 होतारमथ चाध्वयुं बाहूम्यामसृजत्प्रभुः ॥६॥
 ब्राह्मणो ब्राह्मणत्वाच्च संप्रस्तारं च सर्वशः ।
 तन्मित्र वरुणं सृष्ट्वा प्रतिष्ठातारमेव च ॥७॥
 उदरात्प्रतिहर्तारं पोतारं चैव भारत ।
 अज्ठावाकमनोरुभ्यां नेष्टारं चैव भारत ॥८॥
 पाणिभ्यामथ चाग्नीध्रं सुब्रह्मण्यं च यज्ञियम् ।
 ग्रावाणमथ बाह्व्यामुन्नेतारं च याज्ञिकम् ॥९॥

वैशम्पायनजी कहने लगे—राजन्^१ जब समस्त बिस्व इस प्रकार जलामयी हो जाता है तो उसमें एकमात्र वही महाप्रभु हरिनारायण महान् शुक्ति रूप में शयन करते हैं ॥१॥ वे रजोगुण स्त्री महान् समुद्र के बीच में रहते हैं किन्तु स्वयम् सीनीं गुणो रहित होने के कारण विद्वानों द्वारा 'अदर-ब्रह्म' कहे जाते हैं ॥२॥ जब वे प्रभु तपस्या द्वारा आत्मरूप को प्रकट करने का विचार करते हैं और त्रिपाल व्यापक निद्रा में मग्न हो जाते हैं, उस समय उनको किसी भी अग्न्य विषय वा स्मरण नहीं रहता ॥३॥ वे ही प्रभु परम-पुरुष, यज्ञस्वरूप और पुरुषोत्तम के नाम से कीर्तित किये जाते हैं ॥४॥ प्राचीन काल में उन्हीं के देह से यज्ञपरायण, रागद्वेष से शून्य श्रुतिव्रजण अविभूत हुये थे । उन सब के नाम तुमको सुनाता हूँ ॥५॥ ब्रह्मा, उद्गाता, होता तथा अध्वयुं उनके मुख से; ब्राह्मण वा प्रतिपादन करने वाले प्रस्तोता, मित्रावरुण तथा प्रस्थाता बाहु से, प्रतिहर्ता तथा पोता उदर से; अभ्यापक तथा नेता उन्हीं आग्नीध्र तथा

तस्योत्पन्नं भयं तीव्रं संशयश्चात्मजीविते ।
 देवदर्शनसंहृष्टो विस्मयं चागमत्परम् ॥१८
 संचिन्तयति मध्यस्थो मार्कण्डेयोऽतिशङ्कितः
 किंस्विद्भवेदिय चिन्ता मोहः स्वप्नोऽनुभूयते ॥१९
 व्यक्तमन्यतमो भावो ह्युत्तेषां भविता मम ।
 न हीदृशमसंक्लिष्टमयुक्तं सत्यमर्हति ॥२०
 नष्टचन्द्राकं पवने छन्नपर्वतभूतले ।
 कतमः स्यादयं लोको इति चिन्ताव्यवस्थितः ॥२१

जब वे भगवान के मुख से बाहर आये तो उनको सर्वत्र जलामयी ही दृष्टि-गोचर हुआ । भगवान की भाषा से उनको ‘किसी पूर्व वृत्तान्त का स्मरण न रहा’ और सब लोको को शून्य तथा जल से आच्छन्न देख कर उनके मन में एक अभूतपूर्व भय का संचार हो गया । सभी उन्होंने क्षीर सागर शायी भगवान को देखा जिससे उन्हें बड़ा हर्ष और साथ ही विस्मय भी हुआ ॥१६-१७॥ तब अपने मन को शान्त करके वे विचार करने लगे कि यह कौनसा लोक है जिसमें सूर्य, चन्द्र, तारागण, पर्वत, पृथिवी कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता । क्या मुझे किसी प्रकार का भ्रम हो गया है अथवा मैं कोई स्वप्न देख रहा हूँ ? अन्यथा ऐसी असंगत और असम्भव बात किस प्रकार दिखाई पड़ती ॥१६-२१॥

अपश्यच्चापि पुरुषं शयानं पर्वतोपमम् ।
 तोयाढ्यमिव जीमूत मध्ये मग्नं महार्णवे ॥२२
 तपन्तमिव तेजोभिर्भास्वन्तमिव वर्चसा ।
 जाग्रन्तमिव गाम्भीर्याच्छ्वसन्तमिव पन्नगम् ॥२३
 स देवं प्रष्टुमायाति को भवानिति विस्मयात् ।
 तथैव च घनं भूयो मुनिः कुक्षिं प्रवेशितः ॥२४
 वर्षाणां शतसाहस्रं मार्कण्डेयो महामुनिः ।
 तिष्ठन्नपृथिवीं ब्रह्मणं न च कश्चन्यस्यते ॥२५

ततः कदाचिदथ वै पुनर्वन्ताद्विनिःसृतः ।

सुप्तं न्यग्रोधेशाखाया बालमेक निरीक्षते ॥२

यथा चैकार्णवजले नीहारेण वृत्तान्तरे ।

अव्यक्तभीषणे लोके सर्वभूतविवर्जिते ॥२७

स भूयो विस्मयाविष्टः कीतूहलसमन्वितः ।

बालमादित्यसकाशं न शक्नोत्पुसर्पितुम् ॥२८

इस प्रकार का विचार मन में आने पर वे चारों तरफ दृष्टिपात करने लगे तो देखा कि महान् पर्वत के समान एक प्रकाण पुरुष जल में शयन कर रहा है । उसका वर्ण वर्षाकालीन मेघ के समान श्यामल और अत्यन्त तेजस्वी है । उसी की कान्ति से वह सब स्थान प्रकाशमान हो रहा है । वे ऐसे जोर से निश्वास परित्याग कर रहे थे जैसे कोई महारूपी श्वासोच्छ्वास कर रहा हो ॥२२-२३॥ उसे देख कर मार्कण्डेय यह पूछना ही चाहते थे कि आप कौन हैं कि फिर उसके उदर में प्रविष्ट हो गये ॥२४॥ वहाँ अनेक वर्षों तक विविध दृश्यों को देख कर भी भगवान् के उदर का अन्त नहीं पा सके ॥२५॥ अन्त में जब वे फिर मुख के बाहर निकले तो देखा कि बरगद के वृक्ष पर एक शिशु सो रहा है ॥ २६ ॥ वहाँ सर्वग जल ही जल था और कोहरा-सा छाया था । सब प्रकार के जीवों से रहित वहाँ का दृश्य बड़ी भयानक-सा लग रहा था ॥२७॥ महर्षि मार्कण्डेय ऊँच के वहाँ अकेला देख कर भय करने लगे और उस सूर्य के समान प्रकाशमान बालक के समीप जाने का साहस न कर सके ॥२८॥

सोऽचिन्तयदयैकान्ते स्थित्वा सलिलसन्निधौ ।

पूर्वदृष्टमिदं नेति शङ्कितो देवमायया ॥२९

अगाधे सलिलस्तब्धे मार्कण्डेयः प्लवन्मुनिः ।

न शान्तिं लभते तत्र यमात्ससस्तविवलवः ॥३०

तथैव भगवान्हसो गतो योगेन वासताम् ।

वभाषे मेघतुल्येन स्वरेण पुरुषोत्तमः ॥३१

माभैर्वत्स न भेतव्यमिहैवायाहि चान्तिकम् ।
 मार्कण्डेय मुने धीर बाधस्त्वं श्रमपीडितः ॥३२
 को मां नाम्ना कीर्तयते तपः परिभवन्मम ।
 बहुवर्षसहस्रायुर्द्वर्षयश्चैव मे वयः ॥३३
 न ह्येषु समुदाचारो देवेष्वपि समाहितः ।
 मा ब्रह्मापि स विश्वेशो दीर्घायुरिति भापते ॥३४
 कस्तपो घोरशिरसो ममाद्य त्यक्तजीवितः ।
 मार्कण्डेयेति मां प्रोवत्वा मृत्युभीक्ष्णुमिच्छति ॥३५

तब वे उसी महापंथ के एक स्थान में उडे होकर विचार करने लगे कि क्या मैंने जिस पुरुष को पहले देखा था मत वही है अथवा कोई अन्य है ? इस प्रकार से देवमाया से सशक्ति होकर वे महासलिल में तैर रहे थे, उनको अत्यंत धम जान पड़ रहा था और चित्त भी आशान्त हो रहा था ॥२६-३०॥ वास्तव में वे बालक का रूप योगबल से हंस भगवान ने ही धारण कर रखा था । मार्कण्डेय को भयभीत देख कर वे गम्भीर वक्त्र से बोले—हे वत्स ! तुम अकेले होने से किसी प्रकार का भय मत करो । तुम बालक हो और धम करने से थक गये हो, इसलिये मेरे पास आजाओ ॥३१-३२॥ मार्कण्डेय कहने लगे—कौन मेरे हजारी वक्षों के तपस्वी-जीवन की उपेक्षा करके मुझे मार्कण्डेय के नाम से बुला रहा है । जब ब्रह्माजी भी मुझे दीर्घजी की कहते हैं तो कौन देवता अथवा मनुष्य हो जो इस प्रकार मेरी तपस्या का निरस्कार करने का साहस कर सकता है, और अपने आप मृत्यु की कामना करता है ॥३३-३४-३५॥

एवमाभापते क्रोधान्मार्कण्डेयो महामुनिः ।
 अर्चनं भगवान्भूयो वभाषे तत्परायणम् ॥३६
 अहं ते जनको वत्स हृषीकेशः पिता गुरः ।
 आयुःप्रदाता पीराणः किमर्थं नोपसर्पसे ॥३७
 मा पुलकामः प्रथमं पिता ते ह्यङ्गिरा मुनिः ।
 पूर्वमाराधयामास तपस्वीब्रमुपाश्रितः ॥३८

ततस्त्वा घोरशिरसं दहनीषिमतेर्जसम् ।

दत्तवानहमात्मेष्टं महर्षिममितायुषम् ॥३६॥

तत्र नोत्सहते चान्यो यो न भूतो ममात्मकः ।

द्रष्टुमेकार्णवगतं क्रीडत योगधर्मिणम् ॥४०॥

ततः प्रसन्नवदनो विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।

मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिपुटो मार्कण्डेयो महातपा ॥४१॥

नामगोक्षे ततः श्रुत्वा दीर्घायुर्लोकपूजितः ।

अथाकरोन्मेमस्कारं प्रणतः शिरसा प्रभुम् ॥४२॥

॥ ३६-३७ ॥ जब मार्कण्डेय मुनि ने क्रोध पूर्वक ऐसे वचन कहे तो भगवान ने पुनः उनको संबोधित करके कहा—वत्स ! मैं ही वह पुरातन पुष्प नारायण हूँ जिसने तुम्हें जीवन और आयु प्रदान की है, फिर तुम मेरे पास क्यों नहीं आते ? ॥ ३६-३७ ॥ तुम्हारे पिता अगिरा ऋषि ने घोर तपस्या करके मुनते पुत्र की याचना की थी । उसी के फल-से तुम अग्नि के सदृश्य तेजस्वी, महान तपस्वी, महर्षि और दीर्घायु बन सके हो ॥३८-३९॥ अब जब कि मैं क्रीडा करता हुआ इस बालक रूप में एकाग्रव में शमन कर रहा हूँ तो ऐसा कोई प्राणी मेरा दर्शन नहीं कर सकता जो मेरी आत्मा से ही उत्पन्न नहीं हुआ हो ॥४०॥ वैशम्पायन-जी कहने लगे—तब महा तपस्वी, लोकमाय, दीर्घजी की महामुनि मार्कण्डेय ने अत्यन्त प्रसन्न होकर और आश्चर्य से नेत्रों को विस्फारित करते हुये, मस्तक पर अञ्जलि बाँध कर भगवान को अत्यन्त विनीत भाव से प्रणाम किया ॥ ४१-४२ ॥

इच्छेऽहं तत्त्वतो मायामिमां जातु तवानघ ।

यदेकार्णवमध्यस्थं शेषे त्वं बालरूपवान् ॥४३॥

किं सज्जं वंश्च भगवाँल्लोके विज्ञायसेऽनघ ।

तव ये त्वा महाभूतं न भूतमिह निष्ठति ॥४४॥

अहं नारायणो ब्रह्मा स भव सर्वदेहिनाम् ।

सर्वभूतोद्भवकर सर्वभूतविनाशन ॥४५॥

अहमैन्द्रं पदे शक्र ऋतूनामपि वत्सरः । १ १ ॥
 अहं युगे युगाध्यक्षो युगस्यावर्त्त एव च ॥४६॥
 अहं सर्वाणि सत्त्वानि देवतान्यखिलानि च ।
 भुजगानामहं शेषस्ताक्षर्योऽहं सर्वपक्षिणाम् ॥४७॥
 अहं सहस्रशीर्षा द्यौयः पदैरभिसंवृतः ।
 आदित्यो यज्ञपुरुषो देवो यज्ञमयो मखः ।
 अहमग्निर्हव्यवाहो यादसा पतिरव्ययः ॥४८॥
 यत्पृथिव्या द्विजेन्द्राणां तपसा भावितात्मनाम् ।
 बहुजन्मनिरद्धात्मा ब्राह्मणो यतिरुच्यते ॥४९॥
 ज्ञानवान्दृष्टविद्वात्मा योगिना योगविज्ञम् ।
 कृतान्त सर्वभूताना विश्वेपा कालसंज्ञितः ॥५०॥

मार्कण्डेयजी कहने लगे—हे भगवन् मैं आपको तात्त्विक रूप से जानना चाहता हूँ, इस समय तो यहाँ पर समुद्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं जान पड़ता और उसके बीच में आप आत्मिक के रूप में शयन कर रहे हैं । मैं यह जानना चाहता हूँ कि जगत आपको किस रूप में जानता है—आपका नाम क्या है ? आप कृपा करके स्वयं ही अपनी ओर से सन्मन्त्र में परिचय दें ॥ ४३-४४ ॥ भगवान् कहने लगे—हे मार्कण्डेय । मैं ही नारायण हूँ, मैं ही गृष्टि का रचयिता प्रह्ला हूँ । समस्त प्राणवारी मुझसे उत्पन्न होते हैं और मैं ही उनका विनाश करता हूँ ॥४५॥ मैं ही इन्द्र हूँ, मैं ही शक्र कहा जाता हूँ, ऋतुओं के लिये वर्ष मैं ही हूँ, युग-युगाध्यक्ष, युगावर्त्त भी मैं ही हूँ ॥४६॥ मैं ही समस्त जीवों के व्याप्त हूँ और समस्त देवता भी मुझसे ही होते हैं । सर्पों में मैं शेष नाग हूँ और पक्षियों में मैं गरुड हूँ ॥ ४७ ॥ मैं ही सहस्रशीर्ष, सप्तसपाद, आदित्य, यज्ञपुरुष, देव, यज्ञमय नामों से प्रकाश जाना हूँ । मैं ही द्रव्य-वाहक अग्नि और कभी नाश न होने वाला समुद्र हूँ ॥४८॥ पृथ्वी पर जितने बड़े-बड़े जानी तपस्या के लिये प्रसिद्ध हैं, जिनके जन्म-मरण मरुत हो चुके हैं और जो आत्म ज्ञान सम्पन्न हो चुके हैं, उस ज्ञान का साक्षात् स्वरूप मैं ही हूँ । मैं समस्त योगियों के परम

श्रेष्ठ योगी हूँ । मैं समस्त प्राणियों के लिये कृतान्त और ससार के लिये काल हूँ ॥५६-५०॥

अहं कर्म क्रिया जीवः सर्वेषां धर्मदर्शनः ।
 निष्क्रियः सर्वभूतेषु स्वात्मज्योतिः सनातनः ॥५१॥
 प्रधानं पुरुषो देवोऽहमाद्यस्त्वक्षयोऽव्ययः ।
 प्रधानं पुरुषो देवोऽहमाद्यस्त्वक्षयोऽव्ययः ।
 अहं धर्मस्तपश्चाहं सर्वाश्रमनिवासिनाम् ॥५२॥
 अहं ह्यशिशो देवः क्षीरोदे यो महार्णवे ।
 ऋतं सत्यं च परममहमेकं प्रजापतिः ॥५३॥
 अहं साख्यमहं योगमहं तत्परमं पदम् ।
 अहमिज्यो भवश्चाहमहं विद्याधिपः स्मृतः ॥५४॥
 अहं ज्योतिरहं वायुरहं भूमिरहं नभः ।
 अहमापः समुद्राश्च नक्षत्राणि दिशो दश ।
 अहं वर्षमहं सोमः पर्जन्योऽहमहं रविः ॥५५॥
 क्षीरोदः सागरश्चाहं समुद्रो वडवामुखः ।
 वह्निः संवर्तको भूत्वा पिबंस्तोयमहं रविः ॥५६॥

मैं ही कर्म, क्रिया और समस्त जीवों के लिये धर्मसाधन स्वरूप हूँ । पर मैं कर्म-बन्धन से परे रहता हूँ और अनादिकाल से आत्म-ज्योति सम्पन्न हूँ ॥ ५१ ॥ मैं प्रधान पुरुष, आद्यदेव, अक्षय और अविनाशी हूँ । मैं ही समस्त आकाश बालों के लिये धर्म और तप हूँ ॥ ५२ ॥ मैं ही क्षीर महासागर का हयग्रीव देव हूँ और मैं ही ऋत, सत्य और परम प्रजापति हूँ ॥ ५३ ॥ मैं ही साख्य-ज्ञान और योग-सारण का निर्दिष्ट परमपद हूँ । सोम मेरे लिये ही यज्ञ करते हैं, मैं ही विद्यानिधान हूँ ॥ ५४ ॥ मैं प्रकाश, वायु, पृथ्वी, जल, समुद्र, नक्षत्र और दशों दिशा, सम्बतसर, सोम, पर्जन्य और सूर्य हूँ ॥ ५५ ॥ मैं ही क्षीरसागर और समुद्र का वडवानल हूँ और मैं ही सम्बर्तक अग्नि होकर समस्त जलों को शोषण कर लेता हूँ ॥५६॥

अहं पुराण परम तथैवेह परायणम् ।
 अहं भूतस्य भव्यस्य वतमानस्य समव ॥५७॥
 यत्किञ्चित्पश्यसे चैव यच्छणोषि च किञ्चन ।
 यच्चानुभवसे लोके तत्सर्वं मामकं स्मृतम् ॥५८॥
 विश्वं सृष्टं मया पूर्वं सृजेय चाद्यं पश्य माम् ।
 युगे युगे च स्तुक्ष्यामि मार्कण्डेयाखिलं जगत् ॥५९॥
 तदेतदखिलं सर्वं मार्कण्डेय वधारय ।
 शुश्रूषुर्मम धर्मेषु कुक्षौ चर सुखी भव ॥६०॥
 मम ब्रह्मा शरीरस्यो देवाश्च ऋषिभिः सह ।
 व्यक्तमव्यक्तयोगं मामवगच्छाण्णराजितम् ॥६१॥
 अहमेवाक्षरो मन्त्रस्यक्षरश्चैव सर्वज्ञ ।
 त्रिपदश्चैव परमस्त्रिवर्गार्थनिर्दर्शन ॥६२॥

मैं ही सबसे पुरातन परम पुरुष हूँ और भूत भविष्य और वर्तमान भी मैं ही हूँ ॥५७॥ जो कुछ तुम देखते और सुनते हो, जो कुछ अनुभव करते हो, वह, सब मुझ ही जगत् हीना है ॥५८॥ हे माकण्डेय ! इस समस्त ससार को मैंने ही बनाया है और आगे भी, प्रत्येक युग में मैं ही इसको सृष्टि करने वाला हूँ ॥५९॥ यह समस्त जगत् मेरा ही रूप है, मैं ही इसको धारण करता हूँ, इस लिये तुम किसी प्रकार का भय न करके सुखपूर्वक मेरे उदर में विचरत रहो ॥६०॥ मेरे ही शरीर में ब्रह्मा और अन्य सब देवगण निवास करते हैं । मैं ही व्यवक्त, अव्यक्त, अपराजेय अक्षर और श्रद्धा मम, त्रिपद गायत्री और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि पुरुषार्थ चतुष्टय का निदर्शन हूँ ॥६१-६२॥

एवमेतत्पुराणेषु वेदान्ते च महामुनि ।
 वक्ते व्याहृतवानाशु मार्कण्डेय महामुनिम् ॥६३॥
 प्रवेशयामास ततो जरठं विश्वरूपधृक् ।
 ततो भगवतः कृतिं प्रविष्टो मुनिसत्तम ।
 रराम सुपमासाद्य शुश्रूषुहं समव्ययम् ॥६४॥

तदक्षरं विविधमथाश्रितौ वंपुमंहार्णवे व्यपगतचन्द्रमास्करे ।
शनश्चरन्प्रभुरपि हंससंज्ञितोऽसृजंज्जगद्विसृजति कालपर्यये ॥६५॥

वंशम्पायनजी कहने लगे—हे राजन् !- नारायण ने मार्कण्डेयजी के सम्मुख जो सत्य ज्ञान प्रकट किया था उसी को भगवान् वेद ने व्यासजी पुराणों के रूप में प्रकाशित कर दिया ॥६३॥ तब मार्कण्डेय मुनि पुनः उसी विश्वरूप धारी नारायण के उदर में प्रविष्ट हो गये और वहीं रहते हुये सूक्ष्मपूर्वक हसयोग की साधना करने लगे ॥६४॥ वे हम नाम वाले महाप्रभु ही युग-युग में विविध रूप धारण करते हैं और जब सूर्य-चन्द्रमा प्रत्यक्ष कासीन महार्णव में लीप हो जाते हैं तो वे महाप्रभु ही पुनः क्रम से सृष्टि रचना करके उसमें विचरण करने लगते हैं ॥६५॥

॥ नारायण की नाभि से कमल की उत्पत्ति ॥

आपवः स विभुर्भूत्वा कारयामास वै तपः ।
छादयित्वात्मनो देहमात्मना कुम्भसम्भवः ॥१॥
ततो महात्माऽतिबलो मतिं लोकस्य सर्जने ।
महतां पञ्चभूतानां विश्वभूतो व्यचिन्तयत् ॥२॥
तस्य चिन्तयतस्तप्त तपसा भावितात्मनः ।
निराकाशे तोयमये सूक्ष्मे जगति गह्वरे ॥३॥
ईपत्संक्षोभयामास सोऽर्णवं सलिले स्थितः ।
सोज्ज्वलन्तरोमिणा सूक्ष्ममय छिद्रमभूत्तदा ॥४॥
तप्त दग्धगतिर्भूत्वा भारतद्रवसंभवः ।
स लब्ध्वाऽन्तरमक्षोभ्यो व्यवर्द्धत समीरणः ॥५॥
विवर्द्धता वनवता तेन संक्षोभितोऽर्णवः ।
अन्योन्यवेगाभिहता ममन्धुश्चोर्मयो भृशम् ॥६॥
महार्णवस्य ध्रुवस्य तस्मिन्लम्बामि मय्यति ।
गृण्यन्वर्त्मा समभवत्प्रभुयैश्वानरोऽर्चमान् ॥७॥

११ वैष्णवायनजी कहने लगे—'हे राजन् ! उस एकान्त में भगवान् अपने कुम्भसंभूत रूप को गुप्त रखते हुये 'आपवः' के रूप में तपस्या करने लगे ॥१॥ जब इस प्रकार तप करने से उनको अत्यन्त बसु की प्राप्ति हो गई तो सृष्टि निर्माण के लिये पंचभूतादिक की, रचना का विचार करने लगे ॥२॥ उनके इस प्रकार चिन्तन करने से तपोवन के प्रभाव द्वारा वहाँ एक सूक्ष्म छिद्र हो गया । तब उन्होंने उस महाएवं के जल को शिथिल क्षोभित कर दिया तो यही सूक्ष्म छिद्र अवाश के रूप में परिणत हो गया ॥३-४॥ इसके पश्चात् भगवान् शब्दमय रूप धारण करके आकाश में व्याप्त हो गये, जिसमें वायु का आधिभावं होने लग गया और वह समीर के रूप में निरन्तर बढ़ने लगा ॥५॥ आकाश और वायु का दबाव पड़ने में सन्तुष्ट बहुत अधिक क्षुब्ध होने लगा और उसकी तरंगें बड़े वेग से उठने लगी । इसके कारण सम्पूर्ण जल भयंकर रूप से मचने लगा और तब उससे अत्यन्त विकराल और सहस्ररारी अग्नि सदृश का उद्भव हुआ ॥६॥

तत्र सशोपयामास पावकः सलिलं बहु ।
क्षयाज्जलनिधेभिर्द्रुममवान्नः सृतं नमः ॥८॥
आत्मतेजोद्भवाः पुण्या आपोऽमृततरसो नमाः ।
आकाश छिद्रसंभूत वायुराकाशसंभवः ॥९॥
आज्यसर्घर्षणोद्भूतं पावकं चाज्यसंभवम् ।
दृष्ट्वा प्रीतियुतो देवो महाभूतादिभावनः ॥१०॥
दृष्ट्वा भूतानि भगवान्लोकसृष्ट्यर्थं तत्त्वं विद् ।
ब्रह्मणो जन्मसहितं बहुरूपो विचिन्वति ॥११॥

'वह अग्नि तीव्रता के साथ समुद्र के जल का शोषण करने लगा, जिससे उसकी गहराई बढ़ने लगी ॥८॥ इस प्रकार उन महाब्रह्म ने आत्मतेज से एक विशेष पवित्र अमृत स्वरूप जल को उत्पन्न किया और फिर उससे आकाश, वायु, अग्नि जल और पृथ्वी, पाँचों तत्वों की सृष्टि क्रमशः की ॥९-१०॥ उन पंचभूतों को देख कर सृष्टि रचना के तत्त्वज्ञ भगवान् नारायण बहुत प्रसन्न हुये

और सृष्टि रचना करने के लिये ब्रह्माजी के उत्पन्न होने के सम्बन्ध में विचार करने लगे ॥११॥

चतुर्गुणादिसंख्यान्ते सहस्रयुगपर्यये ।

यत्पृथिव्या द्विजेन्द्राणां तपसा भावितात्मनाम् ॥१२॥

बहुजन्मनिष्ठात्मा ब्रह्मणो यतिरत्तम ।

ज्ञानवान्दृष्टविश्वात्मा योगिना योगवित्तम ॥१३॥

त योगवन्त विज्ञेय स पूर्णश्चर्यविक्रमम् ।

देवो ब्रह्मणि विश्वे च नियोजयति योगवित् ॥१४॥

ततस्त्वस्मिन्महानीये हविषो हरिरच्युत ।

स्वपत्नीदृष्ट्वा त्रिविध मोदते चैव पावक ॥१५॥

पद्मनाभ्यद्भव चैकमुत्पादितवास्नदा ।

सहस्रान्विरजो भास्कराभ हिरण्यमम् ॥१६॥

हुताशनज्वलितशिखोज्ज्वलत्प्रभ

सुगन्धिनशरदमलाकंतेजसम् ।

विराजते कमलमुदारवचसं

महात्मनस्तनुरुहचारदर्शनम् ॥१७॥

इसके लिये नारायण ने प्राचीन काल में जिन महान् तपस्वी ब्राह्मणों ने ज्ञान प्राप्त के विश्व-वटके रहस्य को पूर्ण रूपमें श्रावित कर दिया था और जो समस्त विद्वत्प्रपञ्च को अपने मनो से देखते थे उन्हीं में से जो परम ऐश्वर्यवान्, पराक्रमी तथा पूजनीय को ब्रह्मा नियुक्त करने के लक्ष्य की रचना और भूमण्डल की व्यवस्था का भार सौंप दिया ॥१२-१३-१४॥ तब भगवान् नारायण निश्चित होकर फिर उसी महागर्भ में शयन करने लगे और ब्रह्माजी कभी सृष्टि रचना में और कभी आनन्द से कान्तोप करने लगे ॥१५॥ अतएव भगवान् की नाभि से एक देवी कमल उत्पन्न हुई जिसकी प्रभा अत्यन्त तेजस्वी और मूर्ध्नि के समान प्रकाशमान थी तथा जिसमें सहस्रों पैंगुडियाँ थीं । उगरी गन्ध बढ़ी मनोहारिणी थी और उग पर भूत आदि का लेश भी नहीं था ॥१६—१७॥

॥ सृष्टि-रचना के निमित्त पुष्कर का प्रादुर्भाव ॥

अथ योगविदा श्रुंष्ट सर्वभूतमनोमयम् ।
 स्रष्टारं सर्वभूतानां ब्रह्माणं सर्वतोमुखम् ॥१॥
 तस्मिन्हिरण्यमये पद्मे बहुयोजनविस्तृते ।
 सर्वतेजोगुणमये पार्थिवैर्लक्षणं यत्ते ॥२॥
 तच्च पद्मं पुराणज्ञाः पृथिवीरुहमुत्तमम् ।
 नारायणाङ्गसंभूतं प्रवदन्ति महर्षयः ॥३॥
 या तु पद्मासना देवी पृथिवी तां प्रचक्षते ।
 ये गर्भसाराङ्कुरतस्तान्दिव्यान्वर्तान्विदुः ॥४॥
 हिमवन्तश्च मेरुश्च नीलं निपथमेव च ।
 कैलासमुज्ज्वलन्तश्च यथाद्रिगन्धमादम् ॥५॥
 पुण्यत्रिशिखरश्चैव कान्तं कन्दरमेव च ।
 उदयं कन्दरं चैव विन्ध्यमस्तं च पर्वतम् ॥६॥
 एते देवगणानां च सिद्धानां च महात्मनाम् ।
 आश्रमाः पुण्यशीलानां सर्वकामयुताद्रयः ॥७॥

वैशम्पायनजी कहने लगे—हे राजन् ! भगवान् नारायण ने सृष्टि-रचना के उद्देश्य से उस कमल को रच कर उसके ऊपर योगियों से श्रुंष्ट समस्त जीवों के स्रष्टा, सर्वतोमुख श्रीब्रह्माजी के विराजमान कर दिया । वह स्वर्ण-रूप वाला कमल अनेक योजन विस्तार वाला, सूर्य के समान तेजस्वी और सुगन्धयुक्त था और उसमें समस्त पार्थिव गुण पाये जाते थे । पुराणों के ज्ञाता विद्वान् उस कमल को नारायण के अंग का एक अंश ही कहते थे और वह पृथ्वी के रूप में ही था । इस लिये उसकी जो पद्मासनी देवी थी वह पृथ्वी ही थी और उसके गर्भाकुर ही पर्वतों के रूप में परिणित हुये ॥१-४॥ हिमालय, सुमेरु, नील, निपथ, कैलास, गन्धमादन, मन्दर, विन्ध्य और पर्वत

हरिवंशे पुराणे तु श्रुते च भारतोत्तम ।

कायिकं वाचिकं चैव मनसा समुपाजितम् ॥१२॥

तत्सर्वं नाशमायाति हिम सूर्योदये यथा ।

अष्टादशपुराणानां श्रवणाद्यत्फलं भवेत् ॥३॥

तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र सशयः ।

श्लोकाद्वै श्लोकपाद वा हरिवंशसमुद्भवम् ॥४॥

शृण्वन्ति श्रद्धया युक्ता वैष्णव पदमाप्नुयुः ।

जम्बुद्वीप समाश्रित्य श्रोतारो दुर्लभा कलौ ॥५॥

राजा जनमेजय ने कहा—हे ब्रह्मन् । इस हरिवंश के सुनने से क्या क्या फल मिलता है और इसके लिये कौन कौन सी वस्तुओं का दान किया जाता है ? ॥१॥ वैशम्पायनजी ने कहा—हे राजन् । जैसे सूर्योदय होते ही बरफ गल जाता है वैसे ही हरिवंश सुनने वाले मनुष्य के दैहिक, वाचिक और मानसिक सभी पाप एक साथ क्षीण हो जाते हैं । जो फल अठारह पुराणों के सुनने से मिलता है, वह फल अनेक हरिवंश के श्रवण से मिल जाता है । जो पुरुष हरिवंश के एक, आधे या चौथाई श्लोक की भी भक्ति सहित सुनते हैं, वे भगवन् विष्णु के परमपद को प्राप्त होते हैं । परन्तु, मैं यह बात सीगन्ध पूर्वक कर रहा हूँ कि कलियुग में यदि जम्बुद्वीप छान डाला जाय तो भी सच्चा श्रोता एवं भी मिलना दुष्ट है ॥२-५॥

भविष्यन्ति नरा राजन् सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ।

स्त्रीमिश्र पुत्रकामादि श्रोतव्यं वैष्णव यशः ॥६॥

दक्षिणा चास देया वै निष्कत्रयमुवर्णकम् ।

वानराय यथाशक्त्या यथोक्तं फलमिच्छता ॥७॥

स्वर्णशृङ्गी च कपिला सद्यत्मा वृश्चसमुनाम् ।

वाचकाम प्रदद्याद्वै आत्मनः श्रेयसांक्षया ॥८॥

अलंकारं प्रदद्याच्च पाण्डुर्यं भरतर्षभ ।

वर्णस्याभरणं दद्याच्चानं वत्स विशेषतः ॥९॥

भूमिदानं समाश्वाद्ब्राह्मणाय, नराधिप ।

भूमिदानसमं दानं न भूतं, न भविष्यति ॥१०

हे राजन् ! पुत्र प्राप्ति की कामना वाली नारियो को हरिवंश का ध्व-
ज्य श्रवण करना चाहिये । यदि किसी मनोरथ की सिद्धि के लिये हरिवंश का
ध्वज्य करे तो कथा पूर्ण होने पर कथा वाचक को तीन स्वर्ण मुद्राएँ अथवा
जितनी शक्ति हो, उतना धन प्रदान करे ॥६-७॥ कथा की समाप्ति पर वस्त्र
से ढकी हुई, सोने से मड़े हुए सींगों वाली, बछड़े से युक्त कपिला गौ का दान
अवश्य करे, इससे सुनने वाले का मंगल होता है ॥८॥ हरिवंश का पारायण
पूर्ण होने पर आभूषण प्रदान करे, जिनमे कान का आभूषण अवश्य दे । हाथ
का आभूषण अथवा वस्त्र-दान भी अत्यन्त मंगलकारी होता है ॥९॥ हे राजन् !
हरिवंश सुनने के बाद यदि भूमि दान करे तो वह भी प्रशसनीय होता है ।
यद्यपि भूमिदान से बढ कर कोई भी दान नहीं कहा गया ॥१०॥

शृणोति श्रावयेद्वापि हरिवंश तु यो नरः ।

सर्वथा पापनिर्मुक्तो वंष्णव पदमाप्नुयात् ॥११

पितुर्नुद्धरते सर्वानिकादश समुद्रमवान् ।

रात्मानं समुतं चैव स्त्रियं च भरतर्षभ ॥१२

शांशश्चात्र होमो वै कार्यः श्रोत्रा नराधिप ॥

दं मया तवाग्रे च सर्वं प्रोक्तं नरर्षभ ॥१३

स्य स्मरणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

पुल्ल, पुल्लमाप्नोति अघनी धनमाप्नुयात् ॥१४

रमेघाश्वमेघाभ्यां यत्फलं प्राप्यते नरः ।

त्फलं लभते नूनं पुराणश्रवणादरे ॥१५

रह्यहा श्रूणहा गोघ्नः सुरापो गुरुतल्पगः ।

वृत्पुराणश्रवणात्पूतो भवति नान्यथा ॥१६

मया ते परिकीर्तितं महच्छ्रीवृष्णमाहात्म्यमपारमद्भूतम् ।

तन् पठन्नाशु समाप्नुयात्फलं यच्चापि लोकेषु सुदुर्लभं महत् ॥१७

श्रेष्ठ उदयाचल तथा अस्ताचल ये सब पर्वत बड़े पवित्र, और, पुण्यदायक हैं तथा देवता, महात्मा, सिद्ध तथा अन्यान्य जीवों के आश्रय स्थान हैं ॥५-७॥

एतेषामितरो देशो जम्बूद्वीप इति स्मृतः ।
 जम्बूद्वीपस्य संख्यानं याज्ञिया यत्र चक्रिरे ॥८॥
 गर्भाद्यत्स्त्रवते तोय देवामृतरसोपमम् ।
 दिव्यतीर्थशतापाङ्गयस्ता दिव्याः सरितः स्मृतः ॥
 यान्येतानि तु पद्मस्य केसराणि समन्तत ।
 असंख्याताः पृथिव्या तु विश्वे ते धातुपर्वताः ॥९॥
 यानि पद्मस्य पत्राणि भूरीण्युर्वं नराधिर ।
 ते दुर्गमाः शैलचिता म्लेच्छदेशा विकल्पिताः ॥१०॥
 यान्यधः पद्मपत्राणि वासार्य तानि भागशः ।
 दैत्यानामुरगाणां च पातालं तन्महात्मनाम् ॥११॥
 तेषामधोगतं यत्तदुदकेत्यभिसंज्ञितम् ।
 महापातककर्माणां मज्जन्ते यत्र मानवाः ॥१२॥
 पद्मस्यान्ते कुशं यत्तदेकार्णवजलं महत् ।
 प्रोषतास्ते दिक्षु संघाताश्चत्वारो जलसागराः ॥१४॥

इन पर्वतों का मध्यवर्ती स्थल ही जम्बूद्वीप के नाम से प्रसिद्ध है ।
 मही द्वीप यज्ञो का स्थल और कर्मभूमि है । इसमें यज्ञ के निमित्त जो देवामृत के सहस्र अन्न निकलता है, वही नदी के रूप में अनेक छीयों में पट्टों के रूप में बँट जाता है ॥८-९॥ उसी नाभि कमल की जो वेगार है, वे ही पृथ्वी के भीतर वाले धातु पर्वतों के रूप में समझने चाहिये । उग कमल के पत्र, वे छोटे-बड़े पर्वतों के दशाष्ट, अत्यन्त दुर्गम स्थल हैं जो म्लेच्छों के दलों में दशाष्ट के ॥१०-११॥ कमल के नीचे की तरफ जो पत्तों के वे कृष्ण सी दंशों के तथा कृष्ण स्रोतों के निपात के निमित्त थे । मही स्थल पाताल कहा जाता है । इनके

भी नीचे उदक नाम का स्थान है जिसे नरक कहा गया है । सबसे घोर पानकी व्यक्ति उसी में डाले जाते हैं ॥१२ १३॥ नाभिकमल के चारो तरफ जो केसर थे उसी को एकाणव कहा जाता है और उसको चारों ओर पाई जाने वाली जलराशि का चार समुद्र कहा गया है ॥१४॥

ऋषेर्नारायणस्याय महापुष्करस भव ।
प्रादुर्भाविोऽप्यय तस्मान्नाम्ना पुष्करस भव ॥१५॥

एतस्मात्कारणात्तज्जं पुराणं परमविभि ।
यज्ञियैर्वेददृष्टार्थयज्ञ पद्मचिती कृत ॥१६॥

एव भगवता पद्मे विश्वस्य परमो विधि ।
पवनाना नदीना च देवताना च निर्मित ॥१७॥

विभुस्तथैवाप्रतिमप्रभाव

प्रभाकरो वै भगवान्महात्मा ।

स्वयं स्वयं भू शयनेऽसृजत्तादा

जगन्मय पद्मनिधिं महाणवे ॥१८॥

तत्त्वज्ञान से सम्पन्न प्राचीन महर्षियों ने भगवान् नारायण के महापुष्कर प्रादुर्भाव या वृत्तान्त इसी प्रकार बतलाया है । उनका यह नाभिकमल ही सत्कार की उत्पत्ति या मूल होता है ॥१५ १६॥ उन भगवान् के इसी नाभिकमल द्वारा पर्वत नदी और जगत के विभिन्न प्रदेशों का आविर्भाव हुआ था । जब अमित प्रभावशाली स्वयम्भू विष्णु भगवान् उस अनन्त एकाणव में शयन कर रहे थे उसी समय उन्होंने उस विश्वस्वरूप मृत्ति के मूल अमूर्त ब्रह्म को उत्पन्न किया था ॥१७ १८॥

॥ त्रयं श्रवण फल ॥

हरिवंशे पुण्यं तु श्रुते मुनिवरोत्तम ।

विष्णुं हि च दयं ये तद्ब्रूहि त्वममाग्रतः ॥१९॥

जो मनुष्य हरिवंश की कथा को सुनाता या जो कोई श्रवण करता है वह पाप से सर्वथा छूट जाता और मरणान्त में उसे विष्णु लोक की प्राप्ति होती है ॥११॥ इसकी ग्यारह पूर्व पीढ़ियाँ, स्त्री और पुत्र तक यवत हो जाते हैं तो अपनी मोक्ष का तो कहना ही क्या है ? ॥१२॥ हरिवंश सुनने वाले को दशाश हवन करने का आवश्यक विधान है । हे राजन् ? इस प्रकार मैं तुम्हें सभी कथन करता चुका । इसके सुनने पर सम्पूर्ण पापों का नाश अवश्यभावी है । पुनर्हीन पुरुष सुने तो पुनर्वाद् और निघ्न पुरुष सुने तो उसे दिगुल वन् की प्राप्ति होती है ॥१३-१४॥ जिस फल की प्राप्ति नरमय अथवा अश्वमेध यज्ञ के करने से हो सकती है, वह सम्पूर्ण फल एकमात्र हरिवंश के सुन लने से ही मिल जाता है ॥ १५ ॥ यदि किसी पुरुष से ब्रह्म हत्या, गो हत्या गर्भपात, मदिरापान जैसा महागुण भी बन गया हो तो एकाम्र चित्त से हरिवंश के श्रवण करने पर, उन घोर पापों से उसका छुटकारा हो जाता है ॥१६॥ हे राजन् ! इस प्रकार यह अत्यन्त विस्मय जनक और अत्यन्त उदार भावान् श्रीकृष्ण का माहात्म्य मैंने तुम्हें सुना दिया । इसका स्वाध्याय करने अथवा सुनने से दुर्लभ से दुर्लभ पदार्थ भी अनायास ही प्राप्त हो सक्ता है ॥१७॥